जून १९४१

संपादक

पंडित सुन्दरलाल

विश्व-वाणी

इस अङ्क के प्रमुख लेखक

१—पंडित सुन्दरलाल
२—पंडित मोहनलाल नेहरू
३—पंडित सुमित्रानन्दन पन्त
४—डाक्टर विनय कुमार सरकार
५—डाक्टर कुँवर मोहम्मद अशरफ़
६—डाक्टर ईश्वरनाथ टोपा
७—डाक्टर नारायण विष्णु जोशी
८—डाक्टर सुनीति कुमार चैटरजी
९—श्री जैनेन्द्र कुमार

वार्षिकमूल्य ६)

एक अंक का ।।=)

विषय सूची

जून १९४१

'विश्ववाणी' के नियम

१—हर महीने की पहली तारीख़ को प्रकाशित होती है।

२—किसी भी महीने से विश्ववाणी का ग्राहक बना जा सकता है।

३—विश्ववाणी दफ़्तर में तीन बार जांच करके ग्राहकों को रवाना की जाती है। यदि किसी महीने की सात तारीख़ तक किसी ग्राहक को उस महीने का अङ्क न मिले तो अपने यहां के डाकख़ाने से पूछ कर उनके जवाब के साथ, अपना ग्राहक नम्बर देकर हमें पत्र लिखें। जिन पत्रों के साथ स्थानीय पोस्ट आफ़िस का उत्तर नत्थी न होगा उन पर ग़ौर न किया जायगा।

४—अपने पते में कोई तबदीली करवाना हो तो ग्राहक संख्या के साथ पत्र लिखें।

५—नमूने के अङ्क के लिये दस आने के टिकट भेजें।

६—पत्र का चन्दा इस प्रकार है—

देश के लिये ६) रु० वार्षिक
विदेश के लिये ९) रु० वार्षिक
बर्मा के लिये ६।।) रु० वार्षिक
छै माही मूल्य ३।) रु०
एक अङ्क का ।।=)

मैनेजर—विश्ववाणी, साउथ मलाका, इलाहाबाद

पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय के सौजन्य से]   अशोक का हृदय परिवर्तन   [चित्रकार—इन्द्र दुगार

विश्ववाणी

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

जुलाई से दिसम्बर १९४१

विश्ववाणी कार्यालय, साउथ मलाका, इलाहाबाद
वार्षिक मूल्य छै रुपये

लेखकवार विषय-सूची

सम्पादकीय-विचार

मद्रास, बम्बई, होलकर राज्य और मैसूर स्टेट के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिये स्वीकृत
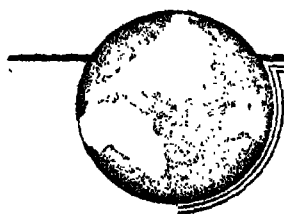
संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

वर्ष १ | जून, १९४१ | अङ्क ६

बापू के प्रति

श्री सुमित्रा नन्दन पन्त

आः, तुम यह सब नहीं !
चरखा, खादी, हरिजन-आन्दोलन, स्वराज !—
बिना ताज के भारत-उर सम्राट् आज,
तुम यह सब कुछ नहीं !

सत्याग्रह तुम नहीं,
अहिंसा — ? नहीं !
नहीं ! — नहीं !
तुम यह कुछ भी नहीं !

देश-काल की सीमाएं ये तुम में विम्बित,
भारत की आकांक्षाएं –तुम से संबन्धित ।
तुम यह सब कुछ नहीं !

कार्य नहीं तुम अपने, उनके नहीं फलाफल,
तुम नव जीवन के, नव मानव के गुण केवल !
नव मानव के गुण, भावी के गुण तुम निश्चित,
आत्मा के आधार, और संस्कृति के ज्योतित !
तुम यह सब कुछ नहीं !—

आज व्यापक परिवर्तन
मानव जग को ध्वंस कर रहा अनुदिन, अनुक्षण !
धर्मों, संस्कृतियों, वर्गों में छिड़ा तुमुल रण,
मानव उर बन रहा देव - दानव समरांगण !

कुम्हलाने को आज सभ्यता का सहस्रदल,—
रूप रङ्ग रेखाएं प्रतिपल होतीं ओझल !
तुम जग के कर्दम से उठ, कर्दम से पोषित
मानवता के शतदल, ज्योतिवृन्त पर विकसित ।

अंधकार के इस युग में प्रकाश में केन्द्रित,
विगत गुणों को कर अपने में लीन, पराजित,
नव प्रकाश बन रहे आज मानव आत्माहित,
ज्योति तमस के परे शून्यवत् पूर्ण, विसर्जित !

सत्य अहिंसा—यह केवल साधना तुम्हारी,
लीन हो रहे तुम निज में, हे असिपथ चारी !
जाओ, जाओ,—जगत रहेगा चिर आभारी,
हे युग मानव, मानव आत्मा के अधिकारी !

तुम यह कुछ भी नहीं !—
चरखा, खादी, हरिजन आंदोलन, स्वराज !
हे भारत के मुकुट, विश्व राजाधिराज !
तुम यह कुछ भी नहीं !—
नहीं ! नहीं !

राष्ट्रीयता

श्री जैनेन्द्र कुमार

कई बरस की बात है कि एक पुस्तक देखी थी, 'राष्ट्र धर्म'। प्रचार के साथ विचार के लिए भी वह लिखी गयी मालूम होती थी। कुल मिला कर उसमें राष्ट्र को अपने इष्ट देव की तरह मानने की सीख थी और सब धर्मों का धर्म बताया था—राष्ट्रीयता।

उसके बाद एक विवाह देखा। वहां वेदी की जगह भारत का नक़शा बना था। वेद मंत्रों की जगह राष्ट्र-गीत ने ली थी। अग्नि देवता के बजाय भारत माता की साक्षी पवित्र समझी गयी थी। और दूसरे कुछ इसी तरह के सुधार थे। उस विवाह को बताया गया था—राष्ट्रीय।

और अभी थोड़े दिन पहिले बालिकाओं की एक शिक्षण-संस्था देखी। वह संस्था सिर्फ़ गिनती बढ़ाने वाली नहीं थी। उसका ध्येय था और वहां ज़िन्दगी नज़र आती थी। उसकी ओर से उनकी शिक्षा के आदर्श की व्याख्या में एक पुस्तिका भी निकली है। उसमें देखा कि उनके दो बुनियादी सिद्धान्त हैं, उनमें एक है—राष्ट्रीयता।

यों तो अपनी कांग्रेस राष्ट्रीय है। नाम ही है 'इन्डियन नेशनल कांग्रेस'। पर कांग्रेस के साथ के राष्ट्रीय शब्द से मन में कुछ सवाल नहीं उठता। मानों वह शब्द सही है और अपनी जगह है। पर ऊपर के उदाहरणों में काम में आने वाली राष्ट्रीयता पर मन में सवाल उठता है। जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता पूजी जाती है; विवाह में मध्यस्थ होती है, कन्या-शिक्षा में बुनियादी सिद्धान्त का काम देती है, उस राष्ट्रीयता पर मन कुछ ठहरता है।

फिर सामने विलायतों में लड़ाई चली है। लड़ने लायक जोश वहां जिस बिना पर पैदा होता और किया जाता है? उसको भी हम शायद राष्ट्रीयता कह सकते हैं। जर्मन लोग जर्मनी के नाम पर और इंगलैंड के लोग इंगलिस्तान के नाम पर, अपनी रक्षा के डर में या अपनी बढ़ती की आकांक्षा में, एक दूसरे की जान के प्यासे दीख रहे हैं। उनका ज़ाहिरा धर्म क्या है?—राष्ट्रीयता।

इससे राष्ट्रीयता शब्द पर कुछ अटकना बेजा नहीं है। चाहिए कि देखें उस शब्द की कुछ हदें हैं या नहीं? हदें हैं, तो वह क्या हैं? या कि वह शब्द आख़िरी है कि इसके आगे ख़याल को जाना ही नहीं चाहिए?

हाल की ही तो बात है कि अपने हिन्दुस्तान में कांग्रेस और गांधी दो अलग रास्ते जाते दिखलाई दिये। अब वैसा नहीं है। सन् १९ से शायद कभी वह बात नहीं थी। पर कुछ देर के लिए वह अन्तर राह चलते के लिए भी साफ़ हो गया। हिन्दुस्तान के मामूली आदमी के लिए तो वह ऐसी अनहोनी हुई कि वह उस पर भौंचक रह गया और ठीक तरह कुछ समझ नहीं सका। लेकिन सूझते के लिए बात साफ़ हो गयी, कारण, कांग्रेस सिर से पांव तक राष्ट्रीय थी। गांधी पर वह पाबन्दी नहीं थी।

गांधी इधर बीस वर्षों से अधिक से हिन्दुस्तान की समूची राष्ट्रनीति को गति और दिशा दे रहे हैं। अर्थात् राष्ट्र उनके कारण कुछ सच्चे ही अर्थों में राष्ट्रीय हुआ है। फिर भी गांधी हर अवसर पर कह देते हैं कि राष्ट्रीय कहां, मैं तो धार्मिक हूं। धर्म की निगाह से सब बातों को देखता और उन पर फ़ैसला करता हूं।

इसलिए ख़ुद राष्ट्र को और उसकी राजनीति को चलाने और अपने निजी और समाजी जीवन को सुधारने की दृष्टि से मुड़कर, हमें राष्ट्रीयता का लेखा ले लेने की ज़रूरत है। देखना चाहिये कि कितनी उससे हमें मदद मिलती है। और कहां पर रोक थाम चाहिये? हमको कहां पहुंचना है और राष्ट्रीयता बेलगाम हमको कहां ले जा सकती है? यानी आदमी राष्ट्रीयता को ले तो किन मर्यादाओं के साथ? ये सारी बातें सोचने की हैं।

कहा जाता है कि मानवता एक है। आदि दिन से यह कहा जाता है। विरोध इसका नहीं सुना गया। सब मनुष्य भाई-भाई हैं और मानव जाति एक परिवार है—सब जातियों के साहित्य और धर्म में यह पुकार मिल जायगी।

इसलिए वह बात झूठ तो नहीं है। पर सचमुच क्या वह सच है? कहां जाकर वह सच है?

धरती पर निगाह डालते हैं, तो वह कटी-बंटी है। राष्ट्र बंटे हैं; प्रान्त बंटे हैं। फिर अनेक जातियां, अनेक वर्ण, अनेक धर्म-सम्प्रदाय और गिरोह हैं। उनमें आपस में लड़ाई होती है और ख़ून-ख़राबी होती है। अर्थात् धरती पर तो मनुष्य जाति एक नहीं है।

फिर भी यदि मानवता एक है, तो कहां? स्पष्ट है कि वह ऊपर उठकर या भीतर जाकर, यानी ईश्वर में एक है।

और अब धरती ही सच नहीं, बल्कि आसमान भी सच है। शायद आसमान ज़्यादा सच है। क्योंकि आदमी का बिगाड़ वहां नहीं है और ईश्वर की अछूती क़ुदरत वहां है।

इसलिए धरती पर की स्वार्थ की अनेकता से आत्मा की एकता ज़्यादा सच है। क्योंकि वही सच्चा सच है।

लेकिन एक दम उस सच्ची सच्चाई से अपना काम कहां चलता है? वह काम धरती का जो है। पर यह निश्चित है और निश्चित रहे कि मानवता का कुछ लक्ष्य है तो वह सब की उस आत्मा की एकता को पाना है। उससे हटकर कोई गति प्रगति नहीं, और कोई कर्म इष्ट नहीं है।

आदर्श व्यवहार से भिन्न है, इसीलिए व्यवहार के बारे में उलझन और पेंच हो, तब आदर्श की याद कर लेना इष्ट है, क्योंकि माप वही है। व्यवहार को परखने की कसौटी ख़ुद व्यवहार ही कैसे हो सकता है? और आदर्श से यदि हमें कुछ काम है तो वह यही काम है कि व्यवहार में दिशा भूल होने पर आदर्श हमें राह बताये।

मानव जाति का इतिहास वहां से चलता है, जहां हर एक अकेला और हर एक अपने में कुल भी था। समाज नहीं था, व्यक्ति ही था। अपनी ख़ुदी उसके लिए सब थी। और हर दूसरा उसे दुश्मन था। आपस में नातों-रिश्तों की कल्पना न थी और भोग और भूख का ही उनमें सम्बन्ध था। प्यार जगा, भोग लिया, भूख लगी, खा डाला। अर्थात् व्यक्ति अपने में इकाई था, और हर दूसरे से अलग था। परिवार भी न बना था; बनने को था।

वहां से हम चले। परिवार बना। जनपद बने, नगर बना। आपसीपन पैदा हुआ। सामाजिकता उपजी। जातियां बन चलीं। राज उदय में आये। इस तरह आदमी ने दूर-पास नाता जोड़ना शुरू किया। उसका अपनापन फैला। उसी तरह वर्तमान को लांघ कर अतीत और भविष्य से भी उसने अपना रिश्ता देखा। काल में भी उसने अपने को फैलाया। और संस्कृति ने जड़ पकड़ी। चलते-चलते मनुष्य-जाति आज यहां है कि जहां उसका व्यापक व्यवहार राष्ट्र को इकाई मानकर सम्भव बनता है। आज की

जीवित राजनीति का घटक (unit) राष्ट्र-राज्य (Nation state) है।

मैं इसको विकास मानता हूं, ह्रास नहीं। आदिम मनुष्य का काया-बल आज के मनुष्य में नहीं है, वह डील-डौल नहीं है, वह चपलता नहीं है। यह उचित ही है। शेर अकेला है और जंगल में रहता है। इससे उस ढंग की सिफ़त भी उसमें हैं। पर आदमी अगर शेर नहीं है, तो इस पर अफ़सोस करने की जगह नहीं है।

आज दिन राष्ट्र की भाषा में हम सोचते हैं। जनता का मन राष्ट्र को अपना कह कर अपनाने में आज समर्थ है। यह छोटी बात नहीं है।

जैन तीर्थङ्कर महावीर ने अहिंसा धर्म पर ज़ोर दिया। पर वह धर्म व्यक्ति के दायरे में देखा गया और पाला गया। आज अहिंसा को भी राष्ट्र की परिभाषा में सोचा जाता है। सोचा नहीं अमल में लाने का आग्रह रखा जाता है। यानी राष्ट्र की धारणा और राष्ट्रीयता मनुष्य जाति के विकास का लक्षण है।

पर आदर्श कब पाया गया है ? और विकास कब ख़तम हुआ है ? इसलिए राष्ट्र हमारे राजनीति-व्यवहार की धरती की इकाई बनने से अधिक उसके उद्देश्य की परिधि भी बनता है, तो वह मनुष्य जाति के विकास में ख़तरा है। हम राष्ट्रीयता पर आज हों, पर वहां रुक नहीं सकते हैं। आगे भी चलना है। यदि राष्ट्रीयता आगे ले जाने में उपयोगी नहीं होती है, तो वह बाधा है। ऐसी अवस्था में वह जकड़ है, जिसको तोड़े बिना गति सम्भव नहीं होती। वैसी राष्ट्रीयता प्रतिक्रिया का अस्त्र है।

मनुष्यता बढ़ती आयी है और बढ़ती चलेगी। ईश्वर तक उसे उठते ही चलना है। इस यात्रा में हर क़दम की सार्थकता ही यह है कि वह अगले क़दम की प्रेरणा दे। जिस ज़मीन पर अब हैं, अगर चलना है, तो वह ज़मीन छूटेगी। एक क़दम तभी सच है जब कि आगे दूसरा भी हो। जिसके आगे दूसरा नहीं, वह क़दम मौत का हो जाता है। इस तरह कोई क़दम और कोई मंज़िल अपने आप में सच नहीं। राष्ट्रीयता भी अपने आप में सच मान ली जायगी, तो वह झूठ पड़ जायगी। क्योंकि तब वह मानवता को बढ़ाने में नहीं, रोकने में काम आने लगेगी। तब वह अगति का साधन होगी। और मानवता को तो सब के ऐक्य तक उठे बिना रुक रहना नहीं है, इससे उसकी राह में अटक बनने वाली राष्ट्रीयता को गिरना होगा।

इतिहास यही है। वीर आये; उन्होंने जीवन की विजय साधी। तब वह काल के मुंह पर खेले। पर काम हुआ कि वह काल के गाल में सो रहे। इतिहास उनको समा कर आगे बढ़ गया। राष्ट्रीयता भी हमारे विकास की विजय है। पर पराजय बने, इससे पहिले ही उसे मानवता में समा जाना चाहिए। अन्यथा मानवता का विरोध सिर लेकर राष्ट्रीयता कलंकिनी होगी।

यानी राष्ट्रीयता अपनी जगह सामयिक रूप से सही है। पर जो सामयिक नहीं, ऐसे विचार और भावना पर भी वह यदि आरोप की भांति लाई जाती है, तब वह सही नहीं रह जाती। क्योंकि अपने क्षेत्र और काल की मर्यादा का उल्लंघन करती है। अहंकार शुभ नहीं और उग्रता उसी का लक्षण है।

पर अहंकार हवा में थोड़े उड़ जाता है। साधना से उसे धीमे-धीमे हलका और व्यापक बनाना होता है। यही उससे छुटकारे की पद्धति है। राष्ट्र को लेकर हम अपने स्वार्थ और अहंकार के विसर्जन की प्रेरणा पायें, तब तक वह इष्ट है। पर उसका मतलब व्यक्तिगत अहंकार की जगह हममें राष्ट्रीय अहंकार का भर जाना हो, तो उसको इष्ट नहीं कहा जा सकता। और जब-जब हम राष्ट्रीयता के उपयोग को सामयिक से अधिक और अलग देखते हैं, तो कुछ उसी प्रकार के अहंभाव के विकार में फंसे हो सकते हैं। यों तो कोई वस्तु सिरजनहार की याद बनकर पूज्य है, पर उपासक की उपासना उसमें भटक रहे, तो वह पूजा की नहीं, विडम्बना की वस्तु रह जायगी। इसी तरह राष्ट्रीयता यदि सब के एके का नमूना बन कर उसी आदर्श की भावना जगाने में मदद देती है, तो ठीक; पर अगर

कहीं वह दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रवासियों की तरफ वैर या विरोध को शह देती है, तो कहना होगा कि वह अपने हद से बाहर पांव रखती है और यह उसकी उद्दण्डता है।

हमने देखा कि ऐक्य-विस्तार में हम बढ़ते ही आये हैं। बढ़कर राष्ट्रीयता तक आ पहुंचे हैं। वहाँ से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर भी क़दम रखा है। जब तक हमारा हितु कुल दुनियां के साथ मिला हुआ हमें नहीं लग आता, तब तक हमारी मुक्ति कहां? और तब तक बढ़ते ही चलना है।

लेकिन बढ़ना सपनों से नहीं, क़दमों से है। सपने के पर लगा कर तो आँख मूद छन में हम आसमान छूलेंगी। लेकिन धरती से आसमान की ओर उड़ने के लिए हवाई जहाज़ बनाने में मानवता को ईसवी की बीसवीं सदी तक धीरज रखना और मिहनत करनी पड़ी!

इसी भांति कविता पर बैठ कर राष्ट्रीयता से आगे बढ़ना बस न होगा। कविता में कल्पना तो उड़ती, पर पैर थिर रहते हैं। तभी कवि को समाज अपनी बागडोर नहीं, प्रशंसा ही देता है। पर कवि मनुष्यता के आदर्श की चौकसी रखता है। रात अंधेरी है और दुनिया नींद में या नशे में है, तब भी कवि मनुष्यता की निधि यानी प्रेम के आदर्श पर पहरा दिये सजग बैठा है।

कवि का काम ज़रूरी है। पर उससे उतरे काम भी हैं, जो कम जरूरी नहीं हैं। कवि से कुछ उतरा एक व्यक्ति हुआ—मार्क्स। जर्मनी और फ्रांस जहाँ मिलते थे, वहाँ वह पला। इससे जर्मनी और फ्रांस की अलहदगी और विरोध उसके मन में नहीं घर कर सका। राष्ट्रीयता को वह नहीं समझ पाया, जो एक कल्पित रेखा के इधर के आदमी को अपना और उधर के आदमी को पराया बनाती है। इस विधान की सक्रियता पर वह आँख नहीं मींच सका। उसे आस-पास के लोगों में फाँक नहीं नज़र आयी, कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं समझ आया। इससे राष्ट्र के नाम पर की अलहदगी से वह अपने विचार में समझौता नहीं कर सका।

पर मार्क्स उतरा लेखक या कवि था। यानी अन्तिम अभेद की निष्ठा उसे प्राप्त न थी। इससे वह सत्य का नहीं समाज का दार्शनिक बना। उस समाज में उसे विषमता दीखी। उसका मस्तिष्क उस विषमता के साथ जूझने में लग गया। वह ऊपर की सब उलझनों के भीतर पहुँच कर असल गांठ को पकड़ना चाहता था। यानी उस मौलिक विरोध को जो दूसरे सब विरोधों को थामता और उपजाता है। कोशिश के बाद उसे एक चीज़ नज़र आयी—धन, यानी पूंजी। उसने वहीं अपना सब विश्लेषण गड़ा दिया। और तर्क की राह चलते-चलते उसने समाज के सारे विरोधों को एक अन्तिम और मूल विरोध के रूप में जा ढूंढ़ा। वह था—पूंजी और श्रम का विरोध।

इस अपनी खोज पर पहुंच कर उसने पाया कि मनुष्यता खंडित है तो सीधी (Vertically) नहीं, बल्कि श्रेणियों में (Horizontally) वह बँटी हुई है। असल विरोध इन श्रेणियां का आपसी विरोध है। उस विरोध को नष्ट करना होगा और उसके लिए जो ऊपर की श्रेणी अपने स्वार्थ-साधन में उस विरोध को क़ायम रखती है, उसी को नष्ट कर देना होगा। पर कैसे? वह ऐसे कि पहले उस विरोध को ही तीव्र करना होगा। वर्ग-विग्रह की भावना को चेताना होगा। उस चैतन्य से नीचे की श्रेणी, जहाँ सच्ची जनता और मानवता का निवास है, को बल मिलेगा। इतना बल मिलेगा कि ऊपर से उसको दबाने वाली तह उसे असह्य हो जायगी। तब वह तह बिखर रहेगी, नष्ट-भ्रष्ट कर दी जायगी, और इस तरह समाज श्रेणियों से छुटकारा पाकर परिवार के मानिन्द एक हो जायगा। तब व्यक्ति समाज का और समाज के लिए होगा और परस्पर का हित-विरोध और स्वार्थ-संघर्ष नहीं रहेगा।

राष्ट्रीयता को ज्यों का त्यों न अपनाने वाले लोग तो यों सब देश और कालों में हुए, पर वे धार्मिक

जन थे या साहित्यिक, राष्ट्रीयता जिस धरातल पर रहे, उस पर लोग उसको स्वीकार करके ही चलते थे। राजनीति-विचारक शासन-तंत्रों के विचार में चाहे कुछ भी कहें, राष्ट्र के दायरे और विभाजन को जाने अनजाने वे मानते ही थे। मार्क्स ने उसी धरातल पर रह कर पहले पहल राष्ट्र-विधान के अस्वीकार में अपनी आवाज़ ऊँची की।

मार्क्स से पहिले भी कुछ सद् विचारक राष्ट्र सत्ता (सरकार) से बिना संघर्ष में आये समाजवादी आदर्श के गठन और प्रयोग में लगे थे, पर उस आदर्श को अमली शक्ल देने की जितनी उनकी कोशिश थी, उतनी उसको शास्त्रीय वैज्ञानिक और व्यापक रूप देने की नहीं थी। वे लोग सामाजिकता को यथा सम्भव अपने व्यवहार में उतारने की चेष्टा में रहे। उसे एक वाद, एक जीवन-शास्त्र का रूप देने में नहीं लगे। मार्क्स ने यही किया। स्वयम् मार्क्स सामाजिक नहीं बने, कर्म-कुशल और मिठबोल नहीं बने, संस्था नहीं बने; नेता नहीं बने। एकाकी और एकाग्र, स्वयम असामाजिक रह कर भी, समाजवादी शास्त्र और स्वप्न का ढांचा पूरा करने में वह लगे रहे।

वह समय मशीन का यानी सामूहिक उद्योग का था। अपने अलग-अलग श्रम से काम चलने की संभवता लोगों के मनों से नष्ट हो चुकी थी। कलों के बल पर भीमोद्योग चल रहे थे और आबादी नगरों में केन्द्रित होती जाती थी। उस घटनात्मक सचाई के आगे व्यक्तिगत-स्वावलम्बन में विश्वास रखने वाला व्यक्तिवाद टिक नहीं सकता था। यानी केन्द्रित उद्योगों के कारण समाजवाद नहीं, तो एक प्रकार के समूहवाद की ज़रूरत तो स्थिति में भरी रही थी। मार्क्स ने उसे सान दे दी— जैसे भाव को भाषा दे दी। मार्क्स के ज़बर्दस्त और तीखे तार्किक प्रतिपादन ने उस विषय के चारों ओर विवाद और विवेचन का वातावरण पैदा कर दिया। इस विमर्ष से वस्तु को धार मिली।

यह समाजवाद राष्ट्रीयता को पहली सशक्त चुनौती थी। पर राष्ट्रीयता का भेद यों कृत्रिम हो; लेकिन उसके भीतर राष्ट्र की एकता का तथ्य भी समाया है। वह थोड़े बहुत अंश में एकता के प्राकृतिक विकास के अनुरूप है। मानों भौगोलिक (vertical) विभाजन प्रकृति की ओर से ही क्षम्य है। जैसे वह परिस्थिति गत लाचारी है; एक मंज़िल, एक रियाअत है।

इसकी तुलना में मार्क्स का श्रेणीगत (Horizontal) विभाजन उतना अनिवार्य और साफ़ नहीं है। उसको मानों हमारे समाज के अन्दर फैली हुई वर्ग-दुर्भावना से ही बल मिलता है।

पर वह जो हो, मार्क्स के इस वर्ग-विभाजन की नई झांकी में से लोगों ने हठात् मानवता की एकता के आदर्श को भी ताज़ा और समीप बनाकर देखा। रूस देश की हालत उस विचार-धारा के प्रचार के बिलकुल अनुरूप पड़ी। वहां जनता पर शासन का जूआ बहुत भारी था। मनोभावना की ज़मीन वहां तैयार थी। उस देश में मार्क्स के समाजवाद को बल पकड़ने और अपने को आज़माने का अवसर मिला।

जहां तक वर्ग-चेतना की धार को तेज़ करके शक्ति उपजाने और सत्ता के तख़्ते को पलट देने और उस पर हावी हो जाने का सम्बन्ध था, मार्क्स का नक़शा ठीक उतरता चला गया। वहां उसके बेठीक होने का प्रश्न भी नहीं था। क्योंकि मानवता का एकता का सपना पुराना था और त्रस्त जनता की दबी भावना उभरने को तैयार ही थी। समाजवाद ने पुराने शासकों की जगह नये आने वाले शासकों की पार्टी में सङ्गठित होने के लिए नाम का और आंदोलन-प्रचार का सुभीता दे दिया।

परिणाम हुआ कि क्रान्ति हो गयी। यानी शासक बदल गये। पर राष्ट्रीयता नाम के जिस सांचे में मनुष्य-जाति की राजनीति और राजकाज ढलकर चलाए जाते थे और जिस सांचे से उद्धार पाने की आशा समाजवाद के (Romantic) साहित्य से लोगों में पनप चली थी, उस सांचे का क्या हुआ?

रूस की क्रान्ति रूस के इतिहास के लिए एक बड़ी घटना है। उस दायरे में वह एक बड़ा सबक़ है और गहरा इशारा है। पर उस दायरे के बाहर मनुष्य जाति के इतिहास में क्या वह किसी नये क़दम की सूचना है? क्या किसी नये मानसिक मूल्य (Catagory of consciousness) का दान है? मेरे विचार में नहीं। क्रान्ति से समाजवाद बीते इतिहास और शास्त्रीय दिलचस्पी का विषय रह गया, जीवित और वर्त्तमान राजनीति से वह निःशेष हो गया।

यूरोप के और देशों के बराबर रूस को लाने का काम क्रान्ति ने किया, यूरोप को बदलने या बढ़ाने का नहीं। क्या राष्ट्रीयता नाम के जिस सांचे (Catagory of Political consciousness) के द्वारा राजनीति का व्यवहार चलता था। उसमें कुछ अन्तर आया? सुधार हुआ? विस्तार हुआ? शायद नहीं।

मार्क्स के समाजवाद पर राष्ट्रीयता आयद नहीं हो सकती। लेनिन का समाजवाद सीमित रूसी राष्ट्रीयता से समझौता निभा सका। और स्टेलिन का समाजवाद रूस की वैदेशिक नीति में समाजवाद है, यह उसके दुश्मन भी नहीं कह सकेंगे। हां, ट्राटस्की के समाजवाद ने भौगोलिक परिधियों को नहीं स्वीकार करना चाहा। परिणाम हुआ कि जीवित राजनीति में ट्राटस्की नगण्य रहा, जैसे कि मार्क्स नगण्य था। लेनिन गणनीय रहा, क्योंकि राष्ट्रीयता को उसने निभाव दिया। और स्टैलिन एक समूचे देश की शक्ति के साथ सशक्त है, क्योंकि भाषा चाहे उसे समाजवाद की रखनी पड़ी हो (और इतने प्रचार के बाद दूसरी भाषा सहसा रूस को लग भी नहीं सकती थी) पर भाव में वह यूरोप के और देशों के अधिनायकों की तरह समाजवाद के आदर्श के दबाव से सर्वथा मुक्त है।

समाजवाद रूस में भी यदि व्यावहारिक राजनीति के काम का है, तो राष्ट्रीय दायरे में और राष्ट्रीय विशेषण के साथ ही काम का है—अर्थात् सोशलीज़म जब नेशनल है, तभी अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर उसकी गिनती है। अन्यथा तो वह निजी वस्तु भले रहे, मानव जाति के राजनैतिक व्यापार में चलन की वस्तु नहीं है।

तभी तो अत्याधुनिक राजनैतिक धर्म का नाम 'नेशनल सोशलीज़म' है। जाने-अनजाने रूस में भी वही है और इङ्गलैण्ड में भी वही है।

राष्ट्रीयता (Nationalism) का नाम पुराना पड़ रहा था। उसमें से साम्राज्य बने और साम्राज्य-शाही मनोवृत्ति को जन्म मिला। साफ़ हो चला था कि यह मनोवृत्ति मानव-मूल्यों के विकास में बाधा है। सोशलीज़म ने आकर मानवता के मर्म के गहरे में जो स्वप्न सदा रहता आया है, यानी विश्वबन्धुत्व, उसे भड़काया! उधर यथार्थ में उसने राष्ट्रवाद के साथ समझौता कर लिया। इस तरह उसने राष्ट्रवाद को नई जान दे दी। सोशलिस्टिक बनकर मानों नेशनालीज़म हमें ऐक्य की ओर ले जा सकता है, ऐसे भुलावे का सामान कर दिया। हिटलर क्यों न आज मान ले कि वह मनुष्यता का विकास-साधन कर रहा है, क्योंकि वह जर्मन राष्ट्र को राष्ट्रीय चेतना के आधार पर दृढ़, बलवान और अविजेय बनाकर दिखला सका है? यदि राष्ट्रीयता लक्षण हो तो हिटलर को विश्व की प्रगति में आज सबसे अगला क़दम गिनना होगा!

पर नेशनल सोशलीज़म नाम के सङ्कर पदार्थ में दो अनमेल तत्वों का मेल है। इसमें वह बारूद है जो फट पड़ने के लिए है। यूरोप के राष्ट्र उस बारूद को अपनी काया में भर बैठे हैं और विस्फोट समक्ष है।

इस प्रकार राष्ट्रीयता अपने आप सही मानी जाकर, जब किसी शब्द के सहारे आदर्शात्मक भावावेश के मेल से तीव्र और पुष्ट की जाती है, तो इससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती दीखती हो सही, पर उसका ख़तरा भी बढ़ता है। यानी उससे मद और आतंक बढ़ता है। आतंक बढ़ने से उसमें, और आस-पास के देशों में, सेना और शस्त्रास्त्र की बढ़बारी होती है।

राष्ट्र का धन बढ़ता मालूम होता है, पर उसके लिए मंडियां खोजनी पड़ती हैं। उन मंडियों की रक्षा के लिए नाकेबन्दी बैठालनी पड़ती है। इसके लिए और हुकूमत की शाही शान रखने के लिए धन को बढ़ाये जाने की ज़रूरत और हविस होती है। उसके लिए उस राष्ट्रीय समता को दूर-पास शोषण की नलियां जोड़नी पड़ती हैं। उन नलियों द्वारा धन, यानी उन देशवासियों का रक्त खींचा जाता है। वही फिर मद और विलास के रूप में अपने शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। उस विलास-रक्षा के लिए फिर जरूरी होता है कि चौचूट चौकसी पूरी हो; टैंक हों, जहाज़ हों, क्या न हो! इस तरह एक राक्षसी चक्कर चलता है।

जहां तक साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता से हमारा उद्धार करे वहां तक राष्ट्रीयता हितकारी है। जहां वह स्वयम् एक अहंकार का रूप होती है, वहां वह विष की भांति त्याज्य है। राष्ट्र ठीक, प्रान्त ठीक; तो भी बड़ी बातें हैं। मैं कहता हूं कि अपना कुटुम्ब, अपना स्वत्व सभी ठीक हैं। पर कुटुम्ब के लिए जरूरी है कि एक के स्वत्व-भाव में दूसरों के साथ हित-विरोध न हो, और घर के लिए जरूरी है कि उसके द्वार पर स्वागत और हृदय में अतिथि के लिए प्रेम हो। वह घर, जो पड़ौस से हिलमिल कर नहीं बसता, और वह कुटुम्ब जो अपने से बाहर सहानुभूति का दान नहीं करता, सूख जाता है; और नगर के लिए रोग का कारण बनता है। यही बात बड़ी संस्थाओं और समुदायों के बारे में भी है। साम्प्रदायिकता दो सम्प्रदायों की स्पर्धा और उनके तनाव पर मजबूत होती है, इसीसे वह अच्छी नहीं है। ऐसे ही जो दो राष्ट्रों के वैमनस्य से पुष्ट होती और उसको पुष्ट करती है, वह कैसे अच्छी चीज़ समझी जा सकती है?

अर्थात् साम्प्रदायिक भाव से जो भी कर्तव्य, जो भी धर्म उपादेय हो, सब पर एक परम धर्म की मर्यादा लागू होती है। वह धर्म सामयिक नहीं, शाश्वत है। उसका अनुमान वस्तु और स्थिति के साथ भिन्न हो सकता है। पर स्वयम् में वह अनिवार्य है। उसका नाम है अहिंसा; उसका मतलब है निर्वैर; और उसकी आत्मा है प्रेम।

अहिंसा से यदि राष्ट्रीयता जौ भर हटे, तो वह उसी अंश में सदोष है।

सदोष तो यों मानव भी है। निर्दोष बस भगवान हैं, जो आदर्श का दूसरा नाम है। निर्दोषता की स्थिति आदर्श से बाहर और कहीं नहीं है। लेकिन सदोषता को हम मानते चलें, देखते चलें, निर्दोष की ओर बढ़ने का यही मार्ग है।

राष्ट्रीयता उपयोगी है, इसीलिये कि उसमें अनुपयोगी होने की क्षमता है। इससे उसकी मर्यादा जान लेनी चाहिये और मर्यादा के उल्लङ्घन से इस राष्ट्रीयता को बचाना चाहिये।

राष्ट्र-सेवा की भावना यदि लोभ-गर्भ (Romantic) नहीं, तो वह जन-सेवा के रूप में ही अपनी कृतार्थता खोजेगी। जन-सेवा पड़ौसी-सेवा से आरम्भ होती है। इस प्रकार की सच्ची राष्ट्रीयता राजनैतिक नहीं होती, 'राज' को अपने से दूर करके वह केवल नैतिक होती है।

नैतिक भाव से की गयी जन-सेवा अपने व्यापक प्रभाव के कारण संघर्ष उपजाये और अनायास राष्ट्रीय अथवा राजनैतिक दीख चले, वह बात अलग है। पर अपनी ओर से वैसा विशेषण उसे देकर चलना अनावश्यक है।

अर्थात् दूसरे लोग राष्ट्रीय कहें तो कहलें, स्वयम किसी को राष्ट्रीय मानकर अपनाने की तबियत सही नहीं। जो अपनाने योग्य है, वह नैतिक कारणों से, उस दृष्टि से जो इष्ट है, वही अभीष्ट हो सकता है। राजनीतिक धरातल पर उस इष्ट वस्तु की इष्टता बतलाने में सहज ही वह (राजनीतिक) भाषा भी सुलभ हो सकती है। अपनी ओर से नैतिक भाषा को छोड़कर राजनैतिक भाषा अपनाने की आवश्यकता पैदा करना ठीक नहीं है। भाषा यथावसर हो ही जायगी।

नीति से अलग होकर राजनीति भ्रम है और मानवता से च्युत होकर राष्ट्रीयता भी बन्धन ही है।

ग़रीबों का समाज शास्त्र

डाक्टर, विनय कुमार सरकार, एम० ए०, डी० एच० सी० (तेहरान)

डाक्टर विनय कुमार सरकार अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक हैं। आपकी रचनायें देशी और विदेशी पत्र आदर से छापते हैं। अर्थशास्त्र के आप प्रकाण्ड विद्वान हैं। 'विश्ववाणी' पर डाक्टर सरकार की कृपा है।

ग़रीबों की उत्पादक शक्ति

मेरे पास केवल एक ही सन्देश है और वह है आशा का सन्देश (Message of hope) और मेरी यह आशा बीते हुये ज़माने और वर्तमान समय की वास्तविकताओं की बुनियादों पर क़ायम है।

यदि आप मुझसे पूछते हैं कि मैं पूरब और पच्छिम की दुनिया के बारे में क्या जानता हूँ और मानव-समाज के सम्बन्ध में मैंने क्या देखा है, या उनके पुरातन इतिहास में मैंने क्या पाया है, तो मैं इन सारे प्रश्नों का एक ही शब्द में जवाब दूंगा कि दुनिया पर ग़रीब ही हुकूमत करता है। दुनिया को हमेशा ग़रीबों ने ही जीता है। ज़ाहिरा तौर पर यह एक बेतुकी बात मालूम होगी। इस बात से अधिक मूर्खतापूर्ण कोई बात न दिखाई देगी। किन्तु मेरे निकट इससे अधिक सच्ची, इससे अधिक वास्तविक और दुनिया के स्त्री-पुरुषों के कामों का इससे अच्छा वर्णन कोई दूसरा नहीं है।

ज़ाहिरा देखने से मेरा नुक़्तेनज़र बिलकुल असंगत दिखाई देगा। पूरबी और पच्छिमी दुनिया में हर शख़्स तकलीफ़ के साथ यह महसूस करता है कि बाज़ारों और मण्डियों में अमीर आदमी ही अपनी दौलत से सब पर हुकूमत करता है। दौलतमन्द जिस तरह एशिया में अख़बारों और व्याख्यान मंचों पर क़ब्ज़ा जमाये हुये है, उसी तरह यूरोप और अमरीका में भी उसका क़ब्ज़ा है। धनी व्यक्ति की दलीलें अकाट्य समझी जाती हैं, चाहे वे धान के खेतों के बारे में हों या मंगल ग्रह की नहरों के सम्बन्ध में। मोटी तनख़्वाह पाने वाले सरकारी अफ़सरों के किसी जवाब को आप को ग़लत कहने का अधिकार नहीं, ख़्वाह वे जवाब नैतिक, सामाजिक या धार्मिक किसी भी बारे में क्यों न हों। राजनैतिक क्षेत्र में भी नेतृत्व उसी आदमी के हाथों में रहता है, जिसके पास कई मोटरें हों, लड़ाई का माद्दा हो और जिसके पास ख़ुशामदियों का एक जत्था पालने के साधन हों। ज़ाहिरा तौर पर मनुष्य के नैतिक आचार, उसके व्यवहार नियम और उसकी भावनाएँ—कला और विज्ञान—ग़रज़ यह कि सारी दुनिया पैसों के बल पर चलती दिखाई देती है।

दुनिया पर धन की डिक्टेटरी स्पष्ट छाई हुई है और यह भी साफ़ दिखाई देता है कि दुनिया में दौलतमन्दों का बोल बाला है। किन्तु बावजूद इसके मेरा यह विश्वास है कि जो स्त्री और पुरुष दुनिया को रास्ता दिखा रहे हैं, जनसाधारण और विशिष्ट वर्ग दोनों को नये और ऐसे रास्तों से चला रहे हैं, जिन पर पहले किसी का क़दम नहीं उठा और मानव-समाज को इच्छा-अनिच्छा से उन्नति और सम्भावनाओं की

अगली सीढ़ी तक घसीट कर ले जा रहे हैं और आज के लिये और आने वाले कल के लिये नये सामाजिक, सांस्कृतिक और अध्यात्मिक सांचे ढाल रहे हैं—वे ग़रीब ही हैं। इस तरह मानव-प्रगति और सामाजिक उन्नति के सम्बन्ध में मेरे विचार ज़ाहिरा, स्पष्ट और दिखाई देने वाले विचारों से बिलकुल भिन्न हैं।

क्या यह बताने की ज़रूरत है कि ग़रीब है कौन? मेरा विश्वास है कि इसकी ज़रूरत नहीं। चाहे बिहार हो या बङ्गाल या चाहे हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्त हों, हमें कहीं भी ग़रीबी की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। फिर भी मुझे निश्चित रूप से कुछ कहना चाहिये। ग़रीब वह व्यक्ति है, जिसे दिन में दो बार खाने को नहीं मिलता। इन अभागों को दिन में दो बार कुल्ला करने की ज़रूरत नहीं। न इन्हें भर पेट खाने को मिलता है, न इनके पास तन ढकने को यथेष्ट कपड़े हैं और न रहने के लिये मकान। यदि ग़रीबी की यह तसवीर ज़रा ज़्यादह साफ़ होगई हो और एक ख़ास तबियत के लोगों को इससे तकलीफ़ पहुंचती हो, तो मैं ऐसे लोगों की तबीयत हल्का करने को यह कहूंगा कि—ग़रीब वह इनसान है, जिसकी आमदनी इतनी कम है कि उस तक इनकम टैक्स कमिश्नर की रसाई नहीं। इस तरह के इनसान न सिर्फ़ हज़ारों की तादाद में, बल्कि करोड़ों की तादाद में मिलेंगे। न सिर्फ़ हिन्दुस्तान में ही बल्कि दुनिया के हर मुल्क में, धनी से धनी मुल्क में जैसे ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका, फ्रान्स और जर्मनी में भी इस तरह के लोग मिलेंगे। मैंने अध्ययन कर के यह समझा है कि दुनिया पर सदा से जिन लोगों ने हुकूमत की है, वे इसी श्रेणी के हैं। भूखे, नङ्गे, खानाबदोश और इनकम टैक्स न देने वाले श्रेणी के नागरिकों, या परिवारों या फिरक़ों या क़ौमों में से ही ऐसे स्त्री और पुरुष निकले हैं, जिन्होंने दुनिया का नये सिरे से निर्माण किया है और समाज को नये सिरे से बनाया है। दुनिया का पुनर्सङ्गठन करने वाले और संस्कृति का नया युग रचने वाले, इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शन और समाज शास्त्र के निर्माता ये ग़रीब इनसान ही हैं। यह सत्य मेरे निकट बिलकुल स्पष्ट है। यही मेरा निरूपण है। यही विकास का नियम और मानव कल्याण की ठोस बुनियाद है।

मिसाल के तौर पर बिहार के ही एक शहर की बात ले लीजिये और बिहार के आजकल के प्रमुख पुरुषों और महिलाओं के नामों की सूची की रोशनी में मेरे सिद्धान्त को परखिये। आजकल के बिहार के प्रमुख व्यक्तियों के नामों को देखिये। इनमें से कितनों को आप बिहारी आदर्शों का निर्माता और बिहारी स्त्री पुरुषों के लिये नये युग की बुनियाद डालने वाला, वास्तविक रचनात्मक शक्ति से पूर्ण समझते हैं? स्वभावत: आप सब से पहले इस तरह के लोगों की एक सूची तय्यार करेंगे, जो राजनीति में, वकालत में, व्यापार में और अपनी संस्कृति के लिहाज़ से मशहूर हैं। आपको शासन चलाने वाले ऊंचे अधिकारियों और धारा-सभाओं के सदस्यों की सूची बनानी पड़ेगी। फिर आप लेखक, पत्रकार, कवि, औपन्यासिक, चित्रकार, शिल्पी, गायक और नाटककारों को नामों पर विचार कीजियेगा। इन मशहूर आदमियों में कुछ वैज्ञानिक, दार्शनिक और पुरातत्ववेत्ता की हैसियत से भी मशहूर हैं। आप उन लोगों को भी नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकते, जिन्होंने औद्योगिक क्षेत्रों में, टेकनालाजी के सम्बन्ध में, वैज्ञानिक खोजों में और इनसानों के सम्बन्ध में अनुसन्धान किये हैं। धार्मिक प्रचारक और समाज सुधारकों के नाम भी इस सूची से अलग नहीं किये जा सकते। फिर आप की सूची में बूढ़े, जवान, हर पार्टी, सम्प्रदाय और जातियों के राजनीतिज्ञ, मज़दूर और किसान नेताओं, ट्रेड यूनियन के कार्यकर्ताओं और राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक बराबरी के लिये काम करने वाले सभी गिरोहों के नेताओं के नाम शामिल होंगे।

स्त्री-पुरुषों की उपरोक्त सूची में एक दूसरे से भिन्न तरह-तरह के पेशों के लोग मिलेंगे। इस वक्त आप महज़ इनकी ज़िन्दगी के आर्थिक और आमदनी के पहलू पर ही ग़ौर करें। इन सब के मुताल्लिक़ जो सब से महत्वपूर्ण सवाल उठता है, वह यह है कि

इनकी मौजूदा आमदनी किस स्थिति की है ? वे आजकल क्या कमाते हैं ? इससे आप उनके सामाजिक और आर्थिक जीवन के कोई रहस्य न खोलेंगे। आप यदि यह प्रस्ताव करें कि बिहार के ये "फ़ायदे में लगे हुये" प्रमुख स्त्री और पुरुष दो श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं। इनमें पहली और महत्वपूर्ण श्रेणी में वे लोग हैं, जो यदि आधा पेट भोजन नहीं करते, तो कम से कम उनकी आमदनी भी इतनी नहीं है कि उन पर इनकम टैक्स लग सके। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो थोड़े बहुत समृद्ध हैं यानी इनकम टैक्स कमिश्नर की उन तक पहुँच है। मगर ऐसे लोगों की तादाद बहुत थोड़ी है।

इन थोड़े बहुत समृद्ध लोगों का हम भीतरी विश्लेषण कर सकते हैं। बहुत से लोगों को इस सदी के शुरू से बिहार की आर्थिक उन्नति का व्यक्तिगत ज्ञान होगा। इन मशहूर लोगों में से जिनकी आज ख़ासी अच्छी आमदनी है दस, पन्द्रह या बीस बरस पहले आर्थिक दृष्टि से समृद्ध नहीं थे। बहुत से धनी व्यापारी, रोज़गारी, वकील, डाक्टर, सरकारी अफ़सर अपने पेशे के शुरू में इस समृद्ध वर्ग में नहीं थे। इनकी एक बहुत बड़ी तादाद ग़रीब थी और ग़रीबी में दिन बिताती थी। आजकल के बाअसर और समृद्ध बिहारियों में से अनेक अपने बाहुबल से समृद्ध बने हैं। नेताओं और प्रमुख व्यक्तियों के जीवन की ये घटनाएं और सचाइयां कोई मुंदी ढकी बातें नहीं। हर एक उन्हें जानता है। ऐसे लोगों की बहुत थोड़ी तादाद है, जो बचपन से ही सुख की गोद में पले और अपनी ख़ानदानी जायदाद के ज़ोर पर आज प्रभावशाली हैं। यह तादाद इतनी थोड़ी है कि हम उसे नज़रअन्दाज़ कर सकते हैं।

मैं आप से एक क़दम और आगे जाने के लिए कहूंगा। आप इस बात की छानबीन कीजिये कि आजकल के समृद्ध व्यक्तियों के मां बाप भी क्या समृद्ध थे ? फिर इनके दादाओं की और परदादाओं की क्या परिस्थिति थी ? आपको यह बात माननी पड़ेगी कि सन् १८५७ के क़रीब इस समय के प्रमुख और समृद्ध नागरिकों में से बहुतों के बाप दादा ही बहुत ही ग़रीब और आर्थिक दृष्टि से गिरी हुई हालत में थे।

यह हुई बिहार की बात। अब बङ्गाल की क्या हक़ीक़त है ? मैं आपसे बङ्गाल के प्रमुख व्यक्तियों के बारे में भी यही जांच करने के लिये कहूंगा। बङ्गाल के ऐसे स्त्री और पुरुष जिनमें ज़बरदस्त रचनात्मक शक्ति है, आज उन्हें जानों के लाले पड़े हुए हैं। उन्हें यह तक नहीं मालूम कि दोनों वक्त भर पेट भोजन किसे कहते हैं। कवि, चित्रकार, शिल्पी, गायक, पत्रकार, शिक्षक, राजनैतिक प्रचारक, मज़दूरों को संगठित करने वाला, समाज सुधारक, अन्वेषक और इसी तरह के अन्य लोग बङ्गाली संस्कृति और दुनिया की प्रगति में नया युग शुरू करने वालों में हैं। क्या यह बदनामी की बात नहीं कि इनमें से अधिकतर ग़रीब, मुफ़लिस और तङ्ग हाल हैं ?

आज जो बङ्गाली वकील, डाक्टर, व्यापारी आदि समृद्ध दिखाई देते हैं, उनकी समृद्धि का भी वही रहस्य है जो बिहारियों का। आजकल के समृद्ध बङ्गालियों में से अनेकों के बाप दादे बहुत छोटी हैसियत के आदमी थे। वे इतने ग़रीब ख़ानदान में पैदा हुए हैं कि लोग उनके बाप दादों के बारे में कुछ नहीं जानते। इनमें से कुछ के पिता रसोइये थे और मां चौका बर्तन करती थीं। इस १९४१ के समृद्ध बङ्गालियों में से कितने ऐसे थे जो सन् १९०५ के महान स्वदेशी आन्दोलन के समय भी समृद्ध थे ?

इसलिये निराशा, मुर्दादिली और बेकारी के लिये ग़रीबी कोई बहाना नहीं हो सकती। पुराने ज़माने में ग़रीबों ने ही विजय पाई थी और अब भी ग़रीबों की ही कामयाबी का ज़माना है। मेरी भविष्यवाणी मुझे यह बताती है कि ग़रीब ही एक दिन दुनिया पर फ़तह पाएंगे। बङ्गाली समाज और बङ्गाली संस्कृति को आज कल के बड़े-बड़े लखपती और करोड़पती पूंजीवादी नहीं चला रहे हैं और न पुराने सामन्तशाही ज़मींदार और सरकारी अधिकारी ही उसे रास्ता दिखा रहे हैं। जिन लोगों ने बङ्गाली जनता के दिलों और दिमाग़ों को जीता है, जिन्होंने दुनिया के

सामने बङ्गाल और भारतवर्ष का मस्तक गर्व से ऊंचा किया है वे भूखे पेट जीवन बिताने वाले, ग़रीबी के सताये, क्लर्कों, किसानों और दस्तकारों की औलाद हैं जो ऐसे कच्ची झोपड़ियों में पैदा हुये जिनकी छतें चूती थीं।

इसका मतलब यह नहीं कि मैं ग़रीबी को नियामत समझता हूं। मैं ग़रीबी के मीठे गीत नहीं गा रहा। हर हाल में ग़रीबी एक अभिशाप है और ग़रीब को कोई भाग्यशाली नहीं कह सकता। ग़रीबी में कोई ऐसी बात नहीं, जिसके लिये अभिमान किया जाय। पूंजीपतियों की उच्छृङ्खलता का हर तरह सामना करना चाहिये। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि ग़रीबी एक ज़बर्दस्त सचाई है, जिसे नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। शायद मानवीय दुनिया में यह अमर सत्य है। बहर हाल यह एक सार्वभौम सचाई है कि ग़रीबों के अन्दर सृजनात्मक और रचनात्मक कला का एक ज़बरदस्त अंश मौजूद रहता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। ग़रीबों के सम्बन्ध में आपको इसी तरह के ऐतिहासिक और गणित के अङ्कों से साबित आंकड़े इङ्गलिस्तान, फ्रान्स, जर्मनी, जापान, अमरीका और दुनिया के दूसरे हिस्सों में मिलेंगे। यह सारी दुनिया की समस्या है। इसे सभ्यता और दुनिया के विकास की एक कष्टपूर्ण घटना समझिये कि रचनात्मक शक्ति और अध्यात्मिकता का ग़रीबी और मुफ़लिसी से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है। यह नहीं कि हर ग़रीब आदमी में यह सृजन शक्ति है, न यही कि हर सृजन शक्ति रखने वाला व्यक्ति ग़रीब है, किन्तु सृजन शक्ति और अध्यात्मिकता से पूर्ण लोगों की एक बड़ी तादाद यहां, वहां, हर जगह ग़रीबी में ही फलती फूलती है। अनजान मां बाप के बच्चे दुनिया के विजेता बन जाते हैं। इसलिये भारत और संसार का निकट भविष्य का फ़ैसला करने वाला ग़रीब ही है। उम्मीद की जाती है कि ये ग़रीब ही दुनिया को जीतकर उस पर शासन करेंगे।

जगती जागती है

श्री कृष्णदास, एम० ए०

आज अपने ओंठ सीकर,
निज लहू के घूंट पीकर;
भर नयन में अश्रु-सीकर,
आज मानवता बिचारी—
भीख दर-दर मांगती है!
और हम कहते अकड़ कर
आज जगती जागती है।

भूंजती नर—मुण्ड—माला,
आज विकराला कराला;
भभक उट्ठी युद्ध-ज्वाला,
विश्व—जननी मेदनी—
प्राचीन गौरव त्यागती है!
और हिंसक पशु समझते
आज जगती जागती है।

एक क्षण क्या हम रुकेंगे?
एक क्षण क्या हम टिकेंगे?
दाम कौड़ी के बिकेंगे?
गिर चुके इतने कि छाया—
दूर हमसे भागती है!
हम मनुज सोये हुये हैं
और जगती जागती है।

एकांकी नाटक

देहाती दवाख़ाना

श्री विद्याभूषण मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०

(स्थान—एक गांव का दवाख़ाना)

सुबह के वक्त दवाख़ाना खुला है। कम्पाउण्डर आकर सब दरवाज़े खोलता है और मेज़ पोंछकर शीशियां लगाता है। बाहर बरामदे में पहले से ही बहुत से रोगी आकर बैठे हैं और आपस में बातें कर रहे हैं।)

पहला रोगी—वाह रे फिरंगी महराज ! वाह ! गांव-गांव में दवा-दारू का परबन्ध हो गया। क्या कहें भैया, पहले तो काले कोस चलकर सहर जाते थे, तब कहीं डाकटर बाबू से भेंट होती थी।

दूसरा—हां भैया, ठीक कहत हो। हमें याद है, पांच बरस हुआ हमारे नाना जी बीमार पड़े थे। बस, इसी हरखू के इक्के पर बैठाकर ले चले। चलते चलते संझा हो गई, पर सहर दिखाई न पड़ा। आख़िर नाना जी ने इक्के पर ही सांस छोड़ी। अब तो भैया फिरंगी महराज की किरपा से इस गांव में भी दवाई-खाना खुल गया है।

तीसरा—यहां फ़ायदा भी तो जल्दी होता है। देखो, मेरे पांव में फोड़ा हुआ था। हमने महीना भर दवा-दारू की, बराबर पान-पत्ते बांधते रहे लेकिन रंचो फ़ायदा न हुआ। यहां आकर डाक्टर को दिखाया, तो वह हंसकर कहने लगा कि इसको तुरन्त चिरवा डालो नहीं तो बलूड-पापनी * हो जाएगा। उसके मुसकिया कर बोलने पर तो बड़ा गुस्सा लगा, लेकिन 'बलूड-पापनी' सुनकर डर गया। अभी चार दिन से यहां आ रहे हैं, लेकिन देखो, घाव भर गया है और दरद भी जाता रहा।

पहला—यहां की सफ़ाई की बलिहारी। देखो कैसे करीने से पट्टी बांधी है।

चौथा—भैया जुग बदल गया है। क्यों नहीं कहोगे ? अरे डाक्टर ससुर परमात्मा थोड़े ही हैं। अपनी सकती भर ही तो करेंगे। पांव कट जाय तो डाक्टर के पास जाओगे, पर नजर लग जाय, सिर पर भूत आ जाय तब कहां सरन मिलेगी ? तब डाक्टर क्या करेगा ?

सब—हां भैया, यह बात तो सची है, इसमें कोई सक नहीं है।

पांचवां—अरे भैया, हम तो सहर से आज ही आए हैं। एक बार हमें भी फोड़ा हुआ था और डाक्टर को दिखाया था। फिर हम क्या कहें, जैसा उसने जोंक की तरह रुपैया लिया और तंग किया, हम ही जानते हैं। तब से हमने कान पकड़ा कि डाक्टरों के पास नहीं जाएंगे, चाहे मर जायं।

---

*Blood-poison

चौथा—वाह ! तुमने तो इतना दुःख सहकर यह किया। हम तो हाल ही में एक दवा लेने गए और एक ही ख़ुराक पी है। परमेश्वर जानें उसने क्या दे दिया। दवा भीतर जाती ही नहीं और जाती भी है तो कै हो जाती है। हमने विचारते-विचारते यह समझा कि लड़ाई का ज़माना है। कौन जाने, महंगी पड़ी हैं, विलायत से दवा आती नहीं, इससे कहीं गो मूत भर कर न बेंचते हों इनका क्या ठिकाना ? इसीलिये हमने भी कसम खा ली है।

पांचवां—हम तो भैया सहर के एक बाबू की दवा करते हैं। वह होमोपाथी * दवा देते हैं। सस्ती भी होती है और विचारे बाबू फ़ीस भी थोड़ी ही लेते हैं। जो पैसा रहा उसे वह धीरे से ले लेते हैं और अगर किसी ने देख लिया तो कह देते हैं "अब तुम्हारा दवाई का दाम चुकता हो गया।" हम भी उनकी बात नहीं काटते क्योंकि थोड़े ही में काम निकलता है।

चौथा—अरे ! यह तो और अधिक भयानक होते हैं। इनसे तो और बचो। यह तो पानी ही देकर उसे दवा कहते हैं और आजकल लायचीदाना ख़रीद कर शीशियों में सजाकर रखते हैं।

पांचवां—ऐसा न कहो भैया, हमको तो बड़े कठिन रोग में फ़ायदा हुआ है।

चौथा—क़िस्मत अच्छी थी। बच गए। कागद पूरा नहीं हुआ था। बिना झाड़-फूंक सीखे दवा बेकार है। फिर डाक्टर लोग जन्तर-मन्तर का हाल क्या जानें ?

छठा—(एक कोने से) जन्तर-मन्तर सब ढकोसला है।

चौथा—हम यह नहीं कहते कि डाक्टर कुछ भी नहीं जानते। जरूर जानते हैं पर उतना ही न, अपनी सकती भर।

छठा—(कोने से) तो जब तुम डागदर बाबू से ज्यादा जानते हो, तब यहां आए क्या करने ? घर बैठते, अपना काम-काज देखते और झाड़ फूंक करते।

चौथा—(हाथ में सुरती मलते हुए) कौन ससुरा आया है। (सुरती की फंकी लेकर पीक भरे हुए) थके आए थे, सोचा यहीं छिन भर बैठकर बिसराम कर लें। आख़िर सरकारी जगह है केहू के बाप का इजारा है !

यह लो, खूब पूछ बैठे, (मुंह बनाकर) तुम आए किस लिए ? जैसे तुम्हीं डागदर बाबू के बाप हो न !

कंपाउंडर—(भीतर से) :—अरे ! यह क्या गुल-गपाड़ा मचा रखा है। यह असपताल है या तरकारी की सट्टी ? चुपचाप बैठना हो तो बैठे रहो नहीं तो बाहर जाकर झगड़ो।

सब—सरकार, हम लोग तो चुपचाप बैठे हैं। यही झगड़ा कर रहे हैं।

चौथा—हां तो मैं कह रहा था कि गांव का छोटे से छोटा वैद भी जानता है कि किस रोग की कौन सी दवा होती है। किसी रोग में वह दवा देता है, किसी में जन्तर-मन्तर देता है। (बच्चे को गोद में लिए एक स्त्री की ओर संकेत करके) अच्छा तुम्हीं से पूछते हैं, बताओ इसे क्या हुआ है ?

सातवीं (स्त्री)—इसके सिर में आज चार दिन से दरद है, बुखार भी है। डाकटर साहब ने दवाई दी थी फिर भी फरक नहीं मालूम हो रहा है।

चौथा—फरक कहां से मालूम होगा ? इसे तो लगी है नज़र। तुम भले ही डाकटर को दिखाओ, पर इससे कुछ अच्छा थोड़े ही होगा। तुम अभी जाकर राई-नोन उतारो और ओझा से झड़वा लो। तुरन्त आराम न हो तो हमरा नांव बदल दो।

---

*Homoeopathy

(सब रोगी ध्यान पूर्वक उसकी बातें सुनते हैं)

दूसरा—भैया, हमारे कान में दो रोज से दरद बन्द नहीं हो रही है, हम क्या करें ?

चौथा—बस तुमने कोई मेंढक मार डाला होगा।

दूसरा—नहीं भैया, जानकर तो मैंने कभी हत्या नहीं की, हां पांव के नीचे आ गया हो तो मैं नहीं जानता।

चौथा—बस यही बात है। अब तुम सैयद बाबा की मज़ार पर मलीदा चढ़ाओ। अगर दिया जलाते ही न अच्छा हो तो उलटे घड़े पानी भरूं। ये मूंछें योंही सफ़ेद नहीं की हैं।

तीसरा—बड़ा गुन है भैया, फकीरों की सेवा के बिना यह हुनर सब को नहीं मिलता। भैया, तुमने खूब बैदक पढ़ी है ?

चौथा—पढ़ी कहां। अगर पढ़ते तो आंख में चसमा लगाकर झख मारते रहते, यह सब कहां पाते ? अपना भी सब भूल जाते। हमने तो चट देखा और पट निदान किया। अरे बाबा, जब तुम खुद अपना हाल नहीं जानोगे तब डाक्टर बिचारा क्या करेगा ? अच्छा, देखो तुम्हें अस्पताल से दवाई मिलती है न ? कम्पोटर साहब कहते हैं, "सीसी हिलाओ" और "यों पीओ" और "त्यों पी ओ" उस दवाई में रहता ही क्या है ? और फिर वे पूरी दवाई देते भी तो नहीं।

तीसरा—सच है भैया। दवाई देने में ये जरूर कंजूसी करते हैं।

चौथा—जहां कमण्डल भरकर दवा देनी चाहिए वहां सिर्फ़ दो बूंद दवाई देंगे। अंधेर है न ? सरकार महाराज ने परजा के सुख के लिये दवाखाना खोला है, इनके बाप का क्या जाता है ? सहरी मनई को भले ही बूंद भर दवाई दें पर हरवाहन का उससे क्या फ़ायदा होगा ?

कंपाउण्डर—(बाहर आकर) देखो, तुम सब लोग एक पंगत में बैठ जाओ। डाक्टर साहब आ रहे हैं।

(सब नीचे एक पंक्ति बद्ध बैठते हैं, केवल चौथा नहीं बैठता। उसे लक्ष्य करके)

क्यों जी, तुम वहां क्यों बैठे हो ? इधर चलो।

चौथा—क्यों चलें ? हम दवाई लेने थोड़े ही आए हैं। थके थे, छाया देखी थकान मिटाने बैठ गए।

कंपाउण्डर—यह सराय नहीं है कि आए सुस्ताने लगे।

(भीतर चला जाता है)

चौथा—(धीरे से) बैदगी जानने वाले को क्यों बैठने दोगे ? रोटी मारी जाएगी न ? बड़े सफ़ेदपोश बने हैं !

(डाक्टर का आगमन। सब खड़े होकर उसे सलाम करते हैं। डाक्टर भीतर प्रवेश करके बैठता है। सिर की पीड़ा से आक्रांत रोगी भीतर जाकर शीघ्र बाहर आता है)

चौथा—कहो, दवाई ले आए ?

रोगी—हां भैया, यही सपेद सपेद चूरन तो दिया है और कहा है कि इसे पानी में घोल कर रखना।

(सहसा) अरे राम ! यह तो पूछा ही नहीं कि इसे पी जाना है या सिर पर मलना है।

चौथा—वाह ! अच्छी दवा कहीं यों खराब की जाती है। इसे पी जाना।

रोगी—(सोच कर) फिर भी, पूछ लेना ठीक होगा।

चौथा—कुछ अपना भी दिमाग़ लगाओ। बिना दिमाग़ लगाए न अपना भला कर सकोगे न दूसरों का। अभी परसों की बात है। मेरे चचा को ग़श आ गया था। अब मरे तब मरे

की हालत हो गई। मैंने आव देखा न ताव। मंतर पढ़कर एक गिलास पानी जो मुंह में उंड़ेला तो एकदम खड़े हो कर नाचने लगे। अब उस वक्त अगर हम डाक्टर की तलाश में जाते तो चाचा साहब सरग सिधार गए होते। हम अपनी अक्ल पर भरोसा रखते हैं। हमने कुछ पढ़ा-लिखा नहीं पर शकल देखते ही रोग बता देते हैं।

(अन्य रोगी ध्यानपूर्वक उसकी बातें सुनते हैं और अपने-अपने रोग का निदान कराने के अभिप्राय से उसके निकट पहुंचने के हेतु परस्पर धक्का देते हैं)

एक—धक्का क्यों देते हो जी ? हम पहले आए हैं।

दूसरा—अपनी-अपनी बारी से चलो, फिर धक्का देने की नौबत ही न आवे।

चौथा—तुम चाहते क्या हो ? मैं डाक्टर नहीं, वैद्य नहीं, ओझा नहीं। यहां तो देखते ही कुछ कह दिया तो ठीक, नहीं तो हर गंगा।

दूसरा—नहीं भैया, तुम बड़े गुनी हो। कृपा करो। हमारी आंख में बिलनी हुई है, इसके मारे बड़ा दर्द है। बताओ क्या करें ?

चौथा—करो क्या ? यह तो सभी जानते हैं। बेर के सात पत्ते लेकर एक बेर के कांटे में बांध कर आंख से छुआओ और धूप में रख दो। जैसे जैसे पत्ते सूखेंगे वैसे वैसे बिलनी भी सूखती जाएगी।

डाक्टर—(भीतर कंपाउन्डर से) इन देहातियों को क्या होगया है ? तुम उनसे कुछ कह देते हो और ये कुछ और ही कर बैठते हैं। चार दिन की दवा एक वक्त में ही पीकर खाली बोतल लिए चले आते हैं।

चौथा—(रोगियों से) सुना तुम लोगों ने ? समझते चलो। तुम्हारा दवा पीना भी इन्हें कितना खलता है। मैं कहता था न कि ये लोग मन से दवाई नहीं देते ?

(एक रोगी जो दवा लेकर बाहर निकलता है, चौथे की ओर दवा बढ़ाकर कहता है)

रोगी—देखो भैया, यह मालिश करने की दवाई ठीक है न ?

(बोतल पर लेबुल लगा है "बाहर लगाने के लिये" चौथा लेबुल को प्रकाश में ध्यानपूर्वक देखता और शीशी हिलाता है)

चौथा—तुम्हारे लिये यह दवाई बिल्कुल ठीक है। इसे सेर भर दूध में मिलाकर गटक जाओ। अब कल दूसरा कुर्त्ता पहन कर आना। तब ये तुम्हें और दवा देंगे। कंपाउन्डर ने तुम्हें सिर्फ़ आधी ख़ूराक दवा दी है।

रोगी—दवाई देने में भी इनके प्राण सूखते हैं।

चौथा—मैं तो पहले ही कह चुका हूँ। जब टिकस लगाना होता है तब ये परजा को कैसा चूसते हैं और न देने पर लाल-पीले होते हैं। और जब दवा देते हैं तब मन ही मन कुढ़ कुढ़ कर देते हैं। इसीलिये तो इनके हाथ में जस नहीं है।

सब—ठीक है। आओ, इस कंपाउन्डर को निकाल बाहर करें और इसे ऐसी नसीहत दें कि इसे छट्ठी का दूध याद आ जावे।

(कोलाहल—पटाक्षेप)

एक रूसी कहानी के आधार पर स्वतंत्र परिवर्तन के साथ

मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक आधार

डाक्टर ईश्वरनाथ टोपा, एम० ए०, डी० लिट्

पिछले लेख में हमने मध्यकालीन भारत की शासन प्रणाली पर ग़ौर किया है, अब उस राजनैतिक शासन के सांस्कृतिक आधार, सामाजिक और धार्मिक बातों की उन्नति का भी अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। मध्यकालीन हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन में पूर्ण एकता और सामञ्जस्य था। यहाँ के लोगों के जीवन में परस्पर प्रेम सम्बन्ध से सामाजिक समन्वय का विकास हुआ और उनकी उन्नति हुई। और यही मध्यकालीन भारत का वह पहलू है, जिसे भारतीय राष्ट्रीयता के ढांचे के लिए वास्तविक आधार बनाना चाहिए। मुसलिम शासन का आधार केवल राजनैतिक न था, बल्कि उसने राजनैतिक ढांचे को दृढ़ और पूर्ण बनाने के लिए सांस्कृतिक आधार की सहायता ली थी। हमारे देश के इतिहास में इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि बड़े से बड़े मुसलिम शासक अपनी तबियत और अपनी नज़रों में पूरी तरह भारतीय हो गये और उनके दिमाग़ का झुकाव ऐसा हो गया, जो उनकी गवर्नमेन्ट का एक नया ही अभिप्राय प्रकट करने लगा। यह अभिप्राय उस गवर्नमेन्ट को भारतीय आवश्यकताओं के अनुकूल बना देना और उसके अस्तित्व को यहां के लोगों के सांस्कृतिक विकास में वृद्धि करने वाला कर देना था। समय के बीतने के साथ ये महान् शासक दो विशेष महत्व पूर्ण नतीजों पर पहुंचे। एक तो यह कि राज्य के मामलों में उलेमा लोगों या उनके दल के विचारकों का हस्तक्षेप या दख़ल देना हुकूमत के स्थायित्व के लिए अच्छी राजनीति या बुद्धिमानी न थी। दूसरे यह कि बिना हिन्दुओं के स्वस्थ सहयोग के न तो हुकूमत अच्छे ढङ्ग से चलाई जा सकती है, न उसमें सदैव दृढ़ समतुल्यता रह सकती है। इसका एक मात्र इलाज यह था कि वे शासक गण हिन्दुओं में अपनी हुकूमत के प्रति केवल रुचि ही न पैदा करते, बल्कि उस गवर्नमेन्ट के चलाने और उसे स्थायी बनाने में उन्हें अपना पूरा साथी और हिस्सेदार बना लेते। इसका मतलब यह हुआ कि देश का कल्याण एक समय और एक साथ मुसलमानों और हिन्दुओं, दोनों के हाथों में था। यदि इन दो में से किसी की कमी हुई, तो जोड़ उखड़ जाता है और अन्त में गड़बड़ी होती थी। इस देश पर हुकूमत करने के बहुत थोड़े समय के भीतर वे इस राजनैतिक उसूल को समझ गये थे।

अलाउद्दीन ने इस पर सबसे पहले अमल किया। उसने शासन के मामलों में उलेमाओं के दख़ल को कम करके राजनीति को मज़हब से अलग करने की कोशिस की। उसके बाद मुहम्मद तुग़लक ने देश के राजनैतिक जीवन में उलेमा लोगों को निर्बल कर देना चाहा। उसकी हुकूमत के वक्त गवर्नमेन्ट में हिन्दुओं को शरीक करने का आन्दोलन जारी रहा। पर महान् अकबर के व्यक्तित्व के समय यह आन्दोलन अपनी सीमा पर पहुंच गया। हमारे देश के इतिहास में अकबर ने ही पहली बार यह प्रयत्न किया कि राजनीति को सांस्कृतिक रूप दिया जावे।

इस अर्थ में अकबर सचमुच हमारा पहला राष्ट्रीय सम्राट् कहा जा सकता है, जिसका एक यही उद्देश्य था कि हिन्दुओं और मुसलमानों की संस्कृतियों में पूर्णतः सामञ्जस्य हो जावे। ऐसी समन्वयात्मक संस्कृति का भाव राजनैतिक ढांचे में भरना उसका और केवल उसका ही काम था। अकबर की यह अनुभूति थी कि हिन्दुस्तान का राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक, तीनों प्रकार का वास्तविक विकास अलग-अलग संस्कृतियों का सामञ्जस्य करने और उन्हें मिला कर एक संस्कृति का रूप दे देने में ही हो सकता है—यही वास्तविक हिन्दोस्तानी संस्कृति थी, और है। इसी के आधार पर मध्यकालीन युग का भारतवर्ष बढ़ सकता था और उन्नति कर सकता था। मेरी सम्मति में आजकल के हिन्दोस्तान को भी अपने राजनैतिक जीवन के विकास का प्रभाव इसी सांस्कृतिक आधार पर करना चाहिए। केवल शुद्ध राजनैतिक बातों के आधार पर देश का जो भविष्य गढ़ने का प्रयत्न हो रहा है, उसमें कामयाबी नहीं मिल सकती। यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय राष्ट्र के लिए सांस्कृतिक बुनियादों की भी पूरी आवश्यकता है। केवल राजनैतिक बुनियादों पर ही यह राष्ट्र नहीं बन सकता। तथ्य तो यह है कि भारतीय राष्ट्रीयता के स्वस्थ विकास के लिए संस्कृति वास्तविक आधार होना चाहिए। तभी और केवल तभी हम भारत को एक राष्ट्र बनते हुए देखने की आशा कर सकते हैं। बिना सांस्कृतिक आधार के हिन्दोस्तानी राष्ट्रीयता अध्यात्मिकता, भाव और भावुकता और कला की भूख से मर जायगी। अतः भारतीय राष्ट्र निर्माण के लिए राजनीति और संस्कृति दोनों ज़रूरी हैं। एक के बग़ैर दूसरी बिना नींव की इमारत के समान होगी। आजकल का हिन्दुस्तान ऐसा ही है और उसकी बेचैनी उस बढ़े हुए राजनैतिक रोग को बताती है, जिससे वह बीमार है। राजनैतिक जादू के मन्त्रों से उसके अच्छे हो जाने की उम्मीद व्यर्थ है। इस तरह के ढङ्ग को वह जितना अधिक अपनाता है, उसके राजनैतिक जीवन के स्वस्थ विकास का अवसर उतना ही अधिक दूर होता जाता है। वास्तव में उसे जिसकी ज़रूरत है, वह सांस्कृतिक दवा है। इसी से उसका उद्धार होगा। किस प्रकार की सांस्कृतिक दवा की उसे ज़रूरत है? और जब से उसके इस राजनैतिक रोग का प्रारम्भ हुआ, तब से वह इस दवा को भूला क्यों रहा? क्या इसमें उसकी ही भूल थी? या कि उसके रोग का ठीक निदान ही न होने से ऐसा हुआ? इन प्रश्नों के उत्तर के प्रयत्न में ही अपने आप भारतीय राष्ट्र की समस्या का हल होगा। जैसा कि हमने देखा है पिछले ज़माने की बातों से हमें इन सवालों को साफ़ करने में मदद मिली है। इसी तरह उससे भारतीय राष्ट्र की आजकल की समस्या के हल करने वाली बातों का भी पता लग सकता है।

मुख्य समस्या को स्पष्ट रूप से समझने के लिए, मुख्य विषय से हटकर इतनी बातें कहना अनिवार्य था। अब मैं मध्यकालीन हिन्दुस्तान की कहानी का सूत्र फिर से पकड़ता हूं। इसका सम्बन्ध इसलाम के और हिन्दू धर्म के विचारों के पारस्परिक संयोग और उस संयोग का मध्यकालीन युग के लोगों के जीवन पर जो प्रभाव पड़ा, उससे है। इसी सांस्कृतिक सम्बन्ध के फल स्वरूप समाज में सामञ्जस्य की उत्पत्ति हुई थी।

राजनैतिक शक्ति के रूप में हिन्दुस्तान में इसलाम की स्थापना के पहले इसलाम यहां धार्मिक रूप में आचुका था। दक्षिण भारत में वह सब से पहले आया। कई इसलामी देशों से मुसलमान सौदागर हिन्दुस्तान से व्यापार करने के लिए आते थे। मुसलिम सन्तों ने लंका जाना प्रारम्भ किया, जो कि एक पवित्र तीर्थ समझा जाता था। इस प्रकार दक्षिण से इसलाम का सम्बन्ध हुआ। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप न केवल धीरे-धीरे और शान्ति पूर्ण ढंग से मुसलमान यहां आकर बसने लगे, बल्कि यहां के लोगों में इससे बहुत बौद्धिक जागृति भी हुई। मुसलमान सौदागरों की ईमानदारी और सचाई, मुसलिम पीरों और सन्तों की जाति-पांति या विश्वास के

भेदभाव से ऊपर उठकर विस्तृत मानवता की दृष्टि और समाज-सेवा की भावना, इन सब ने यहां के लोगों के जीवन को प्रभावित किया।

फल यह हुआ कि दक्षिण में इसलाम का स्वागत हुआ। ऐतिहासिक प्रमाण से यह बात साबित होती है कि दक्षिण के हिन्दू राजाओं की रक्षा और संरक्षणता में इसलाम ने उन्नति की। एक ओर तो मुसलमान सौदागरों और पीर लोगों के प्रभाव से और दूसरी ओर राजाओं की संरक्षणता और रक्षा तथा सहायता से इसलाम का दर्जा हिन्दू समाज में इतना बढ़ गया था कि उस युग के बुद्धिवादी हिन्दू इसलाम को ठीक तरह समझने में रुचि प्रकट करने लगे थे। इस प्रकार इसने हिन्दू-हृदय पर विजय पाई और सामाजिक एकता के आवश्यक बन्धनों को तोड़े बिना ही इसने लोगों के जीवन में प्रवेश किया और उस पर बहुत कुछ प्रभाव डाला। एक तो अपने विश्वास में स्फटिक के समान स्वच्छ होने से और दूसरे वास्तविक जीवन में भ्रातृत्व के सिद्धान्तों के कारण भारतीय लोगों के दिमाग़ों को शांति पूर्ण ढंग से पलटने में इसलाम ने सहायता दी। साथ ही इसने समाज के जीवन के आधार को नष्ट किये बिना उन बौद्धिक शक्तियों को परिचालित कर दिया, जिन से पुराने सामाजिक मूल्यों को फिर से आंकने का प्रयत्न हो रहा था, इस तरह दक्षिण में धर्म के नाम पर बिना एक बूंद रक्त बहाये, चुपचाप और शांति पूर्ण ढंग से इसलाम का प्रचार हुआ। दक्षिण में उसके शांति पूर्ण प्रवेश को विस्तार में बयान करने के लिये यहां जगह नहीं।

इस देश की स्त्रियों से शादी ब्याह करके यहां के सामाजिक जीवन में प्रवेश कर जाना मेरे विचार से, हिन्दुस्तान के इसलामी इतिहास में स्थायी असर रखता है। मुसलमानों ने हिन्दुस्तानी ख़ून से सम्बन्ध जोड़ना, इसलाम के प्रचार में बाधक नहीं समझा। हिन्दुओं और मुसलमानों के ख़ून के इस प्रकार मिलने से शुभेच्छा, मित्रता, और सहन शक्ति की नीवों में दृढ़ता आई और लोगों के हृदय से विदेशीपन के भाव के दूर होने में सहायता मिली। इससे यह हुआ कि पुराने सामाजिक क़ानून, रीति-रिवाज और क़ायदे प्रायः ज्यों के त्यों बने रहे, यद्यपि इसलामी प्रभाव से उनमें कुछ सुधार किया गया। इस तरह जैसा प्राचीन भारतवर्ष में सामाजिक सामंजस्य था, वैसा ही बना रहा। दक्षिण के इतिहास ऐसे मनोरंजक तथ्यों से भरे हुए हैं और वे लोग, जो इस विषय में रुचि रखते हैं, उन्हें पढ़ सकते हैं। दक्षिण में इसलाम के इतिहास की यह ख़ास बात है।

अब हमारा ध्यान इस पर जाना चाहिये कि उत्तर भारत में इसलाम का प्रवेश कैसे हुआ और उसका हिन्दुस्तानी समाज पर कैसा असर पड़ा। पहले मैं इस सवाल का जवाब देना चाहूंगा कि दक्षिण में इसकी शक्ति जीवन में उन्नति प्रद रही या नष्टकारक ? संक्षेप में ही कहने का मैं प्रयत्न करूंगा। उत्तर में मुसलिम राजनैतिक शक्ति के बाद ही इसलाम का आगमन हुआ। बारहवीं सदी से पीरों और सूफ़ियों का आना प्रारम्भ हुआ। जैसे दक्षिण में संत लोगों ने काम किया था, वैसे ही यहां इन्होंने किया। मध्यकालीन भारत के शासकों की रक्षा और संरक्षकता में वे संत लोग रहते थे, यद्यपि उन्हें इन की आवश्यकता न थी। इन सन्त लोगों के जीवन का उद्देश्य उच्चतर था। वह था सृष्टि की सेवा करना, जिसका अर्थ है सृष्टा की सेवा। इतिहास ऐसी घटनाओं से भरे हुए हैं, जिन से यह सत्य दिखाई देता है कि वे लोग अपने जीवन भर इसी उद्देश्य के अनुकूल रहने में प्रयत्न शील रहते थे कि ईश्वर की सेवा मानव मात्र की सेवा द्वारा ही की जा सकती है। ऐसे सन्तों की दृष्टि में ईश्वर के सामने सभी व्यक्ति समान होते हैं और बिना जाति-पांति, विश्वास या धर्म के भेदभाव के उनकी सेवा करना वे सब से अधिक नेकी का काम समझते थे। हिन्दुस्तान में मानवता की प्रगति के वे ही अगुआ थे। उन्होंने मध्यकालीन युग के लोगों में आत्मिक शक्ति पर विश्वास जगाया। इसके बिना ईश्वर की भक्ति की कल्पना तक नहीं की जा सकती। मानव-हृदय

की जन्मजात शक्ति में और आध्यात्मिक जीवन में उसके कार्य के महत्व में उन्हें विश्वास था। जब तक हृदय प्रेम और सेवा के भावों से सराबोर न हो जावे, जिसके बिना ईश्वर की भक्ति नहीं होती, तब तक धर्म परिवर्तन का, या विश्वासों का मनुष्य की आत्मिक उन्नति के बारे में कोई मूल्य नहीं। इस प्रकार मध्य-काल के इन शक्तिशाली, बाअसर और मानव-भावना रखने वाले लोगों ने हिन्दुस्तान को अनेक लाभ-दायक पाठ सिखाये। इनमें पहला तो यह था कि धार्मिक व्यक्ति की हैसियत से हर एक मनुष्य को जन्म से ही यह अधिकार प्राप्त है कि ईश्वर को देखे, उस का अनुभव करे और उसका बोध प्राप्त करे। दूसरा यह था कि ईश्वर की नज़रों में बराबर होने से जन्म, समाज या पेशे के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच में भेद नहीं किया जा सकता।

ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियों के शान्तिपूर्ण प्रयत्नों से हिन्दुस्तान शक्तिशाली विचार धाराओं से प्रभावित हुआ। इस प्रकार इन मुसलमान सूफ़ियों के मूल सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने के लिए समय-समय पर हिन्दुस्तान में धार्मिक नेता पैदा हुए। सामाजिक जीवन को ऊंचा उठाने के लिये रामानुज, कबीर, दादू, नानक और चैतन्य आदि के आध्यात्मिक गुणों ने काम किया। इन सब सुधारकों ने अपने समय की मुख्य आवश्यकता को समझने की कोशिश की। वह आवश्यकता थी मनुष्य और समाज के सम्पूर्ण जीवन को मानवता और आध्यात्मिकता की ओर ले जाना। हमारे देश के सामाजिक इतिहास में यह एक विशेषता है कि इन लोगों की शिक्षा का मूल ढांचा इसलामी विचारों पर था। आजकल के इति-हास लेखक इस बात की परवाह नहीं करते और इसकी उपेक्षा कर जाते हैं। ईश्वर की एकता और मनुष्यों का भाई-चारा ये दोनों इसलाम के मुख्य सिद्धान्त हैं और इन दोनों पर इसलाम के शांति-पूर्ण प्रवेश से असर पड़ा और इसलाम ने उन्हें बनाये रखने का प्रयत्न किया। जहां तक ईश्वर की एकता का प्रश्न था, महान हिन्दू विचारकों और दार्शनिकों का सदैव यह विचार रहा है कि धर्म का मुख्य आधार ईश्वर का एकत्व ही है। किन्तु आमतौर से हिन्दू जनता के दिमाग़ों में सर्वशक्तिशाली शक्ति के रूप में ईश्वर के स्थान पर अनेक संरक्षक देवी देवतागण समा गये थे। इसलाम के सीधे प्रभाव के कारण ही, दार्शनिक और विचारक के ढङ्ग से नहीं, बल्कि जीवन में व्याव-हारिक इस्तैमाल के रूप में ईश्वर के एकत्व का विचार धर्म की मुख्य वस्तु बना।

यद्यपि मध्यकालीन भारतवर्ष के महान हिन्दू सुधारकों ने जाति-पांति के भेद-भावों को लोगों के आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन में रुकावट डालने वाला देखकर, उनके विरुद्ध बग़ावत का झंडा खड़ा किया; लेकिन सामाजिक अन्याय के विरुद्ध इस बग़ावत का श्रेय भी इसलाम को है। यह पूरी तरह एक इसलामी भाव है कि ईश्वर के सामने सब मनुष्य समान हैं। यह जानकर संतोष होता है कि हिन्दुओं ने इन इसलामी विचारों को एक अच्छे और भले ढङ्ग से अपना लिया। उन्हें अपने सामाजिक दर्शन शास्त्र में सम्मिलित कर लिया। इन महान् हिन्दू उपदेशकों ने इसलाम की सामाजिक और धार्मिक फ़िलासफ़ी का हिन्दू ढङ्ग से प्रचार किया। इस प्रकार ये आन्दोलन अप्रत्यक्ष रूप से इसलाम के सन्देश-वाहक हो गये और इनसे हिन्दुस्तान वाले उस विचार की ओर मुड़े जो इसलामी था। इस प्रकार वास्तविक हिन्दुस्तान पर असल में इसलाम के मूल विचारों का प्रभाव पड़ा। और विचारों की यही दौलत हिन्दुस्तानियों को इसलाम की स्थायी विरासत में मिली है। हिन्दू धर्म और मुसलमानी धर्म के इस प्रकार मिल जाने से सामाजिक जीवन में एक नई समन्वयात्मक शक्ति ही नहीं आई, बल्कि इससे इन दोनों को एक दूसरे की दृष्टि को ठीक तरह समझने और उसकी प्रशंसा करने में बहुत सहायता मिली। इतना ही नहीं, मध्यकालीन भारतवर्ष के महान विचारकों ने यह प्रयत्न भी किया कि राष्ट्रीयता के लिए आधार बन सकने वाली ऐसी बातों का पता लगायें, जो आमतौर से एकता का केन्द्र बन सकें।

जीवन के इस उत्कृष्टतर भाव की ओर उन महान विचारकों की स्वाभाविक प्रेरणा को, उस समय के लोग अपनी विशेष तरह की बौद्धिक और मानसिक बनावटों के कारण न समझ सके और ऐसे प्रयत्न निष्फल रहे। समय के नये चिह्नों को देख सकने में वह काल, अपने बेहद रीति-रिवाज वाले धर्म के कारण, समर्थ न हो सका। किन्तु उस राष्ट्र का, जिस का आधार आध्यात्मिक और मानवता से भरा होगा, भारत में चित्र बनना प्रारम्भ हो गया था। वह युग इन नतीजों पर भी पहुंच गया था कि अपने आत्म-बोध से आध्यात्मिक मुक्ति पालेने की शक्ति प्रत्येक में है, और दुनियां में ऐसी कोई दूसरी शक्ति नहीं है, जो बिना उसकी भीतरी तड़प के ऐसी मुक्ति उसे दिला सके। इसका मतलब यह है कि मानव-हृदय में धर्म को उचित स्थान देकर हिन्दुस्तान ने धर्म की समस्या को भी हल कर लिया था। और इस तरह धर्म एक पवित्र और बिलकुल व्यक्तिगत मामला हो गया था। किसी व्यक्ति का कुल या उसकी पैदाइश, उसका पद या पेशा चाहे जो हो, पर धर्म का सम्बन्ध व्यक्तिगत था और किसी को जबरदस्ती कोई धर्म मानने को मजबूर करना समाज का काम न था। धर्म का जो अर्थ उस युग में समझा जाता था, उसके अनुसार, वह एक बहुत रहस्यपूर्ण अनुभव था और उस समय यहां के लोगों ने एक नई साधना निकाली थी, जिससे लोगों के सामाजिक जीवन का आधार विस्तृत हो, उनका बौद्धिक जीवन अधिक स्वतन्त्र और उदार हो तथा उनका धार्मिक जीवन और अधिक सहनशील और प्रशस्त हो। उस युग की प्रवृत्तियां इस प्रकार की ही थीं। आजकल का हिन्दुस्तान अपनी समस्याओं का हल खोज रहा है। मध्यकाल ने यह हल बिना अधिक संघर्ष के निकाल लिया था। किसी का प्रारम्भ या ढङ्ग इसलामी होने से ही उस समय उसे स्वीकार करने से इन्कार न किया जाता था, जैसा कि इस समय हिन्दुस्तान में हो रहा है। इसके विरुद्ध सहनशीलता के ढङ्ग और जीवन की प्रेरणा से हिन्दू और इसलामी दोनों सांस्कृतिक शक्तियों के समन्वय की जरूरत हुई थी, और इसका फल वह था, जिसकी जीवन के लिये व्यापक अर्थों में जरूरत थी। इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दुस्तान में भारतीय राष्ट्रीयता के ढांचे के लिए एक सांस्कृतिक आधार तैयार कर लिया गया था।

इन दो देहों में एक जान

श्री सुधीन्द्र, एम० ए०

रे क्या हिन्दू, क्या मुसलमान ?
इन दो देहों में एक जान !
दोनों ही धरती पर बसते
दोनों के ऊपर आसमान
रे क्या हिन्दू, क्या मुसलमान ?

(१)

दोनों ही मिट्टी के पुतले
दोनों ही में है हाड़-मांस

दोनों खाते हैं अन्न एक
लेते हैं दोनों एक सास
दोनों मिट्टी में मिलते हैं
फिर क़ब्र अथवा वह हो मसान
रे क्या हिन्दू, क्या मुसलमान !

(२)

मज़मून वही है, वही बात
क़ुरआन पढ़ो, या पढ़ो वेद
फिर क्यों ख़ूंरेज़ी—रक्तपात ?
समझा हमने यह नहीं भेद !
क्यों साथ नहीं पढ़ते दोनों
गीता - पुराण, कलमा - क़ुरान
रे क्या हिन्दू, क्या मुसलमान ?

(३)

इन ईंट - पत्थरों ही में अब
रह गये तुम्हारे ख़ुदा - राम
अब धर्म और मज़हब दोनों
लड़ते रहते हैं सुबह - शाम
ये राम-रहीम झगड़ते क्यों ?
है भला तुम्हारा क्या बयान !
रे क्या हिन्दू, क्या मुसलमान ?

(४)

कर रहा आरती मस्जिद की
दिन-रात देख लो आसमान !
मन्दिर में साझ सबेरे क्या
घड़ियाल नहीं देता अज़ान !
मन्दिर - मस्जिद दोनों उसके
जिसके ये धरती - आसमान !
रे क्या हिन्दू, क्या मुसलमान ?
इन दो देहों में एक जान !

हिन्दू और मुसलमान लड़ते किन बातों पर हैं?

स्वामी सत्यभक्त, संस्थापक सत्य-समाज, वर्धा

हिन्दू-मुसलमान एक ही देश के रहने वाले हैं। इनका नफ़ा-नुक़सान एक साथ है। दिन-रात का रहन-सहन इस तरह मिला हुआ है कि अलग नहीं किया जा सकता। इस पर भी आज दोनों में कहीं-कहीं इतना वैर फैला मालूम होता है मानों सांप और नेवले सरीखा उनमें जन्म से वैर हो। बहुत से लोग तो ऐसे हैं, जो दोनों की एकता में विश्वास ही नहीं करते।

इस देश के लिये यह नया मौक़ा नहीं है। एक दिन आर्यों अनार्यों का झगड़ा हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े से बढ़कर था। दोनों की नसलें तक हिन्दू-मुसलमानों की निसबत ज़्यादह जुदा थीं, फिर भी आज आर्य अनार्य दोनों मिलकर एक क़ौम बन गए हैं, उनकी एक सभ्यता और एक धर्म बन गया है।

अपनी अपनी छोटी छोटी विशेषता से चिपके रहने से विशेषता और समानता नष्ट हो जाती है। अहंकार सबको खा जाता है। पुराने ज़माने के आर्यों और नागों (अनार्यो) ने जब इस तत्व को समझा, तब दोनों में एकता हुई।

आज भी वैसी ही परिस्थिति है। हिन्दू-मुसलमान मिलकर एक नहीं हो सकते, यह राय बहुतों की है! पर अगर आर्य और नाग मिलकर एक हो गये, तो हिन्दू-मुसलमानों में उनसे ज़्यादह क्या फ़रक़ है। नागयज्ञ सरीखी क्रूरता तो हिन्दू और मुसलमान दोनों में से कोई भी नहीं दिखा सकता।

हिन्दू-मुसलमानों में क्या-क्या भेद कहा जाता है, इसकी एक फ़ेहरिस्त बनाकर उस पर विचार करने से उन भेदों की असलीयत मालूम हो जायगी।

	हिन्दू	मुसलमान
१	मूर्त्तिपूजक हैं	मूर्त्ति पूजा के ख़िलाफ़ हैं
२	मांसत्यागी हैं	मांसभक्षी हैं
३	गोवध विरोधी हैं	शूकर वध विरोधी हैं
४	बहुदेववादी हैं	एक ईश्वरवादी हैं
५	पुनर्जन्म मानते हैं	क़यामत मानते हैं
६	पूजा में गाते बजाते हैं—	नमाज़ में शांत रहते हैं
७	पूरब मुंह पूजा करते हैं—	पश्चिम तरफ़ नमाज़ पढ़ते हैं
८	चोटी रखते हैं	दाढ़ी रखते हैं
९	हिन्दुस्तानी हैं	अरबी हैं
१०	लिपि देवनागरी है	लिपि फ़ारसी है
११	भाषा हिन्दी है	भाषा उर्दू है
१२	धार्मिक उदारता अधिक—	धार्मिक उदारता कम
१३	नारी अपहरण नहीं करते—	करते हैं
१४	मुसलमानों को अछूत समझते—	किसी को अछूत नहीं समझते

१ मूर्त्ति पूजा

(१) आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, स्थानकवासी वग़ैरह अनेक सम्प्रदाय हिन्दुओं में ऐसे हैं, जो मूर्त्तिपूजा के ख़िलाफ़ हैं। सिक्ख और तारण पन्थी शास्त्र की पूजा मूर्त्ति सरीखी करते हैं और मुसलमान भी ताज़िया और क़ब्र पूजते हैं; काबे का पत्थर चूमते हैं, मस-

जिदों में जूते पहिन कर जाने को मनाही करते हैं। यह सब भी एक तरह की मूर्तिपूजा है, ईंट, चूना पत्थर में आदर भाव भी मूर्तिपूजा है। यों असल में न हिन्दू मूर्तिपूजक हैं न मुसलमान मूर्तिपूजक हैं। मूर्ति या ईंट, चूना, पत्थर को ईश्वर या ख़ुदा कोई नहीं मानता, सभी इन्हें ख़ुदा या ईश्वर की याद दिलाने वाला निमित्त या निशान मानते हैं। किसी को मसजिद देखकर ख़ुदा याद आता है, किसी को मूर्त्ति देखकर खुदा याद आता है। सब धर्मस्थान या प्रतीक ख़ुदा को पढ़ने या समझने की किताबें हैं। राम जी की मूर्ति के सामने पूजा करने वाला हिन्दू राम जी की नीतिमत्ता, प्रजापालकता, त्याग, उदारता, वीरता वग़ैरह गुणों का ही बखान करता है, यह नहीं कहता कि हे भगवान, तुम संगमरमर के बने हो, बड़े चिकने हो, बड़े वज़नदार हो वग़ैरह। इसी तरह मक्का की तरफ़ मुंह करके नमाज़ पढ़ने वाला मुसलमान मक्के के पत्थरों का ध्यान नहीं करता, दोनों सिर्फ़ सहारा लेते हैं। ध्यान तो ख़ुदा या ईश्वर का करते हैं, इसलिये दोनों मूर्तिपूजक नहीं हैं।

हां, इसलाम में जो मूर्तिपूजा की मनाही की गई है, उसका कारण यह है कि हज़रत मुहम्मद के समय अरब में मूर्तियों को ही ख़ुदा मानते थे, उनके नाम पर दलबन्दी, लड़ाई झगड़े बहुत होते थे। हर एक मूर्त्ति मानों एक ईश्वर हो और मनुष्यों के समान मानों ईश्वरों में भी झगड़े होते हों। मूर्ति को आधार बनाकर ये सब बुराइयां फल-फूल रहीं थीं, इसलिये मूर्तियां अलग कर दी गई। पर ईश्वर को याद करने के लिए जो सहारे थे, वे नष्ट नहीं किये गये। मतलब यह कि बुराई मूर्ति में नहीं है, किन्तु उसे ईश्वर मानने में, मूर्तियों के समान ईश्वर को जुदा जुदा कर लड़ाने में, उनके निमित्त वैर-विरोध बढ़ाने में है। इस बात को हिन्दू भी मंज़ूर करेगा, मुसलमान भी मंज़ूर करेगा। मूर्ति का सहारा लेना नास्तिकता नहीं है; यह तो रुचि और योग्यता का सवाल है। इसलिये मूर्ति अमूर्ति को लेकर झगड़ा न करना चाहिये। हो सकता है कि मुझे मूर्ति के सहारे की ज़रूरत न हो और मेरे बच्चे को या पत्नी को हो अथवा मुझे उसकी ज़रूरत हो किन्तु मेरे बेटे को न हो।

जब कि हिन्दू बिना मूर्ति के सन्ध्या, सामयिक प्रतिक्रमण वग़ैरह धार्मिक क्रियाएं करते हैं, तब मूर्ति के बिना नमाज़ क्यों नहीं पढ़ी जा सकती और जब मुसलमान क़ब्र, ताज़िया, काबा आदि का सहारा लेते हैं, तब मूर्ति के सहारे में क्या झगड़ा है? यह तो कोई बात न हुई कि हज़रत मुहम्मद की क़ब्र का विरोध किया जाय, पर मामूली फ़क़ीरों की क़ब्रों पर रेवड़ियां चढ़ाई जांय। हज़रत ने अगर अपना स्मारक बनाने की मनाही की थी, तो यह तो उनकी नम्रता थी और यह विचार था कि लोग कहीं बुतपरस्त न बन जांय। व्यवहार में तो हिन्दुओं में भी मूर्तिपूजक हैं और उसके विरोधी भी हैं और मुसलमानों में भी मूर्तिपूजक हैं और उसके विरोधी भी हैं।

२—मांस भक्षण

१ हिन्दुओं में सौ में पचहत्तर हिन्दू मांसभक्षी हैं। शूद्र कहलाने वाली अधिकांश जातियां मांस खाती हैं। बङ्गाल, उड़ीसा, मैथिल वग़ैरह प्रान्तों में उच्च जाति के ब्राह्मण आदि भी मांस खाते हैं। क्षत्रिय लोग अधिकतर मांस खाते हैं। सिक्ख मांस खाते हैं। ईसाई भी खाते हैं। इसलिये मांसभक्षण हिन्दू-मुसलमानों के भेद का कारण नहीं कहा जा सकता। बहुत से बहुत इतना ही हो सकता है कि जो लोग मांस-भोजन से बहुत अधिक परहेज़ करते हैं, वे मांस भक्षियों के यहां भोजन न करें। उनके साथ बैठकर भोजन करने में आमतौर पर ऐतराज़ न होना चाहिये।

इस हालत में हिन्दू मुसलमान का भेद न होगा, मांसभोजी शाकभोजी का भेद होगा।

हां, मांसभोजन का विरोध हिन्दू और मुसलमान दोनों करते हैं। अहिंसा को दोनों महत्व देते हैं। यही कारण है कि हज करते समय हर एक मुसलमान को मांस का बिलकुल त्याग करना पड़ता है, जूं

मारना भी मना है। मामूली दिनों में अगर किसी जानवर को मारना भी पड़े, तो तड़पाना मना है। अगर हिंसा धर्म होता, तो हज के दिनों में अधिक से अधिक मांस खाने का उपदेश होता, मांसत्याग का नहीं। मुसलमान सूफ़ियों का तो हमेशा से एक असूल "तर्क हैवानात" रहा है। उनमें हज़ारों ही शुरू से मांस से परहेज़ करते रहे हैं। हिन्दुओं में भी मांसत्याग को बड़ा पुण्य माना है। इस तरह मूल में तो दोनों ही अहिंसावादी हैं। आदत के कारण, जो हिंसा रह गई है, वह दोनों तरफ़ है, ऐसी हालत में झगड़ने का क्या कारण है ?

३—गोवध

गोवध हो या शूकरवध हो या किसी भी प्राणी का वध हो, जब दोनों अहिंसा को महत्व देते हैं, तब दोनों को व्यर्थ वध का विरोधी होना चाहिये। गोवध और शूकरवध के विरोध पर जो ज़ोर दिया जाता है, उसके कारण ढूंढ़ने की अगर कोशिश की जाय, तो दोनों एक दूसरे के मत का आदर करेंगे। हिंदुस्तान कृषि प्रधान देश है। खेती की ज़रूरत हिन्दुओं को भी है और मुसलमानों को भी है और खेती में यहां गाय का जो महत्व है, वह सबको मालूम है। इसलिये आमतौर पर गोवध का विरोध मुसलमानों को भी करना चाहिये।

शूकर वध देखने का दुर्भाग्य अगर किसी को मिला हो, तो वह मांसभक्षी ही क्यों न हो, उसका दिल थर्रा जायगा। जिस तरह वह चीत्कार करता है—जिस तरह वह ज़िन्दा जलाया जाता है, इससे क्रूर आदमी की भी रूह कांप जाती है। परिस्थिति अनुकूल न होने से यद्यपि इस्लाम पूरी तरह पशुवध नहीं रोक पाया फिर भी इस तरह की क्रूरता को तो उसने रोका ही। किसी भी जानवर को तड़पाने की अनुमति तो इस्लाम ने कहीं नहीं दी, इस दृष्टि से उसका शूकरवध विरोध बहुत ही ठीक है। हिन्दू अपने को मुसलमानों की अपेक्षा अधिक अहिंसावादी मानते हैं, इसलिये उन्हें तो मुसलमानों की निस्बत भी ज़्यादह शूकरवध-विरोधी होना चाहिये।

पर यह सवाल हिंसा अहिंसा की दृष्टि से विचारणीय नहीं रह गया है। इसके भीतर अधिकार का अहंकार घुस गया है। क़साई घर में दिन-रात सैकड़ों गायें कटती हैं, वे गायें भी प्रायः हिन्दुओं के यहां से ख़रीदी जाती हैं, इस पर हिन्दुओं को एतराज़ नहीं होता, पर ईद के गोवध पर एतराज़ होता है। इसलिए यह प्रश्न अधिकार का प्रश्न बन जाता है।

जहां अधिकार का सवाल आया, वहां मुसलमानों को अपने अधिकार की रक्षा के लिये गोवध करना ज़रूरी हो जाता है। इसलिये गोवध रोकने का सब से अच्छा तरीक़ा यह है कि साधारण क़ानून के अनुसार मुसलमानों को क़ुर्बानी करने दी जाय। हां, आम रास्ते पर या आम खुली जगह में पशुवध न करने का जो सरकारी क़ानून है, उसका धार्मिक भावना से एक हिन्दू के नाते नहीं, किन्तु एक नागरिक के नाते पालन कराना चाहिये। सीधी बात यह है कि गोवध के प्रश्न पर हिन्दुओं को पूरी उपेक्षा और उदारता बरतनी चाहिये। गोवध रोकने के लिये शूकरवध करना मूर्खता है, क्योंकि इससे गोवध बढ़ेगा और दोनों पक्षों में होने वाला मनुष्यवध और हृदयवध और भी कई गुना होगा।

गोवध रोकने का असली तरीक़ा यह है कि गोपालन इस तरह किया जाय कि किसी को गाय बेंचने की ज़रूरत ही न पड़े। आज जो हज़ारों की संख्या में गोवध हो रहा है, उसमें हिन्दुओं का हाथ कुछ कम नहीं है। तब वर्ष भर में एक बार होने वाला गोवध हिन्दू मुसलमानों के भाई-चारे का वध क्यों करे ?

४—बहुदेववाद

हिन्दू बहुदेववादी हैं, पर अनेकेश्वरवादी नहीं हैं। वे बहुत से देवता मानते हैं, लेकिन ईश्वर एक ही मानते हैं। मुसलमानों के समान वे भी एकेश्वरवादी हैं और हिन्दुओं के समान मुसलमान भी बहु-

देववादी हैं। हिन्दू एक ही परमात्मा मानते हैं, उसके अवतार, अंश, विभूतियां, दूत आदि अनेक मानते हैं; इस प्रकार नाना रूपों से एक ही ईश्वर को पूजते हैं। मुसलमान एक ही ख़ुदा को और उसके भेजे हज़ारों पैग़म्बरों को मानते हैं और उनका सम्मान करते हैं। हज़ारों पैग़म्बरों के होने पर भी जैसे ख़ुदा एक है, उसी प्रकार हज़ारों सेवकों, भक्तों, अवतारों के होने पर भी ईश्वर एक है।

इसके अलावा इस मामले में हिन्दुओं-हिन्दुओं में इतना मतभेद है, जितना हिन्दू-मुसलमानों में नहीं है। बहुत से हिन्दू ईश्वर ही नहीं मानते, मुसलमान ईश्वर तो मानते हैं। अगर अनीश्वरवादी हिन्दुओं से ईश्वरवादी हिन्दू प्रेम से मिलकर रह सकते हैं, उनसे सामाजिक सम्बन्ध ब्याह-शादी भी रख सकते हैं, जैसे जैनियों से, तो ईश्वर को मानने वाले मत हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर एक क्यों नहीं हो सकते ?

५—पुनर्जन्म

हिन्दुओं का पुनर्जन्म और मुसलमानों की क़यामत इनमें वास्तव में कोई फ़र्क़ नहीं है। दोनों का मतलब यह है कि मरने के बाद इस जन्म के पुण्य पाप का फल मिलेगा। अब वह फल मरने के बाद तुरन्त ही मिलना शुरू होजाय या कुछ समय बाद मिले, इसमें धार्मिक दृष्टि से कोई फ़रक़ नहीं है। क्योंकि दोनों से पाप से डर और पुण्य का आकर्षण पैदा होता है। इसलिये इस बात को लेकर भी दोनों में कोई भेद-भाव नहीं है। कहा जाता है बहुत से मुसलमान सूफ़ी पुनर्जन्म को मानते भी हैं।

६—बाजा

हिन्दू पूजा में बाजा बजाते हैं, पर मुसलमान भी बाजे के विरोधी नहीं हैं। ताज़ियों के दिनों में तो इतने बाजे बजाते हैं कि शहर भर की नींद हराम हो जाती है। और हिन्दू पूजा में बाजा बजाने पर भी सन्ध्यावन्दन आदि के समय ऐसे चुप रहते हैं कि सांस भी रोक लेते हैं। इससे इतना पता तो लगता है कि बाजे के विरोधी न हिन्दू हैं न मुसलमान, न मौन का विरोधी दोनों में से कोई है। बात सिर्फ़ मौक़े की है।

इस देश में बाजे का इतना अधिक रिवाज है कि उसे एक बीमारी कहा जा सकता है। कभी कभी मुझे व्याख्यान देते समय इसका बड़ा कडुआ अनुभव हुआ करता है। व्याख्यान ख़ूब जमा है, श्रोता तल्लीन हैं, इतने में पड़ौस के मन्दिर से घंटे की आवाज़ आई और ऐसी आई कि मेरी आवाज़ बेकाम हो गई। पुजारियों को घंटे से कितना मज़ा आया यह तो मालूम नहीं, पर सैकड़ों और कभी कभी हज़ारों श्रोताओं का मज़ा किरकिरा हो गया, यह तो सब ने अनुभव किया। कभी कभी सभा के पास से विवाह आदि के जुलूस ही निकल कर मज़ा किरकिरा कर दिया करते हैं, इससे इतना तो लगता है कि बाजों को कुछ कम करना ज़रूरी है। पर इससे भी ज़रूरी यह है कि जो कुछ हो नागरिकता के आधार पर बने हुए क़ानून के अनुसार हो, या समझा बुझाकर हो। नागरिकता के आधार पर कुछ नीचे लिखे ढङ्ग से असूल बनाये जा सकते हैं।

क—रात के दस बजे से सुबह पांच बजे तक बाजा बजाना बन्द रहे।

ख—मसजिद में जब नमाज़ पढ़ी जाती हो, तब आस-पास बाजा बजाना बन्द रहे। पर इसकी सूचना किसी झंडे या निशान से दी जाय और समय नियत रहे।

ग—जहां पचीस या पचास आदमियों से अधिक की सभा भरी हो, व्याख्यान हो रहा हो, तो सूचना मिलते ही वहां बाजा बजाना बन्द रहे।

घ—बाजा बजाने पर टेक्स लगाया जाय, आदि।

इस प्रकार के नियम बनाये जांय, पर वे नागरिक अधिकारों की समानता से रक्षा करते हों, हठ धर्मी ज़िद या घमंड की नहीं।

पर जब तक इस तरह के क़ानून न बनें, तब तक गोवध के समान इस प्रश्न पर भी पूरी उपेक्षा और उदारता बरती जाय। जिसको बजाना हो बजाय, न

बजाना हो न बजाय। व्याख्यान होता हो, नमाज़ पढ़ी जाती हो, किसी घर में ग़मी हुई हो, तो इस बात की सूचना बाजे बजवाने वालों को कर दी, उन्हें जंची तो ठीक, न जंची तो न सही, अधिकार के बल पर या डरा-धमका कर या मार-पीट कर बाजे रुकवाने से कोई फ़ायदा नहीं। इससे तो प्राणों के ही बाजे बज जाते हैं। पूजा और नमाज़ सब नष्ट हो जाती है।

सच्चे धर्म की भावना तो यह है कि अगर नमाज़ पढ़ी जाती हो और ठाकुर जी की सवारी गाजे-बाजे के साथ निकले, तो मसजिद के सामने आते ही सवारी को रुक जाना चाहिये और सब लोग शान्ति से इस तरह खड़े रह जांय मानों नमाज़ में शामिल हो गये हों। नमाज़ ख़त्म होने पर मुसलमान लोग सवारी को सम्मान से विदा करें। अगर सवारी नमाज़ के पहिले ही आजाय, तो सवारी को सम्मान से विदा देने पर मुसलमान लोग नमाज़ पढ़ें, अगर इसके लिये दस पांच मिनट नमाज़ में देर हो जाय, तो कोई हानि नहीं।

हिन्दू और मुसलमान किसी तरह दो हो सकते हैं; पर ईश्वर और ख़ुदा तो दो नहीं हो सकते; तब ख़ुदा के लिये ईश्वर का और ईश्वर के लिये ख़ुदा का अपमान किया जाय, तो क्या ख़ुदा या ईश्वर किसी भी तरह ख़ुश होगा?

यह सचाई अगर ध्यान में आजाय, तो नमाज़ और पूजा का झगड़ा ही मिट जाय।

लोग प्रति दिन एक ही तरह से नमाज़ पढ़ते हैं, उन्हें कभी पूजा का भी तो मज़ा लेना चाहिये और जो सदा पूजा करते हैं, उन्हें नमाज़ का भी मज़ा लेना चाहिये। खाने-पीने में जब हमें नये नये स्वाद चाहियें, तब क्या मन को नये नये स्वाद न चाहियें? और उस हालत में तो ये कर्तव्य हो जाते हैं; जब ये नये-नये स्वाद प्रेम, शान्ति और शक्ति के लिये मुफ़ीद साबित होते हैं। पूजा नमाज़ प्रार्थना आदि सब का उपयोग हमारे जीवन के लिये हर तरह मुफ़ीद है। हां, जो मूर्ति पूजा न करना चाहे, न करे।

७—पूरब-पच्छिम

एक भाई ने पूछा कि आप हिन्दू-मुसलमानों में क्या मेल करेंगे, एक पूरब को देखता है और दूसरा पच्छिम को? मैंने कहा—मिलते समय या बात-चीत करते समय ऐसा होना ज़रूरी है। आप जिस तरफ़ को मुंह किये हैं, उस तरफ़ को अगर मैं भी करूं तो आप मेरी पीठ देखेंगे, बात क्या करेंगे? मैं अगर छाती से छाती लगा कर आप से मिलना चाहूं, तो जिस तरफ़ को आपका मुंह होगा, उससे उल्टी दिशा में मेरा मुंह होगा, नहीं तो मिल न सकेंगे। मिलने के लिये जब एक दूसरे से उलटी दिशा में मुंह करना ज़रूरी है, तब पूजा नमाज़-के मिलने में उलटी दिशा रुकावट क्यों हो?

समझ में नहीं आता कि ऐसी छोटी छोटी बातें हमारे जीवन में अड़ंगा क्यों डालती हैं, और मर्म की बात समझने की कोशिश क्यों नहीं की जाती। दिशा का झगड़ा एक तो निस्सार है और निस्सार न भी हो तो भी बेबुनियाद है। मुसलमान नमाज़ के लिये मक्के की तरफ़ मुंह करते हैं; हिन्दुस्तान से मक्का पच्छिम में है; इसलिये पच्छिम में मुंह किया जाता है, यूरोप में नमाज़ पूरब में मुंह करके पढ़ी जाती है— दक्खिन अफ्रीका में उत्तर तरफ़ और उत्तरीय देशों में दक्खिन तरफ़। ख़ुद मक्के में क़िब्ले के चारों तरफ़ चार इमाम नमाज़ पढ़ाने बैठते हैं—एक का मुंह पूरब को, एक का पच्छिम को, एक का उत्तर को और एक का दक्खिन को। हिन्दू जब सूरज को नमस्कार करते हैं, तब उनका मुंह पूरब की तरफ़ होता है। नहीं तो जिधर मूर्ति होती है, उधर ही प्रणाम करते हैं, मूर्ति का मुंह पूरब को होगा तो पुजारी का मुंह पच्छिम को होगा।

आमतौर पर हिन्दू देवों का स्थान सब जगह और सब तरफ़ माना जाता है। ईश्वर की शक्तियां नाना ढंग से सब दिशाओं में हैं, इसलिये हिन्दू सब दिशाओं में प्रणाम करता है।

तीर्थों के विषय में—

सेतुबन्ध, जेरुसलम, काशी, मक्का या गिरनार।
सारनाथ, सम्मेदशिखर में बहती तेरी धार॥
सिन्धु गिरि नगर नदी बन ग्राम।
कहूँ क्या, कहा कहा है धाम॥

क़िब्ले के विषय में कहा जा सकता है—

क्या मसजिद मन्दिर गिरजाघर मक्का और मदीना।
ख़ुदा जहा क़िब्ला है वो ही ख़ुदा भरा तिलतिल में॥
है क़िब्ला तेरे दिल में॥

ठीक इसी तरह के पद मुसलमान सूफ़ियों के कलामों और कबीर, नानक, दादू जैसे सन्तों की वाणियों में भरे पड़े हैं। अब बतलाइये झगड़ा किधर है और ख़ुदा किधर?

८—दाढ़ी चोटी

हिन्दू-मुसलिम दंगों को 'दाढ़ी-चोटी संग्राम' कहा जाता है। जब कि ये दाढ़ी-चोटी फ़ैशन हैं, इनका हिन्दू-मुसलमानों से कोई ताल्लुक़ नहीं। सिक्ख दाढ़ी रखते हैं—हिन्दू सन्यासी दाढ़ी रखते हैं—राजस्थान के और दूसरे प्रांतों के क्षत्रिय दाढ़ी रखते हैं और भी बहुत से हिन्दू दाढ़ी रखते हैं, जब कि हज़ारों मुसलमान हैं, जो दाढ़ी नहीं रखते। इसलिये दाढ़ी को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में कोई भेद नहीं है।

रह गई चोटी की बात, सो चोटी का भी कोई नियम नहीं है। करोड़ों बंगाली व दूसरे हिन्दू चोटी नहीं रखते और बहुत से मुसलमान किसी न किसी तरह चोटी रखते हैं, वे सिर पर चोटी नहीं रखते टोपी पर चोटी रखते हैं, सैकड़ों मुसलमान फ़क़ीर और सूफ़ी लम्बे बाल रखते हैं। इसलिये चोटी से भी हिन्दू मुसलमानों में कोई भेद नहीं है।

असल बात यह है कि यह सब फ़ैशन है। पुराने ज़माने में सब लोग स्त्रियों सरीखे लम्बे बाल रखते थे। फिर सफ़ाई की अड़चन से लोग गर्दन तक बाल रखने लगे। बाद में किनारे-किनारे बाल कटाकर बीच में बड़ी चोटी रखने लगे, जैसे दक्खिन में अभी तक रिवाज है, वह चोटी कम होते-होते चार बालों की रह गई, और अन्त में वह भी साफ़ हो गई। जैसे लम्बी-लम्बी मूछों से मक्खी सरीखी मूछें रहीं और अन्त में साफ़ हो गईं, यही बात चोटी की हुई। यूरोप में एक और फ़ैशन था—लोग सिर तो घुटा लेते थे, पर एक तरह की टोपी लगा लेते थे, जिस पर बहुत सुन्दरता से सजाये हुए नक़ली बाल रहते थे। पुराने ज़माने में इङ्गलैण्ड के सब लार्ड ऐसी टोपियों का उपयोग करते थे। इस प्रकार सिर के बालों का फ़ैशन टोपी के बालों का फ़ैशन बन गया और सिर की चोटी ग्रीस और टर्की में टोपी की चोटी बन गई। इसलिये तुर्की टोपी लगाने वाले मुसलमान सिर पर चोटी न रख कर, टोपी पर चोटी रखते हैं। हां, बहुत से हिन्दू और मुसलमान न सिर पर चोटी रखते हैं न टोपी पर चोटी रखते हैं। इस प्रकार हिन्दुत्व और मुसलमानियत, दोनों ही न चोटी से लटक रहे हैं न दाढ़ी में फंसे हैं। इसलिये इस बात को लेकर झगड़ा व्यर्थ है।

९—देश भेद

कहा जाता है कि हिन्दू पहिले से यहां रहते हैं और मुसलमान पिछले हज़ार वर्ष में अरब से या कहीं बाहर से आये हैं। इस प्रकार दोनों के पूर्वज जुदा-जुदा होने से दोनों में स्थायी एकता नहीं हो पाती।

इसमें सन्देह नहीं कि मुट्ठी दो मुट्ठी मुसलमान बाहर से ज़रूर आये हैं। पर आज जो हिन्दुस्तान में आठ करोड़ मुसलमान हैं, वे शुरू से यहीं के रहने वाले और उसी नसल से हैं, जिससे हिन्दू हैं। यद्यपि अब एक धर्म विशेष का नाम भी हिन्दू हो गया है और सामाजिक क्षेत्र भी थोड़ा थोड़ा बट गया है, इसलिये मुसलमान अपने को हिन्दू न कहें—हिन्दी, हिन्दुस्तानी या भारतीय आदि कहें, पर इसमें शक नहीं कि हिन्दुओं की नसल और मुसलमानों की नसल जुदा नहीं है। जिन हिन्दुओं ने इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया, वे मुसलमान कहलाने लगे—इससे जाति नसल या वंश परम्परा कैसे बदल गई? आज मैं अगर मुसलमान हो जाऊं, तो मुमकिन है कुछ रहन-सहन बदल लूं, नाम भी बदल लूं; पर क्या मां-बाप भी बदल

लूंगा ? अपने पुरखे भी बदल लूंगा ? मां-बाप और पुरखे वे ही रहेंगे, जो मुसलमान होने के पहिले थे, तब जाति या नसल जुदा कैसे हो जायगी ? इसलिये राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, व्यास, चन्द्रगुप्त, अशोक, विक्रम आदि जैसे हिन्दुओं के पुरखे हैं, वैसे ही मुसलमानों के हैं। दोनों को उनका गौरव होना चाहिये। इस प्रकार जातीय दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई हैं। धर्म जुदा है तो रहे। बुद्ध और अशोक का धर्म तो आज के हिन्दू भी नहीं मानते, फिर भी उन्हें अपना पूर्वज समझते हैं। कई दृष्टियों से हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में जितना फ़रक़ है, उतना हिन्दू धर्म और इसलाम में नहीं है।

यों तो कोई भी धर्म बुरा नहीं है। कौन सा धर्म अच्छा और कौन सा बुरा या कम अच्छा है, यह तुलना करना फ़ज़ूल है। अपनी-अपनी योग्यता, परिस्थिति और रुचि के अनुसार सभी अच्छे हैं। हिन्दू अगर मुसलमान हो गये, तो इससे किसी की भी धर्म की हानि नहीं हुई। सत्य सब जगह था, जिसको जहां से लेना था सो ले लिया; इसमें किसी का क्या बिगड़ा। अपनी रुचि के अनुसार धर्म-क्रिया करने से जाति या देश जुदा-जुदा नहीं हो जाते। इसलिये मुसलमान भी हिन्दुओं के समान हिन्दुस्तान के रहने वाले हिन्दू, हिन्दी या हिन्दुस्तानी हैं। उनका भी इस देश पर उतना ही अधिकार है, जितना 'हिन्दू' कहलाने वालों का। दोनों एक ही माता की सन्तान हैं।

रह गई उन की बात जो बाहर से आये हैं। ऐसे मुसलमान बहुत थोड़े तो हैं ही, उनमें भी शायद ही कोई ऐसा हो, जिसका सम्बन्ध हिन्दू-रक्त से न हो। शायद इने-गिने ही होंगे। सम्राट अकबर के बाद मुग़ल बादशाहों में भी आधे से ज़्यादा हिन्दू रक्त था, जो पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता गया।

मनुष्य ने अपनी समाज-रचना से चाहे-जो कुछ व्यवस्था बनाई हो, लेकिन कुदरत ने तो चलते-फिरते प्राणियों को मातृ-वंशी ही बनाया है, यानी इनमें जाति भेद या नसल मां के अनुसार बनती है, बाप के अनुसार नहीं। ज़मीन में जैसे आप गेहूं चने आदि के भेद से जुदा-जुदा जाति के पौधे पैदा कर सकते हैं, वैसे ही गाय भैंस या नारी में नर के भेद से जुदा-जुदा तरह के प्राणी पैदा नहीं कर सकते, वहां मादा की जाति ही सन्तान की जाति होगी।

ऐसी हालत में हिन्दू या हिन्दी माताओं से पैदा होने वाले मुसलमान भी नसल से हिन्दी ही रहे, धर्म से भले ही वे मुसलमान कहलाते हों। इस प्रकार बाहर से आये हुए मुसलमान भी कुछ पीढ़ियों में पूरी तरह हिन्दू या हिन्दी जाति के बन गये। इसलिए यह कहना कि मुसलमान बाहर के हैं और हिन्दू यहीं के हैं, बिलकुल ग़लत है। दोनों एक हैं—दोनों के पुरखे एक हैं—जाति एक है—नसल एक है, देश एक है। इसलिये अरबी या हिन्दुस्तानी होने से हिन्दू मुसलिम मेल को अस्वाभाविक बतलाना ठीक नहीं।

यूं तो विद्वानों की राय है कि 'हिन्दू' भी किसी समय बाहर ही से आकर इस देश में बसे थे।

१०—लिपि का फ़रक

कहा जाता है कि हिन्दुओं की लिपि देवनागरी है और मुसलमानों की फ़ारसी, अब दोनों में मेल कैसे हो ?

यह एक नक़ली झगड़ा है। इसलाम का निकास अरब में माना जाय, तो अरबी को महत्ता मिलनी चाहिये। फ़ारस इसलाम के लिये ऐसा ही है जैसा हिन्दुस्तान।

पर न तो नागरी हिन्दुओं की लिपि है, न फ़ारसी मुसलमानों की। बंगाल के हिन्दू नागरी पसन्द नहीं करते, मद्रास की तरफ़ भी हिन्दू नागरी नहीं समझते। ख़ास तौर से जिसने सीखी है, उसकी बात दूसरी है। पंजाब और उसके पास के हिन्दू नागरी की अपेक्षा फ़ारसी का उपयोग ज़्यादह और ज़्यादह अच्छी तरह करते हैं। मध्य प्रान्त के मुसलमान फ़ारसी लिपि नहीं समझते। इसलिये इन्हें हिन्दू मुसलमानों के भेद का कारण बनाना भूल है।

अच्छी बात तो यह है कि क़ौमी ज़बान के लिए सर्वगुण सम्पन्न कोई ऐसी लिपि हो, जिसमें लिखने और

पढ़ने में गड़बड़ी न हो, छपाई का सुभीता हो सरल भी हो। देवनागरी में भी इस दृष्टि से बहुत सी कमी है और उर्दू में भी। इनमें से किसी एक की कमी को दूर करके या किसी तीसरी अच्छी लिपि को क़ौमी लिपि मान लेना चाहिये। जब तक ऐसा नहीं हो सकता, तब तक के लिये यह उचित है कि नागरी और फ़ारसी दोनों ही राष्ट्र लिपियां मान ली जांय। हर पढ़े लिखे को इन दोनों लिपियों के पढ़ने-लिखने का अभ्यास होना चाहिये। कुछ दिनों बाद जब दिलों में सफ़ाई और प्रेम आ जायगा, तब जिसमें सुभीता होगा उसी को हिन्दू और मुसलमान दोनों अपना लेंगे।

११—बोली का फ़रक़

लिपि की निस्बत भाषा या बोली का सवाल और भी सरल है। ज़बरदस्ती उसे जटिल बनाया जाता है। लिपि तो देखने में ज़रा अलग मालूम भी होती है और उसमें सरल कठिन का भेद नहीं किया जा सकता। पर भाषा तो हिन्दी-उर्दू एक ही है। दोनों का व्याकरण एक है, क्रियाएं एक हैं, अधिकांश शब्द एक हैं। कुछ दिनों से संस्कृत वालों ने संस्कृत शब्द बढ़ाने शुरू किये, और अरबी फ़ारसी वालों ने अरबी फ़ारसी शब्द; बस एक भाषा के दो रूप हो गये और इस पर हम लड़ने लगे। हम क्या कहें कि मिहर, इसी पर हमारी मेहरबानी और दयालुता का दिवाला निकल गया; प्रेम और मुहब्बत में ही प्रेम और मुहब्बत न रही।

भाषा तो इसलिये है कि हम अपनी बात दूसरों को समझा सकें। बोलने की सफलता तभी है, जब ज़्यादा से ज़्यादा आदमी हमारी बात समझें। अगर हमारी भाषा इतनी कठिन है कि दूसरे उसे समझ नहीं पाते, तो यह हमारे लिये शर्म और दुर्भाग्य की बात है। जब मैं दिल्ली की तरफ़ जाता हूं, तब व्याख्यान देने में मुझे कुछ शर्म सी मालूम होने लगती है। क्योंकि मध्य प्रान्त का रहने वाला होने के सबब और ज़िन्दगी भर संस्कृत पढ़ाने के कारण मेरी भाषा इतनी अच्छी यानी सरल नहीं है कि उत्तर के सब लोग पूरी तरह समझ सकें। इसलिये मैं कोशिश करता हूं कि मेरे बोलने में ज़्यादा संस्कृत शब्द न आने पावें। इस काम में जितना सफल होता हूं, उतनी ही मुझे ख़ुशी होती है और जितना नहीं हो पाता, उतना ही अपने को अभागा और नालायक़ समझता हूं। मेरी समझ में यह नहीं आता कि लोग इस बात में क्या बहादुरी समझते हैं कि हमारी बात कम से कम आदमी समझें। ऐसा है तो पागल की तरह बड़-बड़ाइये कोई न समझेगा, फिर समझते रहिये कि आप बड़े पंडित हैं।

हर बोलने वाले को यह समझना चाहिये कि बोलने का मज़ा ज़्यादा से ज़्यादा आदमियों को समझाने में है। पागल की तरह बेसमझी की बातें कहने में नहीं है।

हां, सुनने वालों को भी इतना ख़याल रखना चाहिये कि हो सकता है कि बोलने वाला सरल से सरल बोलने की कोशिश कर रहा हो; पर जिन शब्दों को वह सरल समझ रहा हो, वे अपने लिए कठिन हों। उसका भाषा-ज्ञान ऐसा यकतरफ़ा हो कि वह ठीक तरह से हिन्दुस्तानी या सरल बोली न बोल पाता हो, तो उसकी इस बेबसी पर हमें दया करनी चाहिये। बिना समझे उसे घमण्डी या ऐसा ही कुछ न समझना चाहिये।

और बातों में लड़ाई हो, तो समझ में आती है; पर बोली में लड़ाई हो, तो कैसे समझें! बोली से ही तो हम समझ सकते हैं। इसलिये चाहे लड़ना हो, चाहे मिलना हो, पर बोली तो ऐसी ही बोलनी पड़ेगी, जिससे हम एक दूसरे की गाली या तारीफ़ दोनों समझ सकें।

१२—धार्मिक उदारता

हिन्दू-धर्म और इसलाम दोनों ही उदार हैं और इस विषय में आम हिन्दू समाज और मुसलमान समाज भी काफ़ी उदार हैं। पर मुशकिल यह है कि एक

दूसरे को समझने की कोशिश नहीं करते। हिन्दू-धर्म में तो साफ़ कहा है—

'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम् मत्तेजोंशसम्भवम्'

जितनी विभूतियां हैं, वे सब ईश्वर के ही अंश से पैदा हुई हैं। इसलिये हिन्दू दृष्टि में तो किसी भी धर्म के देव या महापुरुष हों वन्दनीय हैं। आम हिन्दू का व्यवहार भी ऐसा ही होता है। उस व्यवहार में विवेकरूपी प्राण फूंकने की ज़रूरत है; पर उसमें उदारता मौजूद है। इसलाम के अनुसार हर क़ौम, हर ज़माने और हर मुल्क में ख़ुदा ने पैग़म्बर भेजे हैं और उन सब का मानना हर मुसलमान का फ़र्ज़ है। इसलिये आमतौर से मुसलमान किसी धर्म के महात्माओं का खण्डन नहीं करते, ऐसे मुसलमान कवियों की तादाद कम नहीं है, जिन्होंने श्रीकृष्ण आदि की स्तुति में पन्ने भरे हैं। महादेव, दुर्गा और भैरव तक के गीत गाने में मुसलमान कवि किसी से पीछे नहीं रहे; पर दुःख इस बात का है कि बहुत कम हिन्दुओं को इस बात का पता है। मुसलमानों में धार्मिक उदारता कम नहीं है। हां, राजनैतिक चालबाज़ियों ने अवश्य ही कभी कभी दोनों से अनुदारता का नंगा नाच कराया है। पर आम हिन्दू और मुसलमान दोनों उदार हैं। ज़रूरत है एक दूसरे को समझने की।

१३—नारी अपहरण

बहुत से लोगों की शिकायत है कि मुसलमान लोग हिन्दू नारियों का अपहरण करते हैं। अपहरण में यहां फ़ुसलाना आदि भी शामिल कर लिया जाता है। पर इस विषय में हिन्दू-मुसलमानों में उन्नीस-बीस का ही फ़रक़ हो सकता है। ऊंची श्रेणी के मुसलमान और ऊंची श्रेणी के हिन्दू कोई नारी-अपहरण नहीं करते। बाक़ी हिन्दू और मुसलमानों दोनों में अपहरण होता है। हां, यह बात अवश्य है कि मुसलमान लोग मुसलमान और हिन्दू कहीं से भी अपहरण करते हैं, जबकि हिन्दू ज़्यादहतर हिन्दुओं में से ही, ख़ासकर अपनी जाति में से ही, अपहरण करते हैं। इसका कारण हिन्दुओं का जातीय संकोच, उनकी संकीर्णता है—अपहरण-वृत्ति का अभाव नहीं।

हिन्दुओं में बहुत-सी जातियां ऐसी हैं, जिनमें विधवाओं को दूसरा विवाह करने की मनाही है—ऐसी विधवाएं जब ब्रह्मचर्य से नहीं रह पातीं, तब भ्रष्ट हो जाती हैं। उस समय प्रायः हिन्दू जातियों में उन्हें स्थान नहीं मिलता। तब उनमें कोई-कोई राज़ी ख़ुशी से मुसलमान या सिख होना पसन्द कर लेती हैं। हिन्दू लोग अगर क्षुद्र जाति पांति का त्याग कर दें और विधवा-विवाह का विरोध दूर करदें, तो नारी-अपहरण की घटनाएं बहुत कम हों।

फिर भी अगर कभी ऐसी घटना हो, जहां किसी नारी के साथ अत्याचार हो, तो वहां सामान्य नारी रक्षण की दृष्टि से प्रयत्न करना चाहिये। नारी-अपहरण का दोष किसी पूरी जमाअत के मत्थे न मढ़ना चाहिये। केवल यही कहना चाहिये कि उस गुन्डे ने या उन गुन्डों ने ऐसा किया है। हमें इस बात का भी तजरुबा है कि जब कि हिन्दुओं हिन्दुओं के बीच इस तरह के पाप अख़बारों में नहीं छपते, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच के पाप ख़ूब बढ़ा चढ़ाकर और कई बार झूठे रङ्ग देकर छापे जाते हैं।

जब तक हिन्दू-मुसलमानों के दिल साफ़ नहीं हैं, तभी तक यह झगड़ा है और बात बात में एक दूसरे पर शंका होने लगती है। इसका फल यह होता है कि जब अत्याचार गौण और साम्प्रदायिक द्वेष मुख्य बन जाता है, तब ऐसे लोग भी दोनों तरफ़ से साथ देने लगते हैं, जो अत्याचार से घृणा करते हैं; किन्तु अपने सम्प्रदाय का अपमान सहन नहीं कर सकते। इससे समस्या और उलझ जाती है। इसलिये ऐसी घटनाओं पर साम्प्रदायिक रङ्ग न चढ़ाना चाहिये। जब दोनों के मन का मैल धुल जायगा और हिन्दू लोग अपनी संकुचितता और पुनर्विवाह-विरोध दूर कर देंगे, तो नारी-अपहरण की समस्या हल हो जायगी।

१४—छूत अछूत

मुसलमानों को यह शिकायत है कि हिन्दू उन्हें अछूत समझते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुओं में छूत-अछूत की बीमारी है; पर इसका उपयोग वे मुसलमानों के साथ कुछ विशेषरूप में करते हैं, यह बात नहीं है। हिन्दू चमार, बसोर, महार आदि को जितना अछूत समझते हैं, उतना मुसलमानों को नहीं। बल्कि मुसलमानों को अछूत समझते ही नहीं। हां, उनके साथ नहीं खाते-पीते सो तो वे एक धर्म एक वर्ण के लोगों के साथ भी नहीं खाते पीते। आम हिन्दुओं की दृष्टि में तो हिन्दुओं की हज़ारों जातियों के समान मुसलमान भी एक जाति है।

छूत अछूत के प्रश्न में हिन्दू-मुसलमानों को मिलाने की जितनी ज़रूरत है, उससे ज़्यादह हिन्दू हिन्दू को मिलाने की है। इस बात को लेकर हिन्दू मुसलिम द्वेष के लिये कोई स्थान नहीं है। हां, यह एक दूसरे के हाथ का खाने-पीने से परहेज़ हिन्दुओं हिन्दुओं के बीच का और हिन्दुओं और ग़ैर हिन्दुओं के बीच का सब मिटना ही चाहिये।

इसी तरह और भी बहुत सी छोटी-छोटी बातें मिलेंगी, पर ऐसी सैकड़ों बातें तो एक मां-बाप से पैदा हुए दो भाइयों में भी पाई जाती हैं, लेकिन इससे क्या वे भाई-भाई नहीं रहते? हिन्दू मुसलमान भी इसी तरह भाई-भाई हैं।

नासमझी से या स्वार्थी लोगों के बहकाने से एक दूसरे पर अविश्वास पैदा हो रहा है और दोनों ऐसा समझ रहे हैं मानों एक दूसरे को खा जायेंगे। इसी झूठे डर से कभी-कभी एक दूसरे का सिर फोड़ देते हैं। पर क्या हज़ार पांच सौ हिन्दुओं के मरने से या हज़ार पांच सौ मुसलमानों के मरने से हिन्दू या मुसलमान मिट जायेंगे?

सन् १९१८ के इन्फ़्लुएंज़ा में एक करोड़ से अधिक आदमी मरे थे, फिर भी जब बाद में मर्दुमशुमारी हुई, तो पहिले से साठ लाख आदमी ज़्यादा थे। उस इन्फ़्लुएंज़ा से ज़्यादा तो हम एक दूसरे को नहीं मार सकते फिर कैसे एक दूसरे को मिटा देंगे।

हिन्दू सोचें कि हम मुसलमानों को मार भगायेंगे, तो यह असम्भव है। जिस दिन मुट्ठी भर मुसलमान हिन्दुस्तान में आये उस दिन हिन्दू स्वतंत्र शासक होकर भी उन्हें नहीं भगा सके या मिटा सके, अब आज ख़ुद ग़ुलाम होकर आठ करोड़ मुसलमानों को क्या भगायेंगे? यदि मुसलमान सोचें कि हम हिन्दुओं को नेस्तनाबूद कर देंगे, तो जिन दिनों उनके हाथ में हिन्दुस्तान की बादशाहत थी, उन दिनों वे हिन्दुओं को नेस्तनाबूद न कर सके, तो आज ख़ुद ग़ुलाम होकर वे क्या हिन्दुओं को नेस्तनाबूद करेंगे?

दोनों में से एक भी किसी दूसरे को नेस्तनाबूद नहीं कर सकता। हां, दोनों लड़कर आदमीयत को नेस्तनाबूद कर सकते हैं, शैतान बनकर इस गुलज़ार चमन को दोज़ख़ बना सकते हैं।

उपसंहार

अन्त में हिन्दू और मुसलमान दोनों से प्रार्थना है कि वे अब अलग अलग होने की कोशिश न करें। एक दूसरे के उत्सवों में, त्यौहारों में, धर्म-क्रियाओं में आपस में मिलें। दोनों मिलकर मन्दिरों का—दोनों मिलकर मसजिदों का उपयोग करें, अपने को एक ही नसल का समझें। अन्त में दोनों मिलकर इस तरह एक हो जायें कि बड़े से बड़ा शैतान भी दोनों को न लड़ा सके। इसी में दोनों का और इस देश का भला है।

१९४१ का एक दिन

श्री विष्णु

मई की सत्रहवीं तारीख और सोमवार का दिन था। मैं रात को जल्दी सोया था; लेकिन सुबह जल्दी न उठ सका। यह मेरा दुर्भाग्य था, क्योंकि एक मासिक पत्रिका का तक़ाजा था कि कहानी शीघ्र भेजूं। कहानी लगभग तैयार थी, सोचा जल्दी से पूरी कर दूं कि किसी ने पुकारा—याज्ञिक बाबू हैं?

ऐसे समय यह आवाज़ बहुत बुरी लगी, परन्तु शिष्टाचार तो रखना था, सो खिड़की से झांक कर देखा—स्थानीय स्कूल के अध्यापक पं० रामकुमार थे। याद आया, बचपन में इनके आगे बैठ कर पढ़ा हूं, सम्भवतः पिटा भी हूं। मुस्करा कर बोला—नमस्कार पण्डित जी। कैसे दर्शन दिये?

पण्डित जी भी मुस्कराये—आपसे एक काम था मुझे?

'मुझसे काम था, कहिये तो?'

धीरे से नीचे देखते देखते वे बोले—'आप जानते हैं प्रबोध ने तीन साल हुये मैट्रिक किया था, लेकिन अभी तक ख़ाली है।

'ख़ाली है'—मैंने कहा।

'जी! सब जगह जाता हूं, पर कोई हाथ नहीं रखने देता मैंने सुना था आपके दफ़्तर में जगहें होने वाली हैं।'

'बेशक'—मैंने कहा 'आपने ठीक सुना है परन्तु वे जगहें ज़मींदारों के लिये सुरक्षित हैं।'

'और हम ज़मींदार हैं—उन्होंने कहा।

'आप गौड़ ब्राह्मण हैं।'

'जी।'

'लेकिन'—मैंने कहा—'ज़मींदार के ज़्यादातर अर्थ जाट होते हैं, क्योंकि हमारे महकमे के आला अफ़सर जाट हैं।'

पण्डित जी उबल पड़े—इन कम्बख़्त जाटों ने अन्धेर मचा रखा है। अन्याय और होता क्या है! वे केवल अपने सम्बन्धियों, अपने ज़िले वालों को पूछते हैं। हम ज़मींदार हैं और हमारी जाति के लोग नौकरी में भी बहुत कम हैं इत्यादि······।'

मैंने उन्हें समझाना चाहा—न्याय की बात इस युग में व्यर्थ है और योग्यता एक बोझा मात्र है। आप सीधे आला अफ़सर के पास जाइये और अरज़ी में लिखा लाइये कि आपका लड़का योग्य है, ज़मींदार है, उसे जगह मिलनी चाहिये, तो शायद कभी उस पर विचार हो सके।'

उन्होंने कहा—'वहां तो मैं जा रहा हूं, लेकिन यहां भी तो········।

मैंने समझा। मैंने उन्हें बतलाया कि अपने शहर में कई ज़मींदार एम० एल० ए० हैं। किसी को बुला लाइये।

वे हंस पड़े—आपके पास आया था कि आप दफ़्तर में ख़्याल रखें, मुझे आपसे बहुत आशा थी।

मैंने कहा—'मैं किस योग्य हूं फिर भी······।'

और वे चले गये। यह कहना व्यर्थ है कि उन्होंने जाने से पहिले मुझसे वचन ले लिया था कि मैं उनके बेटे का ज़रूर ख़्याल रखूंगा।

मैंने घड़ी देखी, पूरे ४५ मिनट बीत गये थे, मैंने कहानी पूरी करनी चाही। क़लम तेज़ की, लेकिन घड़ी ने दस बजा दिये और मेरी पत्नी ने आकर कहा—'आफ़िस न जाइयेगा आज ?

'आफ़िस'—मैंने अचकचा कर कहा ?

'हां'—वे मुस्करा उठीं—'उठिये तो दस बज गये हैं।'

× × ×

उनकी बात ठीक थी। दफ़्तर जब पहुँचा तो साढ़े दस बज चुके थे और सब बाबू लोग काम में व्यस्त थे। मैंने भी चाहा चुपचाप अपनी मेज़ पर जा बैठूं कि मेरे साथी ने आकर कहा—'आख़िर मैं कब तक इसी तरह पड़ा रहूंगा ?

मैं उस भाई का मतलब समझता था। वे जाति के बनिये थे और इसीलिये लगभग तीन वर्ष से उन्हें जगह नहीं दी जा रही थी। मैंने कहा—

'तुम एक काम कर सकते हो ?'

'क्या ?'—वह बोला।

'किसी ज़मींदार की गोद बैठ सकते हो ?'

वह हंस पड़ा—'आप मज़ाक़ करते हैं।'

मैंने कहा—'तुम इसे मज़ाक़ कहते हो; लेकिन तुम नौकरी चाहते हो! नौकरी इस मज़ाक़ के बिना नहीं मिल सकती यह मैं जानता हूं।' कहकर मैंने काम की ओर देखा। बन्धु क्रुद्ध होकर चले गये। मैं उनके क्रोध को जानता था, परन्तु उसका उपाय तो इस दुनिया में है नहीं; इसीलिये मैंने दफ़्तरी को पुकारा कि वह मुझे फ़ाइलें दे जावें। दफ़्तरी ने सुना नहीं, क्योंकि वह अख़बार पढ़ रहे थे। मैंने फिर पुकारा—

'पण्डित जी! क्या पढ़ रहे हो ?'

वे आये, हंसे और बोले—'एक लेख था।'

'लेख।'

'हां! प्रोफ़ेसर शर्मा ने ब्राह्मणों के उत्थान पर एक लेख लिखा है'।

मैंने कहा—'कितने प्रतिशत ब्राह्मण नौकरी करते हैं ?'

उन्होंने क्षुब्ध होकर पर उत्साह से कहा—'यही एकमात्र कमी है। प्रान्त के समस्त विभागों में ब्राह्मणों की संख्या बहुत कम है। लेखक ने यही बात बड़े ज़ोर से लिखी है कि समय रहते-रहते सरकार को अपनी भूल स्वीकार कर लेनी चाहिये इत्यादि······।'

मैं हंस पड़ा—'बेशक! लेकिन आप क्या कृपा कर मुझे फ़ाइलें ला देंगे ? मुझे डाक भेजनी है।'

और मैं अपनी मेज़ पर झुक गया।

× × ×

मैं दफ़्तर से लौट आया था। सन्ध्या भी गहरी होती आ रही थी। सोचा कि जल्दी से जल्दी शहर की गन्दी हवा से निकल कर कहीं जा बैठूं, जहां एकान्त हो और जहां मेरे थके दिमाग़ को शान्ति मिल सके।

इसीलिये भोजन के बाद मैं घर पर नहीं रुका, बल्कि जङ्गल की ओर बढ़ चला। लेकिन मार्ग में एक परिचित बन्धु मिल गये।

बोले—"सैर के लिये चले हो, याज्ञिक बाबू ?"

'जी'—मैंने कहा।

'मैं भी चल रहा हूं'—वे बोले।

वे चले और बातें करते-करते बोले—'पिछले दो हफ़्तों से बड़ी मुसीबत रही है ?'

'क्यों ?'

'जन-गणना थी न ?'

'फिर।'

'फिर क्या याज्ञिक बाबू। अन्याय का राज्य है न ? जितने मुसलिम शुमार कुनिन्दा थे, उन्होंने सब हिन्दुओं की भाषा उर्दू लिखी है।'

मैंने कहा—'उन्होंने लिखवाई होगी।'

'नहीं, नहीं।' वे बोले—'यह सब एक षड्यंत्र था। अफ़सरों की आज्ञा थी कि प्रान्त की मातृ भाषा उर्दू होनी चाहिये।'

'यह तो अन्याय है।'

'यही नहीं'—उन्होंने उग्रता से कहा—'इन मुसलमानों की शरारत और भी ज़्यादह है। इनके घर में कोई नहीं जा सकता और इसीलिये वे एक

स्त्री व एक बच्चे के स्थान पर चार स्त्रियां व चार बच्चे लिखा देते हैं।'

'ओह'—मैंने कहा

वे कहते रहे—'एक हम हैं कि अपनी भाषा, अपनी जाति और अपनी संख्या का विचार नहीं करते·····।'

मैंने टोका—'आपकी स्त्री है?'

'जी'—उन्होंने अचकचा कर कहा।

'बच्चे?'

'दो लड़के हैं, परमात्मा की कृपा से।'

'और आपने जन-गणना में कितने लिखवाये हैं?'

वे दुःख से बोले—'आपकी बात समझता हूं, लेकिन याज्ञिक बाबू! मैं झूठ बोलता भी क्यों?'

'मुसलमान क्यों बोलते हैं'—मैंने तर्क किया।

वे मित्र मेरे तर्क का ठीक ठीक उत्तर नहीं दे सके, पर मुसलमानों के अन्याय की बात उनके दिल पर स्पष्ट अंकित थी। मेरा तर्क उन्हें क्रुद्ध करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सका और इसीलिये वे बहाना ढूंढ़ कर आगे बढ़ गये।

×

रात बहुत बीत गई थी। मैं सैर करके लौट रहा था। और भी बहुत से लोग लौट रहे थे। वे बातें भी कर रहे थे। कुछ लोगों में लड़ाई के बारे में गरम गरम बहस छिड़ी थी। उन्हें भारत के कल्याण का पूरा पूरा भरोसा था। लेकिन दूसरी पार्टी थी, जो समझती थी कि विषाक्त गैस का प्रयोग भारत पर होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि भारत के रहने वाले इनसान कमीने कुत्तों से भी गये गुज़रे कायर इनसान हैं, क्योंकि वे पाकिस्तान की कल्पना को मूर्त रूप दे सकते हैं।······गान्धीवादी गदहे हैं······चर्चिल संसार का श्रेष्ठतम मानव है·········गान्धी युग का महान पुरुष है·····गान्धी ने मुसलमानों को सिर चढ़ाया है·····।

बहस इसी प्रकार बढ़ती चली जा रही थी और मैं भी घर के नज़दीक आता जा रहा था कि मैं चौंक पड़ा। मेरे एक मित्र कह रहे थे—'तुम जैनियों को क्या समझते हो? वे क्या मुसलमानों से कम हैं?' मैं रुका, मैंने कहा—'जैनियों ने आपका क्या बिगाड़ा है?' लेकिन यह लम्बी बहस थी और उसका विषय बिलकुल प्राइवेट था। अन्त में उन सज्जन ने कहा था—'क्या इन जैनियों ने हिन्दुओं से अलग होना नहीं चाहा? क्या इन्होंने अपने अधिकार सुरक्षित कराने नहीं चाहे? यह तो कहो सरकार मुसलमानों के अतिरिक्त किसी और को चाहती ही नहीं।'

दूसरे मित्र ने उनकी बात की पुष्टि की, बोले—'बेशक यही बात है। और ये जैनी ही क्यों? सिख भी तो इसी प्रकार अलग हुये हैं। आज वे हिन्दू महासभा और कांग्रेस में जाते हैं, क्योंकि मुसलमान इनको नष्ट करना चाहते हैं। लेकिन ये ही लोग गांवों में जाकर भोले भाले हिन्दुओं को बहकाते हैं कि तुम शक्तिशाली बनो, तुम लम्बे केश धारण करो, क्योंकि तुम्हारे अवतार राम और कृष्ण महान योद्धा थे और वे लम्बे केश रखते थे।······वे हिन्दू उनकी बात मान लेते हैं। तब जन-गणना के समय उन्हें सिख लिखाया जाता है, क्योंकि उनके सिर पर केश हैं···।'

कहते कहते वे मित्र बड़े क्रुद्ध हो उठे थे। उन्हें शान्त करना असम्भव था, क्योंकि उनके पास अछूतों का प्रश्न था और उन्होंने बड़ी मेहनत करके इन सब अन्यायों के आंकड़े इकट्ठा कर रखे थे। आंकड़ों के सामने मैं बोदा हूं इसीलिये मैं क्षमा मांग कर आगे बढ़ गया।

सड़क का यह भाग बिलकुल सूना था। दफ़्तर की बिल्डिङ्ग सामने नज़र आ रही थी। इस बिल्डिङ्ग को देखते ही मेरे दिमाग़ में एक बात आ घुसी कि आज ही मेरे एक साथी ने जो सिख थे कहा था—'तुम हिन्दू हो तुम्हारे साथ मुसलमान अन्याय करते हैं, लेकिन हम सिख हैं और हमारी संख्या यहां कम है। इसी कारण हमारे साथ हिन्दू और मुसलमान दोनों अन्याय करते हैं।'

मैंने पूछा—'कैसे?'

वे बोले—सारे दफ़्तर में मैं एक सिख हूं। मुझे रद्दी से रद्दी काम दिया जाता है और कि······।'

मैंने उन्हें टोका—'यह प्रश्न आप अफ़सर के सामने रख सकते हैं, लेकिन एक बात आप बतायेंगे?'

'क्या'—वे बोले?

'एक आपके साथ कोई ज़ुल्म होने से सारी सिख जाति के साथ अन्याय होता है, यह आप कैसे मानते हैं!'

वे घबराये तो, परन्तु जो कथित अन्याय उनके साथ हो रहा था, वह सिख होने के कारण था, यह विश्वास वे छोड़ न सके। शायद इसलिये कि इस तरह के विवाद के पीछे व्यक्ति की अयोग्यता छिप जाती है······।

यही सोचता सोचता आख़िर मैं घर लौट आया। पत्नी सो गई थी। मेरा बच्चा उसकी बग़ल में लेटा था। शान्त, निस्तब्ध मानों उसे किसी का भय नहीं था। मानों उसे कोई चिन्ता नहीं थी। क्षण भर के लिये मैंने उन दोनों को देखा। मेरा मस्तिष्क मीठी मीठी मादक कल्पनाओं से भर उठा। मैंने सोचा नींद की परियां न जाने इन्हें कौन से सुखकर लोक में उठाकर ले गई हैं······

कि सहसा मेरी दृष्टि एक पुस्तक पर पड़ी। वह पत्नी की छाती पर पड़ी थी। शायद उसे पढ़ते-पढ़ते उन्हें नींद आ गई थी। वह सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० भगवानदास की 'समन्वय' नामक पुस्तक थी······।

'समन्वय'······मैंने कुछ कुछ कहना शुरू किया कि सहसा मैं कांप उठा। मैंने पुस्तक उठा ली और क्रुद्ध होकर मानों अपने से कह रहा हूं—यह व्यर्थ है, यह सब मस्तिष्क का जमनास्टिक है, वरना समन्वय भी क्या होने वाली चीज़ है? वह भी क्या कभी हुई है··?

और उसी आवेग में मैंने पुस्तक को एक ओर फेंक दिया और सीधा पलँग पर जा लेटा। चाहा कि ख़ूब नींद भर कर सो लूं; लेकिन जैसे नींद ने मुझसे बैर साधा था। दूर दूर तक सन्नाटे में भी मैं उसे पा न सका। ऊपर आसमान में चमकती क्षुद्र तारिकाओं से मुझे ईर्षा होने लगी। चाहा उड़कर उनसे पूछूं क्या तुम में धर्म, मत, वर्ण और जाति के भेद हैं···? क्या तुम भी लड़ा करती हो······? क्या तुम्हारे मन में भेद-भाव की गहरी लकीर खिंच गई है···? लेकिन मुझे लगा जैसे वे मेरे मन की बातें सुनकर खिलखिला पड़ी थीं··तभी मैं चौंक पड़ा······

एक धम्म की आवाज़ सुनाई दी, मानों कोई भारी चीज़ गिरी हो······।

मैं हड़बड़ा कर उठा। पत्नी तभी मेरे कमरे में घुसी। वह कांप रही थी बोली—'सुना तुमने!'

'क्या हुआ······?'

'गली के कोने में जो मुसलमान रहते थे, उनका जंगला टूटा है और उनका इकलौता बच्चा नीचे गिर पड़ा है······।'

'बच्चा!'

'हां! वह जंगले के पास खड़ा था। वह अब नीचे सड़क पर पड़ा है। उसके सिर से ख़ून बह रहा है और उसका बाप किसी दूसरे गांव गया है।' अचरज कि मैं अट्टहास कर उठा। मैंने कहा—'ठीक है। उसे मर जाना चाहिये। मुसलमानों की संख्या बहुत बढ़ रही है।'

पत्नी पर बिजली गिरी—'क्या कह रहे हो तुम?'

'ठीक कह रहा हूं'—मैंने कहा?

और मैं नीचे आ गया। मेरे पड़ोसी ने मुझे देखकर पुकारा—'याज्ञिक बाबू! असग़र का बच्चा ऊपर से गिर पड़ा है। उसे हास्पिटल ले चलना होगा। तुम ज़रूर चलो न······?'

'मैं नहीं जाऊंगा और तुम भी नहीं जा सकते'—मैंने कहा।

'क्या कहते हो'—पड़ोसी ने हतप्रभ होकर कहा।

मैंने उन्हें फटकारते हुये कहा—'वह मुसलमान है और मुसलमान के बच्चे के प्राण बचाना क्या हिन्दुओं का कर्त्तव्य है? तुम कितनी मूर्खता कर रहे हो, यह क्या तुम जानते हो······?'

वह पड़ोसी उसका उत्तर देते इससे पहिले मैं वहां आ गया था, जहां वह पांच वर्ष का बालक ख़ून

से लथपथ लेटा था और उसकी मां दुनियां को भूल कर फूट पड़ी थी। उसका चीत्कार मेरे हृदय में भर उठा था। जैसे करुणा का बांध टूट पड़ा हो। मैं बोल उठा था—ओह······कि जैसे किसी ने अंकुश मारा हो—मोह के जाल में फंस सत्य को भूल रहे हो याज्ञिक! और दूसरे ही क्षण मैं सजग हो उठा। मैंने कहा—'मैं क्या करूं? मुसलमान के बच्चे को मुसलमान ही बचा सकता है। मैं विवश हूं······।'

मेरे पड़ौसी ने तर्क किया—'किन्तु याज्ञिक बाबू! मुसीबत के समय भी क्या ये बातें सोची जाती हैं?'

मैंने क्रोध से भर कर कहा—'जो बात सच है, वह हर समय और हर घड़ी के लिये सच है। मैं जान रहते तुम्हें इसे हाथ न लगाने दूंगा।' मेरे पड़ोसी का जैसे क्रोध फूट पड़ा। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा—'तुम······तुम।'

वे क्रोध के कारण बोल न सके। उन्होंने आगे बढ़कर बच्चे को गोद में उठा लिया और अपने कुरते से उसके खून को पोंछ डाला। फिर उसकी मां से बोले—'उठो, मैं तुम्हारे साथ चलूंगा। रात है तो क्या! डाक्टर ज़रूर बच्चे को देखेगा, क्योंकि वह इन्सान से ऊपर है।'

तब तक और भी लोग वहां आ गये थे। बच्चे की मां मानो पत्थर-सी होकर इन सब बातों को देख सुन रही थी। वह चुपचाप उठी और मेरे पड़ोसी के पीछे पीछे चली······कि किसी ने कहा—'बच्चे की अवस्था ख़राब जान पड़ती है।' गिरा था तभी गरम गरम दूध में हल्दी डालकर पिलानी थी।'

'रेशम फूंककर भर देना था।'

'शराब देनी चाहिये थी।'

कि मेरे पड़ोसी, जो तब तक कुछ आगे बढ़ गये थे, चिल्ला उठे—'अरे बच्चे के तो प्राण निकल चुके हैं······।'

'बच्चा मर गया'—सब एक साथ बोल उठे।

'मेरा बच्चा······मेरा लाल······!' मां पछाड़ खाकर ज़मीन पर गिर पड़ी। मैं थर थर कांप उठा। मेरे पड़ोसी का मुंह तमतमा उठा। तीव्र होकर उसने कहा—'तूने बच्चे की हत्या की है। तू हत्यारा है······।' मेरी वाणी रुद्ध हो गई। घिघिया कर मैंने कहा—'मैंने हत्या की है। मैंने······?' और मैं आगे न बोल सका। संज्ञाहीन होकर गिर पड़ा·········

जब आंखें खुलीं तो अचरज से देखा—पत्नी मेरे ऊपर झुक आई थी।' उसकी आंखों में पानी था। वह पूछ रही थी—'जी कैसा है तुम्हारा?' मैं हड़-बड़ा कर उठ बैठा। अरे मैं तो अपने पलंग पर था! मेरे मुंह से सहसा निकला—'वह बच्चा कहां है?'

'कौन बच्चा'—पत्नी ने अचकचाकर कहा—सपना देखा था तुमने! 'सपना?'

'हां! तुम सोते सोते चिल्ला उठे थे—मैंने हत्या की है मैंने······'परदा जैसे हट गया। छाती पर जो भारी बोझ था, वह मानों उतर गया। तो मैंने स्वप्न देखा था—मैंने लम्बी सांस लेकर कहा!

और दूसरे ही क्षण मैं हंस पड़ा, क्योंकि शरीर स्थिर हो चुका था और हृदय में शान्ति उमड़ आई थी। पत्नी भी हंस पड़ी, बोली—'ऐसे भी कोई डरता है। स्त्रियों को भी मात कर दिया तुमने।'

मैंने कहा—'काश कि मैं स्त्रियों को हरा सकता।'

फिर मैंने धीरे धीरे सपने का हाल अपनी पत्नी को सुनाया और हाथ जोड़ कर न जाने किससे प्रार्थना की—'मेरे जीवन का यह स्वप्न कभी सत्य न हो!···

···प्राण रहते रहते मैं मानव मानव के बीच खाई न खोद सकूं!······मैं सब को अपने समान समझूं ······मैं अपने प्राणों द्वारा सब के प्राणों की पीड़ा को पहचानूं······।' न जाने कितनी देर तक मैंने प्रार्थना की। उस मूर्च्छता में अपने को भूले रहा, जब आखें खोलीं, तो पूर्व दिशा में प्रकाश की पहिली किरन चमक उठी थी और अठारवीं मई धीरे-धीरे पृथ्वी पर उतर रही थी मेरी पत्नी ने मुस्करा कर कहा—'उठो! उठो! दिन निकल आया है।''

मोहम्मद साहब के उपदेशों का सार

पण्डित सुन्दरलाल

मोहम्मद साहब को जब कभी कोई ख़ास कठिनाई पेश आती थी, तब वह ईश्वर से दुआएं मांगते थे। अक्सर दुआ में गदगद हो जाते थे, और कभी कभी मुंह ढँककर लेट जाते थे। ऐसे मौक़ों पर बाद में उठकर जो बचन वह कहते थे, वे ईश्वर-प्रेरित समझे जाते थे। उन्हीं के संग्रह का नाम 'क़ुरान' है। उनके बाक़ी तमाम उपदेशों और बचनों को हदीस कहते हैं। इनमें अलग अलग हदीसें अलग अलग संग्रह-कर्ताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं।

मोहम्मद साहब ने बराबर इस बात पर ज़ोर दिया है कि मैं संसार में पहला या अनोखा रसूल नहीं हूं, और न इसलाम दुनिया में कोई अनोखा मज़हब है। क़ुरान के अनुसार सृष्टि के आदि से हर क़ौम और हर ज़माने में रसूल होते रहे हैं और उन सब ने एक ही सत्य सनातन धर्म का उपदेश दिया है, और वही इसलाम है।

"संसार की कोई क़ौम ऐसी नहीं है, जिसमें बुरे कामों के नतीजों से आगाह करने वाला ईश्वर का कोई न कोई पैग़म्बर न पैदा हुआ हो।" [क़ु० ३५, २५]

"निस्सन्देह हमने दुनिया की हर क़ौम में एक रसूल भेजा, जिसका उपदेश यही था कि ईश्वर की उपासना करो और बुराई से बचो।" [क़ु० १६, ३६]

क़ुरान के अनुसार हर मुसलमान का फ़र्ज़ है कि वह तमाम मुल्कों, क़ौमों और ज़मानों के पैग़म्बरों का एक समान आदर करे; उनमें किसी तरह का फ़र्क़ करना पाप है; क़ुरान उन सब के उपदेशों और धर्म ग्रन्थों का केवल समर्थन करता है।

"परमेश्वर ने यह किताब (क़ुरान) जिसमें सत्य की शिक्षा है, तुम पर प्रकट की है। यह उन सब धर्म ग्रन्थों का समर्थन करती है, जो इससे पहले प्रकट हो चुके हैं।" [क़ु० ३, २]

"जो लोग अल्लाह और उसके पैग़म्बरों में भेद करना चाहते हैं, और कहते हैं कि इनमें से हम किसी को मानते हैं और किसी को नहीं मानते, उनके कुफ़्र (कृतघ्नता) में सचमुच कोई सन्देह नहीं।" [४, १४९]

सब धर्मों को सत्य और सब धर्मों के संस्थापकों को ईश्वर-प्रेरित मानते हुए मोहम्मद साहब का कथन है कि हर धर्म के दो अंग होते हैं; एक उसकी उपासना की विधि और कर्मकाण्ड और दूसरा मूल सिद्धान्त। पहला अंग देश-काल के अनुसार अलग अलग धर्मों में अलग अलग होता है और दूसरा सब धर्मों में एक है। क़ुरान में लिखा है—

"ऐ पैग़म्बर! हमने हर गिरोह के लिये उपासना की एक ख़ास विधि नियत कर दी है, जिस पर वह अमल करता है। इसलिये लोगों को चाहिये कि इस विषय में झगड़ा न करें" [क़ु० सू० २२-६६]

"हमने तुममें से प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिये एक ख़ास विधि-विधान नियत कर दिया है। अगर परमात्मा चाहता, तो तुम सबको एक ही सम्प्रदाय बना देता। परन्तु यह विभिन्नता इसलिये है कि (समय और अवस्था के अनुसार) तुम्हें जो आज्ञाएँ

दी गई हैं, उन्हीं में तुम्हारी परीक्षा करे। इसलिये उन भिन्नताओं के पीछे न पड़ कर नेक कामों के करने में एक दूसरे से बढ़ने का प्रयत्न करो; (क्यों कि असली काम यही है)।" [क़ु० सू० ५, आ० ४८]

एक बार किसी ने पैग़म्बर से कहा—"बुत-परस्तों के विरुद्ध अल्लाह से दुआ कीजिये और उन्हें शाप दीजिए।" पैग़म्बर ने उत्तर दिया—"मुझे केवल दया के लिये भेजा गया है, शाप देने के लिये नहीं भेजा गया।" (मुसलिम)

मोहम्मद साहब अपने उपदेशों में बार बार कहा करते थे—"मैं तुम्हारी ही तरह एक इन्सान हूं" और अक्सर अपनी दुआओं में अपने व्यक्तिगत गुनाहों के लिये रो रो कर ईश्वर से माफ़ी मांगा करते थे।

हम मोहम्मद साहब के कुछ फुटकर उपदेश क़ुरान और हदीसों से लेकर नीचे नकल करते हैं।

अमरू बिन अबसाह लिखता है—मैंने पैग़म्बर से पूछा, "इसलाम क्या है?" उन्होंने उत्तर दिया "ज़बान की पाकीज़गी (सच बोलना) और मेहमानवाज़ी।" मैंने पूछा "ईमान क्या है?" उन्होंने कहा, "सहनशीलता और दूसरों का उपकार करना।"—अहमद।

"यदि मोमिन' होना चाहता है, तो अपने पड़ोसियों का भला कर, और यदि 'मुसलिम' होना चाहता है, तो जो कुछ अपने लिये अच्छा समझता है, वही मनुष्यमात्र के लिये अच्छा समझ। और बहुत मत हँस, क्योंकि निस्सन्देह अधिक हँसने से दिल सख्त हो जाता है।"—तिरमज़ी।

अब्दुल्लाह कहता है, हम एक बार पैग़म्बर के साथ सफ़र कर रहे थे। हमने एक पक्षी देखा, जिसके साथ दो बच्चे थे। हमने बच्चों को पकड़ लिया। उनकी माँ फड़फड़ाने लगी। पैग़म्बर ने हमसे आ कर कहा—"इसके बच्चों को छीन कर इसे किसने सताया? इसके बच्चे इसे लौटा दो।"

एक जगह हमने चींटियों का घर जला दिया था। पैग़म्बर ने देख कर पूछा, "यह किसने जलाया?" हमने स्वीकार कर लिया। पैग़म्बर ने कहा—"सिवाय उस परमात्मा के, जो आग का स्वामी है और किसी को अधिकार नहीं कि दूसरों को आग से दण्ड दे।"—अबु दाऊद।

"बलवान या शक्तिशाली वह नहीं है, जो दूसरों को नीचे गिरा दे, किन्तु हममें बलवान वह है, जो अपने क्रोध को वश में रखता है।"—बुख़ारी, मुसलिम।

मोहम्मद साहब की तलवार की मूठ पर ये वाक्य खुदे हुए थे—"तेरे साथ अन्याय करे उसे क्षमा कर दे, जो तुझे अपने से काट कर अलग कर दे, उससे मेल कर, जो तेरे साथ बुराई करे, उसके साथ तू भलाई कर, और सदा सच्ची बात कह चाहे वह तेरे ही ख़िलाफ़ क्यों न जाती हो।"—रज़ीन।

"तमाम प्राणी परमात्मा का कुटुम्ब हैं, और उन सब में परमात्मा को सब से प्यारा वह है, जो परमात्मा के इस कुटुम्ब का भला करता है।"—बेहक़ी।

"तुम मुझे अपनी ओर से छै चीज़ों का विश्वास दिला दो और मैं तुम्हें बहिश्त का विश्वास दिलाता हूं, एक, जब बोलो सच, दूसरे, जब वादे करो तो उसे पूरा करो, तीसरे, किसी की अमानत में ख़यानत न करो, चौथे, बदचलनी से बचो, पांचवें, आंखें सदा नीची रखो और छठें, किसी पर अत्याचार न करो।"
—बेहक़ी।

"निस्सन्देह मुझे अपने लोगों के लिये जिस बात का सब से अधिक डर है, वह विषयवासना और महत्वाकांक्षा है। विषय-वासना मनुष्य को सत्य से हटा देती है और महत्वाकांक्षा में पड़ कर मनुष्य परलोक को भूल जाता है।"—बुख़ारी।

शराब या अन्य मादक वस्तुओं का उपयोग, जुआ, सूदख़ोरी, लड़कियों की हत्या, एक स्त्री के अनेक पति, वेश्यागमन, बांदियों के साथ व्यभिचार इत्यादि प्राचीन कुरीतियों को मोहम्मद साहब ने क़तई बन्द कर दिया। एक पुरुष के अनेक स्त्रियों के रिवाज को भी उन्होंने क़ुरान के अन्दर ज़्यादह से ज़्यादह चार तक महदूद करके आज्ञा दी—"केवल एक के साथ

बिवाह करो, तो यह तुम्हारे लिये ज़्यादह अच्छा है, ताकि तुम सीधे रास्ते से न डिगो।"—[क़ु० ४–३।]

मोहम्मद साहब ने एक बार कहा—मरने के बाद अल्लाह पूछेगा—"ऐ मनुष्य के बेटे! मैं बीमार था और तू मुझे देखने नहीं आया।" मनुष्य कहेगा, "ऐ मेरे रब्ब! मैं तुझे देखने के लिये कैसे आ सकता था? तू तो सारी दुनिया का मालिक है।" अल्लाह जवाब देगा—"क्या तुझे मालूम नहीं था कि मेरा अमुक बन्दा बीमार था? और तू उसे देखने नहीं गया! क्या तुझे यह मालूम नहीं था कि यदि तू उसे देखने जाता तो निस्सन्देह मुझे उसके पास पाता?"

अल्लाह पूछेगा—"ऐ मनुष्य के बेटे! मैंने तुझ से खाना मांगा था और तूने मुझे खाना नहीं दिया।" मनुष्य कहेगा, "ऐ मेरे रब्ब! तू तो सारी दुनिया का मालिक है। मैं तुझे कैसे खाना दे सकता था?" अल्लाह उत्तर देगा—क्या तुझे मालूम नहीं था कि मेरे अमुक बन्दे ने तुझसे खाना मांगा था और तूने उसे खाना नहीं दिया? क्या तू नहीं जानता था कि यदि तू उसे खाना दे देता, तो मुझे उसके साथ देखता?"

अल्लाह पूछेगा—"ऐ मनुष्य के बेटे! मैंने तुझ से पानी मांगा था और तूने मुझे पानी नहीं दिया।" मनुष्य कहेगा—"ऐ मेरे रब्ब! मैं तुझे कैसे पानी दे सकता था, तू तो सारी दुनिया का मालिक है?" अल्लाह जवाब देगा—"मेरे अमुक बन्दे ने तुझसे पानी मांगा था और तूने उसे पानी नहीं दिया। यदि तू उसे पानी दे देता, तो निस्सन्देह मुझे उसके साथ पाता।"—मुसलिम।

मोहम्मद साहब के व्यक्तित्व और उनके चरित्र को चित्रित करते हुए इंगलिस्तान का प्रसिद्ध तत्ववेत्ता और विद्वान टामस कारलाइल लिखता है—

"वह स्वयं प्रकृति की महती गोद से निकला हुआ आग का एक जीवित अंगारा था, जो संसार के स्रष्टा की आज्ञा से संसार को रोशन और जाग्रत करने के लिये आया था।"

आगे चल कर वह लिखता है—

"एक प्रशान्त महापुरुष! वह उन लोगों में से था, जो अपने जीवन के कार्य में अनन्य वृत्त हुए बिना रह नहीं सकते। जिन्हें स्वयं प्रकृति देवी ने निर्व्याज होने के लिये नियुक्त किया है। जब कि दूसरे लोग ऊपरी विधि-विधान और किंवदन्तियों के पीछे चलते रहते हैं और उसी में सन्तुष्ट रहते हैं, वह अपनी आत्मा को इन विधि-विधानों के परदे में न छुपा सकता था। अपनी पूरी आत्मा से वह अकेला सत्य से साक्षात्कार कर रहा था। सृष्टि के अस्तित्व का महान रहस्य अपने सम्पूर्ण भयंकर किन्तु ज्योतिर्मय रूप में उसके नेत्रों के सामने चमक उठा। कोई किंवदन्ती उस अनिर्वचनीय सत्य को उसकी आंख से ओझल न कर सकती थी। जो मनुष्य इस सत्यता के साथ अपने जीवन के उद्देश्य को समझ ले, जिसे हम सत्यता कहते हैं, वास्तव में उसके इस अनुभव में ईश्वरीय अंश होता है। इस तरह के मनुष्य के मुख से निकले हुए शब्द सीधे प्रकृति के अपने हृदय की आवाज़ होते हैं। स्वभावतः लोग उसे इस तरह सुनते हैं, जिस तरह किसी दूसरे की बात नहीं सुनते, और अवश्य सुनेंगे, उसके मुक़ाबले में और सब केवल हवा है। शुरू से ही हज़ारों तरह के विचार तीर्थ यात्राओं और भ्रमणों में, इस मनुष्य के चित्त में पैदा होते रहे। मैं क्या हूं? यह अथाह वस्तु जिसे लोग विश्व कहते हैं, जिसमें मैं रहता हूँ, क्या है? जीवन क्या है! मृत्यु क्या है? मैं क्या मानूं? मैं क्या करूँ? हिरा पहाड़ और सिनाई पर्वत की अंधेरी चट्टानों ने, कठोर निर्जन रेगिस्तानों ने कोई जवाब न दिया। उस विशाल आकाश ने, जो सिर के ऊपर मौन फैला हुआ था और जिसके नीलेपन पर सितारे जगमगा रहे थे कोई जवाब न दिया। कहीं से कोई जवाब न मिला। अन्त में उसकी अपनी आत्मा को और परमेश्वर की जो कुछ प्रेरणा उसके अन्दर मौजूद थी उसे—जवाब देना पड़ा।"

मोहम्मद साहब के प्रयत्नों और उनकी सफलताओं का वर्णन करते हुए एक दूसरा विद्वान लिखता है—

"जो बुराइयां मोहम्मद साहब के समय में अरब में सब से अधिक फैली हुई थीं, जिनकी क़ुरान में बड़े ज़ोरों के साथ निन्दा की गई है और जिनका क़तई निषेध किया गया है, वे ये थीं—शराबख़ोरी, वेश्या-गमन, एक साथ अनेक पत्नियों की अमित प्रथा, कन्याओं की हत्या, बेतहाशा जुआ, सूदख़ोरी द्वारा लूट और जादू टोने में अन्ध विश्वास। मोहम्मद साहब के प्रयत्न द्वारा इन कुरीतियों में से कुछ बिलकुल मिट गईं और बाक़ी कम हो गईं, जिससे अरबों के सदाचार में बहुत बड़ी उन्नति हुई और जो उस सुधारक के जोश और उसके प्रभाव दोनों का एक अपूर्व और आदरणीय प्रमाण है। कन्याओं की हत्या और शराबख़ोरी का सर्वथा बन्द हो जाना ही मोहम्मद साहब के कार्य की सबसे अपूर्व विजय है।

"अपनी क़ौम का मोहम्मद साहब ने बहुत बड़ा उपकार किया। वह एक ऐसे देश में पैदा हुए थे, जहां राजनैतिक संगठन, विवेक-सिद्ध धार्मिक विश्वास और सदाचार तीनों में से किसी का पता न था। मोहम्मद साहब ने इन तीनों को क़ायम किया। अपनी अनुपम धी शक्ति के केवल एक हमले में उन्होंने अपने देशवासियों की राजनैतिक अवस्था, उनके धार्मिक विश्वास और उनके सदाचार तीनों को एक साथ सुधार दिया। बहुत से अलग अलग स्वतन्त्र क़बीलों की जगह उन्होंने एक राष्ट्र छोड़ा। अनेक देवी देवताओं और ख़ुदाओं में अन्ध विश्वास की जगह उन्होंने एक अनन्य सर्व शक्तिमान किन्तु दयालु परमात्मा में विवेक पूर्ण विश्वास पैदा कर दिया। उन्होंने लोगों को यह बताया कि परमात्मा हमें सदा देखता रहता है और हमारे अच्छे और बुरे सब कर्मों का यथोचित फल देता है और इस विश्वास के अनुकूल ही उन्होंने उन्हें ठीक ठीक जीवन व्यतीत करना सिखा दिया।"

मोहम्मद साहब के जीवनोद्देश्य की सफलता के सम्बन्ध में एक विद्वान इतिहासज्ञ लिखता है—

"मोहम्मद साहब को एक साथ तीनों चीज़ों को क़ायम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, एक राष्ट्र, एक साम्राज्य और एक धर्म। इतिहास में कहीं इस तरह की कोई दूसरी मिसाल नहीं मिलती।"

पाकिस्तान का हल

डाक्टर कुंवर मोहम्मद अशरफ़, एम० ए०, पी० एच० डी०

एक मुद्दत से हिन्दू-मुसलिम सवाल ने पाकिस्तान की सूरत में एक नई और संगठित शक्ल अख़्तियार कर ली है। जो साम्प्रदायिक मुसलमान अब तक अल्पमत के अधिकारों के गीत गा रहे थे अब क़ौमी हैसियत से एक अलग हुकूमत की मांग पेश कर रहे हैं। और गो यह लोग सनद नहीं देते मगर दुनिया के मौजूदा इतिहास से इस क़िस्म की मांगों की बहुत सी मिसालें पेश की जा सकती हैं। इसकी जो प्रतिक्रिया हिन्दुस्तान में अब तक हुई है उससे मालूम होता है कि हिन्दू क़ौम इस मांग के अकसर ख़िलाफ़ है। पाकिस्तानियों के लिए यह प्रतिक्रिया हिम्मत तोड़ने वाली नहीं, बल्कि ख़ुशी की बात है। चुनांचे इस विरोध से वह मुसलमान भक्तों की आंखों में एक नैतिक ताक़त हासिल कर रहे हैं। उनकी मांग के समर्थन के लिये यह क्या कम है कि कुछ विशेष हल्के उनकी मुख़ालिफ़त में बहुत आगे आगे हैं।

पाकिस्तान के सिलसिले में मैं इस मौक़े पर पाठकों का ध्यान एक ख़ास पहलू की तरफ़ दिलाना

ज़रूरी समझता हूं। यह सही है कि अंग्रेज़ी हुक्मरानों ने, जो क़िलेबन्दी अपनी हिफ़ाज़त और आज़ादी के आन्दोलन को रोकने के लिए सन् १९०९ से पहले और अब तक बराबर फ़िरकेवाराना चुनाव और जुदा जुदा स्कूल और कालेजों की सूरत में क़ायम की थी, उसका किसी न किसी दिन पाकिस्तान और एक आज़ाद इसलामी हुकूमत के रूप में उभरना ज़रूरी था। मगर हिन्दुस्तानी क़ौम ने भी सन् १९२० ई० से इसका पुर असर जवाब यह सोच लिया है कि अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ हिन्दुस्तानी जनता को एक शहंशाहियत के ख़िलाफ़ एक सम्मिलित आन्दोलन की दावत दी जावे। चुनांचे हमने सन् १९२० से सन् १९३२ तक अंग्रेज़ी शहनशाहियत की कोशिशों को रोकने में कामयाबी और क़ौमियत की सही और तरक़्क़ी पसन्द शक्ल अख़्तियार करली थी, और इतिहास का तक़ाज़ा है कि अब हम इस रास्ते में इन्क़लाबी शान से आगे बढ़ें।

एक दृष्टि से पाकिस्तान के रुझान दूसरे प्रतिक्रिया वादियों की तरह ख़ुद हमारी आईनपरस्ती की झलक हैं। चुनांचे इस तहरीक के ज़्यादातर लीडर वह लोग हैं, जो परदे के भीतर अंग्रेज़ी शहनशाहियत के दोस्त या हर सूरत में जनता के इन्क़लाबी जद्दोजेहद के दुश्मन हैं। मगर आज हमारी क़ौमी जद्दोजेहद का यही तक़ाज़ा है कि अपनी तहरीके आज़ादी के लक्ष्य और उद्देश्य को साफ़ कर दें। आज हमारे लिए यह कहना काफ़ी नहीं है कि हम स्वराज्य या कामिल आज़ादी चाहते हैं। हमें यह भी बता देना चाहिए कि इसकी सूरत क्या होगी। सन् १९०७ ई० की हिन्दुस्तानी क़ौमी तहरीक का जज़बा हिन्दू-क्रान्ति और सन् १९२० की क़ौमी ताक़त हिन्दुस्तानी सरमायादारी थी। गो इस वक्त यह दोनों समाजी ताक़तें तरक्क़ी पसन्द थीं, मगर आज हमें हिन्दू-क्रान्ति या सरमायादारी के बजाय हिन्दुस्तानी जनता को सामने लाकर यह साफ़ ऐलान कर देना चाहिए कि आज़ादी की जद्दोजेहद में शरीक होने के बाद अवाम को पूरा अख़्तियार है कि वह सिर्फ़ यही नहीं कि अपने मज़हबी ख़यालात और सोशल अक़ायद (विश्वास) को महफ़ूज़ रक्खें, बल्कि वह पूरी तरह आज़ाद होंगे कि कामयाबी के बाद अपने इलाक़ों में वे मुकम्मिल तौर पर आज़ाद और जुदागाना हुकूमत क़ायम करें। हमारी क़ौमी तहरीक का इससे कम कोई मक़सद नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में हम मुसलमानों से कह दें कि तुम सिर्फ़ यही नहीं कि ब्रिटिश साम्राज्य के मुक़ाबले में हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिये लड़ो, बल्कि पाकिस्तान का ख़याल और विश्वास अपने सामने रख कर लड़ो। और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बाद अपने इलाक़ों में पाकिस्तान बनाओ। यह दूसरी बात है कि कर्ज़दार पाकिस्तान के इलाक़े के मुसलमान ख़ुद बजाय पाकिस्तान के आज़ाद सिन्ध, आज़ाद सरहद, बलूचिस्तान और आज़ाद कशमीर और मग़रबी पंजाब की हुकूमतें क़ायम करें, जैसा कि आज भी जज़बा है। चुनांचे पाकिस्तान के नारे इस इलाक़े में नहीं, बल्कि मुसलिम अल्पमत के सूबों से बुलन्द हुए हैं।

मैं समझता हूं कि हमारा यह ऐलान न सिर्फ़ मुसलमानों की पेचीदगी और उलझन को दूर कर देगा, बल्कि अपनी जगह एक अहम और फ़ैसले-के योग्य मसले को साफ़ कर देगा। सब से बड़ी बात यह है कि यह ऐलान इन्क़लाबी जद्दोजहद के दरवाज़े खोल देगा, और मुसलिम जनता इस ऐलान के बाद हमारी दावतों को अपने ख़्वाब की तसवीर समझेगी।

कार्यकर्ता से

श्री अम्बालाल पुराणी, पांडिचेरी

श्री पुराणी जी गुजरात के निस्पृह जन-सेवी और आदरणीय साहित्य-सेवी हैं। आज कल आप योगिराज श्री अरविन्द के आश्रम, पांडिचेरी में रहकर अभ्यासी जीवन बिता रहे हैं।

भाई······

तुम्हारा·········का लिखा पत्र मिला। कार्यकर्ता को अपना मार्ग बनाने से पहले यह भली भांति जान लेना चाहिये कि चाहे कुछ क्यों न हो मनुष्य आखिर मनुष्य है। नेता लोग भी तो मनुष्य ही ठहरे! यदि वे असाधारण होने में तुम्हारी आशाओं को फलीभूत न कर पाएं, तो इसमें निराश होने की बात ही क्या है? कार्यकर्ता को तो यही समझकर चलना चाहिये कि मनुष्य ऐसे ही हैं। अपने अन्तर की ओर नज़र जमाए हुए हाथ के काम को करते चले जाओ। गीता ने कर्मयोग का जो आदर्श बताया है, वह ऐसे समय के लिये बहुत उपयोगी है। कर्म करते हुए तुम दाएं बाएं न झांको, जगत की ओर, समाज की ओर अथवा मनुष्यों की अच्छाइयों और बुराइयों की ओर मत देखो। तुम्हारी नज़र अपने अन्तर की ओर और भगवान की ओर ही लगी रहनी चाहिये। तुम्हें इसकी चिन्ता न करनी चाहिये कि लोग क्या चाहते हैं और तुम से क्या क्या आशाएं रखते हैं। तुम केवल अपने अन्तर की आवाज़ को सुनते रहो और उसके प्रति सच्चे बने रहो। नेता कहाने वालों में, जेल में कुछ कमज़ोरियां प्रकट होती हैं, तो इसमें सच्चे दिल से काम करने वाले के लिये घबराने की क्या बात है? यदि तुमने अपने अन्तर के सिद्धान्त की ख़ातिर एक काम शुरू किया है, तो दूसरों की कमज़ोरियां देखकर उसे छोड़ दो या छोड़ने का विचार भी मन में लाओ, तो यह ठीक नहीं; हां, अपने अन्तर की दिशा ही बदल जाए तो और बात है।

जीवन-कार्य, आदर्श और सामाजिक कर्तव्य, परस्पर विरोधी आदर्श, धर्म-सङ्कट और परिणाम स्वरूप अर्जुन की सी अनिश्चित, असमर्थ और 'क्लैव्य' युक्त मनोदशा—इन बातों में तो सारे जीवन के प्रश्नों का समावेश हो जाता है। इन सब में गीता का दर्शाया हुआ मार्ग ही ठीक प्रतीत होता है। तुम्हारे पत्र से लगता है कि तुम्हारा काम करने का विचार और भी दृढ़ हो रहा है, तो फिर जैसे अर्जुन ने क्षात्र-धर्म के आगे सगे-सम्बन्धियों की अवहेलना कर दी, उसी तरह तुम्हें भी और बातें छोड़ काम में ही लगना चाहिये।

पर यह निर्णय भी जीवन की गुत्थी को सुलझाने में असमर्थ होने के कारण न करो। यह तो ठीक है जब तक आदर्श अपनी ओर आकर्षित कर रहा हो, तो मनुष्य कमाई करने के झंझट में न पड़े। पर इसमें अशक्ति या असमर्थता का कोई स्थान न होना चाहिये।

तुम जिस थकान के बारे में लिखते हो, वह ज़्यादा काम होने की वजह से नहीं आती, वह तो जीवन के अभाव और प्राण की कमज़ोरी के कारण है। जीवित जनता में और कुछ न हो, तो कम से कम महत्वाकांक्षाएं तो होती ही हैं, जो उन्हें साहस, उपभोग, विजय, सिरजन, कला, अन्वेषण आदि के कार्यों की ओर प्रेरित करती हैं।

हमारे युवकों में प्राण की कमी है। वे महत्वाकांक्षी क्यों नहीं होते? और नहीं तो हवाई जहाज़ के प्रयोगों में ही कुछ साहस क्यों नहीं दिखाते? अपने चारों ओर फैली हुई मुर्दनी में वे ज़रा सी जीवन-ज्योति जगा दें, तो वही बस है। अरे वे कमाएं, लड़ें, संस्था चलायें, कोई सङ्गठन पैदा

करें, किसी आर्थिक समस्या का हल निकालें या अपने अथवा जनता के किसी प्रश्न को हल कर दिखाएं, तो यह भी काफ़ी है। तुम कहते हो यह थकान है, पर नहीं, यह थकान नहीं, प्राण की कमी है। आकाश के साथ बातें करने वाली राक्षसी महत्वाकांक्षाओं का अभाव है, जीवन का अभाव है। और इसका बस एक ही इलाज है। कोई ऐसी तरकीब की जाए, जिसमे प्राण का संचार हो। जिनके अन्दर कुछ प्राण है, वे अपने जीवन-कार्य को निश्चित करके उसे मूर्त स्वरूप मे प्रकट करें—इसे छोड़ और कोई मार्ग नहीं।

तपस्वी व्यक्ति कोई पहले से ही निश्चित किये हुए, तो होते नहीं। जो कोई तप करे वही तपस्वी। समाज और राष्ट्र किसी की प्रतीक्षा में ठहरे तो न रहेंगे। फिर तुम ही क्यों पीछे रहते हो। तुम ही ऐसे कौन से हो, जो तप में किसी से पिछड़ जाओ !!! तुम में से प्रत्येक के अन्दर बहुत शक्ति है। इस छिपी हुई शक्ति, इस अप्रकट बल, इस समर्पण, एक निष्ठता, स्वार्थ-त्याग, शुद्ध सेवा-वृत्ति, सच्चे भ्रातृभाव और आदर्श के लिये मर मिटने की तमन्ना को प्रकट क्यों नहीं करते ? काम पूरा हो, या न हो इसकी चिन्ता न करो, उसकी फ़िक्र करने वाला तो और ही है। तुम्हें परिणाम के लिये घबराने की ज़रूरत नहीं।

दूसरों के बारे में कभी निराश न हो। कौन जाने किसके अन्दर किस समय और किस बहाने कौनसा अंकुर फूटे और कौनसी शक्ति जाग्रत हो जाए। ये गहन बातें हैं, जिन्हे जान सकना हमारे हाथ में नहीं। इसलिये मेरा तो यही नियम है कि दूसरों के बारे में उनकी नाना प्रकार की कमज़ोरियों, त्रुटियों और अनेकानेक दोषों के होते हुए भी निराश न हुआ जाए।

हम किसी के अन्तर के बारे में क्या जानते हैं और उसके अन्दर छिपी हुई सम्भावनाओं के बारे में हमें पता ही क्या है ? अतः बहुत अनुभव के बाद मैं जिस परिणाम पर पहुँचा हूं वह यह है कि—

(क) कार्यकर्ता की दृष्टि सदा अपने अन्तर की ओर ही लगी रहनी चाहिये। उसे अपने इर्द गिर्द कुछ देखने की ज़रूरत नहीं, उसका मापदण्ड स्वयं उसी के अन्दर है। उसे अपने अन्दर और अन्दर ही देखना चाहिये।

(ख) कार्यकर्ता भगवान को छोड़ और किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। यदि प्रभु के आगे सच्चे दिल से खड़े होकर वह अपने हेतु और अपने एक एक क़दम के बारे में जवाब दे सकता हो, तो उसे सारी दुनिया की परवाह करने की कोई ज़रूरत नहीं।

(ग) तीसरी बात यह याद रखो कि अन्य सब मनुष्य भी मनुष्य ही हैं, लेकिन उनमें भी हर एक के अन्दर कुछ दिव्य अंश भी ज़रूर मौजूद है। किसी भी व्यक्ति को उसके बाह्य आचरण और कामों तथा उसकी निर्बलताओं के कारण हमेशा के लिये छोटा और हल्का न मान लो। सबके लिये सेवा-भाव पैदा करो और हर एक के अन्दर स्थित दिव्य अंश की सच्चे दिल से सेवा करो।

अपने आपसे ख़ूब सख़्ती के साथ काम लेना सीखो। अपने किसी प्रकार के बहानों पर ध्यान न दो। यही नहीं, बल्कि अपनी किसी कमज़ोरी का बचाव करने का प्रयत्न भी अपने अन्दर न होने दो। कठोर मालिक जिस प्रकार अपने गुलाम को नियन्त्रण में रखता है, उसी भांति अपने आपको क़ाबू में रखो। दूसरों को कोई चीज़ सिखाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि आप अपने अन्दर उस चीज़ को सिद्ध कर दिखाओ। मौन जितना सिखा सकता है, वाणी उतना सिखा सकने में असमर्थ है। प्रभु पर श्रद्धा रखो, जहां तक हो उसे ही अपने जीवन का अन्तिम ध्येय मानो और छोटी बड़ी सब प्रकार की कठिनाइयों में उसी से पथ प्रदर्शन के लिये याचना करो। इतना बोध यदि मैं ही अपने जीवन में घटा पाऊं, तो बहुत है। अच्छा अब इस लम्बे चौड़े पत्र को समाप्त करता हूं। इति।

तुम्हारा स्नेही बन्धु

....

बेर्गसों का दर्शन

डाक्टर नारायण विष्णु जोशी, एम० ए०, डी० लिट्
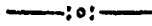
डाक्टर साहब मध्य भारत के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं। दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान, महत् चेता पुरुष, जन्मतः चिन्तक और उसके अनुरूप ही डाक्टर साहब का जीवन है। घर वालों के आग्रह से यदि डाक्टर जोशी आई० सी० एस० में बैठ जाते, तो समाज की कितनी बड़ी क्षति होती? आइ० सी० एस० की तय्यारी के बाद उनकी आत्मा ने इस मार्ग को स्वीकार न किया और डी० लिट् की डिगरी ही उन्हें अधिक अनुरूप जंची। डाक्टर जोशी शहरी सभ्यता और सम्पन्न जीवन से दूर भागते हैं। शुजालपुर (ग्वालियर) जैसे छोटे से गांव में वे एक मिडिल स्कूल चलाकर अपने सिद्धान्तों के अनुरूप ही जीवन बिता रहे हैं। एक शब्द में डाक्टर जोशी माध्य भारत के बौद्धिक नेता हैं।

(१)

"दार्शनिक को वैज्ञानिक की अपेक्षा आगे बढ़ना चाहिये। जो केवल काल्पनिक प्रतीक है, ऐसी प्रत्येक वस्तु का परित्याग करने के पश्चात्, वह जड़ जगत को एक साधारण गति में, प्रवहमानता के सातत्य में, भूयमानता में पिघलता हुआ पाएगा। और इस प्रकार वह वास्तविक काल को उस स्थान में ढूंढने के लिये तैयार होगा, जहां—अर्थात् जीवन और चैतन्य के संसार में—उसको पाना मुक़ाबलेतन अधिक उपयोगी है। क्योंकि जहां तक मृत जड़ता का सम्बन्ध है, हम प्रवहमानता को बिना किसी गम्भीर त्रुटि के नज़र-अन्दाज़ कर सकते हैं: हमने कहा है, जड़ता ज्यामिति के भार से दबी हुई है; और जड़ता, जो कि 'अवरुह्यमाण' वास्तविकता है, आरुह्यमाण वास्तविकता से सम्बद्ध होने पर ही क़ायम रह सकती है। किन्तु जीवन और चैतन्य ही तो यह आरोहण हैं। जब हम उन्हें उनकी गति का अनुवर्तन करके एकदम आकलन कर लेते हैं, तब हम समझ सकते हैं कि शेष वास्तविकता उनसे किस प्रकार विनिःसृत है। तब उत्क्रान्ति दिखाई देती है और उस उत्क्रान्ति के सिलसिले में जड़ता और बौद्धिकता का परस्पर क्रमिक घनीकरण द्वारा प्रागतिक स्थिरीकरण भी दृष्टिगोचर होता है। किन्तु, तब उत्क्रान्ति की गति के मध्य में हम अपने आप को इसलिये अधिष्ठित करते हैं कि हम उसका उसके वर्तमान परिणामों तक अनुसरण कर सकें, बजाय इसके कि हम इन परिणामों का उन्हीं के टुकड़ों से कृत्रिमता से निर्माण करें। हमें दर्शन का यही वास्तविक कार्य मालूम पड़ता है। ऐसा मान लेने पर दर्शन केवल मनका अपने उद्गम की ओर मुड़ना मात्र नहीं है, न वह मानव-चैतन्य का उस जीवन-लक्ष्य से, जिसमे वह प्रादुर्भूत है, सांनिपात है, न वह सृजनशील आयास से संपर्कमात्र है; वह तो वास्तविक उत्क्रांति धर्म है और विज्ञान का वास्तविक अनुबन्ध है········।" (Creative Evolution, Eng tr. pp 390-91)

इन शब्दों में बेर्गसों ने अपनी तत्त्वचिन्ता का सार ज़ाहिर किया है। प्रस्तुत लेख में हम ऊपर के उद्धरण में आए हुए विचारों को अधिक विस्तार देने की चेष्टा करेंगे।

(१)

बेर्गसों का दर्शन आत्यंतिक बुद्धिवाद के विरोध से उद्भूत उस प्रतिक्रियात्मक विचार-धारा की एक शाखा है, जिसका उद्गम कांट की 'कर्म-बुद्धि की मीमांसा' से होता है। इस आत्यन्तिक बुद्धिवाद के दो रूप हैं: वैज्ञानिक और आध्यात्मिक।

वैज्ञानिक बुद्धिवाद का प्रारम्भ सन् १५०० ई० के लगभग हुआ, जिस समय धार्मिक अंधश्रद्धा के कारण मर्माहत होकर सत्य के पुजारियों ने उससे छुटकारा पाने की कोशिश की थी। मध्ययुग में दर्शन और विज्ञान दोनों ही धर्म के दास थे। धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध विचार वैज्ञानिक माने जाते थे और धार्मिक मान्यताओं और पूर्व ग्रहों की चर्चा और विवेचन का नाम ही दर्शन था। किन्तु लिओनार्डो डा विंची, कोपर्निकस, गलिलीयो, केप्लर आदि वैज्ञानिकों ने इस रूढ़ि के विरुद्ध घोर विद्रोह किया। इसके परिणाम स्वरूप विज्ञान ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व क़ायम किया। फ्रांसिस बेकन (सन् १५६१-१६२६ ई०) ने एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया, जिसके द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार की अंधश्रद्धा न प्रवेश कर सके और केवल वही विचार लिये जा सकें, जो प्रकृति के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा साबित हों। बेकन की पद्धति का अनुसरण करते हुए वैज्ञानिकों ने धीरे धीरे प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को प्रकाश में लाना शुरू किया। सर्व प्रथम भौतिक और रसायन विज्ञानों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। गलिलीयो, केप्लर, न्यूटन, फ़ाराडे के अनुसंधानों ने भौतिक जगत् का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने रखा। इस प्रकार प्रोत्साहित होने पर धीरे धीरे वैज्ञानिकों ने प्राणियों में मिलने वाले जीवन-तत्त्व की छान बीन शुरू की। डार्विन और स्पेंसर ने बतलाया कि समस्त प्राणि-जगत्, अमीबा कीटाणु से लेकर सर्वोच्च प्राणी मानव तक, जीवन तत्त्व के एक ही विकास-क्रम का परिणाम है। धीरे धीरे यह भी मालूम किया गया कि प्राणियों के शरीर में जो सेंद्रिय द्रव्य हैं, वे रासायनिक क्रिया द्वारा निरिंद्रिय द्रव्यों से निर्मित किये जा सकते हैं। होते-होते विज्ञान ने मन—आध्यात्मिकता के एक मात्र आधार—पर भी क़ब्ज़ा जमाना शुरू किया। अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वाट्सन यह मानते हैं कि हमारी वह समस्त चेष्टा जिसे हम मानसिक कहते हैं, बहिर्जगत् की उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया मात्र है। अर्थात् तथाकथित मानसिक क्रियाएं स्वतःस्फूर्त न होते हुए बाह्य जगत् से कार्य-कारण सम्बन्ध द्वारा विनिश्चित (determined) हैं।

उपर्युक्त विचारधारा के फल स्वरूप यह माना जाने लगा कि यदि हम किसी घटना अथवा वस्तु पर प्रतिक्रिया करने वाली समस्त शक्तियों का पूर्णतया आकलन कर लें, तो हम बता सकते हैं कि वह घटना अथवा वस्तु भविष्य काल के विशिष्ट क्षण में कौनसा रूप धारण कर सकेगी। जगत् का वस्तुजात कार्य-कारण से नियमित है। अतः उसमें कोई स्वतन्त्रता नहीं, चैतन्य नहीं, स्वतःस्फूर्त क्रिया नहीं। प्रत्येक वस्तु जड़शक्ति द्वारा नियमित और विनिश्चित है। इस प्रकार वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने जग को अचल, निस्पंद एवं कठोर बतलाकर अपना पर्यवसान किया।

बेकन की पद्धति को दर्शन के क्षेत्र में अवतारित करने का श्रेय सर्वप्रथम जॉन लॉक को है। चूंकि विज्ञान और दर्शन दोनों ही ने मध्ययुगीन धार्मिक अन्धश्रद्धा के बन्धनों से एक साथ ही मुक्ति पाई थी, अतः विज्ञान की तरह दर्शन को भी प्रत्यक्ष अनुभव पर अधिष्ठित करना क्रमप्राप्त था। इस बात को महसूस कर लॉक ने अपने दर्शन का आधार इस तत्त्व को बनाया कि अनुभव ही (प्रमाणभूत) ज्ञान का साधन है। 'अनुभव' से लॉक का मतलब है इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान; अर्थात्, जिन वस्तु अथवा विचारों को हम अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर सकते हैं, वे ही सत्य हैं, अन्य नहीं। इस प्रकार लॉक ने दर्शन में अनुभववाद (Empirical school) प्रचलित किया।

वस्तुतः, लॉक के अनुभववाद का उद्देश्य यही था कि दर्शन को बुद्धितन्त्र बनाया जाय। जब हम बुद्धिगम्य ज्ञान को ही सत्य का प्रमाण मान लेते हैं,

तब स्वभावतः बुद्धि दर्शन की अधिष्ठात्री बन जाती है। अब दर्शन उस क्षेत्र के बाहर पदार्पण नहीं कर सकता, जिस पर बुद्धि का स्वामित्व नहीं है।

अपने 'Essay on Human understanding' में जॉन लॉक ने यह बतलाया है कि दार्शनिक समस्याओं का विवेचन करने के पूर्व ज्ञान की उत्पत्ति, मर्यादा और विस्तार की मीमांसा करना आवश्यक है।* जब तक हम यह नहीं जान लें कि आत्मा परमात्मा आदि दार्शनिक तत्त्व हमारे ज्ञान के क्षेत्र के अन्दर हैं अथवा बाहर, तब तक उनके बारे में चर्चा करना भी व्यर्थ है। यदि दार्शनिक तत्त्व हमारे अनुभव के अन्तर्गत हों, तो ठीक है। किन्तु ज्ञान मीमांसा के पश्चात् यदि हमें यह मालूम हो जाय कि वे अनुभवगम्य नहीं हैं, तो उनके बारे में अस्तिनास्ति करना ही व्यर्थ है। जो बात अज्ञेय है उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की जिज्ञासा भी अवांछनीय है।

इस बात को लेकर जॉन लॉक सर्वप्रथम ज्ञानमीमांसा करने पर उद्यत हुआ। उसने बतलाया कि हमें अपने इन्द्रियों द्वारा अनेक गुण संयुक्त पदार्थों का बोध होता है। पदार्थों में हमें दो प्रकार के गुण मिलते हैं। एक तो वे जो पदार्थ से अलग नहीं किये जा सकते और दूसरे वे जो ज्ञाता की मनःस्थिति पर अवलम्बित हैं। आकृति, परिमाण, वज़न आदि ऐसे गुण हैं, जो ज्ञेय वस्तु से पृथक नहीं हो सकते। अतः वे प्रधान गुण हैं। रङ्ग, रस, गंध, स्पर्श आदि गुण ऐसे हैं, जो ज्ञाता की मनःस्थिति पर आश्रित हैं। उदाहरणार्थ, पांडु रोगी को सब जग पीला दिखता है, ज्वर पीड़ित को शक्कर भी कड़वी मालूम होती है। अतः ये गुण गौण हैं।

अब चूंकि गुण बिना आधार के नहीं रह सकते, इसलिये प्रधान एवं गौण गुणों से संयुक्त जग के वस्तुजात का कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिये। अतः लॉक ने एक जड़ अधिष्ठान (Material substance) की कल्पना की, जो समस्त बाह्य जगत् का आधार माना जा सके। लॉक के अनुसार यह जड़ अधिक अनुभवगम्य नहीं है। वह अज्ञात और अज्ञेय कुछ तो भी 'ज्ञ' है।

उसी प्रकार, लॉक ने कहा कि ज्ञेय वस्तुओं को जानने वाला भी कोई होना चाहिये। ज्ञाता का मुख्य गुण है ज्ञान। ज्ञान चैतन्य है। अतः ज्ञान गुण के अधिष्ठान के लिये हमें, जड़ अधिष्ठान के व्यतिरिक्त, आत्मा की कल्पना करना आवश्यक है।

पुनः, ज्ञाता की आत्मा परिमित एवं अपूर्ण है। अतः, इस ससीम आत्मा का कोई कारण है और वह है ईश्वर, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है।

इस प्रकार लॉक ने अपने 'Essay on Human Understanding' में जड़ अधिष्ठान, आत्मा और ईश्वर के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया।

अब यहां मनोरञ्जक बात तो यह है कि लॉक ने अपने 'Essay on Human Understanding' को लिखने का उपक्रम इसलिये किया था कि उसके द्वारा वह यह बतला सके कि ज्ञान की उत्पत्ति, मर्यादा और विस्तार क्या है? ताकि दर्शन ज्ञान की परिधि के अन्दर रह कर हमें ऐसे तत्त्व दे सके, जो मध्ययुगीन धार्मिक मान्यताओं के समान हमारे अनुभव के परे न हों। किन्तु जब हम लॉक के ग्रन्थ के आख़िर की ओर नज़र दौड़ाते हैं, तब हमें पता चलता है कि कि लॉक ने उन्हीं दार्शनिक तत्त्वों—जड़ अधिष्ठान, आत्मा और ईश्वर की— स्थापना की है, जिन्हें वह स्वयं बुद्धिगम्य नहीं मानता।

लॉक की ज्ञान मीमांसा की इस असंगति की ओर कुछ कुछ बर्कले का ध्यान गया। उसने अपने 'Principles of Human Knowledge' में यह बतलाने की कोशिश की है कि लॉक का जड़ अधिष्ठान का सिद्धान्त उसके अनुभववाद से मेल नहीं खाता। यदि बाह्य जगत् का अधिष्ठान 'अज्ञात और अज्ञेय कुछ तो भी 'ज्ञ' है, तो ऐसे 'ज्ञ' का

*देखिये, लॉक के Essay की प्रस्तावना, paras ii and viii.

होना हमारे लिये निरर्थक है। फिर, जो अज्ञेय है उसकी स्थापना भी हम कैसे कर सकते हैं? इस प्रकार बर्कले ने जान लॉक की जड़-अधिष्ठान की कल्पना का खंडन किया।

उसी ग्रंथ में कुछ आगे चलकर बर्कले ने यह भी बतलाने का प्रयत्न किया है कि लॉक कृत प्रधान और गौण गुणों का विभाजन अनुपयुक्त है। क्योंकि हम प्रधान और गौण गुणों का अनुभव निरन्तर एक साथ करते हैं। जब हम किसी रङ्ग की कल्पना करते हैं, तब हम 'रङ्गीन विस्तार' की कल्पना करते हैं। अतः गौण और प्रधान गुणों का पार्थक्य अकल्पनीय है। और चूंकि लॉक के मतानुसार गौण गुण ज्ञाता पर अवलम्बित हैं, अतः उनसे अभिन्न प्रधान गुण भी ज्ञाता पर आश्रित हैं ही।

जब इस प्रकार बाह्य जगत् का अधिष्ठान उड़ा दिया गया और पदार्थों के प्रधान गुणों को ज्ञाताश्रित बतला दिया गया, तब बाह्य जगत् में क्या शेष रह जाता है? केवल ऐसी वस्तुएं, जिनका अस्तित्व ज्ञाता के अनुभव पर अवलम्बित है। इसी बात को बर्कले ने अपने प्रसिद्ध सूत्र 'Esse est percipii' द्वारा व्यक्त किया है। इसका अर्थ केवल यही है कि बाह्य जगत् के वस्तुजात का अस्तित्व नहीं। ज्ञाता द्वारा उनकी अनुभूयमानता ही उनका अस्तित्व है।

यहां तक तो बर्कले ने अनुभववाद के मूल सिद्धान्त का पूरा पूरा पालन किया। किन्तु वह यहीं तक नहीं ठहरा। आगे चलकर, लॉक की तर्क पद्धति का अनुसरण करते हुए, उसने यह बतलाया कि ज्ञेय वस्तु का अनुभव करने वाली आत्मा तथा आत्मा के कारण सर्व शक्तिमान् ईश्वर को मानने की भी आवश्यकता है। बस यहीं पर बर्कले अनुभव-वाद की लीक छोड़कर, रूढ़िवाद की ओर फिसल पड़ा।

अपनी पुस्तक 'A Treatise on Human Nature' में ह्यूम बर्कले की इस असङ्गति को प्रकाश में लाया। उसने कहा कि बर्कले द्वारा प्रतिपादित आत्मा की कल्पना अनुभव गम्य नहीं है। अतः उसको मानना ठीक नहीं।* इसके बाद उसने ईश्वर की कल्पना को भी असङ्गत बतलाया। जान लॉक और बर्कले ने ईश्वर को आत्मा का कारण बतलाते हुए उसके अस्तित्व को माना था। अतः ह्यूम ने कार्य-कारण की कल्पना का विश्लेषण किया। ह्यूम ने बतलाया कि जब हम किसी कारण से उसके कार्य के अस्तित्व का अनुमान करते हैं, तब वह केवल हमारे पिछले अनुभव के बल पर। जब हम आग को देखते हैं, तब यह अनुमान कर लेते हैं कि आग को हाथ में लेने पर वह उसको जला देगी। क्यों? इसलिये कि हमने अपने पिछले अनुभव में आग को दाहक पाया। किन्तु आग की दाहकता इसी प्रकार भविष्य में भी बनी रहेगी इसका क्या प्रमाण? सम्भव है कि आग भविष्य में अपनी दाहकता को छोड़ दे और उसके विरोधी गुण को अंगीकार कर ले। इस प्रकार कार्य-कारण सम्बन्ध में कार्य से कारण के अस्तित्व का, अथवा कारण से कार्य के अस्तित्व का अनुमान कर लेना उचित नहीं। इसलिये, ईश्वर को आत्मा का कारण मानकर उसके अस्तित्व को सिद्ध करने का उपक्रम ठीक नहीं माना जा सकता।

लॉक की जड़ अधिष्ठान की कल्पना का खंडन तो बर्कले पहले ही कर चुका था। अब ह्यूम ने बर्कले की आत्मा और ईश्वर की कल्पनाओं का भी उन्मूलन कर दिया। तब फिर क्या शेष रह जाता है? केवल हमारी इन्द्रियों के सामने वेदनाओं का आवा-गमन। यही बाह्य जगत है और यही हमारे अनुभव का आज्ञेय है।

ह्यूम को बहुत लोग नास्तिक मानते हैं। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। ह्यूम का मूल उद्देश्य यह बतलाना था कि यदि अनुभववाद के समान हम दर्शन को बुद्धितन्त्र मान लें, तब तो हम दार्शनिक तत्त्वों में से एक को भी नहीं रख सकते। क्योंकि आत्मा, ईश्वर और जड़ अधिष्ठान इनमें से एक भी

* A Treatise on Human Nature, I, 4. v.

बुद्धिगम्य नहीं है। अतः अनुभववाद के सिद्धान्त के अनुसार उनको मानना असंगत है। इस प्रकार ह्यूम का उद्देश्य नास्तिकता का समर्थन करना नहीं था, अपितु बुद्धितन्त्र दर्शन के खोखलेपन और दिवालियेपन को प्रकट करना था।

जब ह्यूम के बाद कांट आया, तब ह्यूम के उपर्युक्त उद्देश्य को तो उसने नज़रअन्दाज़ कर दिया। दर्शन की बुद्धितन्त्रता में कांट का पूरा पूरा विश्वास था। इसलिये जब उसने बुद्धितन्त्र दर्शन को ह्यूम द्वारा मर्माहत देखा, तब वह 'रूढ़िवाद की नींद से जागा'। विचार करने के पश्चात् उसने अनुभव किया कि ह्यूम के बुद्धितन्त्र दर्शन की जड़ काटने वाले विचार ज्ञान की अपर्याप्त मीमांसा के परिणाम हैं। लोक ने ज्ञान-मीमांसा करने के निश्चय से ही अपने ग्रन्थ को लिखना शुरू किया था। किन्तु उसकी ज्ञान-मीमांसा तो एक ओर रह गई और लोक अज्ञात रूप से अंधश्रद्धात्मक मान्यताओं का शिकार बन गया। यदि ज्ञान-मीमांसा द्वारा पुनः इस अंधश्रद्धा का निराकरण हो जाय, तो ह्यूम के सर्वशंकावाद का कोई कारण न रहेगा।

इस भावना से प्रेरित होकर कांट ने 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' का लेखन शुरू किया। इस प्रसिद्ध ग्रंथ में कांट ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान की संभावना दो बातों के संयोग से उत्पन्न होती है। एक ओर तो हम अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभूत वेदनाओं को पाते हैं। किन्तु ये वेदनाएं बड़े अव्यवस्थित रूप से हमारे सामने उपस्थित होती हैं। एक वेदना के बाद दूसरी वेदना आती है, जो पूर्वगामी वेदना से बिलकुल अलग और भिन्न धर्मिणी होती है। अतः जब तक इन अव्यवस्थित वेदनाओं को व्यवस्थित न किया जाय, तब तक किसी प्रकार का ज्ञान संभव नहीं।

अब प्रश्न है कि वेदनाएं व्यवस्थित किस प्रकार होती हैं? इसके उत्तर में कांट का कथन है कि हम अपनी बुद्धि द्वारा ऐंद्रिय वेदनाओं को व्यवस्थित करते हैं। बुद्धि अपनी साधार कल्पनाओं (Conceptions) द्वारा वेदनाओं का समन्वय करती है। जब हम किसी दी हुई वेदना को बुद्धि द्वारा परिकल्पित साधारण कल्पना से संयुक्त कर देते हैं, तभी ज्ञान की संभावना होती है। इसी बात को कांट ने इस प्रकार व्यक्त किया है:—वेदनाएं साधारण कल्पनाओं के बिना अंधी हैं और साधारण कल्पनाएं वेदनाओं के बिना खोखली हैं।

ज्ञान की संभावना के लिये बौद्धिक समन्वय की अनिवार्यता का निदर्शन एकदम नई चीज़ थी। लॉक केवल वेदना-जन्य अनुभव को ही ज्ञान समझता था। किन्तु कांट के अनुसार केवल वेदनाओं से ज्ञान की सम्भावना कदापि नहीं हो सकती। उसके लिये बौद्धिक समन्वय भी चाहिये। अब यह बौद्धिक समन्वय बाह्य जगत में दी हुई वस्तुओं में नहीं शुमार किया जा सकता, वह हमारी उस बुद्धि का धर्म है, जो वेदनाओं का ज्ञाता है। क्या ज्ञाता कभी ज्ञेय बन सकता है? नहीं। क्योंकि ज्ञेयरूपी ज्ञाता को जानने के लिये हमें अन्य ज्ञाता की कल्पना करनी होगी और यह क्रिया हमें अनवस्था में डाल देगी।*

इस प्रकार ज्ञाता की अतींद्रिय सामन्वयिक एकता (transcendental unity of apperception) ज्ञान की संभावना की अन्यतम एवं अनिवार्य शर्त है। स्मरण रहे कि ज्ञाता ऐसा कोई द्रव्य नहीं, जिसका ज्ञान कोई गुण हो। ज्ञाता तो एक चेतन शक्ति है, जो अपने आपको वेदनाओं के समन्वय द्वारा व्यक्त करती है।

कांट ने 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' के 'अतींद्रिय अध्यास' नामक खंड में यह बतलाने की कोशिश की है कि जब हम ज्ञाता को ज्ञेय मान कर उसे जानने का प्रयत्न करते हैं, तब किस प्रकार अनर्थकारी परिणाम उत्पन्न होते हैं। ज्ञाता ज्ञेय विषय का ज्ञान कराता है, किन्तु वह स्वयं ज्ञेय वस्तु नहीं है। हम

---

*Critique of Pure Reason, p. 132.

ज्ञाता की समन्वय-शक्ति द्वारा उसके अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं, किन्तु वह स्वयं ज्ञान की परिधि के बाहर है। यही बात अन्य दार्शनिक तत्वों की भी है। ईश्वर और विश्व की कल्पनाएं हमारे ज्ञान के चरम आदर्श (Ideas of Reason) अवश्य हैं, किन्तु वे ज्ञेय नहीं। कांट के कथनानुसार ईश्वर, विश्व और आत्मा ये तीनों ज्ञान के नियामक तत्व हैं न कि विधायक तत्त्व। अर्थात् हमारा ज्ञान इन तत्त्वों को अपना आदर्श माने बिना एक क़दम आगे नहीं बढ़ सकता। किन्तु इतना होते हुए भी आत्मा, विश्व और ईश्वर की कल्पनाएं सदैव अज्ञेय हैं। ज्ञान के द्वारा उनका कदापि साक्षात्कार नहीं हो सकता।

यह है कांट का 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' का अंतिम निष्कर्ष। आत्मा, विश्व और ईश्वर ये तत्व ज्ञान की संभावना के लिये अनिवार्य अवश्य हैं, किन्तु वे स्वयं ज्ञेय नहीं। इस बात को हम यों भी व्यक्त कर सकते हैं कि बुद्धि तन्त्र-दर्शन हमें दार्शनिक समस्याओं का हल देने में असमर्थ है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि जिस बुद्धितन्त्र-दर्शन को अपनी 'शुद्ध-बुद्धि की मीमांसा' द्वारा पुनरुज्जीवित करने की कांट की इच्छा थी, वही अन्ततोगत्वा खोखला निकला!

कांट के पश्चात् जर्मन अध्यात्मवादी फिश्टे, शेलिंग और हेगेल ने यह बतलाने की कोशिश की है कि कांट की 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' में बुद्धिवाद की जो हार हुई है, उसका एक मुख्य कारण है। वह यह कि कांट ने 'शुद्ध-बुद्धि की मीमांसा' के प्रारम्भ में यह ग़लत धारणा बना ली थी कि हमारी वेदनाओं का वेदनाओं के परे बाह्य जगत् में कोई तो भी अज्ञान और अज्ञेय वस्तु * कारण है। किन्तु जैसा कि लॉक की जड़ अधिष्ठान की कल्पना के सम्बन्ध में हमने बतलाया है, यह कल्पना बुद्धिवाद के मूल तत्त्व से मेल नहीं खाती। स्वयं कांट ने इस बात को 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' के 'अतींद्रिय विश्लेषण' में जान लिया था और इसीलिये उसने स्वयं वस्तु को (thing-in-itself) अतींद्रिय विषय अज्ञान और अज्ञेय * को न मानते हुए आत्मरूप सत्य (noumena) मान लिया था। किन्तु इतना होने पर भी अतींद्रिय विषय की कल्पना ने कांट का पीछा नहीं छोड़ा था। यही कारण है कि अन्त में कांट को यह कहना पड़ा कि दर्शन के तत्त्व आत्मा, विश्व और ईश्वर निरन्तर ज्ञान की सीमा के बाहर हैं।

फिश्टे ने कहा कि यह बात नहीं है।* अब यदि हम वेदनाओं के अज्ञान और अज्ञेय कारण को बिलकुल त्याग दें, तो फिर समस्त जगत् में कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो बुद्धिगम्य न हो। यद्यपि व्यक्तिगत ज्ञाता, अपनी परिमित शक्ति और अपूर्णता के कारण, ज्ञान के चरम आदर्श पूर्ण और अचल परमात्मा का एकदम साक्षात्कार नहीं कर सकता, तथापि वह, जैसा कि हेगेल ने बतलाया है, ज्ञान की त्रैविक्रम गति (dialectic method) द्वारा अन्त में ज्ञान के चरम लक्ष्य पूर्ण, आत्म-सन्तुष्ट, अचल परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है।

हेगेल की पूर्ण, आत्म-सन्तुष्ट और अचल परमात्मा की कल्पना में बुद्धितन्त्र दर्शन की विजय होती हुई मालूम हुई। परन्तु यहां भी थोड़ी कसर रह गई। हेगेल ने जब यह बतलाया कि परमात्मा आत्म-सन्तुष्ट पूर्ण और अचल है, तब यह प्रश्न उठा कि व्यक्तिगत ज्ञाता जो आत्म-तुष्यमाण, अपूर्ण और अचल है, उसका परमात्मा से क्या सम्बन्ध? यदि परमात्मा पूर्ण है, तो उसने अपने आपको अपूर्ण ज्ञाता में आविर्भूत ही क्यों किया? और अपने स्वभाव के विरुद्ध इस चल जग की सृष्टि क्यों की? इन प्रश्नों का हमें हेगेल के दर्शन में कोई उत्तर नहीं मिलता।

स्मरण रहे कि वैज्ञानिक बुद्धिवाद का पर्यवसान जड़ को अचल और निस्पन्द बतलाने में हुआ था।

---

* उसने कांट के द्वारा पूर्व कल्पित वेदना के अज्ञात कारण अतीन्द्रिय विषय का यह कहकर निराकरण किया कि कार्य कारण सम्बन्ध ज्ञान की सीमा के ही अन्तर्गत हो सकता है। अतः किसी अज्ञात पदार्थ को वेदनाओं का कारण मानना भूल है।

अब हम देखते हैं कि दार्शनिक बुद्धिवाद भी हेगेल में आकर हमें इस बात का अनुभव कराता है कि परमतत्त्व अचल और पूर्ण है। इस प्रकार अचलता बुद्धिवाद का चिर सहचारी लक्षण है। अब, बुद्धिवाद के अनुसार, यदि जग में अचलता ही सत्य हो, तो फिर हमारी आध्यात्मिक प्रगति जो नीति, सौंदर्योपासना और स्वयं ज्ञान में जो व्यक्त होती है, सर्वथा मिथ्या है। परन्तु यह हम कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं। नीति, सौंदर्योपासना और ज्ञान में अभिव्यक्त आध्यात्मिक प्रगति ही मानवता का प्राण है, उसको हम कैसे मिथ्या मानें?

ठीक यहीं से बुद्धिवाद के विरोध में प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है। इसी प्रतिक्रिया से समकालीन तत्त्व-चिन्ता का उद्गम और निर्वाह हुआ है।

हमारी राष्ट्रीय पोशाक क्या हो ?

श्री द्वारका प्रसाद गुप्त, एम० एस० सी०, एल० एल० बी०

मौजूदा दुनिया में इज्ज़त पाने, दूसरों पर अपना सिक्का जमाने, सहूलियत से रहने और व्यवहार कुशल बनने में वेश-भूषा का महत्वपूर्ण स्थान है। दरअसल भारतवासी अपने बेढंगे पहिनाव के कारण भी दूसरों पर असर डालने में कामयाब नहीं होते। भारतवासियों के धर्म, विश्वास, रीति-रिवाज, और पहिनाव-ओढ़ाव में अलहदगी के कारण भी आपस का मतभेद बढ़ गया है। जुदा-जुदा दलों में अलहदगी की खाई दिन ब दिन चौड़ी होती गई है। इसको पाटने के लिए यह भी ज़रूरी है कि हम अपनी पोशाक में उचित तब्दीली करें। यह मानी हुई बात है कि राष्ट्रीयता, एकता और परस्पर के सहयोग के लिए पहिनाव-ओढ़ाव का प्रश्न महत्वपूर्ण है।

हम भारतवासियों का एक रंग और एक देश है। ये ही दो चीज़ें हर भारतवासी को यकसां हासिल हैं। अन्य बहुत सी बातों में, जैसे भाषा, पहिनाव, रीति-रिवाज, धर्म, विश्वास इत्यादि में अनेक भेद हैं। हमारे देश के नेता विभिन्न धर्मों, सांसारिक व्यवहारों और राष्ट्रीय भावनाओं में एक मौलिक एकता की बातें भले ही कहें; पर इन बातों का जन साधारण पर उतना असर नहीं होगा। जनता को समझाने के लिए तो एकता का कोई ठोस आधार और दिल में बैठ जाने वाली बात चाहिए—और वह बात ऐसी जिसे वह देख सकें और समझ सकें।

एकसी पोशाक जातीय एकता के लिए पहली सीढ़ी है। दूसरी सीढ़ी है एक राष्ट्रीय बोली। इन दोनों बातों का प्रभाव केवल दूसरे देशों पर ही नहीं पड़ेगा, बल्कि हमारे अन्दर भी—हमारी रगों में भी—एकता का खून दौड़ा देगा। हिन्दुस्तान के सिवाय दूसरे सभी मुल्कों में एक ही तरह का पहिनाव प्रचलित है। इंगलिस्तान या यूरोप के दूसरे मुल्कों की ज़मीन पर पैर रखते ही पहली चीज़, जो यात्री पर असर डालती है, वह है वहांवालों का यकसां लिबास। आंखें जितनी दूर तक जाती हैं, वहां तक लिबास की एकता ही नज़र आती है। हिन्दुस्तान से आने वालों के लिए यह एक अनुपम दृश्य होता है। और इसका उनके मन पर गहरा असर पड़ता है। आस्ट्रेलिया और अमरीका में भी यही अनुभव होता है। पूर्वीय

राष्ट्रों में चीन और जापान की अपनी निजी पोशाक है, जिनके नाम 'सैमूह' और 'किमोना' हैं। इन देशों का एकसा लिबास प्रायः सभी भारतीय यात्रियों का ध्यान आकर्षित करता है। यह ठीक है कि अनेक चीनी और जापानी पश्चिमी ढङ्ग के कपड़े पहनते हैं। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है और जब वह वैसी पोशाक नहीं पहनते, तब यह फ़र्क़ नहीं रहता।

हिन्दुस्तान में पहिनाव की समस्या बड़ी जटिल है। हमारी कोई राष्ट्रीय पोशाक नहीं है। हम लोगों में पायजामा—चूड़ीदार और ढीला—लुङ्गी, धोती, साड़ी, घांघरा और सलवार आदि प्रचलित हैं। कुछ लोग बन्द गले का कोट या शेरवानी पहनते हैं, तो कुछ खुले गले का कोट और अचकन पहनते हैं। एक दल में ऐसे लोग हैं, जो ढीला कुर्ता और ढीला पायजामा या धोती और एक सदरी पहनते हैं। सिर को ढंकने के लिए तरह तरह के साफ़े तरह तरह की टोपियां आदि प्रचलित हैं। या तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी रुचि के अनुसार फ़ैशन के लिये पोशाक पहनता है या फिर प्रान्त अथवा सम्प्रदाय या जाति की रीति और रिवाज के अनुसार ही पोशाक पहनता है। बम्बई, कलकत्ता जैसे केन्द्रीय शहरों की सड़कों पर, अथवा किसी बड़ी नुमाइश में देश में, प्रचलित अनेक प्रकार की वेश-भूषा के लोग मिलेंगे, जिससे यह विचार निश्चित रूप से उठेगा कि इस देश के निवासियों में भेद-भाव है।

अब सवाल यह उठता है कि भारतवासियों के लिए किस ढङ्ग की पोशाक उपयुक्त है? यह एक जटिल प्रश्न है। इसका हल तो विविध प्रान्त वालों की सद्भावना, सहयोग और राष्ट्र-प्रेम पर निर्भर है। हिन्दुस्तान गरम मुल्क है, इसलिए यहां की पोशाक तो ऐसी होनी चाहिए, जिसमें हवा लगने की गुंजाइश हो, हल्की हो और ऐसी हो, जो जल्दी-जल्दी धुल सके और मेहनत तथा फुर्ती के काम में बाधा न डाले और साथ ही बदन के हर अंग को ठीक से ढंक सके। साथ ही उसका सस्ता होना भी निहायत ज़रूरी है।

धोती हवादार ज़रूर है, लेकिन फुर्ती के काम में इससे बाधा पड़ती है, बदन ठीक से नहीं ढंकता और जब तक इसको ऊंचा न चढ़ाया जाय या पीछे न बांधा जाय, तब तक भाग-दौड़ के काम में अड़चन पड़ती है। लुङ्गी में हलकापन है, पर धोती के तमाम अवगुण इसमें मौजूद हैं। किसी अंश तक धोती और लुङ्गी से सुस्ती और काहिली भी आती है। इन दोनों की अपेक्षा पायजामे में अधिक सहूलियत है। इससे शरीर पूरी तरह ढंक जाता है, फुर्ती और दौड़ के काम में इससे किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। इससे बदन में एक तरह का फुर्तीलापन आता है। अगर २४ इंच चौड़ी मोहरी का पायजामा हो, तो हवा और रोशनी शरीर को मिलती रहेगी, और खेती तथा फावड़े के काम में उसे घुटने के ऊपर भी सिकोड़ा जा सकता है। दर असल ढीला पायजामा और ढीला कोट—जैसे चीनी या बर्मी लोग पहनते हैं—हिन्दुस्तान की आबहवा और आम जनता के लिए ठीक है। यह सस्ता भी पड़ेगा।

तनिक देखिये तो सही, हमारे देश के वे मज़दूर, जिन्हें कुली कहा जाता है किस तरह के कपड़े पहनते हैं और वे कितने नाकाफ़ी हैं। इन लंगोटी लपेटे देशवासियों ने विदेशों में हमारे देश को बहुत बदनाम कर रखा है। विदेशियों की नज़रों में वे भारतीय संस्कृति और सभ्यता के द्योतक माने जाते हैं। और इस तरह इन लोगों ने तमाम संसार में हिन्दुस्तानियों की इज़्ज़त गंवादी है। इनमें स्त्रियां तक अपने शरीर को ठीक से नहीं ढंकतीं। कुछ प्रान्तों की स्त्रियां साड़ी इस तरह से पहनती हैं कि उनका आधा अंग खुला रहता है। लड़के और लड़कियों का तो कहना ही क्या, वह तो अधनंगे ही रहते हैं। यही कारण है कि दुनिया के बहुत से लोग हम हिन्दुस्तानियों को हिकारत की नज़रों से देखते हैं। विदेशों में चीनी औरतें भी कुली का काम करती हैं; पर उनमें से एक भी ऐसी न मिलेगी, जो अपना तन ठीक से न ढंके हो। चीनी औरतें मर्दों की तरह पायजामा पहनती हैं, जिससे शरीर बराबर ढंका रहता है। ऊपरी हिस्से

में वे कमीज़ पहनती हैं, जो कमर से नीचे तक रहती है। ये कमीज़ें सीने पर दुहरी होती हैं। भारतीय स्त्रियों के लिए साड़ी उपयुक्त है, परन्तु यह ज़रूरी होना चाहिए कि ऊपरी भाग में इतना नीचा कुर्ता, कमीज़ या जम्पर हो, जो साड़ी के नीचे से घुटनों तक पहुंच जाय।

मैं अपने देशवासियों से याचना करता हूं कि वे प्रत्येक स्त्री के लिए, जो घर से बाहर निकले, यह अनिवार्य करदें कि उनकी कमीज़, कुर्ता या जम्पर साड़ी के नीचे घुटनों तक हो। कम से कम कमर तक तो ज़रूर हो। सम्भवतः इसके जवाब में देश की ग़रीबी पेश की जावे। पर चीनी, बर्मी आदि जातियों की स्त्रियां भारतीय स्त्रियों से कम ग़रीब नहीं हैं। किन्तु वे अपने बदन को ठीक से ढंकती हैं। इसलिए ग़रीबी की दलील यहां ठीक नहीं है। असल में इसमें कल्पना शक्ति और उत्साह की कमी है। मेरी तो राय है कि साड़ी के नीचे कुर्ता पहनने का नियम भारतीय स्त्रियों के लिए क़ानूनन अनिवार्य कर दिया जाय। और कम से कम देश से बाहर काम करने वाली औरतों के लिए तो ऐसा क़ानून बना ही दिया जाय।

हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय पोशाक के लिए यह सुझाव हिन्दू और मुसलिम रीति-रिवाज़ों में सामंजस्य का ख़याल रख कर पेश किया गया है। मर्दों के लिए चीनी लोगों का सा कोट पायजामा और औरतों के लिए साड़ी और जम्पर। साड़ी कमीज़, कुर्ता या जम्पर के साथ बहुत ही कलापूर्ण और शानदार जंचती है। इस देश की अधिकांश स्त्रियां (पारसी, बंगाली, मद्रासी, गुजराती, आसामी और उड़िया) साड़ी ही पहनती हैं। पंजाबी, सिन्धी, मारवाड़ी और मुसलमान स्त्रियां साड़ी नहीं पहनतीं। फिर भी एक ढीली कुर्ता या जम्पर में अधिक ख़र्च नहीं है, बस थोड़ी समझ और कल्पना शक्ति की बात है।

पुरुषों की पोशाक के सम्बन्ध में हमारा मत है कि हमारी योजना के अनुसार पोशाक सस्ती भी पड़ेगी। मामूली धोती के लिए ४४ इंच अर्ज़ का ५ गज़ कपड़ा और फिर ऊपरी भाग ढंकने के लिए कोट, कमीज़ या चद्दर की ज़रूरत होती है।

लेकिन कोट और पायजामे के लिए एक अर्ज़ के ५ गज़ कपड़े में काम चल जायगा। हां, इसके लिए धोती की अपेक्षा कुछ मोटा कपड़ा ज़रूरी है। इसलिये खादी का इस्तेमाल बहुत सहूलियत के साथ किया जा सकता है। धोती के मुक़ाबले ये टिकाऊ भी अधिक होंगे तथा धुलने में भी अधिक सहूलियत रहेगी। अगर चीनी या बर्मी फ़ैशन के मुताबिक पायजामा नीचे की ओर चौड़ा कोट छोटा और ढीला तथा आस्तीनों में चौड़ा हो, तो हवा आरपार घूम सकेगी और गर्मी में भी यह पोशाक आरामदेह होगी।

राष्ट्रीय पोशाक के लिए यह एक नई दलील नहीं है। हमारी राय में पोशाक ऐसी होनी चाहिए, जिससे भागते और दौड़ते समय भी काम आवे और बदन की फुर्ती बनी रहे। देश के नेताओं से यह अनुरोध है कि वे इस समस्या पर विचार करें और वांछित सुधार करने की योजना करें। यह एक मामूली बात है परन्तु यदि देश भर के लिये एक सस्ती और आरामदेह पोशाक तय हो जावे, तो एकता और आज़ादी हासिल करने का आधा रास्ता तय हो जाय।

[राष्ट्रीय पोशाक के बारे में लेखक ने अपनी एक राय रखी है। यह मसला इतना आसान नहीं। हमें ख़ुशी होगी यदि इस पर और सज्जन भी अपनी राय ज़ाहिर करें। लेखक की इस बात से हम पूरी तरह सहमत हैं कि राष्ट्रीय एकता की बुनियाद राष्ट्रीय पोशाक है और वह एक पोशाक क्या हो यह भी सहूलियत से तय हो सकता है। —सम्पादक]

चोल राज्य के भग्नावशेष

श्रीमती प्रेम माथुर, त्रिचनापल्ली

इतिहास के बिखरे हुए पन्ने केवल हमारे अतीत की शानदार कहानी ही नहीं होते, वे हमें देते हैं—भावी जीवन का सौभाग्य गढ़ने के लिये अमित प्रोत्साहन। सदियों की ग़ुलामी का बोझ लेकर कभी कभी जब हमारा मन हीनता और दीनता की ग्लानि से भर उठता है, और जब वर्तमान कष्टसाध्य और भविष्य धूमिल दिखाई देता है, तब देश भर में चारों ओर बिखरे हुए उजाड़ नगरों और भग्न-प्रासादों के शिला-खण्ड हमारी आंखों के आगे घूम जाते हैं, मानों हमें विश्वास दिलाते हैं—"जिसका भूत इतना शानदार रहा हो, उसका भविष्य अवश्य महान होगा। उट्ठो, हिम्मत न हारो, गर्व से खड़े हो।"

× × ×

त्रिचनापल्ली ज़िले के उदयार पलायम नामक क़स्बे से छै मील दूर पूरब की ओर चलकर सड़क के किनारे एक छोटा सा गांव मिलता है, जिसका नाम है—गंगई कोण्डा चोलापुरम्। आस-पास मीलों तक ऊजड़ भूमि, चारों ओर छोटी छोटी जंगली झाड़ियों से घिरा हुआ और इधर-उधर छिटकी हुई दो चार फूस की झोपड़ियां। और यही छोटासा गांव था दसवीं सदी में विश्व विख्यात चोल राजा राजेन्द्र प्रथम की सुन्दर सुखमा पूर्ण राजधानी—गंगई-कोंडा चोलापुरम्।

राजराज चोल सन् ९८५ ईसवी में तांजोर की गद्दी पर बैठा। पाण्डय और केरल को उसने पूरी तरह वश में किया, वेंगि के चालुक्यों और कलिङ्ग पर आधिपत्य जमाया, कर्नाटक पर चढ़ाई कर तैलप के बेटे सत्याश्रय को चार बरस की लड़ाई के बाद बुरी तरह हराया। स्थल और जल सेना से उसने सिंहल को भी जीत लिया और लक दिव और माल दिव को अपने साम्राज्य में मिला लिया। विजयों के बाद राज्य का बाक़ायदा प्रबन्ध किया। प्रत्येक ग्राम की अपनी पंचायत थी और उन पंचायतों के प्रतिनिधि तांजोर के मन्दिर में इकट्ठा होते थे।

राजराज के बाद राजेन्द्र चोल सन् १०१२ में गद्दी पर बैठा। उसने अपने जंगी बेड़े से श्री विजय (मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा) के शैलेन्द्र राजा संग्राम-विजयोत्तुङ्ग वर्मा पर आक्रमण करके उसे जीता और बृहत्तर भारत का बड़ा अंश अपने अधीन किया। कलिङ्ग के रास्ते उसने गौड़ (पश्चिमी बङ्गाल) के राजा महीपाल पर चढ़ाई कर उसे युद्ध में पराजित किया। गङ्गा तक विजय करने के कारण वह "गंगै-कोण्ड" कहलाया। महमूद ग़ज़नवी के लगभग १५ बरस पीछे उसका देहान्त हुआ। उत्तर के तुर्क और दक्षिण के तामिलों के भुज-दण्डों के नीचे एक बार सारा भारत थरथर कांपने लगा। राजेन्द्र चोल के शासन काल में तामिलों की राजनैतिक सत्ता अपने शिखर पर पहुंच गई।

राजेन्द्र चोल ने अपनी इन्हीं विजयों की स्थायी स्मृति स्वरूप यह गंगई-कोण्डा-चोलापुरम् नामक राजधानी की बुनियाद डाली। राजेन्द्र चोल ने तीस

वर्ष तक हुकूमत की। उसके संरक्षण में कलाफली फूली और जनता समृद्ध हुई।

प्रोफ़ैसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है कि राजा राज तो सब चोल राजाओं में बड़ा था ही, किन्तु उसके पुत्र राजेन्द्र के ही काल में राज्य की सीमा इतनी विस्तृत हुई कि समुद्र पार तक पहुँच गई। राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु के समय चोल राज्य वैभव की पराकाष्ठा तक पहुंचा हुआ था और यह नई राजधानी उस समय धन-धान्य और वैभव से पूर्ण थी। उस समय की अपूर्व शिल्प-कला के नमूने, जो आज बाक़ी हैं, उनकी समता आज बीसवीं शताब्दी की कला भी मुशकिल से कर सकेगी। एक अति विशाल शिव जी का मन्दिर, एक गगन चुम्बी राजमहल, जो "चोला केराला मलिगाई" के नाम से प्रसिद्ध था और एक विशाल तालाब जिसकी तुलना इस समय शायद ही भारत के किसी दूसरे तालाब से हो सके—यह कुछ ऐसी चीज़ें हैं, जो आज भी इतिहास में चोल राज्य की महानता की द्योतक हैं।

तांजौर और कांची इन राजाओं की पुरानी राजधानियां थीं, किन्तु राजेन्द्र प्रथम ने अपनी नई और तीसरी राजधानी का जो नाम दिया था, वह नौ शताब्दियों के बाद भी आज सर्वज्ञात है और उसके भग्नावशेष अब भी भूतपूर्व भारत की महानता के चिन्हों में गिने जाते हैं।

उस गांव के निकट पहुंचते ही वहां के विशाल मन्दिर की गगन चुम्बी चोटी सबसे पहले चित्त को आकर्षित करती है; और मन्दिर की विशालता को तो देख कर मनुष्य अचरज में पड़ जाते हैं। उसके आगे सभी चीज़ें छोटी मालूम होती हैं। बिशप काल्डवेल ने लिखा है कि—"यह मन्दिर भारत का सबसे बड़ा तो नहीं, किन्तु सबसे बड़े मन्दिरों में से एक अवश्य है।" इसकी शिल्प-कला की सराहना तो सभी देखने वाले करते हैं। इसका सबसे बड़ा स्तूप १७२ फ़ीट ऊंचा है, जिसकी शिखा का मुकुट एक ही पत्थर में से काटा गया है। उस समय की बनी हुई पत्थर की बुर्जियां इधर-उधर पड़ी दीखती हैं, जिनकी बनावट का ढंग देख कर यात्री अब भी चकित हो जाते हैं। मन्दिर के चारों ओर एक आंगन है, जिसकी लम्बाई ५८४ फ़ीट और चौड़ाई ३७२ फ़ीट है। आंगन में एक ओर को एक बहुत बड़ा कुआं भी है, जिसके लिए कहा जाता है कि उसमें सदा गंगा जल भरा रहता है। लेकिन यह तो केवल किंवदन्ती ही मालूम होती है, जो राजेन्द्र की उत्तर भारतीय चढ़ाई के कारण गढ़ी गई होगी। मूर्ति के आगे एक विशालकाय नन्दी बैठा है वह भी पत्थर के एक ही टुकड़े में से बना है। दक्षिण भारत के अन्य मन्दिरों की तरह इस मन्दिर के चारों द्वारों पर बड़े बड़े गोपुरम् नहीं हैं, किन्तु शिल्पकला और बनावट में यह तांजौर के मन्दिर से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। मन्दिर के भीतरी हिस्से में नवग्रहों की मूर्तियां स्थापित हैं, जो एक कमलाकार रथ पर बैठी हैं। सूर्य को सबसे ऊंचा आसन दिया है, मंगल वाहन हैं और अन्य ग्रह सूर्य के दोनों ओर बैठे हैं। इसी के पास महिषासुर मर्दिनी की एक विशाल मूर्ति है, जो एक राक्षस का वध करती हुई दिखाई गई है। इनके अतिरिक्त मन्दिर के बाहरी हिस्से की दीवारें भी अनगिनती सुन्दर मूर्तियों से सुसज्जित हैं; इनमें से चन्देसा नामक शिवभक्त की कहानी उल्लेखनीय है। इसमें चन्देसा वह गड़ासा अपने दाहिने कंधे पर रक्खे खड़ा है, जिससे उसने अपने पिता के दोनों पैर शिव मूर्ति का अनादर करने की सज़ा में काट डाले थे।

इस मन्दिर के अन्दर बाईस शिला लेख मिले हैं, जिनमें से दो तेलुगु में और बीस तामिल भाषा में हैं। काल के प्रहार ने उन शिला लेखों के अक्षर धुंधले अवश्य कर दिए हैं, किन्तु जो अभी दीखते हैं, उनसे चौदहवीं शताब्दी के पिछले भाग के पांड्या राजाओं का ऐश्वर्य और ब्राह्मणों को बड़ी बड़ी जागीरें दान देने का सविस्तार वर्णन मिलता है।

राजा राजेन्द्र के महल का नाम "चोलाकेराला मलिगाई" कहा जाता है और वह मन्दिर के दक्षिण पश्चिम में एक मील की दूरी पर बना हुआ था।
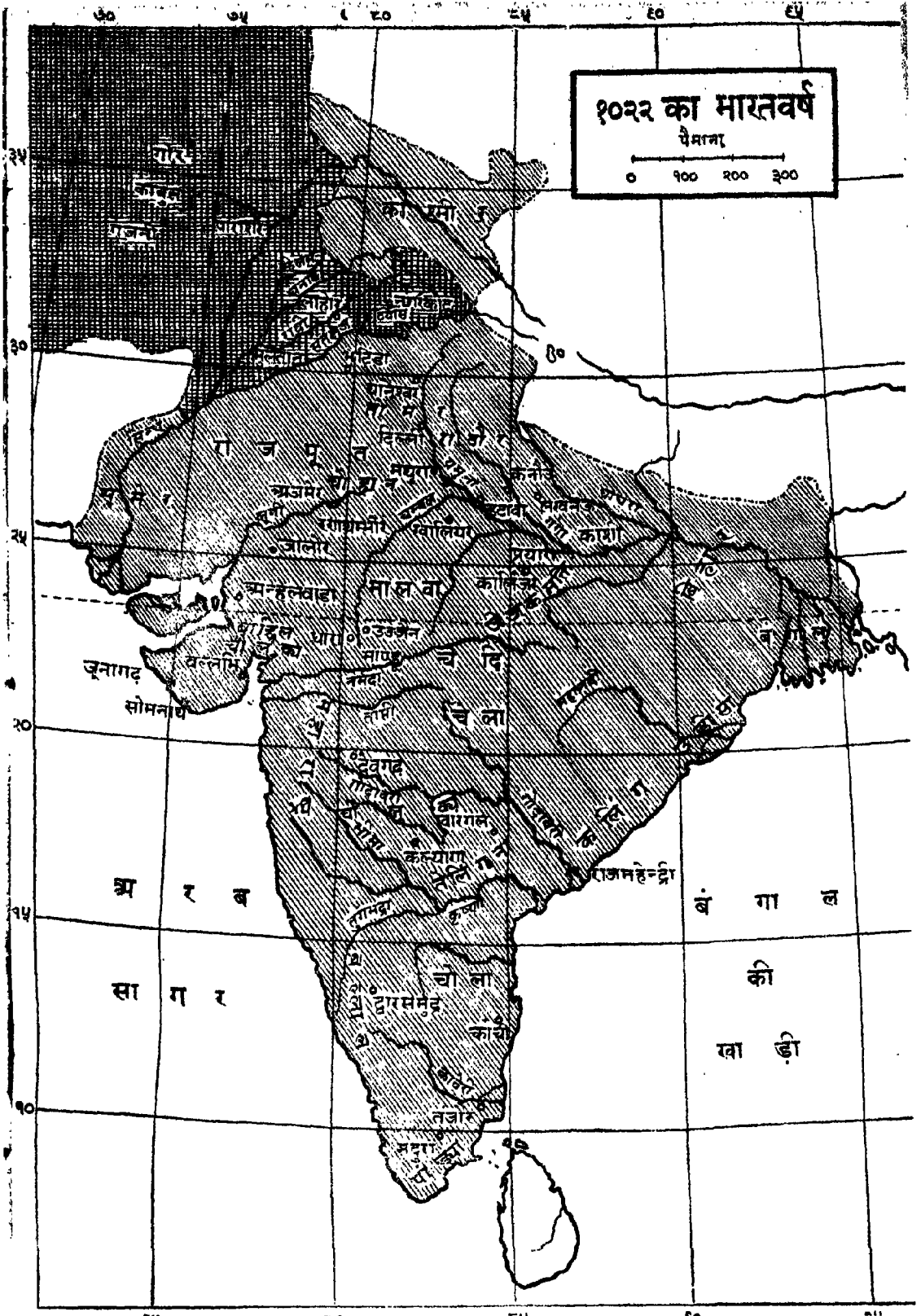
उस जगह आज केवल दूर दूर तक फैले हुए खंडहरों के कुछ हिस्से दिखाई देते हैं। महल के चारों ओर एक गहरी खाई थी, जिसका छोटा सा भाग अब भी भूमि के ऊपर है और शेष जगह में बड़े बड़े पत्थरों के ढेर ही ढेर हैं। राजेन्द्र के राज्यकाल के लिखे हुए शिला लेखों से ज्ञात होता है कि उसने अपने इसी महल से बहुत से राजकीय घोषणा पत्र जारी किए थे। एक शिला लेख में बड़े सुन्दर ढङ्ग से मन्दिर की पूजा की सुविधा के लिए सारती थीद्यालूर नामक ग्राम का लगान माफ़ करके दान में देने का वर्णन लिखा है—"उस समय राजा अपने पल्लवरायन नामक सिंहासन पर "वेलमेलाई" नामक मण्डप में बैठकर, अपने घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर कर रहा है। किन्तु अब इस राजमहल के बहुत थोड़े से चिह्न बचे हैं।

चोलराज्य के ऐश्वर्य की सबसे ऊंची पताका दक्षिण भारत में एक अति विशाल झील के रूप में फहरा रही है। यह झील १६ मील लम्बी है। आज कल उसमें पानी भरने की कोई व्यवस्था न होने के कारण केवल वर्षा काल में कुछ जल उसमें रहता है, अन्यथा पूरे वर्ष वह सूखी पड़ी रहती है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने समय में यह जलराशि एक ही चीज़ रही होगी। मन्दिर के पश्चिमी दरवाज़े से यह झील साफ़ दिखाई देती है और उसके निकट पहुंचने पर तो पत्थल की दृढ़ दीवारें ऐसी मालूम होती हैं, जैसे अभी बनकर तैयार हुई हैं। राजेन्द्र के समय में यह झील पानी की दो बड़ी नहरों से भरी जाती थी। दक्षिण की नहर कोलरून नदी से निकाली गई थी और उत्तर वाली वेल्लार नदी से। इस प्रकार दक्षिण आरकाट और त्रिचनापल्ली के दो बड़े बड़े ज़िलों को एक दूसरे से मिलाकर दोनों नहरें साठ मील के विस्तार में फैली हुई थीं।

जो ज़मीन आज उजड़ कर जङ्गल के रूप में पड़ी हुई है, वही इस बड़े तालाब से उस समय सींची जाती थी और मीलों तक इसी के सहारे खेती होती थी, जिससे आस-पास के सब गांव धन-धान्य से पूर्ण और सुखी थे। आज उसी गांव के आदमी मौसमी वर्षा की राह में बैठे रहते हैं, जिसका जल कभी कभी पर्याप्त भी नहीं होता। किन्तु उस ग्राम के निवासी आज भी बड़े गर्व के साथ अपने भूतपूर्व राजाओं के कारनामों की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।

मन्दिर अब भी अच्छी हालत में है। वहां अनगिनती यात्री पूजा अर्चना के लिये जाते रहते हैं। मन्दिर और झील को देखकर मेरी आंखों के सामने चोल राजाओं का इतिहास छा गया। राजेन्द्र चोल के बाद उसके वंशजों ने ९७ वर्ष तक राज किया। उसके बाद सन् ११४२ ईसवी में चोल वंश के टुकड़े टुकड़े हो गये।

मैं सोचने लगी चन्द्रगुप्त, अशोक, राजेन्द्र, अकबर और कितने ही अन्य प्रतापी सम्राट भारतीय रङ्गमंच पर आये, अपने बाहुबल से उन्होंने बड़े बड़े साम्राज्यों का निर्माण किया; उनके वे साम्राज्य भले ही मिट गये हैं, किन्तु भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिये वे जो अपनी महान देन छोड़ गये हैं, वह हमारी ऐसी बहुमूल्य निधि है, जो शायद प्रलय के दिन तक सुरक्षित रहे।

———

युद्ध का अन्त कैसे सम्भव है ?

पण्डित मोहनलाल नेहरू

अमरीका की ठकुर सुहाती में स्वर मिलाते हुये हमारे भूतपूर्व वाइसराय लार्ड हैलिफ़ैक्स ने बताया कि इस घोर संग्राम के क्या उद्देश्य हैं। आपने कोई नई बात नहीं कही; मगर उसकी ज़रूरत भी क्या थी ? वे उन्हें इतमीनान दिला रहे थे, जिन्हें उसकी ज़रूरत ही न थी और जो पहले ही से ब्रिटेन को सहायता देने पर तुले बैठे थे। चर्चिल साहब के अनुसार युद्ध या संधि के उद्देश्य बताने की अभी कोई ज़रूरत ही नहीं है। वास्तव में युद्ध का उद्देश्य एक ही होता है और वह पराजित को कुचल डालना। लेकिन युद्ध चलते हुए यह कहा कैसे जा सकता है ! उसमें तो लाग लपेट होनी ही चाहिये और वह हमें सभी के बयानों में मिलती है।

लार्ड हैलिफ़ैक्स "हिटलर की नई व्यवस्था" मानने को तैयार नहीं। वह क्या होगी, कैसी होगी, उसमें काली पीली जातियों का क्या स्थान होगा, हमें न हिटलर ने बताया है न हैलिफ़ैक्स ने, कि जिनकी पहली ग़रज़ इस लड़ाई को जीतने की है। दूसरी ग़रज़ यह है कि कुछ ऐसे बंदोबस्त कर दिये जावें, जिससे ऐसी घटनाएं फिर न घट सकें। शायद दूसरे शब्दों में इसके ये मतलब हैं कि जरमन ऐसे दबा दिये जावें कि उन्हें सिर उठाने का मौक़ा ही न रहे। बिलकुल यही उद्देश्य गत महायुद्ध में बताए जाते थे और संधि के बाद वारसाई में इसके प्रयत्न भी हुये; मगर उसी संधि से वर्तमान युद्ध की नींव पड़ी।

लार्ड हैलिफ़ैक्स इस बात को मानते हैं कि प्रत्येक छोटी और बड़ी क़ौम को अपने विकास और अपने संगठन का अवसर मिलना चाहिये। जिसमें वह दुनिया में शान्ति फैलाने, अपनी चौहद्दी में स्वाधीनता क़ायम रखने और अपने पड़ोसी कौमों की बेहतरी का ख़याल रखने में हिस्सा ले सके। कौन कह सकता है कि यह उद्देश्य ठीक नहीं ! मगर कौन सी क़ौमों को यह सुविधा मिलेगी, यह आगे चलकर हमारी राय में उन्होंने साफ़ कर दिया है। आपकी राय है कि ब्रिटिश कामनवेल्थ औफ नेशन्स का तजरुबा यह है कि सभी क़ौमें, चाहे उनका सामाजिक संगठन कैसा ही हो, चाहे उनकी आर्थिक दशा में कुछ भी अंतर हो, बराबरी और आज़ादी से मिलती-जुलती रहती हैं। जहां तक गोरी जातियों का संबन्ध है, यह बयान ठीक भी है। इस वास्ते हमें यह कहना पड़ता है कि जो भी नई व्यवस्था यह जारी करेंगे, वह अगर बिलकुल वही नहीं जो ब्रिटिश साम्राज्य में प्रचलित है, तो भी उससे मिलती-जुलती ही होगी, जिसमें रंगीन जातियों को मुशकिल से जगह मिल सकेगी।

ब्रिटिश कामनवेल्थ आफ़ नेशन्स में कुछ काली पीली जातियां भी शुमार की जाती हैं। यह कौन नहीं जानता कि भारतवासी किस आज़ादी से ब्रिटिश साम्राज्य में रहते हैं और उपनिवेशों में उनकी कैसी आवभगत है ! अफ़रीका में काले आदि वासी भी कैसी बराबरी और आज़ादी से गोरों के बीच विचरते हैं ! यह उनकी बेवक़ूफ़ी है कि वे यह समझें कि किसी ख़ास स्थान में जायदाद न ले सकना या न बस सकना या अपने तईं रजिस्टर कराना उनके अधिकारों में कुछ कमी करता है। वर्तमान युद्ध में ही डिफ़ेंस रूल्स को लीजिये। आयरलैण्ड के दरवाज़े पर इंगलैंड में घमासान युद्ध चल रहा है। मगर जो कुछ वहां के नागरिक कह सकते हैं, उसके पासंग भर भी तो भारतवासी नहीं कह सकते। साउथ अफ़रीका में भी यही हाल है।

सोरेनसन एम० पी० ने भारत मंत्री मिस्टर अमेरी को लिखा कि "ज़ाहिरा जो बात भारत में जुर्म है, वह आयरलैंड और दक्षिण अफ़रीका में जुर्म नहीं। जितना चाहें आयरिश और अफ़रीकन अंग्रेज़ों को परेशान कर सकते हैं; मगर भारतवासी ज़रा भी नहीं कर सकते।" ख़ुद इंगलैंड में भी सरकार को परेशान करने वालों की कमी नहीं, पीपुल्स कनवेंनशन, जिसके सभापति मिस्टर हैरी एडम्स है, उसकी तो ख़ास ग़रज़ है कि वर्तमान सरकार को हटा कर मज़दूरों की सरकार क़ायम करना और वह साफ़ कहते हैं कि युद्ध के जारी होने का मतलब यह नहीं कि वे चुप रहें।

लार्ड हैलिफ़ैक्स की राय है कि अगर इस युद्ध में जर्मनी की जीत हो गई, तो वह दुनिया का ऐसा बटवारा करेगा कि दूसरी क़ौमें उसकी "जिसमानी, रूहानी, राजनैतिक और आर्थिक" ग़ुलामी में रहेंगी और जहां भी उसके लाभ का प्रश्न पैदा होगा, वहां उन सब को नीचा देखना पड़ेगा; यह अक्षरशः सत्य है। हमारा तो तजरुबा यही है कि कुल विजेता जातियां ऐसा ही करती आई हैं। मगर उनकी राय में तो दुनियां से मतलब यूरोप की दुनिया है। वह कहते हैं कि "यूरोप के वास्ते ऐसी दशा के मानी होंगे कि उसकी तिजारत जकड़ जावे और उसके निवासी सदा के वास्ते ग़ुलाम हो जावें।" यूरोप के लोग आपस में चाहे एक दूसरे के ख़ून के प्यासे भी हों, मगर ग़ैर यूरोपियन देशों की लूट खसोट में एक दूसरे से सहानुभूति रखते आये हैं और आपस की लड़ाई का नतीजा चाहे कुछ भी हो, जो नई व्यवस्था क़ायम की जावेगी, वह वैसी ही होगी जैसी आज जारी है।

घर में ही जो बातें रोज़ हो रही हैं, उन्हीं में गोरे काले का भेद मौजूद रहता है। अभी हाल में ही मैक्सवेल महोदय ने सेंट्रल एसेम्बली में अपने व्याख्यान में कहा था कि लड़ाई के क़ैदी भारतवर्ष में हमारे ख़र्चे पर रखे जा रहे हैं। ये यूरोपियन क़ैदी सत्याग्रही क़ैदियों से ज़्यादा अच्छे सलूक के अधिकारी हैं। वे यूरोपियन हैं और अङ्गरेज़ों के जानी दुश्मन हैं। न मालूम कितने स्त्री बच्चों के ख़ून से उनके हाथ रंगे हैं और अपनी करनी पर उन्हें कोई पछतावा नहीं। सत्याग्रही सरकार को कोई नुक़सान तक पहुँचाने को तैयार नहीं। यहां तक कि सरकारी नौकरों की छुट्टी तक में ख़लल नहीं डालना चाहते। फिर भी हमारी सरकार के ऊंचे अफ़सर, उनके साथ दुश्मनों से भी बुरा सलूक करने को ठीक समझते हैं।

और लीजिये, फ्रांस, बेलजियम और हालैण्ड के देश जर्मनों ने अपने अधीन कर लिये हैं। उनकी सरकारें भाग कर इङ्गलैंड जा पहुंची हैं। मगर उनके अफ़रीका और एशिया के साम्राज्य ज्यों के त्यों बने हैं, जापान की उन पर दृष्टि भले ही हो, मगर हमारे लोकतन्त्र के ठेकेदार अमरीका ने चेतावनी दे दी है कि यदि उनमें कोई रद्दोबदल करने की चेष्टा करेगा, तो उसके साथ वह बुरी तरह पेश आवेंगे, और ऊपर से तुर्रा यह कि रुज़वेल्ट साहब फरमाते हैं कि "भूमण्डल को किसी ऐसी जाति की ज़रूरत नहीं, जो अपनी सैनिक शक्ति के बल पर या अपने फैलाव के आधार पर दुनिया की दूसरी जातियों पर अपना प्रभुत्व क़ायम करे, हर क़ौम को चाहे वह कितनी ही छोटी हो अपनी जातीयता बनाये रहने का पूरा अधिकार है।"

अगर वास्तव में ऐसा है, तो हिन्द-चीन तथा डच-हिन्द को स्वतन्त्र होने में क्यों सहायता नहीं दी जाती? इस वक़्त तो लोकतन्त्र के ठेकेदारों को ऐलान कर देना चाहिये था कि यहां तथा कांगो के निवासी अपने शासन की बागडोर अपने हाथ में लें। प्रेजडैन ज़ेब लिखता है कि जापानी सैनिक हलक़ों में इस बात की चर्चा है कि डच-हिन्द में अमरीका और इङ्गलैंड का असर फैलाया जा रहा है। अमरीका की तबियत में छोटे कमज़ोर देशों के वास्ते ऐसा प्रेम अब क्यों फट पड़ा? सैकड़ों वर्षों से तो यूरोप के लोग काली, पीली जातियों को दबाये बैठे हैं, पांच ही वर्ष पहले अबिसीनिया दिन दहाड़े लूटा गया, उस वक़्त मुंह तक क्यों न खोला? बात यह है कि यह सुन्दर विचार ख़ाली यूरोप निवासियों के वास्ते हैं। काली पीली जातियों का तो काम ही है कि गोरी जातियों की

ग़ुलामी करें। हमें भी तो यही डराया जाता है कि अगर अङ्गरेज़ हार गये, तो जरमनी हम पर बड़े अत्याचार करेगा। क्या हर छोटी-बड़ी जाति को दूसरों के प्रभुत्व से निकालने का या दूसरे शब्दों मे लोकतन्त्र स्थापित करने का यही तरीक़ा है? सर सैम्युएल होर ने गान्धी जी से कहा था कि अङ्गरेज़ों ने भारत का बहुत उपकार किया, तो क्या उस उपकार की यही फ़ीस है कि वह सदा उनकी ग़ुलामी में बना रहे? वह चाहता है कि स्वतन्त्र भारत अङ्गरेज़ों को इस युद्ध में खुले दिल से मदद दे। ख़ुशी से देने वाली सहायता न लेकर डिफ़ेंस रूल्स द्वारा सहायता ली जावे? यह तो एच० जी० वेल्स के शब्दों में—"उन्हें धोखे में रख कर उनसे सहायता लेना है।"

वेल्स महोदय जर्मनी और रूस का ज़िक्र करते हुये लिखते हैं—"वहां शक्तिशाली परन्तु ग़ैर ज़िम्मेदार लोगों के हाथों में शासन की बागडोर आ गई है, वे थोड़े से हैं और मानों एक टूटती हुई खिलक़त में पागलों की तरह दौड़े लगा रहे हैं, यही मुशकिल है।" मगर वह जब अपनी सरकार के गरेबान में हाथ डालते हैं, तो उन्हें उससे कम मायूसी नहीं होती, न ऐसी कोई ख़ास ग़रज़, जिसके वास्ते लड़ाई हो रही हो, उन्हें दिखाई देती हैं, उनकी राय में युद्ध तथा सन्धि के कुछ उद्देश्य होने चाहियें। इनके बिना वह गुण्डई है। एक सरकारी पुस्तक जिसमें यह उद्देश्य बताये गये हैं, के बारे में आप लिखते हैं—इस पुस्तक से "हमें मालूम होता है कि युद्ध केवल ब्रिटिश साम्राज्य के बचाने के वास्ते ही नहीं है, वरन् ईसाई धर्म बचाने के वास्ते है।" मानों फिर क्रूसेड का ज़माना लौट आया। सिर्फ़ अन्तर इतना है कि सलादीन की जगह हिटलर है। एक अमरीकन पादरी ने ब्राडकास्ट करते हुये एक दफ़े कहा था कि हिटलर ईसाई नहीं, बल्कि 'काफ़िर' है। इस पर वैल्स महोदय लिखते हैं कि "लॉर्ड हैलिफ़ैक्स और उनके साथियों के अनुसार" ब्रिटिश साम्राज्य का बड़ा भाग उन नीचे दरजे के लोगों से भरा है, जो क़ानून की शरण में रियाअतन ले लिये गये हों, तो क्या हम अङ्गरेज़ों की नियत यह है कि अपना मज़हब या धर्म उनके गलों में ठूंस दें।"

जो लोग इस युद्ध का उद्देश्य 'लोकतन्त्र और सभ्यता' का बचाना बताते हैं, उनसे वैल्स महोदय पूछते हैं कि उसका मतलब क्या है? उनकी राय में "कोई तो इसका मतलब ईसाई सभ्यता से लेता है और कोई यूनानी रोमन संस्कृति से, मार्क्स के अनुयायी इसका मतलब लेते हैं पूंजीवाद का अन्त और कोई कोई यूरोप और ब्रिटेन की प्रधानता", मगर इन सब का मतलब एक ही है और वह है पूंजी तथा शक्ति की प्रधानता। दुनिया रसातल को चली जा रही है, मगर जिन लोगों ने शासन की बागडोर को हाथ में ले रखा है, वे फिर शान्ति की पुकार तो करते हैं; पर शायद चाहते नहीं। वैल्स पूछते हैं कि क्या यह कभी सम्भव है? वे लोग जिनके हाथों में हुकूमतों की बागडोरें हैं स्वयं अपने अधिकारों को तिलाञ्जलि देने को तैयार नहीं।

डाक्टर प्रिट्ट, के० सी० एम० पी० और पीपुल्स कनवेन्शन की तो यह राय है कि जब तक शासन की बागडोर प्रजा के हाथ में न हो, कोई ऐसी सन्धि हो ही नहीं सकती जो चिरायु हो। वह कहते हैं कि जब तक पूंजीपतियों के हाथ में देश का शासन रहेगा, वे अपनी जेब भरने की ही सोचेंगे और साधारण आदमियों के दुःख-दर्द की तरफ़ ध्यान नहीं देंगे, वह तो यहां तक कहते हैं कि दोनों देशों के पूंजीपति, जो इस वक़्त घमासान युद्ध ठाने हैं, आपस में समझौता कर लेंगे; अगर उन्हें ज़रा भी इस बात का डर हो कि राष्ट्र के शासन की बागडोर साधारण लोगों के हाथ में जाने वाली है। फ़्रांस के बारे में तो उस वक़्त यही कहा जा रहा था कि क्रान्ति होने के भय से उसके पूंजीवादियों ने हिटलर के हाथों में उसे सौंप दिया। वास्तव में लड़ाइयों का अन्त उसी वक़्त होगा, जब सब काले या गोरे देश न केवल विदेशियों के चंगुल से छूटेंगे, वरन अपने पूंजीपतियों के पंजों से भी।

सदाचार और कला

श्री शम्भू शरण रतूड़ी

जीव विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य और पशु समान ही है। मानव को पशु से भिन्न यदि माना गया है, तो केवल उसकी सोचने की शक्ति (बुद्धि) के कारण ही। वह किसी भी काम में हाथ डालने से पहिले, उसके परिणाम, उसकी अच्छाई-बुराई को सोच सकता है, और इस प्रकार अपनी कार्य शक्ति को अपने सुख की ओर लगा सकता है। परन्तु समाज में अपना ही सुख सब देखते, तो मनुष्य को बाहर-भीतर रोज़मर्रा पशुओं की तरह लड़ते पाया जाता। इसी द्वन्द्व और हर समय के बखेड़ों तथा झमेलों से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य ने कुछ नियम बनाये—परन्तु यहां पर एक बात स्पष्टतया समझ लेने की यह है कि हमारे पुरखों ने उक्त नियमों का विधान दो चार सभाओं में मिलकर प्रस्ताव पास करके नहीं कर लिया होगा। समाज के अन्य अंगों की ही तरह उन नियमों का भी विकास हुआ होगा, और इसमें सहस्रों वर्षों से कम समय न लगा होगा। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि मानव की बुद्धि के विकास के साथ साथ इन नियमों की नींव पड़ती गई। इस प्रकार क्रम-विकास के फल-स्वरूप निर्मित नियमावली को एक नाम से पुकारें, तो नीति-सदाचार कहेंगे। परन्तु यहां पर एक समस्या खड़ी होती है कि सब के सुख और आराम का रास्ता एक ही नहीं हो सकता; इसलिये जिसमें समाज के अधिकांश लोगों को सुख मिले, उसी में सब का सुख मान लिया गया। इस नियम को मान लेना जितना सरल है, प्रयोग में लाना उतना ही कठिन भी है। सामाजिक व्यवस्थापक नियमों की बात न छेड़ कर हम यहां पर यही कहेंगे कि यही नियम ऐसा है, जो कि समाज की विभिन्न प्रगतियों के बीच संतुलन ला सकता है। मानव की आशाओं और अभिलाषाओं का वर्गीकरण न करके—उनको भली या बुरी श्रेणी में न रख कर—उन आशाओं और अभिलाषाओं तक पहुँचने के साधनों (Means) से समाज का सम्बन्ध है। इन्हीं साधनों में से कला भी एक साधन है, जिसके द्वारा कलाकार अपने आदर्श और अपने निज के बीच की खाई पूरी करता है। कलाकार का यह साधन (कला) समाज की मूल-व्यवस्था पर क्या असर डालता है—यहां पर हमें यही देखना है।

समाज की मूल-व्यवस्था सदाचार ही माना गया है—परन्तु सदाचार क्या है ? इस प्रश्न की व्याख्या करना यहां पर सम्भव नहीं, फिर भी थोड़े शब्दों में कहें, तो सदाचार यौनवृत्ति को मानव के लिये कल्याणकारी बनाने का एक ढङ्ग है, जो लोक संग्रह की विधायक-चेष्टा के साथ उसकी प्रवृत्तियों का सामंजस्य स्थापित करके, उसको समाज में रहने और विकास करने लायक बनाता है। मानव-प्रकृति का अध्ययन करने वाले दार्शनिकों ने तो यहां तक कहा है कि मानव के प्रत्येक कर्म का मूल उत्स यौनवृत्ति ही है। उनमें सिगमंड फ्रायड और हैवलॉक एलिस उल्लेखनीय हैं। इन तत्त्व वेत्ताओं ने समाज के सभी नियमों का और मानव की अन्तःप्रकृति का विश्ले-

षण करके स्थिर किया है कि सदाचार के नियम मानव की यौनवृत्ति को सात्विक (Rationalise) करने के लिये निर्धारित किये गये हैं।

समाज में शान्ति अथवा मानव-प्रवृत्तियों का एक स्वास्थ्यमय संतुलन बनाये रखने के लिये सदाचार की आवश्यकता है तो सही; परन्तु प्रश्न उठता है कि ये नियम किसी बाह्य शक्ति की अनुज्ञा हैं या मानव के अन्तःकरण की प्रेरणा ? उदाहरणार्थ यदि मेरा सुख किसी दूसरी वस्तु में निहित है, तो मुझे क्या गरज़ पड़ी है कि मैं दूसरों के सुख के लिये अपने सुख का बलिदान करूं ? दूसरे प्रश्न का उत्तर संक्षेप में यह है कि मुझे ऐसा करना इसलिये पड़ता है कि मैं समाज के मोह को छोड़ नहीं सकता—क्योंकि स्वभाव से ही मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है—और उसका विरोध व्यक्तिगत तरीक़े से नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति, चाहे उसकी साधना कितनी ही न्यून क्यों न हो, सुख की आशा रखता है। इसी कारण मुझे समाज के साथ चलना पड़ता है। अब पहिले प्रश्न का विश्लेषण करने पर यदि हम मानलें कि सदाचार-नीति किसी बाह्य शक्ति की अनुज्ञा है, जो कि मानव-प्रकृति से भिन्न है, तो वह शक्ति कौन सी है ? क्या वह धर्म है ? परन्तु धार्मिक भावना भी तो मन की ही प्रेरणा है, जो किसी भय या श्रद्धा से उत्पन्न हुई है। तो क्या मान लें कि सदाचार की भावना मानव की अन्तःकरण की प्रेरणा से उद्भूत हुई है। यही बात ठीक भी समझी जा सकती है—अन्य सभी भावनाओं की तरह सदाचार की भावना किसी बाह्य शक्ति का आदेश (Decree) नहीं वरन् मानव प्रकृति के विकास की स्वाभाविक उपज है। अन्तः प्रकृति सदाचार का मानव की यौनवृत्ति पर नियमित नियंत्रण क्यों है ? उसको भी प्राकृतिक झुकाव के अनुसार चलने देना चाहिये।

मेरे विचार से तो सदाचार मनुष्य की अन्तः प्रकृति का व्यवहार नहीं है; ये ग्रहण की हुई भावनायें होती हैं, जिनका वातावरण, रहन-सहन और मानव की तर्क बुद्धि से काफ़ी सम्बन्ध रहता है, और देश, काल तथा जातीय आदर्शों के अनुसार मानव-प्रकृति को वे प्रकाश में लाने का प्रयत्न करती हैं। परन्तु, यहां पर एक बात समझ लेनी आवश्यक है कि ये भावनायें मानव-प्रकृति के स्वाभाविक अंग होने से केवल इसी कारण से वंचित नहीं रह जातीं। निजी नियंत्रण की भावना मानव की अन्तः प्रकृति का अंग नहीं है, तो भी यह झुकाव उसकी सामाजिक प्रकृति की स्वाभाविक उपज है। आत्म-संरक्षण (Self Preservation) के तत्त्व आत्म प्रजनन (Procreation) को विकृत होने से हमेशा रोकते रहते हैं। यही कारण है कि यौनवृत्ति का नियंत्रण भीतर ही भीतर होता रहता है, जिसके फल स्वरूप इस वृत्ति का धरातलोन्यास (Sublimation) होकर समाज के सामने आता है और यही कला का यथार्थ स्वरूप है। अवचेतन को चेतन करने का साधन ही कला है।

सदाचार और कला, दोनों ही की, जिसकी जड़ें मानव के मस्तिष्क अथवा चेतन स्तर में हों, वह उसकी अनुभूति को पूर्ण विकास से रोकती है—परन्तु जिसकी जड़ें अन्तः प्रकृति अथवा अवचेतन स्तर में हों, वह उसकी मानवता को जगाती है। सदाचार के चेतन व्यवहार को केवल शिष्टाचार या लोकाचार कहते हैं, और कला के सचेतन प्रयास (Conscious effort) में आत्मिक सजीवता नहीं आ सकती—क्योंकि चेतन प्रकृति अवचेतन को व्यक्त होने से रोकती है। अवचेतन की प्रेरणा स्वाभाविक होती है, जिसे अव्यक्त नहीं रखा जा सकता। कला और नीति सदाचार का अवचेतन रूप गत्यात्मक (Dynamic) होता है, जो उसे स्वभावतः सर्व कालीन बनाता है।

मानव की यौनवृत्ति पर सदाचार का पहरा काफ़ी कड़ा रहा, अब भी है और रहेगा। इस प्रवृत्ति को दबाते दबाते मनुष्य ऊब जाता, यदि उसको व्यक्त करने का कोई और साधन न होता। अभी हम कह आये हैं कि, अव्यक्त को व्यक्त कर देना ही कला है। मनोवैज्ञानिक पंडित मानव की यौनवृत्ति अथवा अवचेतन पर सदाचार के नियंत्रण का असर दो तरह

का बतलाते हैं। क्योंकि निर्दर्शन अथवा अवचेतन का प्रकाश नहीं रोका जा सकता, इसी कारण अन्तः प्रकृति सीधा रास्ता न लेकर किसी दूसरे रास्ते से, किसी भिन्न रूप में, व्यक्त होने का प्रयत्न करती है। एक तरह की अभिव्यक्ति को, जिसका प्रसंग ऊपर आ गया है—धरातलोन्यास (Sublimation) और इससे विपरीत गति को विकृत (Perversion) कहते हैं। उन लोगों के अनुसार "कला यौनवृत्ति का परिमार्जित और सभ्य स्वरूप है।" यही धरातलोन्यास कहलाता है। यौनवृत्ति की सात्विक अभिव्यक्ति या धरातलोन्यास मनुष्य तभी दे सकता है, जब वह अपनी कला में अपनी अवदमित यौनवृति का प्रक्षेपन (Projection) कर अवचेतन सुख लाभ कर सके।

एक प्रसिद्ध कलाकार का कहना है—"कला असलीयत में कामुकता है" (Art is essentially sensual) । कलाकार ने अपनी अवदमिह यौनवृति के प्रक्षेपन का अच्छा रास्ता निकाला; और समाज उसकी कला को इसलिये पसन्द करता है क्योंकि मानव की मुख्य प्रवृत्ति को शान्त करने वाले परमाणु उसमें पाये जाते हैं। यह अभिव्यक्ति तो होती है, परन्तु सदाचार के आवरण के पीछे, इसमें वह (समाज) उस अक्षय वासना की अल्पकालिक और भ्रामक तृप्ति पाते हैं।

इसी अवदमित यौनवृत्ति के धरातलोन्यास में विपरीत असर भी मानव पर पाया गया है, जिसे मनोवैज्ञानिक यौनता का विकृत प्रकाश कहते हैं। यौनवृति के अत्यधिक अवदमन से मस्तिष्क में एक प्रकार का प्रतिवर्तन (Reaction) पैदा हो जाता है, जो मानव दृष्टिकोण में भेद उत्पन्न कर देता है। यही भेद घृणा का उत्पादक हो जाता है, जिससे कलाकार की विकृत प्रतिभा (Perverted genius) अपने से विपरीत यौन को प्रतिद्वन्द्वी की दृष्टि से देखती है। मस्तिष्क की इस प्रकार की गति को न्यूरोसिस (Nurosis) कहा गया है। न्यूरोटिक मानव का व्यक्त और अव्यक्त निज (Self) उपर्युक्त प्रकार की द्वन्द्व भावना से व्याप्त पाया जाता है। इसी कारण वह अपने मे विपरीत यौन को एक वीभत्स और भद्दे रूप में दर्शाता है। कला के ऐसे प्रदर्शन को प्रतिकारित (Sadiotic art) कला कहते हैं और ऐसा कलाकार सादी (Sadist) कहलाता है। चित्र कला और मूर्ति कला में ऐसे कई उदाहरण पाये जाते हैं। बौद्ध काल के पश्चात उत्तरी भारत की तान्त्रिक कला में रूढ़ियों मे अवदमित यौनवृति का वीभत्स और घृणित चित्र पाया जाता है। बनारस के नैपाली मन्दिर और काठमाण्डु और खड़साली (गढ़वाल) * के विशाल मन्दिरों में नायक नायिका का जो चित्रण है, इनमें मानव की यौनवृत्ति की अभिव्यक्ति बिखरी पड़ी है। इस प्रकार के चित्रण का कारण बौद्धकाल के भिक्षु जीवन के ऊपर अत्यधिक नैतिक संयम या अवदमन ही है. जिसने बाद में उक्त विकृत रूप लिया। उन्नीसवीं सदी के आखीर में प्रतिकारित कला की ओर अमेरिका के कुछ कलाकारों में झुकाव आ गया था, जिसे एक प्रतिष्ठित कलाकार—रकसल (Ruckstule) कला का कलंक कहता है। आधुनिक भारत की कला में भी ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं। हिन्दी कविता में निराशावाद के आ जाने का यही एक कारण है, जो कि सदाचार के एकाङ्गी और बद्ध नियंत्रण के परिणाम स्वरूप है। इस प्रवृत्ति को एक सामाजिक व्यक्ति भले ही पसन्द न करे, परन्तु कला के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रदर्शन तब तक खटकते रहेंगे, जब तक सदाचार के नियम कुछ ढीले न पड़ जांय।

प्रतिकारित कला (Sadistic art) को हम सदाचार के विरुद्ध कलाकार की क्रान्ति ही कहेंगे। क्रान्ति का नियम है "अवदमन द्वन्द्व की गति को तीव्र करता है।" विश्व में क्रान्ति का इतिहास मानव की यौनवृत्ति के प्रक्षेपन का खुला चिह्न है। युद्ध

* खड़साली—गढ़वाल राज्य में यमुनोत्री जाने के रास्ते में एक मुकाम है—वहां एक मंदिर में, जिसका निर्माण-समय अभी निश्चित नहीं हुआ है, लकड़ी पर खुदाई का काम निपुणता से किया हुआ है।

अथवा क्रान्ति के समय सदाचार के नियमों का बुरी तरह उल्लंघन होते देखा गया है। क्रान्ति का पहिला ध्येय तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के बदल देना या उलट देना होता है, और सामाजिक व्यवस्था तभी ठीक रहती है, जब सदाचार के नियमों का ठीक-ठीक पालन होता रहे। युद्ध-काल में देश का सदाचार न्यूरोटिक मानव के हाथ में रहता है। उस समय उसकी दबी यौनवृत्ति भयंकर रूप में सामने आती है। देश और जाति की समस्त कलाभिरुचि यौनवृत्ति पर ही चक्कर काटती नज़र आती है। इसका कारण एक ही है, और वह है मानव की अतृप्त वासना का प्रतिकार।

इतिहास पर एक सरसरी नज़र डालने से मालूम होता है कि नीति सदाचार ने कलाकार को किस तरह नियन्त्रित रखा। किसी भी देश की कला को देख कर हम एक ही निर्णय पर पहुँचते हैं कि पुरातन कला में धर्म का लक्षण सदाचार ही माना गया था। इसलिये उस समय की कला सदाचार के ठोस सांचे में ढल कर धार्मिक रूप में सामने आई। मध्य-कालीन कला में मानव को धार्मिक रूप दिया गया और व्यक्ति विशेष के चित्रण में ही कलाकार रहा, परन्तु उसके नियन्त्रण में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। आधुनिक कलाकार एक ऐसे युग में काम कर रहा है, जबकि परख की कसौटी और सदाचार का स्टैंडर्ड दोनों बदल रहे हैं। इस समय सदाचार की बागडोर कलाकार के हाथों में है, इसी कारण हम आधुनिक कला में मानवता की पूर्ण अनुभूति पा सकते हैं।

कलाकार मानव-हृदय की उन छिपी अनुभूतियों का प्रदर्शन करता है, जिसे वह मामूली बोल चाल की भाषा में नहीं प्रकट कर पाता या जिसे नग्न रूप में देने से सदाचार के नियमों का उलंघन माना जा सकता है, उसे वह सुन्दर आवरण पहिना कर सामने लाता है। कलाकार की सफलता मानवता के प्रत्येक पहलू से परिचित होने में है—जिसमें वह समाज और कला दोनों में अवचेतन सौन्दर्याभिरुचि जाग्रत करता रहे। कला वस्तु को आकर्षक बनाने के लिये, उसे आवरण में खास तरह से ढँक देने में ही कलाकार की श्रेष्ठता है—मानव के नग्नरूप से तो सभी परिचित हैं। यदि हम इस बात को मान लें कि कलाकार ने मानव के समाज की सौन्दर्याभिरुचि को विदग्ध और परिष्कृत करने के हेतु यह साधन दिया है, तो यह भी स्पष्ट है कि कला के साथ साथ सदाचार के आधारभूत नियमों की नींव पड़ी। यही विदग्ध रुचि (aesthetic sense) मानव में स्वभावतः नैतिक भावना (moral sense) पैदा करती है। कला की शोभा उसके संयम में है, इसी तरह पर सदाचार कलाभिरुचि के बिना थोथे पन से भरा ढोंग है।

कुछ आधुनिक कलाविद कहते हैं—"कला को सदाचार के दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिये—कला वह वस्तु है, जो सदाचार के धरातल से ऊपर उठ जाती है।" परन्तु सदाचार का धरातल कौनसा है, यह उन्होंने नहीं कहा। मेरे विचार में तो कला और सदाचार दोनों का धरातल एक ही है—किसी भी ऊंची कला में सदाचार और कलाकार की निर्माण कारी प्रतिभा का स्वास्थ्यमय संतुलन जब तक न हो, उसे ऊंची कैसे कहेंगे? और उसका धरातल कौनसा होगा? यह तो वही कहेंगे, जो कलाकार और उसकी कला को देखने की दूसरी दृष्टि रखते हैं। इतना यहां पर कह देना उचित होगा कि कला को शास्त्रीयता और रूढ़ संस्कृति (traditions) की बेड़ी में जकड़ देना भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे उसमें सरसता का पूर्ण स्फुरण नहीं होने पाता। सरसता के बिना कला निर्जीव है, वह गत्यात्मक (dynamic) न होकर गतिहीन (static) हो जाती है। सरसता का सम्बन्ध मानव की मूल मनोवृत्ति से है, जिसके विकास क्रम में उसकी विदग्ध रुचि ढलती रहती है। इसी प्रकार शास्त्रीयता के बिना उसमें अतीन्द्रिय संतुलन नहीं आ सकता, जो समाज की विदग्ध रुचि को परिष्कृत करने के साथ साथ अपनी जातीय संस्कृति (traditions) की रक्षा कर सके।

दीप-निर्वाण

श्री शोभाचन्द्र जोशी

(पूर्व प्रसंग)

एक दिन देवदारु के ऊंचे ऊंचे पेड़, ज़मीन पर पत्थरों से बनी एक छोटी सी क़ब्र के देखकर घमंड से सिर हिला हिला कर यह कहने लगे—"ओह, कितने तुच्छ, कितने दुर्बल हो तुम—मानव ! कितना संकुचित है तुम्हारा छोटा सा जीवन ! अभी कल तक तुम अनन्त स्फूर्ति से भरे हुए, अत्यन्त बलगर्वित होकर, समस्त पृथ्वी के अपने पैरों तले रौंदते हुए, यह चिल्लाते फिरते थे कि—'मैं हूं सृष्टि का सबसे उत्तम प्राणी, ईश्वर की अपरिमेय शक्ति का विकास, बुद्धि के रूप में, पहिले पहल मेरे ही मस्तिष्क में हुआ, मैंने ही अकेले प्रकृति पर विजय प्राप्त की। मैं अजर हूं, अमर हूं, शाश्वत, चिरन्तन, परब्रह्म मैं ही तो हूं।'—किन्तु आज ! आज तुम्हारा अस्तित्व ही कहां रहा ! इन पत्थरों के नीचे तुम्हारे नश्वर शरीर का अवशेष हड्डियों के ढांचे के रूप में गड़ा हुआ है, अब कहां गया तुम्हारा अमरत्व—तुम्हारा बल—तुम्हारी बुद्धि ?"

इतने में पहाड़ की बरफ़ीली चोटी से उतर कर हवा की एक छोटी सी हिलोर सर-सर-सर-सर करती हुई आयी और क़ब्र से टकरा ऊपर वृक्षों से बातें करने चली गई। प्रकाश की एक उज्ज्वल किरण पत्तियों के बीच से छन-छन कर क़ब्र के एक पत्थर पर जा पहुंची। तब वे छोटे छोटे पत्थर साकार से होकर वृक्षों की कटूक्ति का उत्तर देने लगे। वे कहने लगे —"ओ ऊंचे वृक्ष, इस क़ब्र में गड़ी जिन नश्वर हड्डियों के विषय में तुम कहते हो, उनमें उस आत्मा का निवास था—जो संसार में अपनी बलि देकर, राह-भूले मनुष्यों के मार्ग दिखाने के असफल प्रयत्न में शरीर छोड़ चल बसी। पहिले उसकी कहानी सुन लो। ताकि मानव-चरित्र के विषय में तुम्हारी झूठी धारणायें मिट जांय।"

[कहानी]

(१)

वे उसे रहीम के नाम से पुकारा करते थे। वह कौन था ? कहां से आकर इस सुदूर पहाड़ी शहर में रहने लगा था ?—यह कोई नहीं जानता। उसकी गम्भीर प्रकृति होने के कारण किसी के उससे कुछ पूछने का साहस भी न होता। लोगों में उसके विषय में तरह तरह की अफ़वाहें प्रचलित थीं। कोई कहता पागल है—घर बार छोड़कर आया है। कोई उसे भागा हुआ अपराधी बताता और कहता कि क़ानून की पकड़ से अपने के बचाता फिरता है। उसी की क़ौम के मुसलमान उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे उसे 'रंगा सियार, काफ़िर'—इत्यादि नामों से पुकारा करते। इतना होने पर भी पिछले पांच वर्षों से वह उसी शहर में रहा करता था—यह सभी के मालूम था।

रहीम जिस मकान में रहता था, ठीक उसी के सामने ठाकुर जी का मन्दिर था। शहर के मुसलमानों का आश्चर्य उस समय और भी अधिक मात्रा में बढ़ गया, जब उन्होंने देखा कि रहीम का मेलजोल मन्दिर के वृद्ध पुजारी के साथ दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। वे कैसे यह सहन कर सकते थे कि उन्हीं का एक बिरादर उनकी उपेक्षा करके एक विधर्मी से मित्रता का व्यवहार करे। परन्तु रहीम को इन बातों की परवा न थी। उसके विचारों की दिशा ही दूसरी थी। उसका अपना सिद्धान्त अलग था, जिसमें वह किसी का हस्तक्षेप करना पसन्द न करता था।

बूढ़े पुजारी के हृदय में इस मुसलमान युवक के लिये अगाध स्नेह भरा हुआ था। नित्य सायंकाल को आरती समाप्त होने के पश्चात्, वे मन्दिर के बाहर चबूतरे पर आ बैठते। रहीम भी उन्हें वहां बैठा देख, अपना काम छोड़कर वहीं आ जाता और पुजारी के सन्मुख चबूतरे की निचली सीढ़ी पर बैठ जाता। वह सोचता कि ऊपर जाकर बैठने से मन्दिर अपवित्र हो जायेगा और इससे पुजारी के धार्मिक विश्वास पर धक्का पहुंचेगा। पुजारी उसके विचारों से परिचित थे, उसके सौजन्य पर मुग्ध होकर वे बहुधा कहा करते थे—"बेटा रहीम, यदि कहीं तुम हिन्दू हुए होते।"

यह सुनकर रहीम खिलखिला कर हंस पड़ता और कहता—"तो बाबा, आप मुझे गोद ले लेते। क्यों है न यही बात?"

इस पर पुजारी दीर्घ निश्वास लेकर कहते—"मैं न जाने क्या क्या करता। इस खोटी तक़दीर में सन्तान का सुख तो बदा ही न था—रहीम।" कहते कहते उनकी बूढ़ी आंखों में आंसू छलछला उठते।

तब रहीम चुप हो जाता, उसके हृदय में एक ठेस सी लगती। वह सोचता कि उसकी बातों से पुजारी के मन में एक दुखद स्मृति जाग उठी है। वह जानता था कि कुछ ही वर्ष पूर्व उनका जवान लड़का दुनियां से उठ गया था। इसलिये वार्तालाप का प्रसङ्ग बदलकर रहीम कहने लगता—"इन हिन्दू मुसलमानों का आपसी मनमुटाव कैसे दूर होगा बाबा? वह ताक़त कहां से हासिल हो कि जिसके ज़रिये इन्सानों की ये जुदा जुदा क़ौमें एक में मिला दी जांय?"

पुजारी महाशय रहीम की बात सुनकर गम्भीर होकर उत्तर देते—"यह तुम्हारे या हमारे सोचने समझने का विषय नहीं है। जिस दिन परमात्मा चाहेगा, उसी दिन लोगों में सद्बुद्धि उत्पन्न होगी और तभी वे आपस में हिलमिल कर एक हो जावेंगे।"

"नहीं नहीं इस तरह की उम्मीदों से कुछ भी न हो सकेगा, हमें कुछ न कुछ करना ही होगा"—रहीम पुजारी का उत्तर सुनकर उतावला होकर कहा करता, "हिन्दू मुसलमानों के दिलों में जो एक दूसरे के लिये नफ़रत पैदा हो गई है, उसकी जड़ तक खोद देनी होगी। किसी भी तरह इन्सान के इन पुतलों को यह समझाना ही होगा कि एक ही वतन में रहकर, एक ही नस्ल की दो क़ौमें आपस की फूट से अपने आपको ही मिटा डालेंगी। इसके बाद ......।" कहते कहते रहीम चुप हो जाता। उसके हृदय में कई प्रकार की भावनाओं के उत्पन्न होने से उथल पुथल सी मच जाती। उस साधारण, दीन हीन दिखाई देने वाले युवक के भीतर विश्व-कल्याण की कितनी ऊंची कल्पनाएं छिपी हुई हैं—यह बात पुजारी महाशय को ही विदित थी।

बड़ी रात तक—जब सब लोग अपने अपने घरों में सो जाते—रहीम वहीं मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठा बैठा पुजारी से तर्क-वितर्क करता रहता। संसार के इतने मनुष्यों में, यदि किसी ने उसके हृदय की थाह पाई थी, तो केवल उन्हीं वृद्ध ब्राह्मण ने। दूसरे व्यक्ति-ख़ास उसी की क़ौम के—अगर उससे घृणा और द्वेष का व्यवहार करते थे, तो इसका कारण यही था कि वे उसे अच्छी तरह नहीं जान पाये थे। इस भांति संसार से अपरिचित ही रहकर—झूठी बदनामी का पात्र बनकर—रहीम अपनी समस्याओं का अपने ही मन में समाधान भी कर डालता। उसके मन में

उठती हुई भावनायें वहीं दब भी जातीं, बाहरी दुनियां को उनका आभास तक न मिलता। वह अपने ही मन में हवाई क़िले बांधा करता—जिनकी बुनियाद नहीं—जिनमें स्थिरता नहीं, शायद वह नहीं जानता था कि सत्पथ में कांटे होते हैं—कोमल कुसुम कहां? बेचारा—अबोध, उतावला युवक!

(२)

एक दिन रहीम अपने कमरे में बैठा हुआ कोई पुस्तक पढ़ रहा था। खुली खिड़की की राह ठंढी हवा के झोंके आकर पुस्तक के पन्नों से खेल रहे थे। रहीम एकाग्र होकर अध्ययन में लगा हुआ था। वह पढ़ रहा था अपने पैग़म्बरों के जीवन-वृत्तांत, पढ़ते पढ़ते कभी भावुकता के वश में होकर वह चंचल हो उठता। एक स्थान पर उसने पढ़ा कि—"जब हज़रत मुहम्मद को उनके विरोधियों ने बहुत ही सताना आरम्भ किया, तो उनके कुछ अनुयाइयों ने आकर कहा कि वे अपने विरोधियों को शाप देकर नष्ट कर डालें, जिससे उन्हे बुरे कर्मों का फल मिल जाय और भविष्य में दूसरे लोग उनके बिरुद्ध सिर न उठा सकें। इस पर उस महात्मा ने तोबा करके कहा—'नहीं नहीं, तुम लोग ग़लत राह पर हो, मैं तो दुनियां में एक इन्सान को दूसरे से मोहब्बत करने का सबक़ सिखाने आया हूं। जब मैं ही ख़ुद दूसरों को तबाह करने लगूं, तो मेरा कुछ भी असूल नहीं रहा। मैं सभी मुसीबतें बरदाश्त करूंगा, ताकि अपने आप शर्मिन्दा होकर लोग राह पर आ जांय!—" यह पढ़कर रहीम को रोमांच हो आया। पुस्तक बन्द कर वह सोचने लगा कि आज कितने लोग हज़रत के इस आदेश का पालन करते हैं!

उसी समय मकान की सीढ़ियां चढ़कर पुजारी महाशय ने रहीम के कमरे में प्रवेश किया। उन्हें देखकर रहीम मारे प्रसन्नता के उछल पड़ा और कहने लगा—"आइये, आइये। ओ-हो—आज कहां भूल कर आ पड़े? मुझे यहां रहते रहते पांच साल हो गए, लेकिन इस कमरे में आते हुए आपको आज ही देख रहा हूं। देखिये कहीं मेरी छूत न लग जाय"—यह कहकर रहीम हंसने लगा।

पुजारी महाशय स्वयं ही आगे बढ़कर कुर्सी पर बैठते हुए कहने लगे—"नहीं रहीम। आज मैं इन सब विचारों को तिलांजलि देकर आया हूं। जब तक मन्दिर में देवता की पूजा का भार मुझ पर था, तभी तक मुझे बाहरी दिखावे की आवश्यकता भी थी।"

"क्या अब आपको पुजारी का काम न करना होगा?" रहीम ने व्यग्र होकर पूछा।

"मन्दिर के अधिकारियों को अब मेरी आवश्यकता नहीं रही—रहीम। आज से पुजारी का पद किसी दूसरे ब्राह्मण को दे दिया गया है।"

रहीम इस नये समाचार को सुनने के लिये तैयार न था। इसलिये उसने अचकचा कर पूछा—"आखिर किस कुसूर पर उन्होंने आपको अपनी जगह से हटा दिया?"

"क़ुसूर की क्या पूछते हो, रहीम?" पुजारी ने कहा—"मेरा अपराध केवल यही था कि एक नेक मुसलमान लड़का, जो संसार की बुराइयों से दुःखी था, मेरे पास आकर अपने दिल की बातों को प्रकट किया करता था। मैं उसे सांत्वना देता और उत्साह बँधाता, किन्तु लोगों को शंका होने लगी कि मैं एक विधर्मी के संसर्ग में भ्रष्ट होकर कहीं उनके भगवान को भी अपवित्र न बना डालूं, इसलिये······समझे बेटा?"

रहीम को चुप बैठे देखकर वे फिर से कहने लगे—"यह दुनियां ऐसी ही है—रहीम, मैं तुमसे कहता न था, कि मैं या तुम यदि चाहें, तो लोगों की बुराइयां दूर नहीं कर सकते, इसके लिये समय चाहिये—समय। कभी न कभी ऐसी परिस्थिति अवश्य उत्पन्न होगी कि आप ही आप तमाम लोग आपसी झगड़ों को किनारे कर, एक हो जायेंगे; लेकिन अभी वह समय नहीं आया, अभी तो यदि कोई मनुष्य इस दिशा में पांव बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहे, तो उसे बरबाद होना पड़ेगा।"

रहीम निश्चेष्ट सा होकर सुन रहा था, इस आकस्मिक घटना से उसे जो चोट पहुंची थी, वह इतनी तीव्र थी कि वह तिलमिला उठा, उसके सारे विचार एक दूसरे से टकराने लगे, वह क्या कहे—क्या नहीं—यह उसे सूझता ही न था।

उसके हृदय की उथल-पुथल वृद्ध से छिपी न थी, उन्होंने हंसकर पूछा—"क्या सोच रहे हो—रहीम ?"

"यही कि इस सारे झमेले की जड़ मैं ही हूं"—रहीम ने कहा, "मेरे ही सबब से आप को तकलीफ़ भुगतनी पड़ी।"

"हरे हरे, कैसी बात कहते हो तुम" पुजारी महाशय बोले—"तुम्हारे जैसा भला लड़का क्या किसी को तकलीफ़ दे सकता है ? अरे, यह तो संसार है—बेटा इसमें अच्छाई बुराई सभी सामने आती है, सच्ची राह पर चलने वाला मनुष्य यदि उनसे घबरा जाय, तो उसके समान मूर्ख दूसरा कौन होगा ?"

"अच्छा—अब आप करेंगे क्या ?"

"मैं क्या करूंगा ?"—पुजारी ने हंसकर कहा, "मुझे अब करना ही क्या है ? मेरी गृहस्थी नहीं—बाल बच्चे नहीं, मैं तो अब सन्यास धारण करूंगा—रहीम, सामने इन पहाड़ों को देखते हो न ? वहीं पर मेरे गुरुदेव रहा करते हैं, उन्हीं की सेवा में भगवद् भजन करते हुए जीवन बिता दूंगा।"

रहीम से कुछ कहते न बन रहा था, उसे जान पड़ा मानों उस वृद्ध के चले जाने से वह संसार में अकेला रह जायेगा, उतने मनुष्यों में केवल उन्हीं से उसे स्नेह प्राप्त हुआ था, अब उसे मालूम हुआ जैसे वह निराधार हो गया हो, उसकी आंखों में आंसू भर आये, वह मुंह फेर कर दूसरी ओर देखने लगा, ब्राह्मण देव कहते गये—

"जाते समय तुमसे दो शब्द और कहना चाहता हूं, तुम्हारे हृदय में जो भावनायें जाग रही हैं—कहीं उनका त्याग न कर देना, समय आने पर हो सकता है कि, उनसे संसार का भला हो, विश्वप्रेम के विचारों को जितना हो सके, अपने कोमल हृदय में पनपने देना, इस मार्ग में कठिनाइयां बहुत हैं—उनसे घबरा न जाना,—एक बात और है, जाते समय वह भी तुमसे कहे जाता हूं, मेरा जवान बेटा कभी का मर चुका था, परन्तु तुम्हारे आने के बाद मुझे उसकी कमी नहीं जान पड़ी—रहीम, तुम्हारी ही तरह उसके भी अपने विचार थे, लेकिन—अच्छा तो मैं जाता हूं—ईश्वर तुम्हारा भला करे।"

वृद्ध महाशय चले गए, रहीम पुतले की भांति वहीं बैठा रह गया, सायंकाल का समय हो गया था, क्रमशः अंधियाला बढ़ने लगा, पहाड़ों से टकरा कर आती हुई ठंडी हवा उसके शरीर में कँपकपी पैदा कर रही थी, वह उठा, दिया जलाकर पुनः अपने स्थान पर बैठ गया।

(३)

ठाकुर जी के मंदिर का नया पुजारी अभी नवयुवक ही था, वैसा नवयुवक जैसे समाज में अधिकतर पाये जाते हैं, उसके आते ही मंदिर का शुद्धि संस्कार किया गया। गंगा जल मिले पानी से वहां की एक एक ईंट नहलाई गई, एक सौ एक ब्राह्मणों ने भोजन ग्रहण करके, मंदिर को भगवान के रहने लायक होने की सनद दे दी, रहीम अपने बरामदे में बैठा हुआ इस चहल-पहल को देख रहा था, सड़क पर एक व्यक्ति को जाते देखकर उसने पूछा—"क्यों भाई आज इस मंदिर में इतनी सफ़ाई कैसी हो रही है ?"

वह आदमी रहीम को नहीं पहिचानता था, उसने उत्तर दिया—"आप इतने नज़दीक रहते हुए भी नहीं जानते हैं, आपने सुना नहीं कि पुराने पुजारी ने एक मुसलमान को बुला कर मंदिर अशुद्ध कर दिया था—आज उसी की शुद्धि हो रही है।"

यह कह कर वह चला गया, रहीम के रोम-रोम में आग लग गई, ओह, इतना ढकोसला ! इतना पाखंड ? आख़िर इन्हीं लोगों ने जान-बूझ कर हिन्दू मुसलमानों के बीच खाई खोद रक्खी है, मुसलमान के शरीर में क्या इतनी छूत भरी हुई है कि उसको हवा लगने से ही हिन्दुओं का मंदिर नापाक हो जाता है,

क्या मुसलमानों का ख़ुदा हिन्दुओं के भगवान से जुदा ही है ? इन्हीं ख़यालातों का तो यह नतीजा है कि आज ये एक ही ख़ुदा के बन्दे अपने अपने मज़हब की आड़ में एक दूसरे के दुश्मन बने हुए हैं, हिन्दुओ, कहीं तुमने मौक़ा दिया होता—सिर्फ़ एक मौक़ा, फिर तो आज न मंदिर रह जाते न मसजिदें, एक ही इबादतख़ाने में हिन्दू और मुसलमान सिजदा करते नज़र आते।

सोचते सोचते रहीम बेचैन हो गया, वह घूमने के लिये मकान से निकल पड़ा—उन पहाड़ों की ओर शायद वहां उसे शान्ति मिले।

जब वह घर लौटा, आकाश में तारे निकल आये थे और लोगों के घरों में दिये टिमटिमाने लगे थे, पहाड़ी सड़क बिलकुल निर्जन थी, रहीम चहलक़दमी करता हुआ लौट रहा था, मकान के पास पहुंचते ही उसकी दृष्टि स्वभावतः मंदिर की ओर गई, सड़क की बत्ती के मंद उजियाले में उसने देखा कि नया पुजारी दरी बिछा कर चबूतरे पर बैठा हुआ है, रहीम आज बड़े ही अकेलेपन का अनुभव कर रहा था, उसका मन बहुत उदास था, उसने सोचा कि इस नये व्यक्ति से किसी तरह जान पहिचान का ढंग निकालना चाहिये, वह आगे बढ़ा, मन में झिझक पैदा हुई, प्रातःकाल की घटना का स्मरण हुआ, अन्त में संकोच को दबा कर वह चला ही गया—मंदिर की सीढ़ियों के पास चबूतरे से अलग ही रह कर उसने कहा—"पुजारी महाराज आदाब।"

पुजारी अपने ध्यान में डूबा हुआ था, 'आदाब' का स्वर कानों में पड़ते ही वह चौंक पड़ा और कड़क कर बोला—"कौन हो जी तुम ?" फिर रहीम को पहिचान कर कहने लगा "अब यहां क्या करने आये ? वह बूढ़ा नहीं है यहां—अब मैं हूं, समझे मियां साहब, एक दफ़ा मंदिर अशुद्ध कर दिया था—अब क्या इसे तोड़ने आये हो ?"

रहीम को काटो तो ख़ून नहीं, वह इस प्रकार की वचनावली की आशा लेकर नहीं आया था, उससे उत्तर देते न बन पड़ा, वह खड़ाही रहा—पत्थर की मूर्त्ति की भाँति—पुजारी की ओर टुकर-टुकुर देखता हुआ।

उसे वहां खड़ा देख पुजारी गरज पड़ा—"जाते हो या नहीं, तुमने समझ क्या रक्खा है ? गुंडई करना हो तो और कहीं जाओ, यहां कुछ उपद्रव किया तो याद रखना, शहर भर से मुसलमानों को निकलवा दूंगा।"

रहीम को जान पड़ा जैसे वह बेहोश हुआ जाता है, उसे अपने अन्दर समुद्र का सा तूफ़ान उठता हुआ प्रतीत हुआ, भीषण क्रोध की लहर जैसे उसके कपाल को भेद कर बाहर निकल रही थी। इसके बाद रहीम अपने घर लौट आया, आज उसकी अवस्था पागलों की सी हो रही थी, वह अपने आप को बिलकुल बदला हुआ पा रहा था, एक आग—भीषण आग-उसकी छाती को राख किये दे रही थी, उसे होश नहीं था, वह क्या करने जा रहा है।

(४)

मुहर्रम की दसवीं का दिन था।

सायंकाल के समय ठाकुर जी के मंदिर में आरती उतारी जा रही थी, भक्तगण शंख और घंटे के निनाद से अपने देवता को रिझा रहे थे इतने में एक तीव्र कोलाहल और हाय हुसेन का तुमुल नाद सुनाई दिया, तीखे गले से किसी ने चिल्ला कर कहा—"बन्द करदो आरती।"

पुजारी के हाथों से आरती का पात्र लुढ़क पड़ा, कीर्तन करने वाले ऐसे चुप हो गए, जैसे उनमें जीवन ही नहीं, एक के हाथ से चांदी का घंटा छूट कर झन-झन करता हुआ ठाकुर जी के चरणों के पास जा गिरा, पुजारी झल्ला कर बाहर निकल आया, देखा ताज़ियों का जलूस मंदिर की सीढ़ियों के पास आकर रुक गया है। रहीम भी जुलूस के साथ था, उसने चिल्लाकर कहा—"बन्द कर दो गाना बजाना—हम लोग ताज़िये निकाल रहे हैं।"

पुजारी कड़क कर बोला—"यह नहीं हो सकता, हम भगवान की आरती बन्द नहीं कर सकते, तुम

लोग अपनी राह पर चले जाओ, दूसरों के धर्म में दख़ल देने का तुम्हें अधिकार नहीं।"

एकाएक किसी ने कहा—"मारो काफ़िर को," और सैकड़ों लाठियां उठ गईं, पुजारी ने आगे बढ़कर रास्ता रोका, एक ज़बरदस्त लाठी का प्रहार हुआ और पुजारी गिर पड़ा, उसका माथा फट गया था, रक्त की धार सीढ़ियों पर से बहने लगी।

रहीम कांप गया—यह देखकर उसकी छाती में जैसे हथौड़े की चोटें पड़ने लगीं, इतने में एक मुसलमान आगे बढ़ा और कहने लगा—"तोड़ डालो इन मूर्तियों को, जला डालो मंदिर को," और उत्तेजित मनुष्यों की भीड़ धीरे-धीरे मंदिर की सीढ़ियों पर चढ़ने लगी।

रहीम अर्द्धनिद्रित-सा यह सब देख रहा था, अकस्मात वह तड़प उठा—बिजली की भांति, जो व्यक्ति सबसे ऊपर की सीढ़ी पर पहुँच गया था—उसके सामने जाकर रहीम कहने लगा—"मौलाना साहब, बस अब आगे न बढ़िये, फ़ज़ूल एक क़ौम के मज़हबी ख़यालातों पर हमला न कीजिये।"

मौलाना रहीम की बातें सुन कर विस्मित हो गए, उन्होंने कहा—"जनाब, हम लोगों के क़दम, जो इतना आगे बढ़ चुके हैं—अब पीछे नहीं हट सकते, आओ जी—आगे बढ़ो—मेरे साथ," उन्होंने अपने साथियों को पुकार कर कहा।

"ठहरिये मौलाना"—रहीम ने पुकार कर कहा, "अगर आपकी यही ज़िद है, तो पहिले मेरी लाश इन सीढ़ियों पर गिरेगी, उसके बाद आप लोग आगे बढ़ सकेंगे," इतना कहकर रहीम छाती ताने हुए रास्ता रोक कर खड़ा हो गया।

भीड़ में से कोलाहल उठा—"काफ़िर है"—"रंगा सियार है"—"हम तो इसे पहिले से जानते थे"—"मारो इसे भी," एक साथ पांच छै लाठियां ऊपर उठीं, रहीम कटे पेड़ की भांति गिर पड़ा—वहीं पर, मस्तक से लाल-लाल ख़ून की धारा बह चली और जा मिली पुजारी के रक्त से—जो नीचे की सीढ़ी पर पड़ा हुआ था—निर्जीव।

अकस्मात पुलिस को आता हुआ देखकर उपद्रवकारियों की भीड़ एकदम तितर-बितर हो गई, पुलिस वाले उनका पीछा करते हुए वहां से चल दिये, पीछे रह गए दो व्यक्ति—एक मरा हुआ और दूसरा मरणोन्मुख, एक ब्राह्मण—दूसरा मुसलमान।

इतने में जाने कहां से एक वृद्ध सन्यासी उधर से आ निकले, घायल रहीम के पास पहुंच कर वे बैठ गये और उसका मस्तक अपनी जांघ पर रख कर उसे होश में लाने का प्रयत्न करने लगे, भर्राई हुई आवाज़ में उन्होंने पुकारा—"बेटा—रहीम?"

रहीम के शरीर में अभी प्राणों का संचार बन्द नहीं हुआ था, परिचित स्वर के कानों में पड़ने से, उसने आंखें खोल कर आगन्तुक के चेहरे को देखा, एक सोती सी मुसकान उसके होंटों पर दिखाई दी, अत्यन्त क्षीण स्वर में उसने कहा—"मुझे गोद लेने आये हो—बाबा, देर कर दी...बहुत देर कर दी...मैं तो अब चला,...सलाम...बाबा।"

सन्यासी की आंखों से आंसू अविरल धारा में बह रहे थे, मंदिर का फाटक खुला हुआ था, पत्थर के भगवान पथराई हुई आंखों से वह दृश्य देख रहे थे।

× × ×

इतना कह कर क़ब्र के पत्थरों ने चुप्पी साध ली, देवदारु के वृक्ष निश्चल होकर खड़े थे, मानो अपने किये आक्षेप का उत्तर पाकर, लज्जित होकर, चुप हो रहे हों, इतने में चल पड़ी वायु, वृक्षों की शाखायें झूल-झूल कर धरती को छूने का प्रयास करने लगीं, मानों उस क़ब्र की वन्दना कर रही हों।

धीरे-धीरे सूर्य देवता पश्चिम के पहाड़ों की ओट में जा छिपे, पूर्व की ओर से उदय होकर चन्द्रमा ने अपनी निर्मल किरणों का जाल संसार में बिछा दिया, एक बूढ़ा सा संन्यासी उधर से आ निकला—हाथ में एक घी का दिया लिये, क़ब्र के सामने दिया रखकर उसने जलाया, और एक व्यथा भरी लंबी सांस लेकर वहां से चल दिया, वह छोटा सा दीपक कुछ देर तक क़ब्र के आस-पास आलोक फैलाता रहा, सहसा पूरबी हवा के एक झोंके ने आकर उसे बुझा दिया।

मातृवाणी

मातुः श्री, पांडुचेरी

गताङ्क से आगे

(१)

हमारे अन्दर का वह सब कुछ, जो हमारे अन्तर में बसने वाली दिव्यता के प्रति संपूर्ण रूप से समर्पित नहीं हुआ है, पृथक्-पृथक् रूप से वस्तुओं की उस समूची समग्रता के अधिकार में है; जो हमको घेरे रहती हैं और जो, जिसको हम "अहं" कहने की भूल करते हैं, उस पर क्रिया करती हैं। यह क्रिया या तो हमारी इन्द्रियों के माध्यम द्वारा होती है या सुझाव द्वारा सीधे मन पर होती है।

सचेतन जीव बनने के लिये, अपने स्वरूप को प्राप्त होने के लिये एक ही मार्ग है और वह है सबके अन्दर जो भागवत स्वरूप है, उसके साथ अपने को एक कर लेना। और इसके लिये हमें एकाग्रता की सहायता द्वारा अपने आपको बाह्य स्पर्शों से पृथक् कर लेना चाहिये।

जब तुम अन्तर में निवास करने वाली इस दिव्यता के साथ एक हो, तब तुम सभी चीज़ों के साथ, उनके गम्भीर स्वरूप में, एक हो। और इसी दिव्यता में से तथा इसी के द्वारा तुम्हें उनके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। तब तुम किसी प्रकार के आकर्षण या हटाव के बिना जो कुछ इस दिव्यता के समीप है, उसके समीप हो और जो कुछ इस दिव्यता से दूर है उससे दूर।

दूसरे लोगों के बीच में रहते हुए तुम्हें सदा भगवान् का उदाहरण बनकर रहना चाहिये, तुम्हारा वहां होना उनके लिये एक अवसर बन जाना चाहिये, जिससे कि वे लोग भी दिव्य जीवन को समझ सकें और इस जीवन के मार्ग में प्रवेश कर सकें। तुम्हें बस इतना ही करना चाहिये, इससे अधिक कुछ भी नहीं। तुम्हारे अन्दर यह भी इच्छा न होनी चाहिये कि वे प्रगति करें, कारण यह भी एक तरह की मन-मौज ही होगी।

जब तक तुम अन्तर में रहने वाली दिव्यता के साथ सुनिश्चित रूप से एक नहीं हो जाते, तब तक बाहरी दुनियां के साथ तुम्हारे सम्बन्धों के विषय में सबसे अच्छा रास्ता यही है कि तुम उन लोगों की सर्वसम्मत सलाह के अनुसार चलो जिन्हों ने इस एकता का स्वयं अनुभव किया हुआ है।

संतत भूतदया की अवस्था में होना, इस भाव को अपने जीवन का नियम बनाकर किसी भी बात से उद्विग्न नहीं होना और न दूसरों के उद्वेग का कारण बनना तथा जहां तक सम्भव हो किसी को भी दुःख नहीं पहुँचाना।

(२)

हरेक सजीव प्राणी के लिये यह एक अमूल्य संपद है, जिसने अपने आपको जानना और अपने आप पर प्रभुत्व प्राप्त करना सीख लिया है। अपने आपको जानने का अर्थ है अपनी क्रियाओं और प्रति क्रियाओं के प्रेरक भावों को जानना, यह जानना कि अपने अन्दर जो कुछ भी चेष्टा होती है, वह कैसे और क्यों होती है। अपने आप पर प्रभुत्व प्राप्त करने का अर्थ है कि जिस किसी ने जो कुछ करने का निश्चय किया है, वह उसको करे, केवल उसी को करे और कुछ भी नहीं और आवेगों, कामनाओं या तरंगों की कोई बात न सुने, न उनका अनुसरण करे।

किसी बालक को नैतिक नियम सिखाना अवश्य ही कोई आदर्श बात नहीं है; किन्तु इसके बिना काम चलना भी बहुत ही कठिन है। हां, जैसे बालक बड़ा होता जाय, वैसे वैसे उसे इस बात की शिक्षा दी जा सकती है कि समस्त नैतिक और सामाजिक नियम कितने सापेक्षिक हैं, जिससे कि वह अपने ही अन्दर किसी उच्चतर और सत्यतर नियम या धर्म को खोज निकाल सके। परन्तु इस विषय में बहुत ही सावधानी के साथ आगे बढ़ना चाहिये और उस सच्चे नियम या धर्म को खोज निकालना कितना कठिन है, इस बात को उसे अच्छी तरह और ज़ोरदार शब्दों में बता देना चाहिये। जो लोग मानव-नियमों का त्याग करते और अपनी स्वतन्त्रता तथा "अपने ही ढङ्ग का जीवन" बिताने के निश्चय की घोषणा करते हैं उनमें के अधिकांश व्यक्ति यह कार्य अत्यन्त साधारण प्राणमय प्रवृत्तियों के आधीन होकर ही करते हैं, जिन्हें वे यदि अपनी आंखों से नहीं तो दुनियां की आंखों से छिपाने और उनके आगे उचित ठहराने की कोशिश करते हैं। ये लोग नैतिकता को केवल इसलिये ठोकर देते हैं कि वह उनकी पशु-वृत्ति की तृप्ति में बाधक बनती है।

किसी को भी नैतिक और सामाजिक नियमों के विषय में फ़ैसला करने बैठने का कोई अधिकार नहीं है, जब तक कि वह इनके ऊपर उठकर किसी महत्तर नियम में प्रतिष्ठित न हो गया हो; इन नियमों को तब तक नहीं छोड़ा जा सकता, जब तक कि उनके स्थान पर किसी श्रेष्ठतर नियम को स्थापित नहीं कर दिया गया हो, और ऐसा करना बहुत सहज नहीं है।

जो हो, किसी बालक को दी जाने वाली सबसे बढ़िया भेंट तो यही होगी कि उसे अपने आपको जानना और अपने आप पर प्रभुत्व प्राप्त करना सिखा दिया जाय।

अनुवादक, श्री मदनगोपाल गाड़ोदिया

गीत

आज संस्मृतियाँ निरन्तर !
खेलतीं नित निर्झरों में,
खोजतीं अब राह में क्या,
एक क्षण की साधना ले,
हो गया क्यों मौन सागर ?

जागती पलकें नशीली,
चीरतीं नभ-सिन्धु का उर;
देखने वह कौन क्या,
बुझ बुझ जला री दीप सुन्दर !

भूल पाया आज तक क्या,
रोम रोमों में सजा जो;
आज यह आभा निराली,
पूछता नव चपल अन्तर !

बन झरी, झर-झर मिटी,
दो नयन में साकार होकर;
आज मेरे आँसुओं में,
काँपता जड़ मौन अम्बर !

—शकुन्त, गौतम

फ़ासिस्ट इटली की युद्ध नीति

श्री महादेव प्रसाद साहा

"सन् १८७० ई० में इटली में राष्ट्रीय एकता क़ायम हुई। उस समय अगर उसे विकास करना था और अपने साम्राज्य के आगे बढ़ाना था तो उसे भूमध्य सागर को अपने क़ब्ज़े में करना निहायत ज़रूरी था। लेकिन जिस समय इटली घरेलू झगड़ों को निपटाने में लगा हुआ था उसी समय दूसरी ताक़तों ने भूमध्य सागर पर क़ब्ज़ा जमा लिया। उसी समय इटली का रास्ता रुक चुका था। सन् १४-१८ की लड़ाई के बाद भी इटली को कोई सुविधा नहीं मिली। ब्रिटेन और फ्रांस का कहना था कि इटली को वार्साई की सन्धि के अनुसार जो ट्रीस्ट, ट्रेन्टीनाम, गोरज़िया, इस्ट्रीया, दक्षिणी टिराल और ऐड्रियाटिक पर अधिकार मिल गया वह काफ़ी था। लेकिन इटली सन्तुष्ट नहीं था। वह इन स्थानों को राष्ट्रीय एकता का एक अंग समझता था। उसको एतराज़ तो इस बात पर था कि जर्मनी और उसमानी साम्राज्य के हिस्से उसको क्यों नहीं मिले। इटली की स्थिति ऐड्रियाटिक और डोडेकनीज़ में अवश्य मज़बूत हो गई, परन्तु इससे अधिक उसको कुछ नहीं मिला। इसलिये इस युद्ध के नतीजों से इटली को असन्तोष ही रहा।"

पिछले महायुद्ध के शुरू में इटली, जर्मनी और आस्ट्रिया की दोस्ती थी। इन तीनों ने मिलकर त्रिराष्ट्र सन्धि भी की थी। इस सन्धि के मुताबिक इटली इस बात के लिये बंधा हुआ था कि अगर उसके दोस्तों से किसी से झगड़ा हो जाय तो वह तटस्थ रहेगा। लेकिन इटली के पूंजीवादियों ने इस सन्धि को तोड़ना चाहा। तथाकथित मुसोलिनी उस समय अपने को साम्यवादी तथा उग्रवादी कहता था। उसने भी अपनी "मदाखलत" की नीति के मुताबिक़ पूंजीवादियों का साथ दिया और युद्ध में शामिल हो गया। साहूकारी पूंजीवाद और अपने मित्रों की मदद से मुसोलिनी अपनी चालों में कामयाब हुआ। इटली ने अपनी सन्धि को तोड़ दिया और अपने मित्रों के ख़िलाफ़ युद्ध में शामिल हुआ।

लेनिन ने "इटली में साम्राज्यवाद और साम्यवाद" नामी एक लेख लिखा है। उसमें लेनिन ने एक जगह कहा है कि "इटालियन साम्राज्यवाद ग़रीबों का साम्राज्यवाद कहा जाता है, क्योंकि इटली की जनता बहुत ग़रीब है और इटली के जो लोग बाहर गये हैं वे भी अमीर नहीं हैं। उनकी भी हालत बहुत ख़राब है।" आर्थर लेब्रियोला ने अपनी किताब में त्रिपोलियन युद्ध (१९१२) के बारे में यह कहा है, "यह साफ़ ज़ाहिर है कि हम केवल तुर्की वालों से युद्ध नहीं कर रहे हैं। बल्कि हम अमीरों के धन, सेना, धमकी और चालबाज़ियों से भी लड़ रहे हैं। यूरोप के ये धनवान छोटे देशों को उभरने नहीं देना चाहते। वे उनको अपने ख़िलाफ़ जुम्बिश भी नहीं खाने देना चाहते। एक शब्द भी नहीं बोलने देना चाहते। इटालियन राष्ट्रवादियों के नेता कोरैडिनी ने भी कहा है कि "जिस प्रकार सर्वहारा वर्ग को पूंजीवादियों के चंगुल से

बचाने के लिये साम्यवाद है उसी प्रकार हम इटली वालों के लिये राष्ट्रीयतावाद है। फ्रांस, बृटिश, जर्मन और अमरीकन सभी हमारे मुक़ाबले में पूंजीवादी हैं। राष्ट्रीयतावाद के ही सहारे हम लोगों के इनके हाथों से निजात मिल सकती है। जो भी देश हमसे अधिक धनवान है, जिसके पास हमसे अधिक उपनिवेश हैं या हमसे अधिक जिनके पास सेना हैं, वे सभी मिल कर हमारे किसी न किसी हक़ पर चोट पहुँचाते हैं (वह हक़ इन उपनिवेशों में ज़्यादा से ज़्यादा फ़ायदा उठाने का हक़ है)।" लेनिन ने कहा है कि "इटली के पूंजीवादी घोर प्रतिक्रियावादी हैं। ये निहायत गन्दे क़िस्म के लोग हैं। लूट के माल में हिस्सा मिलने के ख़याल से ही इनके मुंह में पानी भर आता है।"

इन्हीं कारणों से पिछले महायुद्ध में लूट के माल से इनको संतोष नहीं हुआ। १९१५ ई० में लन्दन में जो गुप्त सन्धि हुई थी उसकी शर्तें पूरी नहीं की गईं। इटालियन साम्राज्यवाद ने यह समझा कि उसके साथ दग़ा की गई, उसकी अवहेलना की गई। और आगे चल कर इसी लूट के माल के लालच ने फ़ासिस्टवाद के जन्म दिया। इटली में फासिस्टवाद का जन्म ही हुआ है अधिक से अधिक लूट का माल बटोर कर हथिया लेने के लिये।

लेकिन इटली का साम्राज्यवाद अब "ग़रीबों का साम्राज्यवाद" नहीं रहना चाहता था। वह नये-नये अभागों के अपने अधिकार में करना चाहता था। वह नये-नये उपनिवेश, नई-नई असर की जगहें (व्यापारिक दृष्टि से) लेना चाहता था।

इस मक़सद को पूरा करने के लिये काफ़ी तय्यारी करने की ज़रूरत थी। बाक़ायदे, नये साम्राज्यवादी युद्ध के लिये ढंग से और मेहनत से तय्यारी करनी थी। इसी युद्ध के द्वारा संसार का सही बँटवारा फिर से होना था। इस काम के लिये एक ठोस जन-बल की आवश्यकता थी। यह फ़ासिस्टवाद का काम था कि वह जनता के भीतर एक ऐसी विचार धारा का प्रचार करे जो कि उसे साम्राज्यवादी युद्ध के लिये तैयार करे। जब तक कि मज़दूरों और उनके संगठनों के नष्ट न कर दिया जाता, जब तक कि जनता के अच्छी तरह से कुचल न दिया जाता तब तक इस प्रकार का वातावरण सम्भव नहीं था। अगर इटली में युद्ध-मूलक विचार धारा का प्रचार करना था और अनुकूल वातावरण बनाना था तो लाज़िमी था कि वहाँ के जनतन्त्रवादी संगठनों के तोड़ दिया जाता।

सन् १९१९ ई० में "फ़ेशियास" का संगठन किया गया। इटालियन फ़ासिज़्मवाद ने अपने प्रचार में हमेशा इस बात के छिपाया है कि वह शासक श्रेणियों की जड़ें अच्छी तरह से जनता में जमाना चाहता है। अपने इस महान उद्देश्य के उसने कभी प्रगट नहीं किया कि वह जनता के भीतर अवसरवादिता का, मौक़ेबाज़ी का ज़हर बो देना चाहता है। उसने हमेशा इस बात को छिपाया कि वह जनता को तय्यार करके उन्हें अमीरों के स्वार्थ साधन का ज़रिया बनाना चाहता है जिससे कि वे मज़दूरों, किसानों, कारीगरों और पढ़े लिखे लोगों का शोषण और ज़्यादा कामयाबी से कर सकें, जिससे कि वे जल्दी से जल्दी हथियार तय्यार कर सकें और भावी युद्ध के लिये पूरी तय्यारी कर सकें। इसी युद्ध की कामयाबी पर ही उनकी उम्मीदें निर्भर थीं। पीट्रो गार गोलीनि ने लिखा है कि "फ़ासिज़्म का बुनियादी ख़याल यह है कि युद्ध से ज़्यादा से ज़्यादा फ़ायदा इटली को हो, उसकी नैतिक, आध्यात्मिक और दुनियावी क़ीमत बढ़ जाय। इस लिये फ़ासिस्टवाद का सबसे सीधा उसूल यह है कि पहिले स्वयं अपने देश में पूरी शान्ति हो।" मुसोलिनी ने कहा है कि, "इटली एक राष्ट्र है, सरकार या रियासत नहीं!" फ़ैसिस्ट लोग राष्ट्र को पूंजीवादी सरकार के ही साथ गिनते हैं। इनके लिये इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ये यह केवल इस लिये कहते हैं कि मज़दूर वर्गों को आधार बनाकर कोई युद्ध न छेड़ सकें। वे जनता में यह विचार भर देना चाहते थे कि उनका स्वार्थ और अमीरों-पूंजीपतियों और ज़मीदारों का स्वार्थ बिल्कुल एक है। इनमें कोई अन्तर नहीं है। इसी विचार-

धारा ने (जिसमें तमाम राष्ट्र को स्टेट के साथ मिला दिया गया है, और जिसको ग़रीब-अमीर, शोषक और शोषित सबके लिये मुक्ति का केन्द्र बताया है) युद्ध की अहमियत जनता को समझाई और युद्ध के लिये जनता को तय्यार किया।

'रोम पर चढ़ाई' के पहिले अपने एक भाषण में मुसोलिनी ने कहा था कि "पूंजीवादियों को समझ लेना चाहिये कि इसी राष्ट्र में वह ग़रीब मेहनतकश जनता भी है जिसके असन्तुष्ट रहते हुए इटालियन राष्ट्र की विशालता का सपना देखना भारी भूल होगी।" नेपिल्स में २४ अक्टूबर सन् १९२२ के भाषण में मुसोलिनी ने कहा था कि "हमारा सब से बड़ा आदर्श राष्ट्र और उसकी महानता है। हमारे जितने भी और आदर्श हैं सब का दर्जा उसके नीचे है। हम अपने इस आदर्श को पूरा करना चाहते हैं। उसे वास्तविक बनाना चाहते हैं।" इस आदर्श की पूर्ति तभी हो सकती है जब कि युद्ध में सफलता हो। जब तक "जनता में असंतोष है तब तक इसमें सफलता पाना असम्भव है। जनता को यह साफ़-साफ़ बता देना चाहिये कि इटली के नाम पर उन्हें अधिक से अधिक त्याग करना होगा। राष्ट्र की महानता के लिये उन्हें क़ुर्बानियाँ करनी पड़ेंगी।"

फ़ैसिज़्म ने एकतन्त्रवाद स्थापित करने की कोशिश की। वह "मेतिओती के संकट" के बाद इसमें सफल भी हो गया। फ़ैसिस्ट राज्य के श्रेणी रूप को फ़ैसिस्ट धोखेबाज़ी के पर्दे में ढक लिया गया। जितने भी पिरेली, कान्ती, वालपी आदि बड़े-बड़े पूंजीपति और साहूकार थे सभी व्यक्तिगत रूप से इटली के शासक बन गये। फ़ैसिस्ट एकतन्त्रवाद की आड़ में उन लोगों ने जनता को धोखा देना और कुचलना शुरू किया।

इटालियन फ़ैसिज़्म के अनुसार राष्ट्र, राज्य और फ़ासिस्ट एक ही वस्तु की तीन शकलें हैं। मूलतः तीनों एक ही हैं। अप्रैल १९२१ में मज़दूरों के लिये एक फ़र्मान निकला था उसमें एक जगह कहा गया है कि "इटालियन राष्ट्र का शरीर ऊंचे आदर्शों, ऊंचे जीवन और ऊंचे साधनों को लेकर निर्मित हुआ है। ये सब उन व्यक्तियों से कहीं ऊंचे हैं जिनसे इनका स्वयं निर्माण हुआ है।

"मज़दूरी चाहे वह किसी भी रूप में हो, एक सामाजिक सेवा है। राष्ट्रीय दृष्टि से जितना भी उत्पादन है उसका एक ही रूप हो सकता है, उसका एक ही ध्येय हो सकता है और वह है—पैदा करने वाले का भरण-पोषण और राष्ट्रीय शक्ति का और भी अधिक दृढ़ होना।" फ़ैसिस्ट क्रान्ति का यह एक बुनियादी उसूल है। इस का प्रस्ताव मुसोलिनी ने रखा था और इसको ग्रैण्ड फ़ैसिस्ट कौंसिल ने अपना भी लिया था (अप्रैल २१, १९२७)! परन्तु यह प्रस्ताव नीचे लिखी बातों का कोई जवाब नहीं देता।

अगर मज़दूरी और उत्पादन राष्ट्र के विशिष्ट समाज की चीज़ नहीं है तो क्यों इसका सारा मुनाफ़ा केवल कुछ लोगों की ही जेबों में आता है। जितनी भी उपज होती है उसका सारा मुनाफ़ा उन साहूकार पूंजीवादियों के जेबों में जाता है जिनको फ़ैसिज़्म में उत्पादक माना गया है। जिनका फ़ायदा राष्ट्र का फ़ायदा माना गया है। अलबर्ट ब्रदर्स और पीतरो पिरेली के पास ३९ कम्पनियां हैं, जिनकी पूंजी कुल मिलाकर ७८,१८,३० लायर है। दूसरी तरफ़ इनकी कम्पनियों में काम करने वाले हज़ारों भूखे नंगे मज़दूरों की भीड़ है। क्या इन दोनों का स्वार्थ एक है? क्या इन दोनों का फ़ायदा एक ही बात में है? क्या प्रसिद्ध ज़मींदार पेवोन्सली की बहबूदी और उसके नीचे रहने वाले हज़ारों किसानों की भलाई एक है? याद रहे इस ज़मींदार के पास हज़ारों हेक्टर ज़मीन है और इस ज़मीन को हज़ारों अधनंगे भूखे किसान जोतते बोते हैं। फ्रीयूला के ये किसान कभी भर पेट रोटी नहीं पाते। साल भर ये लोग मेहनत करते हैं और मकाई और बाजरा खाकर ज़िन्दगी बसर करते हैं। क्या वे लोग अपना सामाजिक कर्तव्य पालन करते हैं?

फ़ैसिस्ट पार्टी का उपरोक्त प्रस्ताव इन सवालों का जवाब नहीं देता। शायद वह दे भी नहीं सकता।

बात तो यह है कि मज़दूरी को इन लोगों ने सामाजिक धर्म इसलिये क़रार दे दिया कि मज़दूर मेहनत करके पैदा करें और पिरैली की तोंद मोटी हो। साथ ही राष्ट्र की तो क्या, हाँ; पूंजीवादियों की ताक़त बढ़े, ज़मींदार मज़बूत हों। साम्राज्यवाद ग़रीबों का ही न रह कर सचमुच में अमीरों का साम्राज्यवाद हो जाय।

इसी बात को ध्यान में रखकर सन् १९२६ में ट्रेड यूनियन के कुछ क़ानून बने थे। तीसरी मई को एक क़ानून बना जिसकी धारा नं० २ में यह कहा गया है कि, "सरकार उन्हीं मज़दूर संघों को क़ानूनन जायज़ मानेगी जो कि अपने मेम्बरों को नैतिक और राष्ट्रीय शिक्षा देते हैं।" इसीलिये हड़तालें बन्द कर दी गईं और मज़दूर आन्दोलनों को ग़ैर क़ानूनी क़रार दे दिया गया। मज़दूरों के संगठन तोड़ दिये गये, उनकी पार्टियां कुचल दी गईं और ज़बर्दस्त ज़ुल्म शुरू हो गये। यह सब केवल इसलिये किया गया कि एकाधिपत्य वाले पूंजीवादियों का शासन बना रहे। उनके रास्ते के तमाम कांटे हटा दिये गये।

फ़ैसिज़्म ने एलान किया है कि इटली ग़रीबों का राष्ट्र है। "इटली संसार में सबसे ग़रीब देश है। पूंजीवादी तो फ्रांस और इङ्गलैण्ड के लोग हैं।" यह मुसोलिनी का कहना है।

जिस समय इटली ने अबीसीनियां पर हमला किया उस समय "सर्वहारा इटली" का नारा बुलन्द था। और इसी नारे का सहारा लेकर ग़रीब प्रजा को लड़ाई में शामिल किया। हमेशा इटालियन साम्राज्यवाद ने 'ग़रीब' शब्द के साथ खेल किया है। "राष्ट्र की सर्वहारा स्थिति" वग़ैरह का नारा लगा कर वहां के मुफ़्तख़ोर अमीर हमेशा अपना उल्लू सीधा करते रहे हैं।

हिटलर ने भी हमेशा 'ग़रीब जर्मनी' का नारा लगाया है। उधर जापान भी हमेशा अपनी ग़रीबी की दोहाई देकर चीन में नरसंहार करता रहा है। लेकिन इटली के लोगों ने विदेशी अमीरों को केवल कोसा ही नहीं है; बल्कि इसी नारे के सहारे उन लोगों ने अपना साम्राज्य क़ायम करना चाहा है। ये नारे तो जनता को भुलावे में डालने, असली बातों को उनसे छिपाने और उनको लगातार धोखा देते रहने के लिये लगाये गये थे। उनको अवसरवादी, और बेकार बनाने का एक तरीक़ा था। उनको बताया गया था कि साम्राज्य ही उनको सारे कष्टों से छुटकारा दिलायेगा।

फ़ैसिस्ट प्रचार ने सब तरह की कोशिश करके युद्ध के लिये अनुकूल वातावरण पैदा किया है। आज भी इटली की बाज़ारें युद्ध सम्बन्धी पुस्तकों से पटी हुई हैं। इन किताबों में क़ुर्बानियों के सुपरिणाम का ज़िक्र भरा पड़ा है। माराविनी ने सन् '३१ में एक किताब लिखी। उसमें उसने युरिको कोरादिनी के ये शब्द उद्धृत किये हैं—

"इटली के नौजवान सम्मान पाने के लिये उतावले हैं। तरुण इटली फ़ौजी चीज़ें पसन्द करता है। उसकी विचारधारा फ़ौजी फ़िलासफ़ी से भरी हुई है। यह जोश कम नहीं होना चाहिये। उसे बढ़ता ही जाना चाहिये। इटली वालों का स्वभाव ही युद्ध मूलक हो जाना चाहिये।" इन अवसरवादी नारों का समर्थन माराविनी इन शब्दों से करता है, "वर्तमान इटली की फ़ौजी विचारधारा से अधिक तथ्य से भरी बात आज इटली में कोई और नहीं है।"

इटली में आज फ़ौजी निशानों; उपाधियों, मृत सिपाहियों के लिये पेड़ लगाने और अनजान सिपाहियों के लिये क़ब्रें बनवाने का बहुत चलन है। इनका इटली के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में काफ़ी बड़ा स्थान है। फ़ैसिस्ट जलसों में फ़ौजी क़वायदों का ज़ोर रहता है। सिपाहियों को फ़ाक़ा करने की ख़ूबियों का पाठ पढ़ाया जाता है। पिरैली, ऐनैली, कान्टी और वालपी के धन पर उन्हें गर्व करना सिखाया जाता है। १८ दिसम्बर सन् '३० को सेनेट के सामने भाषण देते हुये मुसोलिनी ने कहा था—"भाग्य से, इटली के लोग कई बार भोजन करने के आदी नहीं हुये हैं। ज़िन्दगी का मयार इटली में इतना नीचा है कि लोग खाने पीने की

चीज़ों की कमी को बहुत कम महसूस करते हैं।" मुसोलिनी ने बहुत गुरूर के साथ कहा था कि "इतिहास के एक शुभ अवसर पर यह स्वर्णकाल आया है और इस समय फ़ैसिज़्म संसार को कम्युनिज़्म के अभिशाप से बचाने और प्रजातन्त्रवाद से उसकी रक्षा करने में पूर्णतया सफल होगा।" स्पेन का गृह-युद्ध हमें अभी याद है।

उत्पादन के साधनों में जितनी ही उन्नति होती है उतना ही शीघ्र सामाजिक संगठन और उत्पादन में असंगति बढ़ती जाती है। साथ ही इसी असंगति का नतीजा यह होता है कि पूंजीवादी दिन पर दिन कपटी, धोखेबाज़, बेईमान और ढोंगी होते जाते हैं। इतना ही नहीं, ज्यों ज्यों इस विचारधारा का भण्डा फोड़ होता जाता है त्यों त्यों ये लोग मीठे और दार्शनिक शब्दों का प्रयोग करने लगते है। आज जो कुछ जर्मनी और इटली के अन्दर हो रहा है वह साबित करता है कि फ़ैसिस्टवादी कितने धूर्त होते हैं।

प्रजातन्त्रवादी—अर्धपूंजीवादी शक्तियों की कमज़ोरी के कारण फ़ैसिज़्म की उन्नति हुई। साम्राज्यवाद ने जानबूझकर इसको तरजीह दी। लायड जार्ज ने एक दफ़े कहा था कि, "अगर इन शक्तियों ने फ़ैसिस्ट शक्तियों को हराने में सफलता पाई, तब क्या होगा? तब तो समाजवादी या उदारवादी ज़माना नहीं आयेगा। बल्कि इनके स्थान पर एक उग्रवादी साम्यवादी (कम्युनिस्ट) ज़माना आयेगा। हमारा ध्येय यह कभी नहीं हो सकता। कम्युनिस्ट जर्मनी कम्युनिस्ट रूस से भी अधिक ख़तरनाक होगा। इसी कारण संसार का प्रत्येक कम्युनिस्ट इस बात की कोशिश करता है कि पाश्चात्य शक्तियां जर्मनी को इस बात के लिये मजबूर करदें कि वह कम्युनिस्ट हो जाय। ज़ाहिर है कि कम्युनिस्ट तरीक़ा जर्मनी में बड़ी सफलता से चल सकता है। मैं प्रार्थना करता हूं कि इन सब बातों का ध्यान रखकर सरकार होशियारी से काम ले।"—('Times' Sept. 23-1933.)

लेकिन आज समय आ गया है जब कि हर प्रजातन्त्रवादी सरकार को और शान्ति प्रिय जनता को इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि वे इन साम्राज्यवादी—फ़ासिस्टवादी नर पशुओं के ख़िलाफ़ मुत्तहिदा जंग छेड़ दें। अब भी समय है जब कि इनके हाथों से वे निधियां बचाई जा सकती हैं जिनको मानव समाज ने सदियों के सतत प्रयत्नों के बाद बटोरा है।

कर्तव्य-कामना

दिन भर कठिन परिश्रम कर जब,
कृषक सदन को आते;
सूखी दो रोटी बिझड़े की,
क्षुधा - हरण को पाते।

फटे चीथड़े पहने उनके,
बच्चे घूमा करते;
दो दानों के लिये सिसकते,
भूखे रोते फिरते।

चिर पुण्यों से गांधी आए,
देश - दुःख हरने को;
जीवन - नौका की पकड़ी—
पतवार, पार करने को।

उदय हुये सुख-सूर्य, मिटेगी,
दुख कर - रजनी - काली;
उन्नत होगी दशा देश की,
हम होंगे बलशाली।

है कर्त्तव्य हमारा भी अब,
उनका हाथ बटाएं;
अपने देश - प्रेम का नाता,
पूरी तरह निभाएं।

ऐसी शक्ति प्रदान करें वह,
जग - नायक, जग - बन्दन;
संस्थापित कर सकें "शान्ति" हम,
काटें अपने बन्धन।

—शान्तिदेवी वैश्य, 'साहित्य-रत्न'

इस्लाम और राष्ट्रीयता

श्री शिवकुमार विद्यालंकार

जब से पाकिस्तान क़ायम करने का आन्दोलन शुरू हुआ है, तब से मुसलमानों में यह प्रचार किया जा रहा है कि इसलाम राष्ट्रीयता का विरोधी है। इसलाम को मानने वाला कोई भी मुसलमान किसी भी राष्ट्र का अंग नहीं हो सकता। एक राष्ट्रीयता के लिए एक धर्म का होना अनिवार्य है। इसलाम की राष्ट्रीयता स्वदेश एवं राष्ट्रीयता के दूसरे अंगों से सीमित नहीं है। इसलाम की रू से जिन लोगों का धर्म एक हो, उन्हीं की राष्ट्रीयता सामान्य हो सकती है। इसलाम मुसलमानों व यहूदियों को एक राष्ट्र भी नहीं मान सकता, चाहे वे एक ही देश के क्यों न रहने वाले हों। अब देखना है कि क्या वाक़ई इसलाम आधुनिक राष्ट्रीयता के ख़िलाफ़ है?

इस सवाल का जवाब पाने के लिए हमें सब से पहिले इसलाम की प्रवृत्तियों को देखना होगा। और इसी आधार पर इसलाम की पुस्तकों को भी देखना होगा। इसलाम के मुख्य धर्म ग्रन्थ क़ुरान-शरीफ़ की आयतों को तथा हदीसों को लेकर, यह प्रयत्न करना कि उनमें राष्ट्रीयता का समर्थन है, हम उचित नहीं समझते। कारण यह है कि उस समय तक आज की राष्ट्रीयता पैदा भी न हुई थी। राष्ट्रीयता का विचार इसलामी युग के बाद की चीज़ है। वेदों से वायुयान व टैंक निकालने का प्रयास जिस तरह व्यर्थ है; ठीक उसी तरह क़ुरान शरीफ़ से राष्ट्रीयता का निकालना व्यर्थ है। किन्तु जिस प्रकार वेद वैज्ञानिक उन्नति का यदि समर्थन नहीं करते, तो विरोध भी नहीं करते। ठीक इसी तरह क़ुरान-शरीफ़ यदि राष्ट्रीयता का समर्थन नहीं करता, तो उसका विरोध भी नहीं करता; किन्तु इसलाम की प्रवृत्तियों को देखते हुए क़ुरान-शरीफ़ की कुछ आयतें पेश अवश्य की जा सकती हैं, जो हम को राष्ट्रीयता की ओर ले जाने में सहायक हो सकती हैं।

मनुष्य जिस भूमि में जन्म लेता है, जिसका अन्न खाता है जिस का पानी पीता है, जिस पर सब तरह की मौज बहार करता है; उससे प्यार हो जाना स्वाभाविक ही है। स्वदेश प्रेम तो मनुष्य में माता की गोद से आरंभ हो जाता है। इसमें आस्तिक व नास्तिक तथा हिन्दू व मुसलमान एवं सभ्य व असभ्य का कोई अन्तर नहीं। मुसलमान भारत में आकर बसे। उनका इस भूमि से प्रेम हो जाना स्वाभाविक ही था। इसलाम इसमें रोड़ा क्यों अटकाता? वह तो एक स्वाभाविक धर्म है। उसने मानवीय स्वभाव को कभी कुचलने की कोशिश नहीं की। मानवीय स्वभाव ही उसकी नींव है, आधार शिला है। अनेक धर्मों ने मनुष्य को अस्वाभाविक शिक्षाएं दीं। उन्होंने मनुष्य को काल्पनिक देवता अथवा फ़रिश्ता बनने का उपदेश दिया। उन्होंने ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करने, शत्रु के एक थप्पड़ पर दूसरा गाल आगे कर देने, बहु-विवाह को रोकने, धन-सम्पत्ति को छोड़ पहाड़ों पर तपस्या करने, प्राणी मात्र को कष्ट न देने की शिक्षा-दीक्षा दी। किन्तु इसलाम ने अपने आप को ऐसी शिक्षाओं से सदैव अलग रखा। उसने मानव-स्वभाव का कभी तिरस्कार नहीं किया। अन्य धर्मावलम्बियों के साथ सभ्यता, शिष्टाचार, सौजन्य, नम्रता प्रेम और सहानुभूति प्रकट करने की शिक्षा दी। ऐसे स्वाभाविक धर्म पर यह आरोप लगाना कि वह राष्ट्रीयता का विरोधी है, गोया उसका तिरस्कार करना है। वस्तुतः इसलाम यदि राष्ट्रीयता का नाम लेकर उसका

समर्थन नहीं करता, तो उनका विरोध भी नहीं करता। किन्तु उसकी शिक्षाएं, उसकी प्रार्थनाएं और उसके उपदेश वेद की तरह एक वचनात्मक न होकर बहु वचनात्मक हैं। आयतें एक व्यक्ति तक सीमित न रह कर मानव-जाति के अपने में समेटने का दावा रखती हैं।

कुछ आयतें

क़ुरान-शरीफ़ की सूरा १ आयत १ व २ हमारे सामने हैं। उनमें कहा गया है, उस ईश्वर को हमारा नमस्कार है, जो सारे विश्व का ईश्वर है, दयालु और कृपालु है। इस आयत में प्रतिपादित ईश्वर या रहीम केवल मुसलमानों का ही नहीं, प्रत्युत विश्व का है।

क़ुरान शरीफ़ के सूरा २ आयत १३९ में बताया गया है, तुम ईश्वर के बारे में आपस में लड़ते हो, जब कि वह तुम्हारा और उनका दोनों का एक ही तरह ईश्वर है। तुम अपने कामों के ज़िम्मेवार हो और हम अपने कामों के। अर्थात् क़ुरान-शरीफ़ का ईश्वर विस्तृत है, सीमित नहीं।

सूरा २ आयत २१३ में बताया गया है ईश्वर ने समस्त विश्व के लिए एक ही क़ानून-नियम बनाया है, जिसके अनुसार सब क़ौमों व जातियों में पैग़म्बर (अवतार) पैदा होते रहते हैं। कारण, यह कि ईश्वर की दृष्टि में समूची मानव-जाति एक है। कोई भी दैवी नियम सब पर एक जैसा लागू होना चाहिए।

आगे चल कर सूरा ४ आयत १ में बताया गया है कि "मानव-जाति के ईश्वर ने एक ही आत्मा से बनाया है।" अर्थात् मानव-जाति का आदि मूल एक ही है। उसमें दीखने वाले समूचे भेद कृत्रिम हैं, बनावटी हैं। सूरा २ आयत ११२ में बताया गया है —"जो व्यक्ति अच्छा काम करते हुए अपने आप को ईश्वरार्पण कर देता है, उसे ईश्वर ही फल देता है। उन्हें डरना नहीं चाहिए और नहीं शोकातुर होना चाहिए।" क़ुरान की दृष्टि में यहूदी, ईसाई, हिन्दू व मुसलमान सभी एक हैं। अर्थात् क़ुरान की शिक्षाएं प्रजातन्त्री हैं। ईश्वर के आश्रय पर विश्व में अच्छाई करते जाना, यही मुक्ति का उपाय है।

सूरा ५ आयत ८ में बताया गया है कि न्याय पूर्वक सद् व्यवहार करना ठीक है। किन्तु असली परीक्षा तो तभी होती है, जब तुम्हें उन लोगों के साथ न्याय-पूर्ण व्यवहार करने का मौक़ा मिलता है, जो तुमसे घृणा करते हैं और या जिन्हें तुम नहीं चाहते। न्यायपूर्ण व्यवहार करना यही तुम्हारा कर्तव्य है। तुम जो कुछ करते हो ईश्वर उसे देखता रहता है।

सूरा ४९ आयत १३ में बताया गया है— हे मनुष्यों! हमने तुमको एक पुरुष और एक स्त्री से पैदा किया है। तुमको क़बीलों या बिरादरियों में बांट दिया, ताकि आपस में पहिचाने जाओ। तुम में सज्जन वही है, जो पवित्रता का जीवन व्यतीत करने वाला है।" परमात्मा ने मनुष्यों को क़बीलों में बांटा। क्यों? इसीलिए कि वे आपस में पहिचाने जा सकें। हमने देखा इसलाम का एक भी क़बीला धर्म के आधार पर नहीं बदला। उसका आधार एक देश है।

क़ुरान का अध्ययन करने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उसका क़ौम शब्द राष्ट्रीयता का द्योतक है। क़ौम शब्द चार अर्थों में इस्तेमाल हुआ है। स्वक्ों समुदाय, विशेष आस्तिक अर्थात मोमिन, केवल नास्तिक, काफ़िर और आस्तिक नास्तिक दोनों के लिए। क़ौम शब्द नास्तिक और आस्तिक दो विरोधियों के लिए प्रयुक्त होता है। इसी से ज़ाहिर है कि इसलाम राष्ट्रीयता का समर्थक है अथवा विरोधी है।

क़ुरान शरीफ़ में एक स्थान पर एक काफ़िर और मूर्त्तिपूजक क़ौम के हज़रत नूह की क़ौम कहा गया है। नूह की क़ौम अन्तिम समय तक मूर्त्ति पूजक रही और उसे इसलाम पर श्रद्धा नहीं हुई। फिर भ उसे हज़रत नूह की क़ौम में शरीक कर लेना साबि‍ करता है कि इसलाम की क़ौमियत धर्म पर आश्रित न होकर एक देश पर निर्भर करती है। एक ही भाषा के आधार पर भी काफ़िरों और पैग़म्बरों की एक क़ौम मानी गई है। एक आयत में हज़रत मूसा

की काफ़िरों की क़ौम से उपमा दी गई है। हज़रत मूसा जिस देश के रहने वाले थे, उसी देश में रहने वाली और वही भाषा बोलने वाली मूर्त्तिपूजक क़ौम को हज़रत मूसा की क़ौम बताया गया है। क़ुरान में एक स्थान पर 'आद' की क़ौम को फटकारा गया है। वे लोग पथ-भ्रष्ट थे। फिर भी उन्हें 'हूद की क़ौम' कहा गया है। यह क़ौमियत देश व भाषा के आधार पर नहीं। इसी प्रकार लूत की क़ौम भी मूर्त्तिपूजक थी। लेकिन उसका भी एक नबी के साथ सम्बन्ध था। इन सब क़ौमों को उच्चतम नबियों की क़ौम इसीलिये कहा गया है कि उन नबियों व क़ौमों की भाषा, देश व नस्ल एक थी। इन नबियों का काफ़िर क़ौम से सम्बन्ध होना उनके पैग़म्बर होने में बाधक न था।

हदीसों के प्रमाण

क़ुरान शरीफ़ के अनुसार काफ़िर और मोमिन एक क़ौम के अंग हो सकते हैं। इसके लिए एक धर्म का होना आवश्यक नहीं। अपनी इसी धारणा की पुष्टि में हम हदीसों के भी कुछ उदाहरण पेश करेंगे।

हज़रत पर तायफ़ के नास्तिक लोग पत्थर-वर्षा करते हैं। आपका पैर लहू-लुहान हो जाता है। फिर भी आपने प्रार्थना की—"हे ईश्वर! मेरी क़ौम को रास्ता दिखा। वह मुझे नहीं जानती और इसीलिये मुझे कष्ट पहुंचाती है।" नबी ने पत्थर बरसाने वालों को अपनी क़ौम माना है। सिर्फ़ इसीलिये कि धर्म भिन्न होते हुए भी दोनों की भाषा व देश एक था। हज़रत को मक्के से बड़ा प्रेम था। एक बार मक्का छोड़ते हुये आपने कहा था 'ऐ मक्का तू मुझको संसार में सबसे अधिक प्रिय है। मगर क्या करूं, तेरे निवासी मुझे यहां रहने ही नहीं देते। इससे बढ़कर स्वदेश प्रेम का और कौनसा नमूना हो सकता है?

हज़रत रसूल अल्लाह यानि पैग़म्बर मुहम्मद को अपने देश की राजनैतिक उन्नति करते हुए अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा था। अपने शत्रु को ताक़तवर देख कर वे अपने से भिन्न मतावलम्बियों से भी समझौता कर लिया करते थे। अपनी पैग़म्बरी के १४ वें वर्ष में आपने मदीना के मुसलमानों और ग़ैर-मुसलमानों को एक बनाने की कोशिश की। आप ने यह नियम बनाया था कि बाहरी शत्रु से सामना होने पर मदीना के मुसलमान और यहूदी एक होंगे, लेकिन अपने-अपने धर्म में हरेक स्वतंत्र होगा। कौरव और पांडव भी आपस में शत्रु थे। किन्तु शत्रु से मुक़ाबिला होने पर उनके सामने एक ही मंत्र था—और वह यह

> लेशलानि वयं पञ्च, परस्पर विवादने,
> परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पंच शतानिच ॥

अर्थात्—आपस में लड़ाई होने पर कौरव १०० और पांडव ५ होते हैं। किन्तु शत्रु से सामना होने पर वे सब १०५ हो जाते हैं।

धर्म पृथक होने पर भी हज़रत मुहम्मद ने अपने देश का प्रबन्ध करने और शत्रुओं से सामना करने के लिए मदीना के मुसलमानों और यहूदियों को एक कर दिया। यदि इसलाम में इतनी लचक न होती, तो उसके अनुयायी सांसारिक कार्यों में दूसरी जाति के लोगों से मिल कर काम न कर सकते। यदि अन्य क़ौमों के साथ मिल कर काम करने से 'इसलाम को ख़तरा' हो, जाता है तो इस ख़तरे को पैग़म्बर ने इसलाम के प्रवर्त्तन-काल में महसूस क्यों नहीं किया? इसलाम की प्रवृत्ति अपने से भिन्न मतावलम्बी से पृथक होने की नहीं है। यदि आज पैग़म्बर ख़ुद ज़िन्दा होते, तो वे भारतीय राष्ट्रीयता का विरोध न करते। यदि आज वे नहीं हैं; तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे अथवा उनकी शिक्षाएं राष्ट्रीयता के विरुद्ध थीं। राष्ट्रीयता के विरुद्ध मुसलिम-संसार की ओर से सब दलीलें पेश की जा सकती हैं; लेकिन एक यह दलील पेश नहीं का जा सकती कि इसलामी राष्ट्रीयता—पाश्चात्य ढङ्ग की राष्ट्रीयता के विरुद्ध है।

मङ्गल-घट भरने वाले

श्रीमती सरस्वती देवी कपूर

मङ्गल - घट भरने वाले !
तुम्हें ताप में तपना होगा,
जहां सभी सुख सपना होगा,
औरों का दुःख अपना होगा,
छाएँगे बादल काले,

क्षुधा, पिपासा; चिन्ता, दहना,
व्यथा, विनशता. कटुता सहना,
सङ्ग निराशा के ही रहना;
समझ बूझ ले मतवाले !

घर घर दीप जलाकर आना,
आप अंधेरे में रह जाना,
स्वयं सदा दुःख ही दुःख पाना—
सब को सुख देने वाले !

काटों की शैया पर सोना,
आघातों से खिन्न न होना,
गूंजे जग का कोना कोना,
अमर गीत गाने वाले

शल्य चुभे हों अपने पग में,
पुष्प बिछाना जग के मग में,
विचलित कहीं न होना डग में,
सहना सब सहने वाले !

हास्य सदा मुख पर हो छाया,
करुणा से पूरित हो काया,
तुम्हें न छू पाये भव माया—
अपने से डरने वाले !

स्वयं डूब कर उन्हें बचाना,
अपयश पा सबका यश गाना,
इस जीवन का मूल्य चुकाना,
मङ्गल - घट भरने वाले !

सम्राट अकबर का भक्त सूरदास के नाम पत्र

श्री बालमुकुन्द मिश्र तर्करत्न

नीचे लिखा पत्र सम्राट अकबर के मन्त्री अबुल-फ़ज़ल ने भक्त सूरदास को उनके एक पत्र के जवाब में लिखा था। अबुल फ़ज़ल के भानजे अब्दुल समद के ग्रन्थ "मुन्शियात" के दूसरे भाग में यह पत्र दर्ज है।

सम्वत् १६४५ में काशी के हाकिम ने हिन्दुओं पर अत्याचार शुरू किया। फ़रियादी हिन्दुओं के सम्बन्ध में भक्त सूरदास ने एक पत्र काशी से सम्राट अकबर को लिखा। भक्त सूरदास के पत्र को पढ़ कर हाकिम के ऊपर अकबर को बेहद क्रोध आया। अकबर ने अबुल फ़ज़ल से कहकर भक्त शिरोमणि को जवाब लिखवाया—

"परमात्मा को पहचानने वाले ब्राह्मणों, योगी, सन्यासी, महापुरुषों के शुभ चिन्तन से ही बादशाहों का कल्याण होता है। साधारण से साधारण बादशाह भी अपनी मति के विपरीत भगवद्भक्तों की आज्ञा का पालन करता है। तब जो बादशाह धर्म, नीति और न्याय परायण है, वह तो भक्तों की इच्छा के विपरीत चल ही नहीं सकता।—मैंने आपकी विद्या और सद्बुद्धि की प्रशंसा निष्कपट आदमियों से सुनी है। आपको मैंने मित्र माना है। कितने ही विद्वानों एवं सत्यनिष्ठ ब्राह्मणों के मुंह से मैंने सुना है कि आप इस ज़माने के भक्त शिरोमणि हैं। आपके तपश्चर्या की परीक्षा हुई है और आप उसमें खरे उतरे हैं। हाल में हज़रत अकबर बादशाह इलाहाबाद पधारने वाले हैं। आशा है आप वहां आकर उनसे मिलेंगे। ईश्वर को धन्यवाद कि बादशाह आप को परम धर्मज्ञ जानकर अपना परम मित्र समझते हैं। भगवान मुझे भी आपके दर्शन का लाभ शीघ्र दे, जिससे इस दास को भी आपका सत्सङ्ग मिले और आपके वचनामृत सुनकर मैं भाग्यशाली बनूं।

"सुना है काशी के करोड़ी का* बर्ताव अच्छा नहीं है। बादशाह को सुनकर बहुत बुरा लगा। बादशाह ने उसकी बरख़ास्तगी का फ़रमान लिख दिया है। अब नये करोड़ी की नियुक्ति का भार सम्राट ने आपके ही ऊपर छोड़ा है। इस तुच्छ अबुल फ़ज़ल को हुक्म हुआ है कि आपको इसकी इत्तला दे दे। आप ऐसा करोड़ी चुनिये, जो ग़रीब और दुखी प्रजा का समस्त भार सम्हाल सके। आप की सिफ़ारिश आने पर बादशाह उसकी नियुक्ति करेंगे। बादशाह आप में ख़ुदा की रहमत देखते हैं इसलिये आपको यह तकलीफ़ दी है। वहां पर ऐसा हाकिम होना चाहिये, जो आपकी सलाह के मुताबिक काम करे। कोई खत्री जिसे आप क़ाबिल समझें, ऐसा व्यक्ति जो ईश्वर को पहचान कर न्याय और प्रेम से प्रजा का लालन-पालन करे, उसका नाम आपकी तरफ़ से आने पर नीमशुक्क (करोड़ी) करा देंगे। परमेश्वर आप को सत्कर्म करने की श्रद्धा दे और आपको सत्कर्म के ऊपर स्थिर रखे।"

विशेष सलाम

दास

अबुल फ़ज़ल

---

* जिस सूबे का कर ढाई लाख रुपया होता था वहां का ही हाकिम करोड़ी कहलाता था।

समालोचना

इतिहास-प्रवेश—लेखक श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार

मैंने अभी तक इस ढंग के जितने ग्रन्थ पढ़े, उनमें इसके विषयों का वर्गीकरण तथा लेखन मुझे सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुआ है। लगभग सभी दृष्टियों से यह अपने विषय के ग्रन्थों में सबसे अधिक व्यापक दृष्टिकोण से लिखा गया, तथा सबसे अधिक संतोषदायक है। जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, जिस सम्पूर्णता के साथ, जिस ईमानदारी से इस ग्रन्थ के ७५० पृष्ठों में भारतवासियों के इतिहास और संस्कृति का वर्णन किया गया है; वह संसार के किसी भी विद्वान के लिए गौरव की वस्तु है। यह ग्रन्थ साधारण पाठक तथा विशेषज्ञ दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी तथा आनन्ददायक है।

श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालङ्कार ने समय-समय पर भारतीय इतिहास और संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले जो लेख तथा ग्रन्थ लिखे हैं, उन्होंने उन्हें भारतीय पुरातत्व की खोज करने वालों की प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया है। इसके अतिरिक्त वह भारतीय इतिहास परिषद (बनारस) के कर्मठ मन्त्री (उसके प्राण ही) हैं, जिसने वर्तमान भारत के प्रमुख इतिहासज्ञों और दूसरे विद्वानों के सहयोग से तथा हमारे कई माने हुए राष्ट्रीय नेताओं और साधारण जनता की सहायता से अपने देश का एक विस्तृत इतिहास लिखने का कार्य्य हाथ में लिया है। अपने इस ग्रन्थ द्वारा श्रीयुत विद्यालङ्कार ने (सम्पादक-मण्डल के सभापति सर यदुनाथ सरकार के सहयोग में) अनेक विद्वानों के परिश्रम का—जिनके अपने-अपने क्षेत्र में अपने विशिष्ट अध्ययन के परिणामों की देन रहेगी—समन्वय कर सकने की अपनी योग्यता का पूरा परिचय दिया है; क्योंकि उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में दिखाया है कि विशाल दृष्टि के साथ, उन्हें तफ़सील की बातों पर भी पूरा अधिकार है। विस्तृत दृष्टि के साथ पैनी नज़र है—न तो एक-एक चीज़ की उलझन में उनका सामूहिक महत्व ही दृष्टि से ओझल होता है और न ऊपरी दृष्टि से महत्वहीन प्रतीत होने वाली "छोटी-छोटी बातों" को ही वह आंख से ओझल होने देते हैं। एक सच्चे वैज्ञानिक की तरह वह विश्लेषण भी करते हैं और समन्वय भी। वह जहां तोड़ना जानते हैं, वहां जुड़ाई करना भी।

तो भी इस ग्रन्थ के रचयिता, अपनी वैज्ञानिक दृष्टि की विशेषता को लिए हुए केवल एक शुष्क विश्लेषणकर्ता नहीं हैं। वे एक ऐसे भारतीय हैं, जो अपने देश को न केवल उसकी महानता के लिए, बल्कि उसकी कमज़ोरियों के साथ भी प्रेम करते हैं। इसलिए उनकी रचना, उनकी व्यक्तिगत सहानुभूति के स्पर्श से सरस हो गई है। वे उन लोगों में से नहीं हैं, जो अपना विश्लेषण और खोज का कार्य्य, केवल मुर्दे पर कर सकते हैं; केवल उस समय कर सकते हैं, जब कि लाश मेज़ पर चीर-फाड़ करने के लिए रख दी गई हो। उनके स्पष्टता लिए विश्लेषण या चीर-फाड़ के श्रेष्ठतम कार्य्य के होते हुए भी, जिस वस्तु का विश्लेषण किया जाता है, वह जीवित ही रहती है। विद्यमान वस्तुओं में, जो उसका स्थान है, वह ज्यों का त्यों बना रहता है। क्योंकि वे अपने को भी विश्लेष्य वस्तुओं (भारत) के भीतर अनुभव करते हैं। और अपनी वैज्ञानिक निर्लिप्तता के बावजूद भी

वे उस साम्राज्यवादी पक्षपात पूर्ण दृष्टि तथा ढोंग से सर्वथा मुक्त हैं, जिसने दुर्भाग्य से भारत का इतिहास लिखने वाले अनेक ब्रिटिश इतिहासज्ञों की दृष्टि को धुंधला कर दिया है; और वे उस भारतीय इतिहास अथवा भारतीय परिस्थिति के ऐसे कुछ पहलुओं पर हमेशा अनुचित ज़ोर दिया करते हैं, जिसका भारत से कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं—ऐसा ज़ोर जो असली स्थान पर न होकर आकस्मिक घटनाओं पर दिया गया है।

यह वास्तव में भारत का वैज्ञानिक इतिहास है, जो केवल भारत और भारतियों के दृष्टिकोण से लिखा गया है, (और यह भी कह दें कि भारतीय इतिहास का मनुष्य मात्र से जो सम्बन्ध रहा, उसके दृष्टिकोण से भी) जिसमें इस या उस समूह-विशेष अथवा दल का गौरव नहीं गाया है, न "आर्यों" का, न "मुसलमानों" का और न सफ़ेद चमड़ी वालों का,जो समझते हैं कि इतिहास में उनका स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है,और जो वह साम्राज्य का "भार" उठाए हुए हैं, वह उनका बड़ा परोपकार है; यद्यपि जिन लोगों के हित के लिए वह यह भार उठाए हैं, वे नहीं मानते कि यह किसी भी तरह उनके हित के लिए है। यह इतिहास न केवल भारतियों के किन्तु सारे संसार के पढ़ने की वस्तु है।

यह स्वीकार किया गया है कि यह इतिहास "भारतीय दृष्टिकोण" से लिखा गया है। श्रीयुत विद्यालङ्कार, इतिहास के क्षेत्र में काम करने वाले दूसरे विद्वान तथा भारतीय जनता, साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से ऊब चुकी है। यह "भारतीय दृष्टिकोण" वास्तव में क्या है, इस पर रायबहादुर डा० हीरा लाल और सर जदुनाथ सरकार जैसे विद्वानों ने विचार किया है। किसी भी देश का कोई भी विद्वान कितना ही वैज्ञानिक तथा पक्षपात रहित दृष्टिकोण क्यों न रखता हो, उसे इसमें तनिक आपत्ति नहीं हो सकती। श्रीयुत विद्यालङ्कार के ग्रन्थ की योजना और रचना इसी भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार हुई है—विज्ञान और सत्य को ही सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। कहीं भी किसी पक्ष-विशेष को बढ़ाने, उसे ऊंचा स्थान देने की प्रवृत्ति के सामने सिर नहीं झुकाया गया है। वास्तव में यह उस सारी अच्छाई और बुराई का उल्लेख तथा मूल्याङ्कन है, जिससे भारतीय इतिहास और भारतीय संस्कृति की रचना हुई है।

श्रीयुत विद्यालङ्कार की दृष्टि में भारत का इतिहास प्रागैतिहासिक काल से आज तक अविच्छिन्न रूप से सतत बहती रहने वाली एक धारा है; और यह ठीक ही है। वे इसे 'हिन्दू-युग", "मुसलमान युग" और "ब्रिटिश युग" के (मेजर, बामन दास बसु की 'भारत में ईसाई शक्ति की बढ़ती' के अनुसार "ईसाई-युग" क्यों नहीं ?) तंग कटघरों में नहीं बांटते। उन्होंने भारतीय इतिहास के भौमिक आधार पर, जिन मूल भारतवासियों के सम्मिश्रण से आज की भारतीय जनता बनी है, उन जातियों की अपनी-अपनी देन पर, उसके साथ ही ऐतिहासिक खोज के आधार तथा तरीक़ों पर विचार किया है। औस्ट्रिक (Austric) लोगों और उनकी भाषाओं के लिए उन्होंने "आग्नेय" शब्द का प्रयोग किया है—एशिया के दक्षिण पूर्व अथवा अग्नि-कोण के निवासी औस्ट्रिक (Austric) (आधुनिक जगत में जर्मन विद्वान श्मिट ने पहले-पहल औस्ट्रिक जाति की एकता पहचानी; और उन्हींने इस जाति को औस्ट्रिक नाम दिया। औस्ट्रिक का भी शब्दार्थ है दक्षिण-पूर्व कोण का रहने वाला।) लोगों के सम्बन्ध को यह शब्द बहुत ही अच्छी तरह व्यक्त करता है। यद्यपि आरम्भ में (जब तक उनका प्रयोग स्थिर और सर्वमान्य न हो जाए) इस प्रकार के शब्दों का समझना कठिन हो सकता है; लेकिन तब भी मैं इससे अच्छा कोई शब्द नहीं सुझा सकता।

प्रथम अध्याय के चतुर्थ परिच्छेद में श्रीयुत विद्यालङ्कार ने 'चन्द्रवंश' के संस्थापक भरत का समय २२५० ई० पू० और रामायण के रामचन्द्र का समय १९०० ई० पू० माना है, और वे समझते हैं कि महाभारत-युद्ध १४०० ई० पू० में हुआ होगा। इसी परिच्छेद में, जो कि "वैदिक जीवन और संस्कृति" से पहले है, उन्होंने रामायण और महाभारत की कथाओं

के साथ पौराणिक कहानियां भी दी हैं। मुझे इस परिच्छेद को पढ़कर बहुत प्रसन्नता नहीं हुई। सारी किताब में यही एक परिच्छेद ऐसा है, जिस पर यथार्थ इतिहास के दृष्टिकोण से मुझे आपत्ति है। हम अभी ऐसी परिस्थिति में नहीं हैं कि पौराणिक कहानियों और जन-कथाओं में से इतिहास निकाल सकें। इस विषय में विशेष अध्ययन के लिए गुंजाइश है; लेकिन तब भी भारतवर्ष के इस प्रकार के सामान्य इतिहास में ऐसी काल्पनिक उड़ानों के लिए स्थान नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है (यद्यपि यह केवल इसी एक स्थान पर) कि श्रीयुत विद्यालङ्कार ने रामायण, महाभारत तथा पुराणों के ऐतिहासिक मूल्य के बारे में जनता के अर्ध-वैज्ञानिक विचारों का लिहाज़ कर लिया है। हो सकता है कि इनमें यथार्थ इतिहास का कुछ अंश हो (यद्यपि कोई भी सच्चा ऐतिहासिक राम की कथा को कथा मात्र समझता है); और यह सम्भव है कि पुराणों तथा रामायण महाभारत के राजाओं; योद्धाओं और ऋषियों की कहानियां आर्य-पूर्व युग की हों, और ये पीछे के आर्य-इतिहास तथा जनश्रुति के साथ ऐसे मिल गई हों कि अब उन्हें पृथक् न किया जा सके। लेकिन यदि हम कभी सफल भी हों, तो इनमें से सच्चा इतिहास निकालने में अभी बहुत समय लगेगा; और इसमें अत्यन्त सन्देह है।

शेष सारा ग्रन्थ सुन्दर ढङ्ग से लिखा गया है। इसे पढ़ते समय एक दुर्लभ आनन्द का अनुभव होता है, जब पाठक लेखक की बहुज्ञता का, उसकी घटनाओं को एक क्रम में उपस्थित कर सकने की कुशलता का, तथा उसकी उस सर्वग्राही उदारता का, जिसकी तह में उन लोगों के लिये, जिनके कार्य्यों और कारनामों की कथा वह लिखते हैं, बड़ी गहरी मानवी सहानुभूति की बहती हुई धारा (एक उथला राष्ट्रीय पक्षपात नहीं) का ख़्याल करता है। अनेक बार जी चाहता है कि उन्हें उन अनेक बातों को, जो विद्यार्थियों और साधारण पाठकों को प्रायः मालूम नहीं हैं बताने के लिये धन्यवाद दिया जाय। उदाहरण के लिये हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए यह जानकारी अच्छी है कि (१) ग़ज़नी का महमूद केवल एक बुत-शिकन (मूर्ति-भंजक) नहीं था, जिसने कई बार भारत पर आक्रमण किये और हिन्दू मन्दिरों तथा मूर्तियों को नष्ट किया; बल्कि वह एक बुद्धिमान राज्य-प्रबन्धक तथा विद्या का संरक्षक भी था। संस्कृतज्ञ अलबरूनी उसी की संरक्षता में रहा। भारतीय प्रजा का ख़्याल कर उसने अपने चांदी के सिक्कों पर कलमा का संस्कृत अनुवाद खुदवाया था। (२) मुहम्मद ग़ोरी के सिक्कों पर हिन्दू देवी लक्ष्मी की मूर्ति बराबर बनी रही और उसका नाम (श्रीमत् मीर महम्मद साम) भी भारतीय अक्षरों में खुदा था। (३) दो मराठे राज्य-प्रबन्धक हरि दामोदर (सन १७६५ में झांसी के सूबेदार होकर मरे) और उनका पुत्र रघुनाथ हरि (जिसने उत्तर भारत में मराठा (हिन्दू) शासन के संगठित करने में प्रधान भाग लिया था) अङ्ग्रेज़ों तथा दूसरे यूरोपियनों की विद्या तथा विज्ञान से प्रभावित हुये थे। रघुनाथ हरि (जो १७६५ से १७९४ तक झांसी का गवर्नर था) ने भारत के लिये पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकता समझने में राममोहन राय और आरम्भिक १९ वीं शती के बङ्गाली विचार-नेताओं से भी पहले था। उसने स्वयं अंग्रेज़ी सीखी और ब्रिटिश विश्वकोष (Encyclopaedia Britanica), जो कि उस समय प्रकाशित हो गया था, से भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र तथा दूसरे विज्ञानों के विषय पढ़कर झांसी में एक प्रयोगशाला स्थापित की थी। रघुनाथ हरि सचमुच भारत का एक महान् पुत्र था; जिसके नाम से हम अपरिचित रहे। यदि १८वीं शती के कुछ ही ऐसे और आदमियों में जिनके हाथ में भारत की राजनैतिक बागडोर थी, उसकी सी जान रहती, तो भारत की १९ वीं शती के इतिहास की और आज की भी कहानी बिल्कुल दूसरी ही होती।

हर युग के एक एक परिच्छेद में उस समय जो सांस्कृतिक प्रवृत्तियां काम कर रहीं थीं, उनका दिग्दर्शन कराकर भारत के सांस्कृतिक इतिहास के साथ

भी भरपूर न्याय किया गया है। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि बृहत्तर भारत के प्रश्न की ओर से— भारत के सांस्कृतिक और औपनिवेशिक विस्तार की उदासीनता नहीं दिखाई गई है। यह तो भारतीय इतिहास का ख़ास अङ्ग है।

इसमें ग्रन्थ के प्रकाशन के वर्ष तक का इतिहास है, और पिछले दिनों में जबकि राजनीतिक, जातिगत, तथा साम्प्रदायिक झगड़ों और उलझनों के कारण मनुष्य जाति के एक पांचवें हिस्से में बहुत गोलमाल रहा है; श्रीयुत विद्यालङ्कार उस समय का भी विस्तृत और उद्वेगरहित इतिहास देने में सफल हुये हैं।

प्रशंसा के दो शब्द-चित्रों के ध्यानपूर्वक चुनाव के बारे में कहने ही होंगे। इन चित्रों में जातियों के नमूने, पुरानी इमारतों के व्यक्तियों की तसवीरें, सिक्के, अभिलेख, मान चित्र तथा खाके शामिल हैं। वे सारे इतिहास पर एक चित्रमय भाष्य हैं और एक महान् देश की महान् सभ्यता का इतिहास चित्रों द्वारा प्रकट करते हैं। मेरी इच्छा यही रही है कि चित्रों की छपाई और अच्छी हुई होती।

मैं समझता हूं कि विद्वानों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि श्रीयुत विद्यालङ्कार ने अपने कर्तव्य को खूब ही निभाया है। उन्होंने इस ग्रन्थ को हिन्दी में लिखा है, जोकि भारत की सच्ची राष्ट्रभाषा है— भारत का प्रतिनिधित्व कर सकने वाली आधुनिक भाषा। सारे आर्य-भाषा-भाषी भारत के लिये और दक्षिण भारत के भी एक बड़े हिस्से के लिये हिन्दी ही उमगाङ्गस्प्राख़े (Umgangsprache) सार्वत्रिक भाषा और फेरकेरश्प्राख़े (Ver Kehr sprache) व्यवहार की भाषा है; यद्यपि यह अभी कुलतरश्प्राख़े (Kultur sprache) विज़ेन शाफट् लिखे श्प्राखे (Wisent schaft Liche sprache) (संस्कृति की भाषा) शास्त्रीय भाषा नहीं बन सकी। इसकी वैज्ञानिक शब्दावलि अभी भी बन रही है। विद्यालङ्कार जी को स्वयं अनेक आवश्यक शब्द ढूंढने तथा गढ़ने पड़े हैं। इस प्रकार के ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी को विज्ञान तथा संस्कृति की भाषा का स्थान दे रहे हैं। किसी भी वर्तमान लेखक की, जो सर्वश्रेष्ठ भाषा मैंने पढ़ी है, विद्यालङ्कार जी की हिन्दी उसका नमूना है। उनकी भाषा सुन्दर गद्य है, नपी तुली है, ज़ोरदार है, फ़जूल शब्दावलि से रहित है और तब भी चित्र खींच कर रख देती है।

इस तरह ग्रन्थ का न केवल सारे भारत में बल्कि संसार के दूसरे हिस्सों में भी प्रचार होना चाहिये। हमें यह सुनकर प्रसन्नता हो रही है कि इसके अङ्गरेज़ी, मराठी तथा गुजराती अनुवाद हो रहे हैं।* अपने प्रान्त के लिये मैं एक बङ्गला अनुवाद देखना चाहता हूं।

हम चाहते हैं कि विद्यालङ्कार जी के हाथ में और शक्ति आए; और हम आशा करते हैं कि वह अपने उस महान् कार्य्य को—भारतवर्ष का विस्तृत इतिहास लिखने के कार्य्य को—करते हुए जिसमें वह आगामी कई वर्षों तक अन्य विद्वानों के साथ लगे रहेंगे, बीच बीच में कुछ छुट पुट भी देते रहेंगे।

यह ग्रन्थ उस महान ग्रन्थ का एक स्वागत करने योग्य सन्देश-वाहक है।

—सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय एम० ए०, पी-एच० डी०

इतिहास प्रवेश

[हिन्दी में भारतीय इतिहास का दिगदर्शन। लेखकः—श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार। २ खण्ड। प्रथम खण्ड—१८ वीं शती तक (पृ १–४९६ तक); द्वितीय खण्ड—१८ वीं शती के अन्त से वर्तमान समय तक। (पृ० ४९६—७५८)।

अनेक तसवीरें, चित्र, प्लेट और सम्पूर्ण अनुक्रमणिका। प्रकाशक, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर इलाहाबाद—१९३८—१९३९, मूल्य प्रथम खण्ड २॥) द्वितीय खण्ड १॥)]

*इन महत्वपूर्ण ग्रन्थ का सिंहल अनुवाद भी हो रहा है।

भारतवर्ष में जाति भेद

ले०—आचार्य्य क्षितिमोहन सेन शास्त्री, एम० ए०। पृष्ठ सं० ३०४, प्रकाशक अभिनव भारती ग्रन्थ माला १७१-ए०, हरिसन रोड, कलकत्ता, मूल्य २)

'विश्ववाणी' सम्पादक की कृपा से सचमुच एक ज्ञान वर्धक पुस्तक पढ़ने को मिली। पंडित हज़ारी प्रसाद जी द्विवेदी ने अपने सम्पादकीय में लिखा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य्य क्षितिमोहन सेन महाशय की हिन्दी में प्रथम कृति है; हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आपकी यह प्रथम कृति ही एक दम प्रथम-श्रेणी की (Ist. class) हुई है।

जातिभेद की समस्या पर अंग्रेज़ी और हिन्दी में कई पुस्तकें हैं, लेकिन उनमें से किसी में तो वैज्ञानिक अध्ययन मात्र है, किसी में विद्रोही की केवल बेचैनी। हम भारतवासियों के लिए जाति-भेद का प्रश्न जीवन-मरण का प्रश्न है। इसलिए हम उसे किसी भी हलकी दृष्टि से, हलके हाथों नहीं ले सकते।

आचार्य्य महाशय ने अपने ग्रन्थ में वैदिक युग से लेकर वर्तमान युग तक जातिभेद की अवस्था तथा व्यवस्था वा अव्यवस्था के सम्बन्ध में सब कुछ लिखा है; विशेषता यह है कि सब सप्रमाण है। सामान्यतया यह समझा जाता है कि संस्कृत वाङ्मय में जातिभेद का समर्थन ही समर्थन है; आपके इस ग्रन्थ को पढ़ने से मालूम होता है कि संस्कृत वाङ्मय में जातिभेद विरोधी साहित्य की भी कमी नहीं।

लोग यह भी समझते हैं कि जातिभेद भारत की कोई ख़ास विशेषता नहीं। सभी देशों में किसी न किसी प्रकार के भेद हैं। वैसा ही सामान्य भेद यहां भी है। आपने दिखाया है कि इस प्रकार का जाति भेद भारतवर्ष से बाहर कहीं भी नहीं है। भारतीयों के सिवा और कोई भी इसे अच्छी तरह ठीक ठीक नहीं समझ सकता (पृ० ३)

जातिभेद की प्रथा की ज़िम्मेवारी आमतौर पर आर्य्यों पर डाली जाती है; लेकिन आपने पंजाब आदि आर्याधिक्य प्रान्तों में उसकी कमी और दक्षिण में जातिभेद की उग्रता दिखा कर यह सिद्ध किया है कि यह कदाचित् यहीं के निवासियों के दिमाग़ की उपज है, जिसे आगन्तुक आर्यों को अपनाना पड़ा है। इस ग्रन्थ में जातिभेद सम्बन्धी सभी समस्याओं पर विचार किया गया है; वह ऐतिहासिक क्रम-विकास की दृष्टि से थोड़ा और स्पष्ट होता, तो अनुसंधित्सु पाठक का अधिक कल्याण होता।

वेद-मूलक वाङ्मय से उपलब्ध सामग्री का जितना उपयोग हुआ और वर्तमान अंग्रेज़ी ग्रन्थों से भी जितनी सहायता ली गई; उसके अनुपात में शायद बौद्ध-जैन साहित्य से प्राप्य सामग्री का कुछ और उपयोग हो सकता था। वेद मूलक वाङ्मय का तो शायद ही जातिभेद सम्बन्धी कोई उल्लेख छूटा हो। हर पाठक के लिए कुछ न कुछ नया ज्ञान है।

जिस जातिभेद के फल स्वरूप देश में ऐसी तामसिकता छाई है कि जिसका जन्म जहां हो गया, वह वहीं पड़ा रहने के लिए बाध्य है, उसी जातिभेद पर लिखे गए ग्रन्थ में एक जगह (पृ० ७) प्रो० लक्ष्मी नरसू श्रीमती लक्ष्मी नरसू बन गए हैं। काश कि हमारे समाज में इसकी आधी भी 'जीवन और गति' होती।

जातिभेद के दुष्परिणामों पर जहां जहां विचार प्रकट हुए हैं; वहां वहां हिन्दू जाति के भविष्य की चिन्ता व्यक्त हुई है। ग्रन्थ का अन्तिम वाक्य है,—"हिन्दू समाज नाना भांति के अन्याय के बोझ से आज डूबने जा रहा है।"

हम पुस्तक को मांग कर—ख़रीद कर—पढ़ने की सिफ़ारिश करते हैं। चोरी करके भी पढ़ने को अवश्य कहता यदि उसमें अनौचित्य न होता।

—आनन्द कौसल्यायन

"हुमायूं"

लाहौर से निकलने वाले उर्दू के माहवारी रिसाले "हुमायूं" का अप्रैल का अंक हमारे पास समालोचना के लिए आया है। जो ११ नियम टाइटल के एक तरफ़ छपे हुए हैं, उनमें से एक यह है—

"३—दिल आज़ार तनक़ीदें (दूसरे के दिल को दुखाने वाली आलोचनाएं) और दिल शिकन (दिलों को फाड़ने वाले) मज़हबी मज़ामीन दर्ज नहीं होते।"

हमने इस अंक को शुरू से आख़ीर तक पढ़ा, और हमारी निगाह में हुमायूं अपनी इस कसौटी पर पूरा उतरता है।

लेखकों में हिन्दू और मुसलमान दोनों के नाम मिले जुले हैं।

शुरू में "जहांनुमा" के नाम से हिन्दुस्तान के मुतअल्लिक़ कुछ बड़े काम की संख्याएं दी गई हैं जिनमें चन्द यह हैं—

इस देश की ८९ फ़ी सदी आबादी गाँवों में रहती है। ७० फ़ी सदी आबादी का पेशा खेती है। केवल खेती पेशा आबादी पर इस समय कुल क़र्ज़ा नौ अरब यानी कुल देश की मालगुज़ारी का १५ गुना है। तीन सफ़े की इन संख्याओं में साम्प्रदायिकता या संकीर्णता की कहीं झलक भी नहीं है।

चौथे सफ़े पर "आयुर्वैदिक किताबों के मुताबिक़" और तरह तरह से "गुड़ के फ़ायदे" और "मिलों की" सफ़ेद चमकती हुई चीनी के दोष बताए गए हैं।

"लड़कियों की तालीम" पर एक लेख हर हिन्दुस्तानी ज़बान में तरजुमा होने के क़ाबिल है। इसमें घरों के अन्दर "सच्चाई, ख़लूस (निष्कपटता), रास्ती, नेकी, पाकीज़गी, और ईसार (त्याग)" पर ज़ोर दिया गया है; अंधविश्वासों, संकीर्णता, आरामपसन्दी और ख़ुदग़रज़ी से बचने को कहा गया है; कहा गया है कि—सच्ची तालीम वह है जो हमें सही माइनों में इन्सानियत का सबक़ दे; हमें बेहतर शहरी और क़ौम और मुल्क का एक मुफ़ीद रुक्न (उपयोगी मेम्बर) बनाए।...इस पिछड़े हुए मुल्क में पढ़ी-लिखी लड़कियों का फ़र्ज़ है कि बड़ी होकर मुल्क की पिछड़ी हुई हालत को बेहतर करने का प्रोग्राम बनाएं और चन्द घण्टे रोज़ बीमारों, दुखियों, ग़रीबों और कमज़ोरों की ख़िदमत करना अपने दिन भर के प्रोग्राम में शामिल कर लें। लड़कियों को सलाह दी गई है कि "मुल्क की मुख़्तलिफ़ सियासी पार्टियों" का निशाना न बनकर सारे मुल्क की तरक़्क़ी, फ़लाह (कल्याण) और बहबूद के कामों में हिस्सा लें। अन्त में आज कल की "यूरोपियन रंग में रंगी औरतों" और "पुरानी लकीर की फ़क़ीर" दोनों के गुण-दोषों को दिखाते हुए कहा है—"हमारा फ़र्ज़ है कि हम पुरानी और नई तालीम और तहज़ीब के मिलाप से एक ऐसा लिबास तय्यार करें, जो हिन्दुस्तानी लड़की के लिए मौज़ूं हो। हमें चाहिये कि हम पुराने और नए तमद्दुन (संस्कृति) के ख़ज़ानों से बेहतरीन हीरे-मोती चुनकर एक ऐसा हार तय्यार करें, जो हिन्दुस्तानी लड़की के गले में सजे। हमारा चुनाव ऐसा हो कि तालीमयाफ़्ता हिन्दुस्तानी लड़की दुनिया के सामने ज़िन्दगी का एक हसीन (सुन्दर) और बेहतरीन नमूना पेश करे।"

बिना भेदभाव देश के ग़रीबों और दुखियों के लिए हमदर्दी कई छोटे-बड़े लेखों में भरी हुई है। इस बारे में मुहम्मद अयूब साहब का सात लाइन का एक छोटा सा लेख "हुस्न" (सौन्दर्य) पर बड़ा सुन्दर है—

"मैंने दीवान (किसी कवि की कविताओं का संग्रह) उठाया और पढ़ने लगा।

शायर का क़लम किसी पैकर-ए-जमाल (सौन्दर्य की मूर्ति की तसवीर) खींच रहा था······शायर के तसव्वुर (कल्पना) ने एक बेमिसाल मरक़्क़-ए-हुस्न (सुन्दर चित्र) तय्यार किया।······

नज़्म ख़त्म हो गई। मैंने एक गहरा सांस लिया। नमालूम······मैं इस वक़्त किस दुनिया में था।

दफ़ेतन (अचानक) मेरी निगाहें एक मज़दूर औरत पर जा पड़ीं। फ़ाक़ाज़दा (भूख की मारी), सियहफ़ाम (काली) पिचके हुए गाल, धंसी हुई आंखें।

मुझे यूं महसूस हुआ, जैसे कोई अज़ीमुश्शान इमारत धमाके के साथ ज़मीन पर आ गिरी।"

"ज़बान" पर एक विद्वत्तापूर्ण लेख है, जिसमें अङ्गरेज़ी, फ़ारसी, अरबी, संस्कृत, हिन्दुस्तानी, सब ज़बानों की मौलिक एकता को बड़ी सुन्दरता के साथ दर्शाया गया है।

उर्दू ग़ज़ल के आजकल के रुझानों पर भी एक आलिमाना लेख है। अनेक सुन्दर कविताएं हैं; जिनमें एक "बसन्त" पर भी है। "बरात" पर एक कविता हम भाषा के नमूने की दृष्टि से ज्यों की त्यों 'विश्ववाणी' के पाठकों की नज़र करते हैं—

बरात

गांव किनारे बाजा बाजे,
पीतम देस बसाना होगा।
आये बराती आये साजन,
आंखों में बिठलाना होगा।
दे रहे तन-मन पीत के गाहक,
हाथ उनके बिक जाना होगा।
गांव किनारे.........।

धमक रही है दूर से ढोलक,
सोए भाग जगाना होगा।
चमक रही है मशाल की लौ,
अब तो लगन लगाना होगा।
गांव किनारे.........।

गूंज रही शहनाई क़रना,
मन की प्यास बुझाना होगा।
धुन बन्सी की प्रेम की धुन है,
इसी में घुल-मिल जाना होगा।
गांव किनारे.........।

फूल कहें बद्री के हंस कर,
आंख से आंख मिलाना होगा।
प्रेम की भीनी-भीनी ख़ुशबू,
साजन-घर फैलाना होगा।
गांव किनारे.........।

चहल पहल दुनिया की थोड़ी,
इसमें जी न कुढ़ाना होगा।
साजन का पैग़ाम यही है,
सुख का साथ निभाना होगा।
गांव किनारे बाजा बाजे,
पीतम देस बसाना होगा।

कवि का नाम 'जनाब मक़बूल हुसेन साहब' है।

सय्यद अबुल अला हकीम "नातिक़" लखनवी की कुछ रुबाइयां 'उर्दू ज़बान' पर दी गई हैं, जो "कुल हिन्द उर्दू कान्फ्रेंस" कानपुर, में पढ़ी गई थीं; जिनमें उर्दू को हिन्दू मुसलमान दोनों के मेल, प्रेम और मुश्तरका कोशिशों से बनी हुई बताया गया है और "अरबी और संस्कृत" के लफ़्ज़ों से ज़बान को भरने की दोनों तरफ़ की कोशिशों को बुरा कहा गया है।

सारे अंक में केवल एक लेख है, जिसकी बाबत कहा जा सकता है कि उसमें संकीर्णता की बू है। हज़रत 'तालिब सफ़वी' ने लड़ाई की Air Raid Shelter जैसी ग्यारह चीज़ों के लिये ग्यारह अरबी नाम तजवीज़ किये हैं, और लिखा है—"मैं अमदन् (जान बूझकर) अरबी और फ़ारसी के अलफ़ाज़ इस्तेमाल करता हूं, और उनके इस्तेमाल को उस वक़्त तक ज़रूरी समझता रहूंगा, जब तक बिरादराने वतन संस्कृत के अलफ़ाज़ का इस्तेमाल तर्क नहीं फ़रमाएंगे.....जिन्होंने मुद्दई, मुद्दालेया, वकील वग़ैरह रचे हुए अलफ़ाज़ की जगह अजीब व ग़रीब अलफ़ाज़ इख़्तरा फ़रमाए (गढ़े) हैं।"

निस्सन्देह एक तरफ़ की संकीर्णता दूसरी तरफ़ की संकीर्णता को पैदा करती और बढ़ाती है। हमें दोनों तरफ़ इस मामले को ठण्डे जी से, प्रेम, मेल और एकता को निगाह में रखकर सोचना चाहिये। इसी में देश का भला है।

"मौत" पर सय्यद अली अख़्तर की एक कविता बड़ी ही सुन्दर और विचार पूर्ण है।

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने स्वर्गीय डाक्टर मोहम्मद इक़बाल से अपनी एक मर्मस्पर्शी मुलाक़ात का हाल लिखा है जो पढ़ने के क़ाबिल है।

जिन किताबों की आलोचना की गई है, उनमें जोधपुर के मिर्ज़ा अज़ीम बेग चुग़ताई की एक किताब "आध घण्टे में हिन्दी" भी है। इसकी तारीफ़ की गई है और लिखा है कि इससे आदमी बहुत जल्द हिन्दी लिखना सीख सकते हैं।

हम "हुमायूं" के सम्पादकों और संचालकों को बधाई देते हैं और हिन्दू या मुसलमान, जो लोग उर्दू का एक अच्छा विचारपूर्ण और ऊंचे पाए का रिसाला पढ़ना चाहें, उन्हें बड़ी ख़ुशी के साथ "हुमायूं" के मंगाने और पढ़ने की सलाह देते हैं। क़ीमत सालाना ५।=)—पता—२३, लारन्स रोड, लाहौर।

नई दुनिया—मासिक पत्र, सम्पादक श्री रघुबीर शरण 'दिवाकर'। वार्षिक मूल्य २) एक अङ्क का ≡) मिलने का पता सत्याश्रम, वर्धा, सी० पी०।

पिछले जनवरी मास से सहयोगी का प्रकाशन शुरू हुआ है। पत्र के संस्थापक श्री सत्यभक्त के ही शब्दों में पत्र की नीति है—

> सब धर्मों में सत्य अहिंसा, सभी जातियां एक।
> जग-हित में अपना हित है, सच्चा शास्त्र-विवेक॥
> हंस कर जीवन खेल खेलना; रहे न कोई क्लेश।
> बसे 'नई दुनिया' अब है यह, सत्यभक्त सन्देश॥

नैतिक और आध्यात्मिक आधार पर देश की साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने का महान कार्यक्रम लेकर सहयोगी ने जन्म लिया है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि सहयोगी जिस रास्ते से इस आफ़त का समाधान करना चाहता है, वही एक मात्र समाधान का तरीक़ा है। हम प्रत्येक पढ़े लिखे सज्जन से इसके पढ़ने का अनुरोध करते हैं।

तूफ़ान—(मासिक)—सम्पादक श्री विश्वनाथ पाण्डेय वार्षिक मूल्य २) एक प्रति का ≥), पता—मैनेजर तूफ़ान, ११८ कीटगंज, इलाहाबाद।

हमारे सामने सहयोगी का पहला अङ्क है और पहले अङ्क की सामग्री को देखकर सहयोगी के उज्वल भविष्य का पता चलता है। डाक्टर राम बिलास शर्मा की कविता 'ईद और होली' हमें बेहद पसन्द आई। हमारे देश में सब में बड़ा तूफ़ान इस सम्प्रदाय वाद का है। यदि सहयोगी देश को इस तूफ़ान से बचाने का निरन्तर प्रयत्न करता रहे, तो वह अपना जन्म सार्थक करेगा।

हम सहयोगी के दीर्घ जीवन के इच्छुक हैं।

ग्राम सुधार—(सेण्ट्रल रूरल अपलिफ्ट बोर्ड, इन्दौर, का मासिक मुख पत्र) सम्पादक मुन्तज़िम बहादुर बी० एन० सिंह। वार्षिक मूल्य १), एक प्रति का -),

सहयोगी होलकर स्टेट के ग्राम सुधार के प्रयत्नों का प्रतिबिम्ब है। ग्राम-सुधार से सम्बन्ध रखने वाली विविध हलचलों का इसमें वर्णन रहता है। शिक्षा, समाज सुधार, ग्रामोत्थान से सम्बन्ध रखने वाले छोटे छोटे लेख भी इसमें रहते हैं। हम चाहते हैं सहयोगी जनता का सच्चा मार्ग प्रदर्शक बने।

STUDENT

आल इण्डिया स्टूडेण्ट फ़ेडरेशन का मुख पत्र। सम्पादक—श्री ललिता शङ्कर। वार्षिक मूल्य दो रुपये, एक प्रति के तीन आने। मिलने का पता—मैनेजर स्टूडेण्ट, अन्धेर देव, जबलपुर।

गत दिसम्बर से सहयोगी का प्रकाशन शुरू हुआ है। सहयोगी की निश्चित नीति है—विद्यार्थियों को संगठित करके उनमें राजनैतिक प्राण-प्रतिष्ठा क़ायम करना। देश का नेतृत्व जिन हाथों में है उससे विद्यार्थियों को सन्तोष नहीं, उनमें हौसला है अपना अलग रास्ता बनाने का। मार्ग के संकटों से भी वे अपरिचित हैं और सहयोगी Student है इस आन्दोलन का झण्डाबरदार।

सहयोगी और हमारे राजनैतिक विचारों में मत-भेद हो सकता है। हममें से हर एक किसी न किसी वाद का शिकार है। हम सब भारतीय राजनीति की प्रयोग की हालत से गुज़र रहे हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि ऐसे राष्ट्रीय कार्यक्रम नहीं हैं जिन्हें सब मिलकर अञ्जाम दे सकें। हमारे राष्ट्रीय जीवन का सब में बड़ा घुन सम्प्रदायवाद हमारी जड़ों को खोखला कर रहा है। इसका मुक़ाबला करना हम सब का पहला फ़र्ज़ है। हमें यह देखकर ख़ुशी हुई कि सहयोगी देश की प्रगति में सांस्कृतिक एकता को महत्व देता है। यदि विद्यार्थियों की दुनिया से सहयोगी सम्प्रदायवाद का ज़हर निकालने में समर्थ हो सका, तो वह बहुत बड़ा कर्तव्य पूरा करेगा। बक़ौल डाक्टर के० एम० अशरफ़ के हमारे नवयुवकों की कसौटी यह नहीं है कि वे मार्क्स के पैरोकार हैं, बल्कि यह है कि वे सम्प्रदायवादी नहीं हैं।

हम सहयोगी की सफलता और दीर्घ जीवन के इच्छुक हैं।

जीवन के गान,

लेखक श्री सुमन, प्रकाशक प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, पृष्ठ संख्या १२८,

पुस्तक में 'सुमन' जी की ५० कविताओं का संग्रह है। कविताएं सरस और सामयिक हैं। उनमें ओज और प्रवाह है। श्री सुमन की वर्णन शैली में विश्लेषण भी ख़ूब रहता है। किसान पत्नी के सम्बन्ध में पंक्तियां हैं—

लहंगा समेटे गांठ तक
पहने गिलट के गुड़हरे
खुरपी लिये, खंचिया लिये
अनुराग अञ्चल में भरे

'दुख से ही मुझको प्यार मिला' नामक कविता में कवि लिखता है—

कांटों से छिदवा कर काया
मैं आज सुमन-धन कहलाया
सच पूछो तो शूलों से ही
मुझको सौरभ भण्डार मिला।
दुख से ही मुझको प्यार मिला॥

कवि में आशा का प्रवाह है। वह लिखता है—

यह हार एक विराम है,
जीवन महा संग्राम है,
तिल तिल मिटूंगा पर दया की भीख मैं लूंगा नहीं

किन्तु स्त्रियों को कवि आजकल के अर्थों में अपनी जीवन सहचरी नहीं मानता। वह उन्हें दो सौ वर्ष पुराने रूप में ही देखता है—

जलने दो जौहर की ज्वाला
अब पहनो केसरिया बाना

भारत की स्त्रियां सत्याग्रह संग्राम में हज़ारों की तादाद में जेल गई हैं, उन्हें जौहर की सीख देना बे मौक़े है। इस युग में भी कवि की निगाहों में स्त्री वही दुर्बलता की मूर्त्ति है और शौर्य का सारा ठेका मानों पुरुषों ने ले रखा है जब वह कहता है—

है आज प्रलय का आवाहन
बज बज उठती है रण भेरी
भर भर कर आंखों में पानी
मेरा पथ मत रोको रानी!

निराशावादी कवियों को सम्बोधन करते हुए कवि लिखता है—

कह रहा हूं कवि बदल दो
आज निज नैराश्य भाषा
आज कवि कैसी निराशा!
फिर भी आज लिये बैठे
कुछ अपना अलग सुराही प्याला
चारों ओर जल रही ज्वाला!

वह उनसे अनुनय करता है

नवयुग का निर्माण हो रहा, आओ हाथ बटाओ

पुस्तक की छपाई सफ़ाई बहुत अच्छी है। कविता प्रेमी पाठकों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये।

कारक छाया

लेखक—श्री बागी रियासती, भूमिका लेखक श्री जयनारायन व्यास, प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, पृष्ठ संख्या १२६, मूल्य ।॥)

पुस्तक में देशी रियासतों की मौजूदा स्थिति का अत्यन्त दर्दनाक चित्रण है। एक ओर राजाओं का विलास और ऐय्याशी और दूसरी ओर प्रजा की ग़रीबी और उसके कष्ट का सच्चा ख़ाका इसमें मिलेगा। जैसा कि इसके नाम से विदित है पुस्तक में देशी रियासतों के जेल जीवन का वर्णन है। पढ़ कर रोमांच हो आता है। रियासतों के निस्पृह तपस्वियों को किन भयंकर मुसीबतों का सामना करना पड़ता है, इसकी संक्षिप्त झांकी हमें इस पुस्तक में मिलती है। हम हर एक से इस पुस्तक के पढ़ने की प्रार्थना करेंगे।

अपराध चिकित्सा

लेखक—श्री भगवानदास केला, प्रकाशक व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थ माला, वृन्दावन, मूल्य डेढ़ रुपया, पृष्ठ संख्या ३२०।

इस पुस्तक का विषय आजकल के क़ानूनी जुर्म और उन्हें दूर करने का उपाय है। अङ्गरेज़ी में तो इस सम्बन्ध में बहुत सी पुस्तकें हैं; मगर हमारी समझ से हिन्दी में इस विषय की यह अकेली पुस्तक है। इस पुस्तक में बताया गया है कि अपराध ऐसे रोग हैं, जिनकी सहानुभूति पूर्ण चिकित्सा होनी चाहिये। दण्ड सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों की इसमें आलोचना की गई है। लेखक महाशय ने अपराधों की वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति को बयान करते हुए बतलाया है कि किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के अपराधियों के लिये मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार उसके अनुकूल चिकित्सा होनी चाहिये। प्रत्येक सचेत हिन्दी प्रेमी को इस पुस्तक को अवश्य ध्यान पूर्वक पढ़ना चाहिये।

आत्म परिचय

लेखक श्री वीरेन्द्र कुमार, प्रकाशक श्री मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर, मूल्य २), पृष्ठ संख्या २७८।

प्रस्तुत पुस्तक श्री वीरेन्द्र जी की कहानियों का संग्रह है। इनमें लेखक ने नारी के भिन्न भिन्न रूपों का चित्रण किया है। विविध समस्याएं लेकर उसने नारी के चरित्र की महानता, अङ्कित की है। नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने में लेखक को पूरी सफलता मिली है। वह एक अबोध शिशु की तरह नारी के रूप-सरोवर के पास नहीं, बल्कि उसकी ममता के सागर के पास प्यासा आता है। और वह सजग भाव से अपनी इस विशेषता को अनुभव करता है। श्री वीरेन्द्रजी की कहानियां कहानियों से अधिक कुछ हैं। काग़ज़ के निर्जीव पृष्ठ सजग और सजीव होकर अपनी अन्तर्व्यथा प्रकट करने लगते हैं। श्री वीरेन्द्र जी में चित्रण की अनुपम प्रतिभा है। किन्तु एक चीज़ हमें लगी; दुनिया की उथल पुथल में नारी का जो स्थान है, वह अभी श्री वीरेन्द्रजी स्थिर नहीं कर पाये। हमें इसमें सन्तोष नहीं। हम श्री वीरेन्द्र जी को कोरा कलाकार नहीं, किन्तु सन्देश-वाहक कलाकार के रूप में देखना चाहते हैं। उनकी प्रतिभा राष्ट्र निर्माण के उपयोग में आनी चाहिये।

उन्मुक्त

लेखक श्री सियाराम शरण गुप्त, प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगांव झांसी, पृष्ठ संख्या १६०, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक कविवर सियाराम शरण जी का नया खण्ड काव्य है। यूरोप की क़ौमें एक दूसरे को जङ्गल के हिंसक पशुओं की तरह निगल रही हैं। साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो रहे हैं। बादशाह अपने अपने तख़्त सूने छोड़कर भाग रहे हैं। यूरोप की संस्कृति और सभ्यता के सारे पहलू बारूद के एक ढेर की तरह उड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं। रङ्ग-बिरङ्गे निरंकुश शासन तोपों और बमों की गड़गड़ाहट के बीच दुनिया में छा रहे हैं। सारा संसार एक भयङ्कर डरावने स्वप्न के बीच से गुज़र रहा है। प्रश्न उठता है क्या इससे बचने का कोई उपाय है और इसी का उत्तर यह खण्ड काव्य है—

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी है मङ्गल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर,
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

मानव की आत्मा की पवित्रता में कवि को अखण्ड विश्वास है। इसीलिये वह कहता है—

हिंसक भी है नहीं निरा दानव ही दानव;
सोया है अज्ञान दशा में उसका मानव।

इस अमर सत्य को मानकर कवि कहता है—

कर उसका उन्नयन स्वयं उन्नत होंगे हम,
पग पग पर हैं कठिन कष्ट, संकट भीषण तम,—

तो क्या होकर ग्रस्त ग्रहण करलें हम जड़ता ?

कवि दुनिया के वैर-भाव में संशोधन करके कहता है—

यह संजीवन सत्य-अहिंसा में उत्कर्षित

हिंसात्मक विरोधियों में कवि कोई अन्तर नहीं देखता। वह कहता है—

प्रति हिंसा में छिपा हुआ निज का अभिमानी
कोई हिंसक क्रूर स्वयं हममें बैठा था;
जो वैरी में, वही हमारे में पैठा था।

पुस्तक इस समय की मानव-समस्या का सुन्दरतम हल पेश करती है। हमें पुस्तक का अधिक से अधिक प्रचार देखकर सन्तोष होगा।

ज्योति

(कविता संग्रह) लेखक—श्री अम्बिकेश, प्रकाशक शारदा प्रेस, प्रयाग, मूल्य १।।), पृष्ठ संख्या २११।

पुस्तक में कवि की ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों तरह की कविताओं का संग्रह है। कवि को दोनों पर समान अधिकार है। प्राचीन काव्य विषयों को लेखक ने नई रोशनी में ढालने का प्रयत्न किया है और आधुनिक विषयों की भी अपनी रचनाएं दी हैं।

हिन्दी पत्रिका

तामिल नाडू हिन्दी प्रचार सभा का मासिक मुख पत्र, सम्पादक श्री रघुबर दयालु मिश्र, त्रिचनापली।

प्रस्तुत अङ्क पत्रिका का सम्मेलनाङ्क है। तामिल नाडू में हिन्दी की प्रगति का इससे ख़ासा पता चलता है। श्री मूल जी रामजी स्वागताध्यक्ष, माननीय डाक्टर ए० आर० मेनन अध्यक्ष, त्रिची ज़िला हिन्दी सम्मेलन के सभापति पण्डित बृजनन्दन शर्मा, हिन्दुस्तानी अध्यापक सम्मेलन के अध्यक्ष श्री ना० नागप्पा जी, प्रचार सम्मेलन के प्रस्ताव और जनरल बाडी की कार्यवाही इस अङ्क में दर्ज है। ये सब की सब चीज़ें पढ़ने लायक़ हैं। अनेक चित्रों से इस अङ्क की उपयोगिता और बढ़ गई है। हिन्दी प्रचार में दिलचस्पी रखने वाले हर सज्जन को इसे पढ़ना चाहिये।

हिन्दी पत्रों के सम्पादक

लेखक—श्री बी० एस० ठाकुर और श्री सुशील कुमार पाण्डेय, प्रकाशक स्वतन्त्र प्रकाशन मण्डल, लखनऊ, मूल्य ।।।) पृष्ठ ९६।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी सम्पादकों का कच्चा चिट्ठा है। बल्कि यूं कहना चाहिये कि सम्पादकों की ओर से जो कटु से कटु व्यवहार लेखकों पर होते हैं, उनका विस्तृत वर्णन है। पुस्तक चूंकि व्यक्तिगत अनुभव से लिखी गई है, इसलिये बहुतों को उसमें मतभेद हो सकता है। लेखकों के राजनैतिक विचारों से पुस्तक की उपयोगिता कम हो गई है। उनकी नज़रों में गान्धीवाद कोढ़ है और जो भी सम्पादक गान्धीवाद का हामी है वह गन्दा है। इस दृष्टि कोण से तो लेखकों की समस्या नहीं सुलझेगी। लेखकों और सम्पादकों के सम्बन्ध पर अखिल भारतीय पत्रकार संघ को ध्यान देना चाहिये।

प्राप्ति स्वीकार

१—अर्थ शास्त्र के सिद्धान्त; श्री भगवानदास अवस्थी।

२—रतलाम, श्री द्वारकानाथ काचरू।

३—झाबुआ ट्रेजेडी, श्री द्वारकानाथ काचरू।

४—मुसलिम त्योहारों का इतिहास, सैयद क़ासिम अली।

सब धर्म मज़हबों की एकता

पहली जून सन् १९५१ को बारसी [शोलापुर] में सार्वदेशिक सत्य-समाज की ओर से पण्डित सुन्दरलाल जी की सदारत में एक सर्वधर्म सम्मेलन हुआ जिसमें सब मज़हबों के विद्वानों ने अपने अपने मज़हबों पर तक़रीरें कीं। सभापति के भाषण से कुछ अंश हम यहां दे रहे हैं।

धर्म का अर्थ

धर्म, मज़हब, रिलिजन, पन्थ, मार्ग, वग़ैरह सब के क़रीब क़रीब एक ही माइने हैं। धर्म 'धृ' धातु से है, जिसके माइने 'धारण करना' या संभालना है। जिस चीज़ से दुनिया संभली रहे, उसी का नाम 'धर्म' है। मज़हब, पन्थ और मार्ग तीनों के माइने 'रास्ता' है। इस दुनिया में आदमी को जिस रास्ते पर चलना चाहिये, जो उसकी भलाई और तरक्क़ी का रास्ता है, उसी का नाम मज़हब है। 'रिलिजन' जिस धातु से है उसके माइने 'बांधना' है, जो चीज़ मनुष्य जाति को बांधे रखती है, उन्हें टुकड़े टुकड़े होने से बचाती है, वही उसका 'रिलिजन' है।

× × ×

धर्म की प्रधानता

मनुष्य जाति के पिछले दस हज़ार साल के इतिहास को देखते हुए, और आज तक 'धर्म' का जितना दुरुपयोग हुआ है और धर्म के नाम पर दुनिया में जितने अनाचार और अत्याचार हुए हैं, उन सबको नज़र में रखते हुए भी, इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि इन हज़ारों साल के अन्दर तमाम पृथ्वी के करोड़ों और अरबों इन्सानों के दिलों को शान्ति या तसकीन देने, उन्हें इस ज़िन्दगी के सुख-दुःखों, कठिनाइयों और मुसीबतों में संभाले रखने, उन्हें किसी न किसी तरह के सदाचार के रास्ते पर क़ायम रखने, उन्हें मिलाकर रखने, और अंधेरे और नैराश्य के होते हुए उनके दिलों में आशा की एक किरन को जगाये रखने में किसी चीज़ ने इतना ज़बर्दस्त हिस्सा नहीं लिया, जितना धर्म ने। जब जब आदमी ने अपनी इस दुनयवी ज़िन्दगी के क्षणिक सुख भोगों को धार्मिक लक्ष्य से या धार्मिक नियमों से ज़्यादह महत्त्व दिया, जब जब आर्थिक और राजनैतिक उद्देश्यों को धर्म से ऊपर स्थान दिया गया, जैसा इस समय यूरोप में हो रहा है, तब तब यह पृथ्वी एक नरक होती हुई दिखाई दी है। दुरुपयोग हर चीज़ का हो सकता है, होता रहा है और आइन्दा भी होगा। आत्मा और शरीर, यह लोक और परलोक, धर्म, अर्थ और राजनीति इन सब में एक समतोल क़ायम रखने की भी ज़रूरत है। दुनिया की ज़्यादहतर मुसीबतें इस समतोल के बिगड़ने से ही पैदा होती हैं। लेकिन फिर भी आत्मा प्रधान और शरीर गौण है। शरीर आत्मा के लिए है, आत्मा शरीर के लिए नहीं। इस दुनिया की चन्दरोज़ा ज़िन्दगी के साथ साथ मनुष्य की ज़िन्दगी का ख़ात्मा नहीं हो जाता। दुनिया के सुख भोग ही मनुष्य-जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। दुनिया का भला, उसका कल्याण इसी में है कि अर्थ और राजनीति दोनों धर्म और सदाचार के नियमों के अधीन होकर रहें।

× × ×

धर्म का आविर्भाव

ज़ाहिर है कि आदमी को सब से बड़ी ज़रूरत उस समय यह थी कि उसे बताया जावे कि

ईश्वर एक है, वही सबका पैदा करने वाला और सब क़ौमों, सब मनुष्यों, सब प्राणियों और सारे विश्व का मालिक है, वह सबके घट घट में मौजूद है। मनुष्य मात्र भाई भाई हैं। यह सारी वसुधा एक छोटा सा कुटुम्ब है। हम सब को भाई भाई की तरह ही एक दूसरे के साथ व्यवहार करना चाहिये। सब के भले में अपना भला समझना चाहिये। सच बोलना, किसी की हिंसा न करना, किसी का दिल न दुखाना, चोरी न करना—जैसे असूलों पर अमल करने में ही सब का भला है। इसलिये सदाचार के ये असूल ही व्यक्ति और समाज दोनों की बहबूदी और तरक़्क़ी के बुनियादी असूल हैं। वग़ैरह। जिन ऐतिहासिक धर्मों का ऊपर ज़िक्र किया गया है, उन सब ने शुरू से आख़ीर तक मनुष्य को ठीक यही उपदेश देने की कोशिश की है।

धर्मों की एकता

अगर हम ऋग्वेद, ज़ेन्द अवस्ता, त्रिपिटक, इंजील, जैन सूत्र और क़ुरान को बराबर बराबर रख कर ध्यान से पढ़ें, तो हमें इन सब धर्म-ग्रन्थों में आश्चर्य जनक समानता दिखाई देगी। ऋग्वेद के वाक्य के वाक्य और ऋचाएं की ऋचाएं ज्यूं की त्यूं ज़ेन्द अवस्ता में पाई जाती हैं। केवल इतना ही नहीं वेद, स्मृति, अवस्ता, बौद्ध और जैन ग्रन्थ इंजील के नए और पुराने अहदनामे और क़ुरान इन सब में न केवल भाव और विचार ही, बल्कि वाक्य के वाक्य इस तरह मिलते चले जाते हैं कि साफ़ मालूम होने लगता है कि या तो इन सब धर्म-ग्रन्थों ने एक दूसरे से लिया है और या कम से कम इन सब का एक ही सोता या सरचश्मा है।

मनु के धर्म के "दस लक्षणों" और हज़ारों मील दूर के हज़रत मूसा की मशहूर दस आज्ञाओं (टेन कमाण्डमेण्ट्स) में गहरी समानता है। मनु ने इन दस के पांच करके मनुष्य मात्र का यह "सामाजिक धर्म" बताया है—

(१) किसी की हिंसा न करना, (२) सच बोलना, (३) चोरी न करना, (४) साफ़ रहना और (५) अपनी इन्द्रियों को वश में रखना। मूसा ने इंजील में अपने दस में से ये पांच चुन कर रख दिये हैं—(१) किसी की जान न लेना, (२) झूठी गवाही न देना, (३) चोरी न करना, (४) अपने पड़ौसी की किसी चीज़ की इच्छा न करना और (५) व्यभिचार न करना।

बुद्ध ने जिन पांच "नेक कामों" पर ज़ोर दिया है वे ये हैं—(१) किसी के प्राण न लेना, (२) झूठी बात न कहना, (३) धोखे से या ज़बरदस्ती से किसी की चीज़ न लेना, (४) शराब वग़ैरह कोई नशे की चीज़ इस्तेमाल न करना और (५) व्यभिचार न करना।

जैन सूत्रों में लिखा है—

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, दुनिया के किसी माल को भी अपना बनाकर बैठ जाना—इन पांचों पापों से बचना यही सच्चा व्रत है।

बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए "दस शीलों" की आज्ञा दी है। पातंजलि ने अपने योग सूत्रों में इन्हीं में से पांच को 'यम' और पांच को 'नियम' बना दिया है।

ठीक यही चीज़ें, इसी तरह आपको महात्मा ज़रथुस्त्र के उपदेशों, हज़रत ईसा के उपदेशों और क़ुरान मजीद में मिलेंगी। देखने की बात यह है कि पहली तीन चीज़ें—किसी की जान न लेना, झूठ न बोलना और चोरी न करना—इन सब में इसी तरह सबसे शुरू में और इसी तरतीब में मिलती हैं।

जिन सात बड़े बड़े धर्मों का ऊपर ज़िक्र किया गया है, उनमें हिन्दू धर्म सबसे पुराना और इसलाम सब से हाल का है। इस देश में इन दोनों के मानने वालों की तादाद ही सब से ज़्यादा है। इसलिये अब मैं इन दोनों ही की तुलना पर कुछ वक़्त लेना चाहता हूं।

उपनिषद् का "एक मेवाद्वितीयम्" क़ुरान के "ला इलाह इल्लाह" का लफ़्ज़ी तरजुमा है। "अनल हक़" के ठीक वही माइने हैं, जो "अहम्ब्रह्म" के। गीता में बार बार आया है "ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति", अर्थात् ईश्वर सबके दिल में रहता है। इसलाम कहता है—"क़लबुल इन्सान बैतुर्रहमान" यानी आदमी का दिल रहमान के रहने की जगह है। उपनिषद् कहता है—"एको देवः सर्व मेतषु गूढ़ः साक्षीचेता सर्व भूताधिवासः" इत्यादि।

...क़ुरान में ईश्वर के नामों में सब से ज़्यादह "इलाह" या "अल्लाह" नाम आया है। ऋग्वेद में ईश्वर के अनेक नामों में से एक नाम "इला" भी है। ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त का सूक्त है, जो "इला" ही के नाम से है और जिसमें शुरू से आख़ीर तक सिवाय 'इला' के ईश्वर का दूसरा नाम नहीं आया। 'इला' शब्द संस्कृत 'इल' धातु से बना है जिसके माइने स्तुति करना या उपासना करना है। 'इला' वह जिसकी स्तुति या उपासना की जाय। इबरानी और अरबी दोनों ज़बानों में ईश्वर का ज़्यादहतर यही नाम आता है। इसी को यहूदी इस्तेमाल करते थे। यही नाम अन्त समय सूली पर चढ़ते वक़्त हज़रत ईसा के मुंह से निकला था।

इसी तरह की सैकड़ों मिसालें इन सब धर्म-ग्रन्थों से दी जा सकती हैं। ख़ासकर गीता और क़ुरान इन दोनों को आमने सामने रखकर पढ़ने वाले को क़दम क़दम पर इस तरह की सैकड़ों समानताएं दिखाई देंगी। ज़रूरत केवल पढ़ने वाले में प्रेम और निष्पक्षता की है। वास्तव में दुनिया के ये सब धर्म-ग्रन्थ एक ही आवाज़ की गूंज हैं और सब एक ही सोते से निकले हैं।

निस्सन्देह इन सब धर्मों में फ़रक़ भी है, लेकिन फ़रक़ इनके मूल सिद्धान्तों या सदाचार के असूलों में नहीं है, फ़रक़ है सिर्फ़ इनके ऊपरी कर्मकाण्डों, पूजा के तरीक़ों, रूढ़ियों और रस्मरिवाजों में। इन सब धर्मों के क़ायम करने वाले और दूसरे महापुरुष भी जैसे वैदिक ऋषी, राम, कृष्ण, ज़रथुस्त्र, इब्राहीम, मूसा, बुद्ध, महावीर, ईसा और मोहम्मद, जिनमें से हरेक तमाम दुनिया के लिए रहमत, और बिला देश, क़ौम या सम्प्रदाय के भेद के, तमाम मनुष्य जाति के एक समान वगौती एक समान गर्व की चीज़ और सब के लिए एक समान पूज्य हैं सब एक सिरे से साफ़ लफ़्ज़ों में और चिल्ला चिल्ला कर कहते चले आए हैं कि हम कोई नया मज़हब क़ायम नहीं कर रहे हैं, हम सिर्फ़ उसी को दोहराने या ताज़ा करने के लिए आए हैं, जो दुनिया के शुरू से हमसे पहले के अवतार, पैग़म्बर तीर्थंकर या महापुरुष कहते आए हैं, यह बात दुनिया की तमाम धर्म पुस्तकों में बार बार कही गई है।

गीता कहती है कि जब दुनिया में धर्म मिटने लगता है और अधर्म बढ़ने लगता है तब तब वे महान आत्माएं जन्म लेती हैं, जो फिर से उसी धर्म को क़ायम करती हैं जो सृष्टि के शुरू से चला आता है और जिसे बार बार दोहराना पड़ता है।

क़ुरान में बार बार ही इस तरह की आयतें आती हैं और शुरू से आख़ीर तक भरी पड़ी हैं—'तुम (मोहम्मद) कोई अनोखे रसूल नहीं हो"- "दुनिया में कोई क़ौम ऐसी नहीं है, जिसमें रसूल नहीं भेजा गया"—"कोई गिरोह ऐसा नहीं है, जिसमें धर्म का मार्ग दिखाने वाला नहीं आया"—"कोई ज़माना ऐसा नहीं हुआ जिसमें उस ज़माने के लिए कोई न कोई धर्म की किताब नहीं रही"—"जितने रसूल जब भी भेजे गए, सब उसी क़ौम की ज़बान में हिदायत देने के लिए भेजे गए ताकि उन्हें अच्छी तरह समझा सकें"—"क़ुरान इसी लिए अरबी में है ताकि ये लोग (यानी अरब) अच्छी तरह समझ सकें"—"दुनिया के इन सब धर्म-ग्रन्थों की मां (उम्मुल किताब) अल्ला ही के पास है"—"इस क़ुरान में कोई चीज़ ऐसी नहीं कही गई, जो इससे पहले के रसूलों ने नहीं कही।"—"क़ुरान कोई नया मज़हब नहीं बताता, सिर्फ़ पिछले मज़हबों की तसदीक़ करता है।" वग़ैरह-वग़ैरह। इससे बढ़कर क़ुरान ने अपने से पहले के धर्म-ग्रन्थों के लिए भी 'क़ुरान' नाम इस्ते-

माल किया है, जिसके माइने "आवाज़" या "पुकार" है, और उन सब के धर्मों को "इसलाम" का नाम दिया है।

यह बात कि दुनिया के सब धर्म सच्चे हैं, सब शुरू से एक ही सत्य का प्रचार करते आए हैं, असली "धर्म" तमाम इन्सानों के लिए है और ग़लती सिर्फ़ अलग-अलग धर्मों के मानने वालों के अपने-अपने धर्म को ठीक न समझने और उन पर ठीक-ठीक अमल न करने में है—दुनिया की किसी किताब में इतने साफ़-साफ़ और बार-बार नहीं कही गई, जितनी क़ुरान में। धर्म के नाम पर अलग-अलग गिरोहबन्दी को भी किसी किताब ने इतना साफ़-साफ़ बुरा नहीं कहा, जितना क़ुरान ने। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने अपनी मशहूर उर्दू किताब "तरजुमानुल क़ुरान" में, जिसका एक छोटा सा हिस्सा हिन्दी में "क़ुरान और धार्मिक मतभेद" के नाम से छापा हो चुका है, बड़ी सुन्दरता से दिखाया है कि क़ुरान किसी दूसरे मज़हब वाले से अपना मज़हब छोड़ने के लिए नहीं कहता, बल्कि उनसे सिर्फ़ यह कहता है कि तुम अपने मज़हब को ही ठीक-ठीक समझो और उस पर ठीक-ठीक अमल करो, तो तुम्हारा ऐसा करना ही मुझे मान लेना होगा।

क़ुरान रूढ़ियों यानी पूजा के तरीक़ों के छोटे मोटे फ़रक़ का भी ज़िक्र करता है। लेकिन उन्हें साफ़ गौण मानता है। मोहम्मद साहब जब मदीने मे थे, तो पहले बहुत दिनों तक उत्तर की तरफ़ यानी यहूदियों और ईसाइयों के पाक स्थान जेरूसलम की तरफ़ मुंह करके नमाज़ पढ़ाया करते थे। बाद में उन्होंने दक्खिन की तरफ़ यानी अरब के सबसे पुराने मन्दिर काबे की तरफ़ मुंह करके नमाज़ पढ़ाना शुरू कर दिया। कुछ लोगों ने इसकी वजह पूछी। क़ुरान में इसके जवाब में आयत उतरी—

"पूरब और पच्छिम सब अल्लाह के हैं, इसलिए जिधर भी तुम रुख़ करोगे, उधर ही अल्लाह का मुंह है, निस्सन्देह अल्लाह बड़ा दानी और सब कुछ जानने वाला है।" (२-११५) "मूर्ख लोग कहेंगे कि इन्हों ने अपना क़िबला क्यों बदल दिया? कह दो पूरब और पच्छिम सब अल्लाह के हैं।" (२, १४२)।

क़ुरान सब धर्म वालों के लिए मोक्ष मानता है, बशर्ते कि वे एक ईश्वर को मानते हों और नेक काम करें। अपने ज़माने के कुछ यहूदियों और ईसाइयों के भ्रम का ज़िक्र करते हुए क़ुरान कहता है—

"यहूदी कहते हैं कि सिवाय यहूदी के कोई जन्नत में नहीं जा सकता, ईसाई कहते हैं कि सिवाय ईसाई के कोई जन्नत में नहीं जा सकता। ये उनकी फ़ज़ूल बातें हैं। उनसे कहो कि अगर तुम सच्चे हो, तो (अपने धर्म-ग्रन्थों से लाकर) प्रमाण दो। नहीं! जो कोई भी अल्लाह के सामने सर झुकाता है और दूसरों के साथ नेकी करता है, उसे अल्लाह से इनाम मिलेगा, उसे न किसी तरह का डर है और न उसे कोई रंज होगा।" (२-१११-११२)

"निस्सन्देह चाहे कोई मुसलमान हो, चाहे यहूदी, चाहे ईसाई, चाहे साबी, जो कोई भी अल्लाह में यक़ीन रखता है और क़यामत के दिन (यानी कर्म के फल) में और नेक काम करता है, वह अल्लाह से इनाम पायगा। उसके लिए न कोई डर है और न कोई रंज (२-६२)।

"हर गिरोह के लिए अल्लाह ने अलग-अलग 'शरअ और मिनहाज', यानी अलग-अलग विधि विधान या पूजा के तरीक़े, मुक़र्रिर कर दिये हैं। अल्लाह चाहता, तो सब को एक ही सम्प्रदाय बना देता, लेकिन वह तुम्हें तुम्हारे ही तरीक़े में परखना चाहता है, इसलिए नेक काम करने में एक दूसरे से बढ़ने की कोशिश करो। तुम सब को अल्लाह ही के पास लौट कर आना है," (५-४८)।

एक जगह दुनिया के सब अगले पिछले रसूलों या धर्म संस्थापकों को मुख़ातिब करके कहा गया है—

ऐ रसूलो! पाक और जायज़ चीज़ों को खाओ और नेक काम करो। ईश्वर सब जानता है कि तुम क्या करते हो सच मुच तुम्हारी ये सब सम्प्रदायें मिलकर एक ही सम्प्रदाय हैं। तुम सब का एक ही रब्ब (ईश्वर) है। इसलिए परहेज़गारी से रहो।

लोगों ने अपने धर्म को काट काट कर टुकड़े टुकड़े कर लिए हैं! हर गिरोह अपनी छोटी सी पूंजी में खुश है...यह बहुत बड़ी अज्ञानता है।" (२३, ५१-५८)

एक जगह इसलाम धर्म का पूरा सार बताते हुए कहा गया है—

"धर्म इसमें नहीं है कि तुमने पूजा करते समय अपना मुंह पूरब को कर लिया या पच्छिम को कर लिया। धर्म यह है कि आदमी को अल्लाह में, कर्मों के फल में, फ़रिश्तों (यानी नेक प्रवृत्तियों) में, सब रसूलों और सब धर्म पुस्तकों में विश्वास हो, और आदमी अल्लाह के नाम पर अपने धन में से, अपने सम्बन्धियों को, अनाथों को, ज़रूरत मन्दों को, परदेसियों को, और मांगने वाले को दे, और पराधीनों को आज़ाद कराने में अपना धन ख़र्च करे, ईश्वर से दुआ करता रहे, और ग़रीबों के लिए ज़कात यानी दान देता रहे, जिससे वादा करे अपने वादे को सचाई से पूरा करे, मुसीबतों, कठिनाइयों और आपत्तियों में सब्र से काम ले, जो ऐसा करते हैं, वे ही लोग सच्चे हैं और वे ही धर्मात्मा हैं" (२-१७७)।

क़ुरान हर मुसलमान के लिए सब रसूलों और सब धर्म-पुस्तकों में विश्वास करना ज़रूरी बताता है, रसूलों में छोटे बड़े के फ़रक करने को भी बुरा कहता है और जो लोग इस तरह का फ़रक़ करते हैं, उन्हें (काफ़ूरून हक्का) "सचमुच काफ़िर" कहकर बयान करता है।

इस तरह के मुसलमान इस समय भी मौजूद हैं जो अब कभी राम, कृष्ण या बुद्ध का ज़िक्र करते हैं तो "हज़रत राम अलैहस्सलाम" "हज़रत कृष्ण अलैहस्सलाम," और "हज़रत बुद्ध अलैहस्सलाम" कह कर। उसी मामूली सदाचार के असूलों पर, जैसे किसी की जान न लेना, सच बोलना, ईमानदारी की ज़िन्दगी बसर करना, वग़ैरह पर क़ुरान में उसी तरह बार बार ज़ोर दिया गया है, जिस तरह दूसरे धर्म-ग्रन्थों में।

गीता की तरह क़ुरान भी आत्मरक्षा में हथियार उठाने की इजाज़त देता है, लेकिन केवल दूसरे के हमले के जवाब में और वह भी बड़ी कड़ी शर्तों के साथ और साफ़ साफ़ यह कह कर कि यदि आदमी सहन कर ले, दूसरे को माफ़ कर दे और बुराई का बदला भलाई से दे सके, तो उसके लिए ज़्यादह अच्छा है।" क़ुरान में बार बार ही इस तरह के वाक्य भी आते हैं "वल्ला हो यु हिब्बुस्स्वा बेरीन"—"इन-ल्ला हो युहिब्बुल मोहसनीन"—अल्लाह उन्हें प्यार करता है, जो सब्र करते हैं," "निस्सन्देह अल्लाह उन्हें प्यार करता है, जो दूसरों पर अहसान करते हैं।

मैंने क़ुरान से कुछ ज़्यादह हवाले देने की हिम्मत इसलिए की, क्योंकि इसलाम सब से हाल का 'धर्म' है और शायद इसलाम के बारे में ही दुनिया में और इस देश में सब से ज़्यादह ग़लतफ़हमियां हैं।

विधि विधान का फ़र्क़

वास्तव में सब धर्म एक हैं। विधि विधान में जिसे क़ुरान में "शरअ और मिनहाज" कहा गया है, जो फ़रक़ है वह भी एक गौण फ़रक़ है और केवल इसलिए कि अलग अलग देशों और अलग अलग ज़मानों की हालत के मुताबिक़ इन चीज़ों में फ़रक़ होना क़ुदरती है। गंगा के किनारे रहने वाला आदमी दिन में जितने बार चाहे नहा सकता है, किन्तु अरब के रहने वाले को पानी न मिलने की सूरत में 'तयम्मुम" यानी सूखी मिट्टी से अपने तईं पाक करके नमाज़ पढ़ने की इजाज़त होनी चाहिये। हर देश के पुराने रिवाज और वहां की परम्पराओं का भी लोगों पर असर रहता ही है और हर महापुरुष को इसका ख़याल रखना पड़ता है। इसके अलावा हर देश और हर ज़माने के लोग सत्य को, या पूर्ण सत्य को एक ही वक़्त में समझने और अपनाने के क़ाबिल भी नहीं होते। एक ऊंचे चौतरफ़ा पहाड़ की तरह सचाई के भी अनेक पहलू हैं। और एक बार में एक तरफ़ से खड़े होकर हम उसका केवल एक पहलू ही देख सकते हैं। लेकिन इन सब फ़रक़ों के होते हुए भी दुनिया के सब बड़े बड़े धर्मों का अध्ययन और उनकी तुलना करने वाला ज़ोरों के

साथ यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि एक ही महान ज्योति है, जो इन सब तरह के रंग-बिरंगे शीशों के अन्दर से चमक रही है और उन सब को चमका रही है।

विधि विधान की गौणता

धर्म या मज़हब के पवित्र नाम पर झगड़ों का कारण केवल यह है कि अलग अलग मज़हबों के मानने वाले मज़हब की असलीयत को भूलकर अपने अपने विधि विधान, अपने अपने शरअ और मिनहाज को ही असली धर्म समझने लगते हैं। चरित्र और आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले मज़हब के असूलों को पालने के बजाय, वे अपनी अपनी रूढ़ियों के पालने को महत्व देते हैं। वे आत्मा को शरीर और शरीर को आत्मा समझ बैठते हैं। किन्तु आत्मा एक है और शरीर अलग अलग। इसका क़ुदरती नतीजा धार्मिक जीवन का ह्रास और आपस के लड़ाई झगड़ों और भेदों का बढ़ना है। जो चीज़ मनुष्य मनुष्य को मिलाने वाली होनी चाहिये थी, वह उलटा फूट, अशान्ति और वैमनस्य का कारण बन जाती है।

यही कारण है कि सब धर्मों के महापुरुषों ने रूढ़ियों के गौण होने और विश्वास, हृदय की शुद्धता, प्रेम, सचाई, ईमानदारी और परसेवा के मुख्य चीज़ होने पर ज़ोर दिया है। इन्हीं रूढ़ियों और कर्मकाण्डों के भेदों के सम्बन्ध में गीता ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते
तांस्तथैव भजाम्यहं,
मम वर्त्मानुवर्तन्ते
मनुष्याः पार्थ सर्वशः

अर्थात् जो जिस विधि विधान के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, ईश्वर उसे उसी रास्ते से मिलते हैं, चारों तरफ़ से अलग अलग रास्तों से चलकर भी सब लोग एक ही ईश्वर तक पहुंचते हैं।

गीता ने और भी ज़्यादह साफ़ साफ़ कहा है कि—

यज्ञ, दान, उग्र से उग्र तप, जप, पूजा, पाठ और वेदों में बताए हुए तमाम कर्मकाण्ड को पालन करके भी आदमी ईश्वर के दर्शन नहीं कर सकता। ईश्वर के दर्शन वही कर सकता है, जिसने अपने आपको जीत लिया है, जो दुई और ग़ैरियत यानी अपने-पराये से ऊपर उठ गया हो, जो (चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्) सब का भला चाहते हुए, और (सर्वभूत-हितेरतः) सब की भलाई के कामों में लगे हुए, (आत्मवत सर्वभूतेषु), सब को अपनी तरह 'सबके अन्दर अपने को' और 'अपने अन्दर सब को', 'सब के अन्दर एक ईश्वर को' और 'एक ईश्वर के अन्दर सबको' देखने की कोशिश करता है। यही विचार तरह तरह के शब्दों में और गीता के हर अध्याय में बार बार दोहराया गया है। रूढ़ियों के पालन को गीता में इधर से उधर तक कहीं भी आवश्यक नहीं बताया गया। केवल इतना ही नहीं श्री कृष्ण ने अर्जुन से साफ़ कहा है कि- "श्रुति विप्रति पन्नातेमतिः" वेदों के कर्मकाण्ड और रूढ़ियों ने तेरी अक़ल पर परदा डाल दिया है, जब तक यह परदा नहीं हटेगा, तू अपने सच्चे कर्त्तव्य को नहीं समझ सकता। गीता के सारे उपदेशों में कोई चीज़ इतनी ज़्यादह साफ़ नहीं चमकती जितना गीता का सर्व धर्म समन्वय सर्व धर्म समभाव और एक मानव धर्म, एक मज़हबे इन्सानियत में विश्वास।

महाभारत में जाजलि ने ऋषि से पूछा धर्म क्या है। उत्तर मिला—

जिससे दुनिया के लोग सम्भले रहें, यानी उनमें ऐक्य और प्रेम बना रहे, जिससे किसी को दुःख न हो, जिससे सब का भला हो, वही धर्म है। और जो आदमी सदा सबका भला चाहता है, और मन बचन और कर्म से सदा सब का भला करने में लगा रहता है, हे जाजले! वही धर्म का जानने वाला है। × × ×

एक दूसरा शास्त्रकार रूढ़ियों और धर्मलिंगों की तरफ़ इशारा करते हुए कहता है—

गवामनेकवर्णानाम
क्षीरस्यास्ति एक वर्णता
क्षीरं पश्यते ज्ञानिः
लिङ्गिनास्तु गवाम्यथा

गायें अनेक रंगों की होती हैं, लेकिन दूध सबका एक रंग का यानी सफ़ेद होता है। समझदार आदमी दूध ही को देखता है, और जो रूढ़ियों में फँसे हुए हैं, वे गायों के रंग को देखते हैं।

निस्सन्देह यही सच्चा सर्व धर्म समभाव है।

रूढ़ियों का विरोध

रूढ़ियों के इस नाशकर जाल से मनुष्यों को बचाने के लिये, धर्म के असली उद्देश्य का साक्षात् करने के लिए और इस पृथ्वी के मनुष्यों को एक प्रेम सूत्र में बांधने के लिए ही बुद्ध जैसे कई महापुरुषों ने आत्मा को मानते हुए, सदाचार पर सारा ज़ोर देते हुए, ईश्वर कर्त्ता है या नहीं और है तो कैसे, इस तरह के विषयों पर बात करने तक से इन्कार किया और आत्मसंयम और आत्मशुद्धि के मुक़ाबले में किसी तरह की भी बहिरंग ईश्वर पूजा को अनावश्यक बताया। बहिरंग शब्द मैंने जान बूझकर इस्तेमाल किया है। क्योंकि जो परब्रह्म हर एक के अन्दर मौजूद है, उसकी सबसे बढ़कर पूजा ही अपने घट के अन्दर उसके सिंहासन को साफ़ रखना है।

इसी भ्रम से दुनिया को बचाने के लिए एक मुसलमान सूफ़ी ने कहा है—

तरीक़त बजुज़ ख़िदमते ख़ल्क़ नेस्त
बतसबीहो सज्जाद ओ दल्क़ नेस्त

यानी ईश्वर को पाने का तरीक़ा सिवाय दुनियां की सेवा करने के दूसरा कोई नहीं, अल्लाह अल्लाह जपने की माला, या वह कपड़ा जिस पर बैठकर नमाज़ पढ़ते हैं, या मज़हबी लोगों की गुदड़ी, इनमें से किसी में धर्म नहीं है।

एक दूसरे का कथन है—

दिल बदस्तावर कि हज्जे अकबरस्त
अज़ हज़ारां काबा यक दिल बेहतरस्त

यानी दूसरों के दिल को अपने हाथ में ले। यही सबसे बड़ी हज है। एक दिल हज़ारों काबों से बढ़कर है।

एक और सूफ़ी ने कहा है—

गर हमीं दानी के दर हर दिल ख़ुदास्त
पस्तुरा ताज़ीमे हर दिल मुद आस्त

यानी जब तू जानता है कि हर दिल के अन्दर ख़ुदा बैठा हुआ है, तो हर दिल की इज़्ज़त करना तेरा फ़र्ज़ है। एक और—

दिला तवाफ़े दिलां कुन के काबए मख़फ़ीस्त
के आं ख़लील बिना कर्दोई ख़ुदा ख़ुदसाख़्त

यानी ऐ मेरे दिल, काबे की परिक्रमा करने की जगह लोगों के दिलों की परिक्रमा कर क्योंकि वह पत्थर का काबा तो हज़रत इब्राहीम का बनाया हुआ है और इन दिलों के अन्दर जो काबा छिपा हुआ है वह ख़ुद ख़ुदा का बनाया हुआ है। × × ×

रूढ़ियों के जाल में फंसी हुई आत्माओं को देखकर और उन पर दया करके एक सच्चा ईश्वर भक्त चिल्ला पड़ा—

मैं ख़ुरो मुसहफ़ बे सोज़ो आतिश अन्दर काबा ज़न
हर चे ख़्वाही कुन व लेकिन मरदुम आज़ारी मकुन

यानी तेरा जी चाहे तो शराब पी, क़ुरान और काबे में आग लगा दे, जो जी में आए सो कर, लेकिन एक काम मत कर—किसी का दिल न दुखा।

ऊपर के इस पद पर मुझे कुछ साल पहले की उत्तर भारत के एक गांव की एक घटना याद आ गई। एक बड़े गांव के पास से एक मुसलमान क़साई एक गाय को लिये चला जा रहा था। गांव के कुछ हिन्दू ठाकुर यह देखकर लाठियां लेकर उसकी तरफ़ लपके। गांव के पास एक बूढ़ा हिन्दू साधू रहा करता था। उसका सम्बन्ध न कांग्रेस से था, न लीग से और न महासभा से। वह भोला ईश्वर का भक्त था। जब उसने सुना कि गांव के कुछ ठाकुर क़साई की तरफ़ दौड़े जा रहे हैं, वह तुरन्त अपने आसन से उठ कर उन ठाकुरों की तरफ़ दौड़ा। दौड़ता जाता था और चिल्लाता जाता था—"अरे भय्या का करत हो! अरे जो राम गय्या में वही राम कसय्या में! अरे कसय्या का काहे मारत हो!"

प्रेम धर्म

अगर हम दुनिया के धर्मों का निष्पक्ष होकर और प्रेम के साथ अध्ययन करें, तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह सकता कि सब धर्म वास्तव में एक हैं, और सब धर्मों का सार, सब का निचोड़ वह 'प्रेम धर्म' वह 'मज़हबे इश्क़' है, जिसके बारे में कबीर ने कहा है—

ढाई अच्छर "प्रेम" के पढ़े सो पंडित होय।

कबीर ने और कहा है—

भाई रे दुई जगदीश कहांते आए
कहो कौन बौराए।
अल्लाह राम करीमा केशव
हरि हजरत नाम धराए।
गहना एक कनक ते गहना
वा में भाव न दूजा
कहन सुनन को दोउकर थापे
एक नमाज़ एक पूजा
भाइ रे दुई जगदीश कहां ते आये।

मौलाना जलालुद्दीन रूमी ने, जिनकी मशहूर फ़ारसी किताब 'मसनवी' अध्यात्म और अद्वैत पर दुनिया की ऊंची से ऊंची किताबों में से है और "फ़ारसी का क़ुरान" "क़ुरान दरज़मान पहलवी" कहलाती है, इसे ही 'मज़हबे इश्क़' कहा है।

मौलाना रूम का मशहूर शेर है—

मज़हबे इश्क़ अज़ हमे दीहां जुदास्त
आशिक़ांरा मज़हबो मिल्लत ख़ुदास्त

यानी इश्क़ का मज़हब सब दीनों से अलग है, आशिक़ों के लिए ख़ुदा ही उनका मज़हब और ख़ुदा ही उनकी मिल्लत है। कबीर, नानक, दादू, पलटू, यारी साहब, बुल्लेशाह और तुकाराम जैसे सैकड़ों भारतीय सन्तों और मौलाना रूम, हाफ़िज़, शम्सतबरेज़, अबुल अला जैसे सैकड़ों अरब और ईरानी सूफ़ियों का यही मज़हब था। इसी रास्ते से चलकर दुनिया के सब देशों और सब धर्मों के हज़ारों वैदिक ऋषियों, मुसलमान सूफ़ियों, बौद्ध महात्माओं, जैन श्रवनों और ईसाई राहिबों ने अपने दिलों को हर तरह के मैल और दुई से ख़ाली करके, उसे विश्व प्रेम से भरकर, आध्यात्मिक उन्नति यानी रूहानी तरक़्क़ी के उन मुक़ामात को तय किया, जिनका बयान उन सबके उल्लेखों में ठीक एक ही से शब्दों में मिलता है, और आत्मा की उस गहराई में जाकर सब धर्मों की एक मौलिक एकता को निर्विवाद आंखों के सामने लाकर खड़ा कर देता है। ख़त्म करने से पहले मैं एक सूफ़ी महात्मा के चन्द शेर आपके सामने और पेश करूंगा।

शादबाश ऐ इश्क़ ख़ुश सौदाए मा
ऐ दवाए जुमला इल्लत हाय मा
ऐ इलाजे नख़वतो नामूसे मा
ऐ तू अफ़लातूनो जालीनूसे मा
वेद अवस्ता अलक़ुरां इञ्जील नीज़
काबओ बुतख़ानओ आतशक़दा
क़ल्बे मन मक़बूल करदा जुमला चीज़
चूं मरा जुज़ इश्क़ नै दीगर ख़ुदा

अर्थात्—ऐ प्रेम! ऐ मेरे प्यारे उन्माद! ख़ुश रह, तू ही मेरी सारी बीमारियों की दवा है तू ही मेरे घमण्ड और अहंकार का इलाज है, तू ही मेरी आत्मा के लिए अफ़लातून की तरह तत्त्ववेत्ता गुरु और तू ही मेरे शरीर के लिए जालीनूस की तरह वैद्य है। वेद, और ज़ेन्द अवस्ता, क़ुरान और इञ्जील, मुसलमान का काबा, हिन्दू का बुतख़ाना और पारसी की आतशकदा, मेरे दिल ने इन सब को अपना लिया है, क्योंकि मेरे लिए सिवाय "इश्क़" के कोई दूसरा ख़ुदा ही नहीं।

जब कि हमें सब धर्मों पन्थ और सम्प्रदायों की रूढ़ियों का आदर करना चाहिये और सब को अपने अपने तरीक़े से अपने इष्ट देव की पूजा करने की पूरी आज़ादी होनी चाहिये, इसमें कोई भी सन्देह नहीं यही सब धर्मों का सार, सब धर्मों का समन्वय, सब मज़हबों का मज़हब, यही प्रेम धर्म यही "मज़हबे इश्क़" वह अमृत है जिसके लिए आजकल के भौतिक वाद और स्वार्थवाद से झुलसी हुई दुनिया तड़प रही है और जो अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, फ़िरकेवाराना और साम्प्रदायिक कलहों का मुख्य सम इलाज है।

सम्पादकीय-विचार

निज़ाम सरकार का फ़रमान

पिछली तीन मई को निज़ाम सरकार ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण फ़रमान निकाला है। इस फ़रमान के द्वारा निज़ाम राज्य से साम्प्रदायिकता को ज़िन्दा दफ़न कर दिया गया है। राज्य के अन्दर जो तरह-तरह की साम्प्रदायिक वृत्तियां चल रही थीं फ़रमान में उनकी कड़े लफ़्ज़ों में निन्दा की गई है। राज्य के ओहदेदारों जागीरदारों, और मनसबदारों को राजनीति में भाग लेने की सख़्त मनाही कर दी गई है। इधर कुछ दिनों से राज्य की एक संस्था 'अंजुमन इत्तहादुल मुसलमीन' ने यह प्रचार करना शुरू कर दिया था कि निज़ाम राज्य केवल राज्य के मुसलमानों की बपौती है। हिन्दुओं का उस पर कोई हक़ नहीं। इस संस्था के कर्ता-धर्ता नवाब बहादुर यार जंग बहादुर हैं। संस्था की तमाम हैदराबाद में शाखाएं हैं। नवाब यार जङ्ग का ज़िक्र अकसर मुसलिम लीग, ख़ाकसार, स्टेट मुसलिम लीग के सिलसिले में अख़बारों में होता रहता है। नवाब यार जङ्ग अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति में इतने आगे बढ़ गए कि उन्होंने हैदराबाद के सवा करोड़ हिन्दुओं के हितों के विरुद्ध जेहाद का ऐलान कर दिया। सन् १९३८ में जब निज़ाम की सरकार ने नये सुधारों का ऐलान किया तो राज्य के साम्प्रदायवादियों ने बहुत चाहा कि मुसलमानों को बहुमत दिया जाय। राज्य की आबादी में ८५ फ़ी सदी हिन्दू हैं और १४ फ़ी सदी मुसलमान। शासन सुधारों से राजनैतिक दृष्टि से हम भले ही सहमत न हों किन्तु इन सुधारों के निर्माता सर अकबर हैदरी और चाहे जो कुछ हों किन्तु साम्प्रदायवादी नहीं हैं। सर अकबर के सुधारों के अनुसार स्टेट असेम्बली में जनता और राज्य के प्रतिनिधियों की संख्या ५०-५० प्रतिशत रखी गई। जनता के प्रतिनिधियों का चुनाव संयुक्त निर्वाचन के द्वारा रखा गया। मुसलमानों के बहुमत का उसमें कोई विधान नहीं रखा गया। नतीजा यह हुआ कि नवाब यार जङ्ग के नेतृत्व में मुसलमान जनता के अन्दर सुधारों के विरोध में घोर आन्दोलन शुरू कर दिया गया। सुधारों को अभी अमल में नहीं लाया गया है किन्तु राज्य के अन्दर कैफ़ियत यह हो गई कि फ़्युहरर यार जङ्ग अपने डिक्टेटराना अन्दाज़ से शासन प्रबन्ध को चैलेञ्ज देने लगे। बरदाश्त की भी हद होती है। आख़िर निज़ाम सरकार ने यार जङ्ग और उनकी अंजुमन इत्तहादुल मुसलमीन, की गति विधियों पर अंकुश रखने का फ़ैसला किया।

नवाब यार जङ्ग बहादुर का असली नाम बहादुर ख़ां है। नवाब यार जङ्ग बहादुर का उन्हें ख़िताब मिला है। राज्य की ओर से उनके नाम जागीर भी है। अब या तो यार जङ्ग अपना ख़िताब या जागीर छोड़ें और या अंजुमन इत्तहादुल मुसलमीन और अपना साम्प्रदायिक कार्यक्रम छोड़ें। फ़रमान के शब्द हैं—

"कोई सरकारी कर्मचारी चाहे वह आला अफ़सर हो या मामूली नौकर, चाहे वह दीवानी विभाग में हो या फ़ौजी विभाग में, चाहे मशदर हो या ख़िताब याफ़्ता, आइन्दा से वह राज्य के अन्दर या राज्य के बाहर, किसी तरह की राजनीति में कोई हिस्सा न ले सकेगा।"

फ़रमान में आगे चलकर लिखा है "जो शख़्श इस फ़रमान के ख़िलाफ़ अमल करेगा उसकी जागीर ज़ब्त करली जायगी, उसका ख़िताब छीन लिया जायगा और उसे नौकरी से बरख़ास्त कर दिया जायगा।"

फ़रमान में एक सब से सुन्दर बात यह है कि उसमें यह भी कहा गया है कि राज्य इस तरह के तहरीकों और इस तरह की संस्थाओं को प्रोत्साहित करेगा जो दो सम्प्रदायों में मेल मुहब्बत बढ़ाने की कोशिश करेंगी।

इस फ़रमान का असर अंजुमन इत्तहादुल मुसलमीन पर स्पष्ट पड़ा है। उसकी कार्यकारिणी की ओर से एक ऐलान निकला है कि अंजुमन हमेशा सुलह के लिये तय्यार है और वह हिन्दू मुसलिम एकता पर विश्वास करती है।

राज्य के हिन्दू प्रतिनिधि भी इस सम्बन्ध में उदारता के साथ समझौता करने को तय्यार हैं और बहुत सम्भव है कुछ अरसे में ही दोनों जातियों में एक स्थायी समझौता हो जाय। यदि ऐसा हो सका तो निज़ाम राज्य देश के हिन्दू मुसलमानों के सामने एक आदर्श पेश करेगा।

एक बात और। और वह यह कि मिस्टर जिन्नाह ने भी निज़ाम की गम्भीरता को ख़ूब समझ लिया है। चुनांचे नन्दी पहाड़ से अपनी बीमारी की हालत में ही उन्होंने एक बयान निकाला है जिसमें कहा है कि पाकिस्तान आन्दोलन का देशी रियासतों से कोई सम्बन्ध नहीं।

हम निज़ाम सरकार को उसके इस फ़रमान पर हार्दिक बधाई देते हैं।

सय्यद अब्दुल अज़ीज़ की सराहनीय मिसाल

मद्रास से निकलने वाले 'डेकन टाइम्स' में छपा है—

"समाचार पत्रों के एक ख़ास दल की हमेशा से यह रविश रही है कि मुसलमानों को काले से काले रङ्ग में रङ्ग कर पेश किया जाय। सम्राट औरङ्गज़ेब अपनी हिन्दू विरोधी नीति के लिये शायद सबसे ज़्यादा बदनाम किया गया है। लेकिन हाल की खोजों ने इस मामले में नई रोशनी डाली है कि सम्राट औरङ्गज़ेब हिन्दू मन्दिरों आदि की देखभाल और उनकी रक्षा में काफ़ी दिलचस्पी लेता था। ख़ैर यह इतिहास की बात है। हमारे आजकल के ज़माने में निज़ाम की सरकार अपनी हिन्दू रिआया की भलाई में दूसरे भारतीय इलाक़ों से कहीं ज़्यादा दिलचस्पी ले रही है। निज़ाम चूंकि मुसलमान हैं लिहाज़ा उन पर आये दिन इसीलिये हमले होते रहते हैं। किन्तु हिन्दू रिआया, मन्दिरों और पुजारियों के प्रति निज़ाम सरकार के उदार बर्ताव की हम अकसर चर्चा करते रहते हैं। जब राज्य के प्रधान मन्त्री (सद्रे आज़म) या अन्य मन्त्री दौरे पर जाते हैं तो वे पुजारियों और मन्दिरों को भेंट चढ़ाते हैं और मन्दिरों के जीर्णोद्धार औ उनके बनवाने के लिये रक़में देते हैं। हाल में निज़ाम राज्य के ला मेम्बर सैयद अब्दुल अज़ीज़ साहेब ने अपने बिदर के दौरे में पाण्डुरङ्ग के मन्दिर की छत बनवाने के लिये पाँच सौ रुपये की रक़म मंज़ूर की। इस तरह की मिसालें भरी पड़ी हैं।"

हम डाक्टर मेहदी हुसेन साहब के ऋणी हैं कि उन्होंने 'डेकन टाइम्स' की इस टिप्पणी की ओर हमारा ध्यान दिलाया। सच तो यह है कि मन्दिर, मसजिद, गिरजे, सिनागाग वग़ैरह सब उसी एक परमात्मा की बन्दगी के पाक मुक़ाम हैं। भारत के हिन्दू मुसलमान शासकों ने कभी इसमें कोई फ़र्क़ नहीं किया। सम्राट औरङ्गज़ेब के अपने दस्तख़त से दी हुई जागीर का फ़रमान अब तक इलाहाबाद में जमना के उस पार अरेल में सोमेश्वरनाथ महादेव के मन्दिर के पुजारी के पास रखा है। इसी तरह के औरङ्गज़ेब के मन्दिरों के जागीरें देने के बीसों फ़रमान अकेले युक्तप्रान्त में मिलेंगे। दूसरे मुग़ल बादशाहों का भी यही क्रम रहा। टिप्पू सुलतान के श्रीरङ्गपट्टन के महल की चहारदीवारी के भीतर श्रीरङ्गनाथ का मन्दिर मौजूद था जो अब तक सुरक्षित है। लगभग १७४ मन्दिरों को हैदरअली और टिप्पू

सुलतान की ओर से जागीरें अता की गईं थीं। श्रंगेरी मठ के मन्दिर में टिप्पू हर साल बहुमूल्य भेंटें चढ़ाता रहता था। यही हाल हिन्दू राजाओं का था। इसीलिये जब हमने सय्यद अब्दुल अज़ीज़ साहब का पाण्डुरङ्ग के मन्दिर की छत के लिये इस भेंट का हाल पढ़ा तो वह हमें हमारे लम्बे सांस्कृतिक इतिहास की एक कड़ी मालूम हुई।

सच पूछा जाय तो जब देश के ऊपर आपसी कलह और मनो मालिन्य के बादल छाये हों तो इस तरह की घटनाएं काले बादलों के बीच में रुपहली लकीर की तरह दिखाई देती हैं और इसी से हमारी [illegible]मत बढ़ती है और हमें अपने भविष्य पर आशा [illegible]ती है।

[illegible]बुआ हत्याकाण्ड की रिपोर्ट

पिछली १७ जनवरी सन् १९४१ को झाबुआ में जो हत्याकाण्ड हुआ था उसकी जांच अखिल भारतीय देशी [illegible] परिषद की ओर से श्री द्वारकानाथ का[illegible] ने [illegible]। इस जांच को प्रजा परिषद के दफ़्तर ने [illegible] से प्रकाशित किया है। रिपोर्ट क्या है झाबुआ राज्य की काली करतूतों का नग्न चित्रण है। रिपोर्ट का सार है—

सैलाना राज्य के ७० भील स्त्री, पुरुष और बच्चे १७ जनवरी सन् १९४१ को अपने गांव से शाम के वक्त इन्दौर राज्य की मण्डी बामनिया की ओर रवाना हुए। उनके पास ६६ मन रुई थी जो कुछ उनके सरों पर और कुछ २७ गधों पर लदी हुई थी। लगभग तीन बजे रात के क़रीब वे झाबुआ राज्य की सरहद के बीच से गुज़रे और एक ऐसी जगह पहुंचे जहां से इन्दौर रियासत की सरहद क़रीब दो सौ गज़ और बामनिया मण्डी केवल एक मील रह गई थी। पूरणमासी का चांद आकाश में चमक रहा था और दूर दूर तक की चीज़ें दिखाई दे रही थीं। उनके बांई ओर ५० गज़ के फ़ासले पर रतलाम रेलवे लाइन थी और दाहिनी ओर एक टीला था जहां ऊंची ऊंची घास उगी हुई थी।

सहसा एक बिगुल की आवाज़ सुनाई दी और टीले के पीछे से और रेलवे लाइन की तरफ़ से झाबुआ चुङ्गी के बीसों सशस्त्र सिपाहियों ने 'मारो' 'फोड़ो' की आवाज़ लगाकर इन भीलों पर गोलियां बरसानी शुरू कर दीं। गोलियां तब तक चलती रहीं जब तक ३० व्यक्ति घायल होकर गिर न पड़े। बाक़ी भील किसान अपने कपास के गट्ठड़ छोड़ कर भाग गये। कपास और गधे झाबुआ के चुङ्गी के सिपाहियों ने ज़ब्त कर लिये। भीलों ने बार बार दोहाई दी कि वे चोर नहीं हैं मगर कोई सुनवाई नहीं हुई। दो आदमी मरे और बीसों घायल हुए।

गोली चलने के बाद जब लोग भागे तो दो भील लड़कियों को इन सिपाहियों ने पकड़ा। इनमें से एक बाबुरी ने मालवा के पोलिटिकल एजेन्ट के सामने अपना बयान दिया है—

"मेरा नाम बाबुरी है, उम्र १६ वर्ष गुण्डीपारा (सैलाना राज्य) की मैं रहने वाली हूं और मेरे पति का नाम चुआ खरादी है।

× × ×

"गोली चलाने के बाद सिपाहियों ने मुझे भागते हुए पकड़ा। सुन्दरी को भी पकड़ा। हमें नरेला के चुङ्गी घर में ले गये। दो दो आदमी ज़बरदस्ती पकड़ कर हमें चुङ्गी घर के भीतर ले गये। मैं डर कर रोने लगी। एक आदमी ने एक हाथ से मेरी छाती पकड़ कर और दूसरे हाथ से मेरी कमर पकड़ कर मुझे गिरा दिया और मुझे नंगा कर दिया और उसके बाद मेरे साथ ज़बरदस्ती खोटा काम किया। सुन्दरी के साथ यही खोटा काम दूसरे आदमी ने किया। एक के बाद एक चार आदमियों ने मेरे साथ बलात्कार किया। जिन चार आदमियों ने मेरे साथ यह खोटा काम किया उन चारों ने सुन्दरी के साथ भी खोटा काम किया।

हम लोग रोते जाते थे और वे बलात्कारी हमें गन्दी गाली देते जाते थे। मेरा सारा बदन दुखने लगा। चुङ्गी घर में अंधेरा था इसलिये मैंने इनकी शकलें नहीं देखीं।"

झाबुआ राज जोधपुर राजवंश की एक शाख है। वहां की हुकूमत इस समय रीजेन्सी के हाथों में है। आज इस घटना को चार महीना हो गया लेकिन न झाबुआ रीजेन्सी या पोलिटिकल एजेंसी या ब्रिटिश गवर्नमेन्ट किसी ने इस पर कोई कारवाई नहीं की। हम इस पर क्या टिप्पणी करें। बहिने बाबुरी का सतीत्व हम पर एक क़र्ज़ा रहेगा और एक दिन आयेगा जब बीसों खड्ग बहादुर अपनी इन बहिनों का राई राई हिसाब चुकता करेंगे।

यदि यह घटना भोपाल, रामपुर या टोंक में घटी होती तो वीर सावरकर अपनी ज़बानी वीरता के जाने कितने पैंतरे दिखाते। मगर इन हिन्दू पद पादशाहों की नज़रों में शायद हिन्दुओं के साथ हिन्दुओं के ज़ुल्म निन्दा की चीज़ नहीं। आये दिन इस तरह की घटना होती रहती हैं और हम नामर्दों की तरह सुनते और देखते रहते हैं। न हममें इतना साहस है कि हम अहिंसात्मक उपायों से इस तरह की घटनाओं को असम्भव कर दें और न इतनी हिम्मत है कि हिंसात्मक उपायों से इन नर पशुओं को कोई सज़ा दे सकें। इसकी जितनी ज़िम्मेवारी ब्रिटिश गवर्नमेन्ट पर है उससे किसी तरह कम हमारी नहीं है।

भारत में जहाज़रानी

कलकत्ते से निकलने वाले "हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड" में प्रो० ए० सी० बच एम० ए० ने भारत के पुराने जहाज़ी उद्योग पर एक बहुत महत्वपूर्ण लेख लिखा है। वे लिखते हैं—पुराने ज़माने में पूर्व में भारत के जहाज़ कम्बोज, सियाम, जावा, बाली, फ़िलिपाइन, चाइल, पेरू, बोलिविया और मेक्सिको तक जाया करते थे। पश्चिम में मिस्र, मोरक्को, गाथ और गाल तक जाया करते थे। एक उदाहरण तो ठेठ उत्तर में ध्रुव देश में भारत के जहाज़ के जाने का मिलता है। किसी ज़माने में भारतीय संस्कृति का सारे यूरोप पर असर था मैक्समूलर के अनुसार अंग्रेज़ी शब्द जुपीटर वैदिक द्युस पित्र है। अंग्रेज़ी शब्द 'बोट' संस्कृत 'पोत' से बना है। अबुलफ़ज़ल के अनुसार मोग़ल काल में भारत में छोटे बड़े जहाज़ों की संख्या चालीस हज़ार थी। ये जहाज़ लारी बन्दर, ठट्ठा, कच्छ, काठियावाड़ और गुजरात के बन्दरगाहों में खड़े रहते थे। गुजरात के सुलतान मोग़ल जल सेना के प्रधान सेनापति कहलाते थे और अमीरुल-बहर का उन्हें ख़िताब था। यही अमीरु-ल-बहर शब्द बिगड़ कर यूरोप में एडमिरल बना। विजयनगर के साम्राज्य में भी तीन हज़ार बन्दरगाह थे। इनमें कालीकट जैसा बड़ा बन्दरगाह था और छोटे छोटे भी थे। अठारहवीं सदी तक भारत के बने जहाज़ टेम्स के बन्दरगाहों तक आते थे। ढाका का मलमल और सूरत का किनख़ाब और मलाबार और बर्मा का सागोन और भारतीय कला की करोड़ों रुपये मूल्य की सामग्री भारतीय जहाज़ों में लदकर यूरोप के बन्दरगाहों में जाया करती थी। किन्तु इसी समय के बाद अंग्रेज़ जहाज़ विक्रेताओं ने डच, फ़्रान्सीसी और भारतीय जहाज़ों की होड़ में क़ायम रह सकना असम्भव समझा। उनकी प्रार्थना पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने ५० फ़ी सदी महसूल बढ़ा दिया। इसके बाद १०० वर्ष के अन्दर भारत के सारे जहाज़ी व्यापार का नाश हो गया।

आज इस महा युद्ध में हम समुद्री ताक़त के लिहाज़ से निर्बल और असहाय खड़े हैं और हमारा हज़ारों मील लम्बा समुद्री किनारा विदेशी लुटेरों के हमलों के लिये खुला पड़ा हुआ है।

ब्रिटेन और फ्रान्स

कलकत्ते से निकलने वाला एंगलो इण्डियन पत्र 'स्टेट्समैन' अपने १८ मई के अग्र लेख में लिखता है—"सीरिया में जो कुछ हो रहा है उसे देखते हुए यह मालूम होता है ब्रिटेन और विशी की सरकार के बीच लड़ाई के बादल छा रहे हैं। इन दोनों देशों की लड़ाई के परिणाम सैनिक दृष्टि से बड़े भयङ्कर होंगे। अंग्रेज़ों के नुक़्ते नज़र से सब में बुरी चीज़ होगी फ्रांसीसी जहाज़ी बेड़े का हिटलर के पक्ष में

जाना। बिज़ती और तूलन के बन्दरगाहों और अलजीरियों और ओरान (मोरक्को) के हवाई जहाज़ के अड्डों से बम वर्षा जिब्राल्टर को बहुत नुक़सान पहुँचायेगी और भारी ब्रिटिश रक्षा जहाज़ों के मातहत भी भूमध्य सागर में अङ्गरेज़ी कुमुक न पहुंचाई जा सकेगी। यही नहीं बल्कि इटली और जर्मनी की मदद तूनिसिया से होकर आसानी से लिबिया पहुंच सकेगी।"

स्टेट्समैन के इस बयान के बाद इङ्गलैण्ड के विदेशी मन्त्री मिस्टर ईडन की तक़रीर भी हमने पढ़ी जिसमें उन्होंने फ़्रांस को गम्भीर चेतावनी दी है और कहा है कि यदि ज़रूरत पड़ी तो इङ्गलैण्ड को फ़्रांस के ऊपर फ़ौजी काररवाई करनी पड़ेगी।

मार्शल पेतां और दूसरे फ़्रांसीसी नेताओं के जो बयान निकले हैं उन्हें देखते हुये यह मालूम होता है कि विशी सरकार जर्मन दबाव से बिलकुल मजबूर है। ऐसी सूरत में एक मजबूर राष्ट्र से बैर मोल लेना जबकि उसके नतीजे भयङ्कर हों अक़्ल की बात नहीं है।

लड़ाई की परिस्थिति

रायटर की ख़बरों से हमने समझा था कि इराक़ की लड़ाई एक सप्ताह के अन्दर ख़त्म हो जायगी। मगर आसारों से पता चलता है कि वह जल्दी ख़त्म न होगी। सीरिया के हवाई जहाज़ के अड्डों को जर्मनी पूरी तरह इस्तेमाल कर रहा है और वहीं से वह राशिदअली को मदद पहुंचा रहा है। यह भी ख़बर है कि सोवियत् रूस और जर्मनी दोनों एक साथ मिलकर कुछ करने वाले हैं। अख़बारों में यह भी ख़बर छपी थी कि सोवियत् ने कास्पियन सागर में अपने जहाज़ों और बन्दरगाहों के इस्तेमाल का अधिकार भी जर्मनी को दे दिया है। यह भी ख़बर छपी है कि तुर्की ने अपने देश की रेलों द्वारा फ़ौजी सामान ले जाने का हक़ जर्मनी को दे दिया है। यह भी ख़बर छपी है कि रूस अब की बार फ़ौजों का गरमी के मौसम का प्रदर्शन ईरान की सीमा पर कर रहा है और अपने मोर्चे मज़बूत बना रहा है। ये ऐसी ख़बरें हैं जिनका अभी तक अंकारा, मास्को या लन्दन के सरकारी हलक़ों से खण्डन नहीं किया गया। यदि यह ख़बरें सच हैं तो इसका मतलब यह है कि तुर्की अब अङ्गरेज़ों के साथ नहीं रहा और रूस भी जर्मनी को अमली मदद दे रहा है। जर्मनी की आंखें मोसल के तेल के कुओं की ओर लगी हुई हैं। उन पर क़ब्ज़ा करना उसका प्रधान लक्ष्य है। उसका क्रीट का हमला भी इसी उद्देश्य से है।

युद्ध यूरोप और अफ़रीक़ा से हट कर इस समय एशिया में आ गया है। इस युद्ध से अरबों का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जर्मनी के प्रति अरबों के चाहे जैसे विचार हों लेकिन अरब अब तक यह नहीं भूले कि पिछले महायुद्ध के बाद अङ्गरेज़ों ने ही अरब क़ौम के टुकड़े टुकड़े कर डाले। फ़िलस्तीन के अरबों को हमेशा से अङ्गरेज़ों की तरफ़ शिकायत रही। स्थानीय परिस्थिति के कारण एशियाई युद्ध की जटिलता बेहद बढ़ गई है और लड़ाई एक तरह से हिन्दुस्तान के दरवाज़े पर आ गई है।

उधर प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट अब तक अपने पर तौल रहे हैं। ऊंट जिस करवट बैठेगा उसके आसार साफ़ दिखाई दे रहे हैं और तभी रक्त चण्डी की मनोवांछा पूरी होगी।

क्रीट की लड़ाई

क्रीट में हैरत अङ्गेज़ युद्ध चल रहा है। एक ओर अङ्गरेज़ी समुद्री जहाज़ी बेड़ा है और दूसरी ओर जर्मनी का हवाई बेड़ा। दोनों में कौन अधिक शक्तिवान है इसका फ़ैसला इस क्रीट की लड़ाई से हो जायगा। अङ्गरेज़ जनरल फ्रेबर्ग जो इस समय क्रीट के प्रधान सेनापति हैं हिम्मत के साथ इस युद्ध का संचालन कर रहे हैं। भूमध्य सागर के द्वीपों में सिसली सारडीनिया और साइप्रस के बाद क्रीट का बहुत महत्व है। १६० मील लम्बा और ३५ से ७॥ मील चौड़ा इसका क्षेत्रफल है। जगह बेहद ऊबड़ खाबड़ और पहाड़ी है। यहां केवल एक स्वाभाविक बन्दर-

गाह है। रेल वहां बिल्कुल नहीं है। ले देकर कुल एक सड़क है। वैसे सभ्यता के लिहाज़ से क्रीट अति प्राचीन देश है। क्रीट के चरणों के पास ही बैठकर यूनान ने अपनी सभ्यता के पाठ पढ़े। मगर उसको ढाई हज़ार बरस हो गये। यूनान के दक्खिनी हिस्से से क्रीट का बन्दरगाह मेली कुल ६० मील है। रास्ते में दो द्वीप हैं जहां जर्मन उड़ाके दम ले सकते हैं। क्रीट बहादुरों का मुल्क है। अख़बारी ख़बरें हैं कि वहां की वीर नारियाँ भी जर्मन सिपाहियों से मोरचा ले रही हैं। मुख्य शहरों में क्रीट की राजधानी कैनी है किन्तु वहां के स्वाभाविक बन्दरगाह सूडा को ही जर्मन हमले की भयंकरता का मुक़ाबला करना पड़ेगा।

किन्तु यह सब होते हुए भी क्रीट की सैनिक महत्ता अधिक नहीं है। हमारा अनुमान है जर्मन सैनिक शक्ति क्रीट में इङ्गलैण्ड के भावी हमले का रिहर्सल कर रही है। नारवे में जर्मनी ने हवाई जहाज़ से अपने सैनिक उतारे और अङ्गरेज़ों के जंगी बेड़े समुद्र पर विवश खड़े देखते रहे। पेश्तर इसके कि इङ्गलैण्ड में जर्मनी अपने विशाल हवाई आक्रमण का आयोजन करे वह छोटी मोटी लड़ाइयों में उसकी शक्ति आजमा लेना चाहता है। यही एक ज़रिया है जिससे जर्मनी अपनी समुद्री कमज़ोरी का असर कम कर सकता है।

रायटर ने क्रीट की लड़ाई का विस्तृत वर्णन भेजा है। २५ बरस पहले अङ्गरेज़ उपन्यासकार एच० जी० वैल्स ने अपने एक उपन्यास में जिस हवाई लड़ाई का वर्णन कल्पना से लिखा था जर्मनी ने उसे प्रत्यक्ष कर दिखाया। डगमगाते हवाई जहाज़ों से जर्मन सैनिक पैराशूट की सहायता से गुड़मुड़ी खाकर उतरते हैं। वे लहराते आते हैं कि उन पर बन्दूक़ का निशाना नहीं लग पाता। ज़मीन पर गिर कर और लड़ने के लिये तय्यार होने में उन्हें केवल दस मिनट लगते हैं। जर्मन सिपाहियों ने मलेमे के हवाई अड्डे पर कब्ज़ा कर लिया है। यदि जर्मनी क्रीट की लड़ाई हार जाता है तो इङ्गलैण्ड पर हमले का डर सदा के लिये मिट जायगा।

ईरान का रुख़

इराक़ के मुताल्लिक़ हमें रायटर या सरकारी हल्क़े इतनी थोड़ी ख़बरें दे रहे हैं कि उन पर अपनी राय बना सकना असम्भव है। लेकिन हम चाहते हैं कि ईरान के सम्बन्ध में हमें साफ़ साफ़ बताया जाय कि भारत और ब्रिटिश सरकार का सम्बन्ध ईरान के साथ कैसा है? हम यह भी जानना चाहेंगे कि तेहरान और मास्को के आपसी ताल्लुक़ात कैसे हैं? सरकार को यह भी साफ़ करना चाहिए कि बग़दाद की सरकार के बारे में तेहरान के शाही हल्क़ों में क्या ख़्याल है? "स्टेट्स्मैन" में एक समाचार प्रकाशित हुआ है कि रज़ाशाह की सरकार किसी दल में नहीं है न वह लड़ाई में शरीक होना चाहती है। लेकिन १९२१ की रूस ईरानी सन्धि के अनुसार रूस उस सूरत में ईरानी इलाक़े पर क़ब्ज़ा कर सकता है यदि ईरान रूस के ख़िलाफ़ किसी शक्ति को ईरान में दख़ल देने से न रोक सके। इसका अर्थ यह है कि यदि जर्मनी ईरानी इलाक़े में ज़रा भी आगे बढ़ता है तो रूस को ईरान पर क़ब्ज़ा करने का पूरा बहाना मिल जायगा। मुमकिन है स्टैलिन और हिटलर में अन्दर ही अन्दर इस सम्बन्ध में कोई सुलह हो गई हो। इसका मतलब यह है कि जर्मनी सिर्फ़ ईरान की खाड़ी तक आगे बढ़ सकेगा—उसके बाद पोलैण्ड या रूमानिया की तरह बाक़ी ईरान पर रूस का क़ब्ज़ा दिखाई देगा और ईरानी बन्दरगाहों की रूस को सदा से कितनी ज़रूरत है।

अमरीकन सत्याग्रही अर्लब्रुक्स

अमरीका में ज़बरदस्ती सैनिक बनाने के क़ानून का ख़ास विरोध हो रहा है। जगह जगह ऐसे व्यक्तियों को सज़ाएं दी जा रही हैं जो युद्ध को पाप समझकर सैनिक बनने से इनकार कर रहे हैं। पेन्सिलवानियां के अर्लब्रुक का इस सम्बन्ध में फ़ेडरल कोर्ट में मुक़दमा हुआ और जज वेल्श ने उसे एक साल एक दिन की सज़ा दी। अदालत के सामने अर्लब्रुक्स ने अपने बयान में कहा—

"मैं अदालती कार्रवाई में कोई हिस्सा न लूंगा। मेरी आत्मा मुझे इस बात की इजाज़त नहीं देती कि मैं १९४० के इस जबरिया सैनिक भर्ती क़ानून के अनुसार फ़ौज में भरती होऊं। मौजूदा युद्ध हमारे आर्थिक संगठन का नतीजा है। जब तक हम अपना सामाजिक और आर्थिक ढांचा न बदलेंगे ये युद्ध बन्द न होंगे।

"युद्ध में लाखों इनसान मारे जाते हैं। किसी भी नौजवान को यह अधिकार तो है कि वह किसी उसूल के लिये अपनी जान दे दे, किन्तु उसे दूसरे की जान लेने का हक़ नहीं है। युद्ध से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को सुलझाना इनसान के लिये कलंक की बात है। क्या अन्तर्राष्ट्रीय मामले सुलझाने के लिये हमारे पास कोई दूसरा तरीक़ा नहीं है? हिन्दुस्तान की जनता बग़ैर गोली चलाये ग्रेट ब्रिटेन से अपनी स्वाधीनता वापस लेने की लड़ाई लड़ रही है। ये भारतीय सत्याग्रही अपनी जान देने को तय्यार हैं मगर अङ्गरेज़ सिपाहियों की जान लेने को तय्यार नहीं। गान्धी कहते हैं—'हमारा इतना पतन हो गया है कि हम क़ानून की एक एक बात मानना अपना धर्म समझते हैं। चाहे वे क़ानून कितने ही अनैतिक क्यों न हों!'

"मैं युद्ध के इस अनैतिक क़ानून को मानने में असमर्थ हूं। मेरी आत्मा इसकी गवाही नहीं देती।"

आज अर्लब्रुक के सैकड़ों साथी अमरीका के शहरों में घूम कर अर्लब्रुक के सत्याग्रह का प्रचार कर रहे हैं।

हाल के हिन्दू मुसलिम दंगे

पिछले तीन महीने से ढाका, अहमदाबाद, बम्बई, बिहार शरीफ़ कानपुर, हिसार और कुछ और शहरों में कुछ दिनों की शान्ति के बाद, नये सिरे से हिन्दू मुसलिम दंगे शुरू हो गये हैं। देश के कुछ अच्छे लोगों के दिमाग़ों पर इनका काफ़ी गहरा असर पड़ा है। ज़ाहिरा देखने पर समस्या इस समय इतनी जटिल दिखाई देती है कि उस पर कुछ कहने या क़लम उठाने की भी आसानी से हिम्मत नहीं होती। हमारे बहुत से देश भाई इस बारे में किंकर्तव्य विमूढ़ से दिखाई देते हैं। कुछ तो उसे एक असाध्य रोग समझ कर छोड़ बैठे हैं। कुछ की यह हालत है कि उनसे यदि इस समस्या पर बात चीत की जावे तो भी उन्हें नागवार गुज़रता है। हमने आज काफ़ी संकोच के बाद इस सम्बन्ध में दो एक मोटी बातें कहने की हिम्मत की है। केवल अपना कर्तव्य समझ कर।

सन्देह और इलज़ाम

तीन मोटे-मोटे पहलुओं से हमें इस मामले पर ग़ौर करना चाहिये। एक यह कि इस तरह के झगड़ों को जहां तक बन पड़े रोकने के लिए हमें क्या करना चाहिये? दूसरा यह कि दङ्गा शुरू हो जाने पर क्या करना चाहिये? तीसरा यह कि आमतौर पर इन झगड़ों की तरफ़ हमारा क्या रुख होना चाहिये?

सब से पहली ज़रूरत हमें इस बात की दिखाई देती है कि क़ुसूर चाहे हिन्दू का ज़्यादा हो और चाहे मुसलमान का, हमें इस सारी परिस्थिति पर केवल देश के नाते ही विचार करना चाहिये। हमें इसे अपने प्यारे देश की या अपनी एक बीमारी की तरह देखना चाहिये और प्रेम और निष्पक्षता के साथ बिना हिन्दू या मुसलमान का भेद किये सारे देश और देशवासियों के हित की दृष्टि से शान्ति के साथ रोग के इलाज की कोशिशें करनी चाहियें। सबसे ज़्यादा दुःख हमें केवल यह होता है कि आमतौर पर अगर हम दस पांच पढ़े लिखे या अधपढ़े हिन्दुओं में जाकर बैठें तो हमें यही सुनने में आता है कि सारा दोष मुसलमानों का है। लोगों को बड़ा दुख है और दिल मे दुख है कि इस देश के मुसलमान अपनी ग़लती और अपने कर्तव्य को नहीं समझ रहे हैं। इस दुःख के साथ हमें आमतौर पर मुसलमानों के साथ प्रेम और हमदर्दी भी मिली हुई दिखाई देती है। लेकिन फ़िक़रे बार बार एक ही तरह के सुनने में आते हैं। दूसरी तरफ़ यदि हम ठीक इसी तरह के एक मुसलमान गिरोह में जाकर बैठ जावें तो ठीक यही दृश्य हमें वहां देखने को मिलता है। यदि पढ़े लिखे

हिन्दुओं के सरों पर जिन्ना और मुसलिम लीग सवार है तो पढ़े लिखे मुसलमानों के सिरों पर कांग्रेस और महासभा। इस दृश्य को देखकर अनेक बार हमारा हृदय रोने लगता है। मामूली समझदार आदमी की तरह हम यह भी नहीं देख पाते कि इस तरह के सब मामलों में कम या ज़्यादा आखिर क़ुसूर दोनों ही का होगा और दूसरे के क़ुसूरों को गिनने या उनका रोना रोने के बजाय अगर दोनों पक्ष केवल अपने अपने अन्दर ईमानदारी के साथ टार्च की रोशनी डालें और केवल अपने दिलों को साफ़ करने और अपने दोषों को दूर करने की कोशिश करें तो यह मामला कहीं ज़्यादा आसानी से सुलझता हुआ दिखाई दे। केवल दूसरे के दोष देखने की यह आदत हममें इतनी ज़्यादा बढ़ चली है कि हमें डर है कि कोई भी निष्पक्ष आदमी जो इस सवाल को बजाय हिन्दू या मुसलमान निगाह से देखने के हिन्दुस्तानी या इनसानी निगाह से देखने की ज़्यादा कोशिश करता हो, अपने विवेचन से दोनों में से किसी एक को भी ख़ुश नहीं कर सकता।

हिन्दुओं का फ़र्ज़

इस देश में हिन्दुओं की तादाद मुसलमानों से कई गुना है। व्यापार, धन, तालीम, ज़मींदारी वग़ैरह सब बातों में हिन्दू मुसलमानों से बढ़कर हैं। बड़े भाई की हैसियत से उनकी ज़िम्मेवारी भी अधिक है। हमारी बात किसी को कड़वी लगे या मीठी हमें इसमें ज़र्रा भर भी शक नहीं है और हम इसे साफ़ साफ़ शब्दों में कह देना चाहते हैं कि अगर देश के हिन्दू और खासकर पढ़े लिखे हिन्दू केवल अपने दिलों और दिमाग़ों को इस मामले में बिलकुल साफ़ कर लें और केवल अपनी ग़लत फ़हमियों, अपनी कमज़ोरियों और अपने दोषों को दूर करने की कोशिश करें तो यह सारी समस्या एक क्षण भर के अन्दर हल होती हुई दिखाई दे। सवाल नीयत का नहीं है। हमें हिन्दू या मुसलमान दोनों में से किसी की नीयत में भी ज़र्रा भर भी सन्देह नहीं है। सवाल केवल मामले को ठीक तरह से देखने का है। हिन्दुओं के अन्दर भी इस मामले में सब से ज़्यादा ज़िम्मेवारी कांग्रेस वालों की है। हमें कांग्रेस के एक तुच्छ सेवक होने का अभिमान है। यदि इस देश की आज़ादी के लिये किसी भी संस्था या संगठन से भविष्य में कुछ भी आशा हो सकती है तो वह केवल कांग्रेस से। कांग्रेस में इस तरह के आदमी भी मौजूद हैं जो इस मामले में बिलकुल निष्पक्ष और शुद्ध सोना कहे जा सकते हैं। लेकिन दूसरी तरफ़ इसमें भी हमें ज़रा सा शक नहीं हो सकता कि अगर सब हिन्दू कांग्रेस वालों के दिल इस बारे में बिलकुल साफ़ होते तो यह समस्या इस देश में पैदा ही न हो सकती थी और अगर हमारे दुश्मनों की कोशिशों से पैदा होती भी तो देश के असली जीवन से अलग-थलग केवल एक अवज्ञा की चीज़ दिखाई देती जिसकी हम उपेक्षा कर सकते। हम बड़े दुख के साथ लिख रहे हैं लेकिन हम कड़वे तजरुबे की बिना पर कह रहे हैं कि कई जगह के इस तरह के दंगों तक में कांग्रेस के अच्छे अच्छे कार्यकर्ताओं ने निहायत बेजा और ग़लत रुख़ लिया है और आपसी समझौतों और मेल मिलाप की कोशिश करने वालों को इतनी दिक्क़तें हिन्दू महासभा के काम करने वालों से नहीं पड़ीं जितनी कांग्रेस के काम करने वालों से। यह भी सच है कि समझदार और नेक दिल मुसलमानों को जितनी शिकायतें कांग्रेसी हिन्दुओं से हैं उतनी ग़ैर कांग्रेसी या महासभाई हिन्दुओं से नहीं हैं।

मुसलमानों का फ़र्ज़

बड़े भाई की हैसियत से यदि हिन्दुओं की कुछ ज़्यादा ज़िम्मेवारी है तो पढ़े लिखे और समझदार मुसलमानों की ज़िम्मेवारी इससे मिट नहीं जाती। उन्हें भी आमतौर पर केवल हिन्दुओं के दोष निकालने और कांग्रेस को गालियां देने की वैसी ही बुरी आदत पड़ गई है जैसी हिन्दुओं को लीग और मिस्टर जिन्ना को कोसने की। हमारा दिल उस चीज़ को देखकर ख़ून के आंसू बहाने लगता है कि जिन मुसल-

मानों ने अभी ८२ साल पहले तक इस मुल्क पर हुकूमत की थी, जिनके दिल्ली शासन में इस देश ने शिक्षा, चित्रकला, उद्योग धन्धों, व्यापार, निर्माणकला इत्यादि में वह ग़ज़ब की और अपूर्व तरक्क़ी की थी जिसे देखकर दुनिया की आंखें चकाचौंध हो रही थीं, जिन्होंने हज़ारों और लाखों की तादाद में सन् ५७ से ५९ तक के फड़का देने वाले दिनों में इस देश की आज़ादी के लिये अपनी जानें दी थीं, और जिनके बड़े बड़े मौलवियों को सन् ५७ के जुर्म में शामिल होने के सन्देह में सन् १८८० तक फांसियां दी जाती रहीं, उनमें से अधिकांश पढ़े लिखे आज अपने इस प्यारे वतन की आज़ादी और बहबूदी दोनों की तरफ़ से उदासीन दिखाई देते हैं और केवल हिन्दुओं और कांग्रेस को इलजाम दे देने में ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझते हैं। ये शब्द लिखते समय कांग्रेस के मुसलमान मेम्बरों, जमीयत उल उलेमा के सदस्यों, अहरार और अनसार जैसी जमायतों की लगन और उनकी क़ुर्बानियां हमारी आंखों से ओझल नहीं हैं। लेकिन इसमें भी शक नहीं कि ज़्यादातर पढ़े लिखे और खासकर अङ्गरेज़ी पढ़े लिखे मुसलमानों का तर्ज़ दर्दनाक तर्ज़ है जिसका हमने ऊपर ज़िक्र किया है और आजकल की खास फ़िज़ा में मुल्क के आम लोगों पर उनका एक खास असर है।

हमें इसमें भी कोई शक नहीं कि अगर ज़्यादातर पढ़े लिखे मुसलमान बजाय कांग्रेस के केवल दोष निकालने के उसमें हिन्दुओं से बढ़कर हिस्सा लेने और अपनाने की कोशिश करते तो कांग्रेस के अन्दर से वह लज्जाजनक साम्प्रदायिकता, जो आज सचमुच कांग्रेस के जीवन को दाग़ी बना रही है, उड़द पर सुफ़ेदी की तरह उड़ जाती। असली बात यह है कि इतने दिनों की ग़ुलामी और ग़लत तालीम से इस क़ौम के हिन्दू और मुसलमान दोनों के दिलों और दिमाग़ों पर एक लकवा सा मार गया है।

मुसलमानों का शासन काल

दूसरी चीज़ हम सब को अपने दिलों के अन्दर इस [illegible] को अच्छी तरह और तफ़सील के साथ नक़्शा कर लेना चाहिये कि आइन्दा हिन्दुस्तान न केवल हिन्दुओं का होगा और न केवल मुसलमानों का। हिन्दू राज्य के स्वप्न केवल हमारी दिली और दिमाग़ी कमज़ोरियों और हमारी बदक़िस्मती के लच्छन हैं। हिन्दुस्तान इस देश के रहने वाले सब भाई और बहनों का यकसां होगा, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, ईसाई हों या पारसी, सिख हों या जैन, आस्तिक हों या नास्तिक।

इस बारे में हमारे अन्दर सब से ज़्यादा ज़हर इतिहास की उन ग़लत किताबों ने बोया है जो आज जादू की तरह, पढ़े लिखे हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के सरों पर चढ़कर बोल रही हैं। हम इस मुल्क पर मुसलमानी हुकूमत के दिनों को दुख और ग्लानि के साथ याद करते हैं। हम भूल जाते हैं कि सम्राट औरङ्गज़ेब तक के दिनों में, जिसका साम्राज्य इस समय के ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य से भी रक़बे में ज़्यादा था, देश के इस सिरे से उस सिरे तक धन धान्य की वह रेल पेल थी जो शायद उससे पहले दुनिया के किसी भी देश को नसीब न हुई थी और जो आज इस देश के लिये केवल एक बीता हुआ स्वप्न है। कोई किसान दूध दही या फल बेचना पाप समझता था। हर किसान को हर तीसरे साल अपना फालतू नाज तालाबों में सड़ाकर अपने पशुओं को खिला देना पड़ता था या खाद के काम में लाना पड़ता था। हम गोरक्षा के लिये बेचैन हैं। हमें आज इस बात पर मुश्किल से विश्वास होता है कि सम्राट औरङ्गज़ेब के पचास बरस के लम्बे शासन में दिल्ली के क़िले के अन्दर कभी एक दिन के लिये तोला भर गाय का मांस दिखाई नहीं दिया और साम्राज्य भर के अन्दर इधर से उधर तक पूरे पचास साल तक इस नियम का कड़ाई के साथ पालन किया गया कि अगर कोई मनुष्य किसी गाय पर छुरा चलाने के जुर्म में पकड़ा जावे तो उसके दोनों हाथ काट लिये जावें। मुग़ल शासन में लगभग ढाई सौ बरस तक गोहत्या इस देश में क़ानूनन और कड़ाई के साथ बन्द रही। हम यह नहीं कहते कि औरङ्गज़ेब ने या किसी

मुसलमान या हिन्दू शासक ने ग़लतियां न की हों। ज़ाहिर है कि इन्हीं की ग़लतियों का नतीजा कम या ज़्यादह हम आज भुगत रहे हैं। लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि हिन्दुओं पर जितने ज़ुल्म सम्राट औरङ्गज़ेब के नाम के साथ जोड़े जाते हैं उनमें से ९० फ़ी सदी से ज़्यादा बिलकुल कल्पित हैं और उस सारे इतिहास का दूसरा पहलू मेल जोल और प्रेम का पहलू हमारी आंखों से बिलकुल छिपा कर रखा जाता है। इन सब हिन्दू मुसलिम झगड़ों और ग़लत फ़हमियों का एक ज़बरदस्त और बुनियादी इलाज यह है कि हम हिम्मत बांधकर एक बार भारतीय इतिहास के मुसलिम शासनकाल को नये सिरे से अध्ययन करें। मेहनत, निष्पक्षता और सचाई के साथ उस पर देश वासियों की जानकारी के लिये छोटी बड़ी किताबें तय्यार करें और इन ग़लत फ़हमियों के नाशकर जंजाल से निकल कर भविष्य के लिये सचमुच एक उदार, विशाल और सब को अपनी गोद में लिए हुए, सबका एक सा मान रखते हुये, सबको एक सी उन्नति का मौक़ा देते हुये, नये आज़ाद हिन्दुस्तान की कल्पना कर सकें।

ग़लत रविशें

इस ग़लत फ़हमी में पड़कर हमने सबसे बड़ी ग़लती अपनी भावी क़ौमी ज़बान के बारे में ही की है। हमें अगर दुनिया से ज़िल्लत के साथ मिटना नहीं है तो यह हमेशा के लिये समझ लेना चाहिये कि हिन्दुस्तान की क़ौमी ज़बान वही ज़बान हो सकती है जिसे हिन्दू ... विद्वान एक साथ बैठकर ... और हिन्दी दोनों के ... अब तक की इस ग़लती को हम जितनी ... कर लें उतना ही अच्छा है। इसी तरह हमें अलग अलग क्लबों; अलग अलग अखाड़ों और अलग अलग स्कूलों, कालेजों वग़ैरह की जगह भी हर शहर में उसी तरह की मिली जुली संस्थाओं और मिली जुली ज़िन्दगी को फिर से क़ायम करने की कोशिश करनी चाहिये जिस तरह की संस्थायें और जिस तरह की ज़िन्दगी आज से बीस तीस साल पहले तक ख़ास कर उत्तर भारत के एक एक शहर में दिखाई देती थी और कहीं कहीं अभी तक दिखाई देती है।

दंगे की सूरत में हमारा फ़र्ज़

दङ्गे हो जाने की सूरत में हमें जल्दी से जल्दी हर गांव या हर मोहल्ले के अन्दर समझदार हिन्दू मुसलमानों की इस तरह की मिली जुली कमेटियां क़ायम करनी चाहियें जो अपने अपने इलाक़े के अन्दर अमन क़ायम रखने, हिन्दू मुसलमानों की हिफ़ाज़त करने और मुसलमान हिन्दुओं की हिफ़ाज़त करने और दंगे के असर को फैलने से रोकने की कोशिश करें। मुख़्तलिफ़ मौक़ों पर इलाहाबाद, बनारस, कानपुर, पटना और बम्बई जैसी अनेक जगहों में इस तरह की कमेटियां बनी हैं और उनसे बेहद फ़ायदा हुआ है। जो स्वयंसेवक दल इन कमेटियों के मातहत काम करें वे भी हिन्दू मुसलमानों के मिले हुए दल ही होने चाहियें। एक दूसरे के मोहल्ले ख़ाली करने या एक दूसरे की आर्थिक, तिजारती या दूसरे क़िस्म का बायकाट करने की ज़हरीली तहरीकों को किसी क़ीमत पर भी हमें ज़ोरों के साथ रोकना और दबाना चाहिये। हमें दिन पर दिन मेल मिलाप के मौक़े ढूंढ़ने, बनाने और गढ़ने चाहियें। हमें एक क्षण के लिये भी यह नहीं भूलना चाहिये कि आख़िर हिन्दू और मुसलमानों को इस देश में मिलकर रहना है और धार्मिक माइनों में सच्चे हिन्दू और सच्चे मुसलमान होना तो दूर रहा, अगर हम अपने सच्चे इनसान होने का कोई सुबूत दे सकते हैं और दुनिया में ज़िन्दा रहने के अपने को मुस्तहक़ साबित कर सकते हैं तो केवल इस

केवल हिन्दू भी अपने को कर सकते हैं।

रक्षा के उपायों और केवल ...

या मुसलिम आत्म रक्षा के उपायों से हम ...

तरह बचना चाहिये। हमें याद रखना चाहिये कि

पृथकता को ज़्यादा मज़बूत करने का रास्ता मेल को

'विश्ववाणी' पर लोकमत

अभ्युदय

इलाहाबाद, २ जून, १९४१

'विश्ववाणी' विश्व-प्रेम और सांस्कृतिक ऐक्य के जिस पावन ध्येय के साथ पिछले पांच महीने से गुंजित हो रही है, उसका हम सादर अभिनन्दन करते हैं; और हमारा विश्वास है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति हमारे साथ होगा। आज जब साम्प्रदायिक तथा स्वार्थपूर्ण मनोवृत्तियां मानवता का नाश करने पर तुली हुई हैं, हमारे लिए ऐसा कल्याण प्रद सन्देश लेकर विश्ववाणी साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुई है। अतएव उसकी उपयोगिता और सामयिकता की बात कहने की तो जरूरत ही नहीं। हिन्दी सामयिक-साहित्य के अछूते अङ्ग की पुष्टि के इस स्तुत्य प्रयत्न में भारत के मान्य एवं अधिकारी लेखकों और महान पुरुषों के अलावा विश्व के विख्यात विद्वानों का सहयोग है। और यह स्पष्टतया उसके उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। सच पूछा जाय तो बहुत कम ऐसी चीज़ें हिन्दी के सामयिक साहित्य में मिलेंगी, जिन्हें पढ़ कर हम समझ सकें कि हमारे ज्ञान-भण्डार में कुछ वृद्धि हुई है, और हमारे पैसे का उचित मूल्य हमें मिला है। 'विश्ववाणी' का आविर्भाव इस शिकायत को दूर कर रहा है। भाषा के सम्बन्ध में विवाद पसन्द करने वालों को मसाला मिल सकता है; मगर पत्रिका की भाषा उसकी नेकनीयती की प्रतीक है और यथासंभव सरल रखी जाती है।

जो पत्रिका पंडित सुन्दरलाल के संरक्षण में निकले, उसकी सफलता आश्चर्यजनक नहीं।

जागरण

कलकत्ता, १८ मई, १९४१

पत्रिका का उद्देश्य संसार की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विचार धारा को हिन्दी-भाषी जनता के सम्मुख पेश कर उसे एकता की ओर बढ़ाने का है। देश के सभी विद्वानों का सहयोग इसे प्राप्त है। इन पांच महीनों के अङ्कों में प्रकाशित लेखों को देखकर यह आशा की जा सकती है कि 'विश्ववाणी' हिन्दी में प्रकाशित सभी पत्र-पत्रिकाओं से आगे बढ़ जायगी। हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी-भाषा-भाषी जनता 'विश्ववाणी' का हृदय से स्वागत करेगी।

LEADER

Allahabad, June 2, 1941

The current number of this unique magazine maintains the high standard it has set before itself and the enviable reputation that it has acquired during the brief period of its existence, as a cultural and literary journal whose editor knows his mind Some of the prominent contributors to this issue are Mahatma Gandhi, the poet Tagore, Dr. Iswar Nath Topa, Dr. Mehdi Hussain, Pandit Sundar Lal, the 'Mataji' of Pondicherry, Mr. Manzar Ali sokhta and others Breadth of vision and of outlook are the distinctive features of the views that are expressed in it's pages. It is different from the common run of Hindi journals in so far as it seeks not merely to entertain the reader but also to promote the higher cultural values and social ends that are calculated to promote national unity and international understanding.

विषय-सूची

(जुलाई १९४१)

रूस के ऐतिहासिक अहिंसात्मक सत्याग्रह का अमर-दृश्य

पहली जुलाई सन् १९०५ को सेण्टपीटर्सबर्ग में इसी अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा रूसी-क्रान्ति की बुनियाद रखी गई। ज़ार के महल के सामने प्रदर्शन के अपराध में २०० रूसी स्त्री, पुरुष और बच्चों को ज़ार के कॉसक सिपाहियों ने गोली से उड़ा दिया था। उनकी ३६वीं पुण्य-तिथि पर हमारी नम्र श्रद्धाञ्जलि

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

वर्ष १, भाग २ | जुलाई, १९४१ | अङ्क १, पूरे अङ्क ७

मद्रास, बम्बई, होलकर राज्य, मैसूर और काशमीर स्टेट के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिये स्वीकृत

मोग़ल शासन की झांकी

सर जदुनाथ सरकार, एम० ए०, एल-एल० डी०, के० टी०

अकबर के सिंहासन पर बैठने के समय से मोहम्मद शाह की मृत्यु के समय तक (१५५६-१७४९) मुग़ल शासन के इन दो सौ साल ने समस्त उत्तरी भारत और अधिकांश दक्खिन को भी एक सरकारी भाषा, एक शासन पद्धति, एक समान सिक्के और हिन्दू पुरोहितों या निश्चल ग्रामीण जनता को छोड़ कर बाक़ी समस्त श्रेणियों के लोगों के लिए एक व्यापक सर्वप्रिय भाषा प्रदान की। जिन प्रान्तों पर मुग़ल सम्राटों का बराहेरास्त शासन था, उनसे बाहर भी आस पास के हिन्दू राजा, कम या अधिक मुग़लों की शासन प्रणाली, उनकी सरकारी परिभाषाओं, उनके दरबारी शिष्टाचार और उनके सिक्कों का उपयोग करते थे।

मुग़ल साम्राज्य के अन्दर बीस भारतीय 'सूबे' थे। इन सब सूबों पर ठीक एक प्रणाली के अनुसार शासन किया जाता था, सब में एक शासन-विधि का पालन किया जाता था और विविध सरकारी ओहदों के नाम और उपाधियां सब में एक समानता थी। तमाम सरकारी मिसलों, फ़रमानों, सनदों, माफ़ियों, राहदारी के परवानों, पत्रों और रसीदों में एक फ़ारसी भाषा का उपयोग किया जाता था। साम्राज्य भर में एक समान वज़न, एक से मूल्य एक नाम और एक सी धातु के सिक्के प्रचलित थे। केवल जिस शहर की टकसाल का कोई सिक्का बना होता था, उस शहर का नाम उस पर और खुदा होता था। सरकारी कर्मचारियों और सिपाहियों का अक्सर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में तबादला होता रहता था। इस तरह एक प्रान्त के रहनेवाले दूसरे प्रान्त में पहुंच कर उसे क़रीब क़रीब अपने घर की तरह समझने लगते थे। सौदागर और यात्री निहायत आसानी से एक शहर से दूसरे

शहर और एक सूबे से दूसरे सूबे में आ जा सकते थे, और साम्राज्य की छाया में सब लोग इस विशाल देश की एकता को अनुभव करते थे।

मुग़लों ने बुद्धिमत्ता के साथ ग्राम शासन की पुरानी पद्धति को और लगान वसूल करने के पुराने हिन्दुओं के तरीक़े को ज्यों का त्यों जारी रखा, यहां तक कि लगान के मोहकमे में अधिकतर केवल हिन्दू ही नौकर रखे जाते थे। नतीजा यह हुआ कि राजधानी के अन्दर राजकुल के बदल जाने से हमारे करोड़ों ग्रामवासियों के जीवन पर किसी तरह का अहितकर प्रभाव न पड़ता था।

जिस समय कोई नया सूबेदार नियुक्त किया जाता था, तो उसे और बातों के साथ साथ यह हिदायत दी जाती थी—

"रय्यत को इस बात के लिये प्रोत्साहन देना कि वे खेती को उन्नति दें और अपने पूरे दिल से खेती बाड़ी को बढ़ायें। कोई चीज़ उनसे ज़बरदस्ती न छीनना। याद रखना कि रय्यत ही राज की आमदनी का एक मात्र स्थायी ज़रिया है.. इस बात का ख़याल रखना कि बलवान निर्बलों पर अत्याचार न करें।"

लगान की वसूली में खेतिहर के साथ किसी तरह की ज़बरदस्ती की इजाज़त न थी। एक हिदायत हर समय में यह होती थी कि—

"यदि किसी आमिल के इलाक़े में कई साल की लगान की बक़ाया चली आती है, तो तुम उस रक़म को किसानों से बहुत आसान क़िस्तों में वसूल करना, यानी बक़ाया का केवल पांच फ़ीसदी हर फ़सल के मौक़े पर वसूल करना।"

अंगरेज़ों के आने से पहले किसी किसान को लगान अदा न करने के क़सूर में ज़मीन से बेदख़ल न किया जाता था। कोई किसान भूखा न था। बटाई की प्रथा के अनुसार चूंकि लगान पैदावार की शक्ल में लिया जाता था, किसान को बड़ा फ़ायदा रहता था, क्योंकि लगान की अदायगी हर साल की असली पैदावार पर निर्भर होती थी। इसके ख़िलाफ़ आजकल का लगान रुपयों की शक्ल में नियत होता है, जिसका उस साल की पैदावार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

सन् १६७३ में सम्राट औरङ्गज़ेब ने अपने साम्राज्य भर में एक ऐलान प्रकाशित किया, जिसमें ५४चीज़ों की एक सूची दी गई थी और लिखा था कि इनमें से किसी के ऊपर प्रजा से किसी तरह का महसूल आदि न लिया जाय। इसी ऐलान में सम्राट ने राज कर्मचारियों और ज़मीदारों को आज्ञा दी कि किसी किसान से किसी तरह की भी भेंट या बेगार न ली जाय। इन ५४ चीज़ों में मछली, तेल, घी, दूध, दही, उपले, तरकारियां, घास, ईंधन, मिट्टी के बर्तन, ऊंट, गाड़ियां, चरागाह, सड़कों की रहदारी का महसूल, नदियों की उतराई का महसूल, रुई, गल्ला, रस, कपड़े की छपाई, इत्यादि भी शामिल थीं। इसी ऐलान में लिखा था कि गङ्गा या अन्य तीर्थों में नहाने वालों से या अपने मुर्दों की अस्थियां गंगा में ले आने वाले हिन्दुओं से किसी तरह का महसूल न लिया जाय।

उस समय के इतिहासों और पत्रों से ज़ाहिर है कि मुग़ल साम्राज्य के अधिराज की नीति सदा यही होती थी कि रय्यत पर किसी तरह का अत्याचार न होने पाये। यह बात साबित की जा सकती है कि यह नीति केवल एक शुभ कामना ही न थी, बल्कि यही उस समय की सच्ची हालत थी। शाहजहां और औरङ्गज़ेब के समय की अनेक ऐसी घटनाएं उस समय के इतिहास से मिलती हैं, जिनमें कि ज्योंही माल के मोहकमे के किसी कर्मचारी, या किसी प्रान्त के सूबेदार की सख़्ती या ज़बरदस्ती की कोई शिकायत प्रजा की ओर से सम्राट के कानों तक पहुँची, तुरन्त उस राज कर्मचारी को या उस सूबेदार तक को बरख़ास्त कर दिया गया।

एक दिन शाहजहां साम्राज्य के माल के काग़ज़ात का मुआयना कर रहा था। उसने देखा कि किसी गांव की उस साल की मालगुज़ारी पिछले वर्षों की मालगुज़ारी से कई हज़ार अधिक दर्ज है। तुरन्त माल के मोहकमे के प्रधान अफ़सर दीवाने आला सादुल्ला

ज्ञों को तलब किया गया। सम्राट ने दीवान से माल-गुज़ारी के बढ़ने की वजह पूछी। तहक़ीक़ात कराने पर मालूम हुआ कि उस साल गांव के पास नदी कुछ पीछे हट गई, जिससे गांव की ज़मीन बढ़ गई थी। इसीलिये लगान बढ़ाया गया था। सम्राट गुस्से में भरकर चिल्ला पड़ा—

"उस जगह के यतीमों, बेवाओं और ग़रीबों की आहोज़ारी पर वहां की ज़मीन का पानी सूख गया है। यह उनको ख़ुदा की एक देन थी, तुमने उसे राज के लिये छीनने का साहस किया! यदि ख़ुदा के बन्दों के लिये रहम का ख़याल मुझे न रोकता, तो मैं उस दूसरे शैतान को यानी उस ज़ालिम फ़ौजदार को, जिसने इस नई ज़मीन से लगान वसूल किया है, फांसी का हुक्म देता। अब उसे सिर्फ़ बरख़ास्त कर देना उसके लिये काफ़ी सज़ा होगी, ताकि दूसरे लोग भी आगाह हो जायं, और इस तरह की बेइन्साफ़ी के बदकार न करें। हुकुम जारी करदो कि फ़ौरन जितना ज़्यादा लगान वसूल किया गया है, वह सब जिन किसानों से लिया गया है, उन्हें फ़ौरन वापस कर दिया जाय।"*

न्याय शासन में पंचायतों को सहायता देने और उनके काम को पूरा करने के लिये एक 'क़ाज़ी' और दीवानी के मुक़दमों के लिये एक सदर होता था। साम्राज्य भर के क़ाज़ियों का अफ़सर एक क़ाज़िउल-कुज़्ज़ात होता था, जो राजधानी में रहता था। इसी तरह तमाम सद्रों के ऊपर एक सद्रुस्सुदूर होता था। हर नये क़ाज़ी की नियुक्ति के समय राज की ओर से उसे नीचे लिखी हिदायत की जाती थी—

"हमेशा इन्साफ़ करना, ईमानदार रहना और किसी की रू रियाअत न करना। मुक़दमे या तो अदालत की जगह और या सरकारी दफ़्तर में हमेशा दोनों फ़रीक़ की मौजूदगी में करना।

"जिस जगह तुम्हारी नियुक्ति हो वहां के किसी आदमी से किसी तरह का उपहार स्वीकार न करना, और न किसी के जल्से इत्यादि में आना।"

"अपने फ़ैसले दस्तावेज़ वग़ैरह बड़ी सावधानी से लिखना ताकि कोई उनमें नुक़्स निकालकर तुम्हें शरमिन्दा न करे।"

"ग़रीबी को ही अपने लिये गौरव जानना।"

अकबर के ही अधीन हिन्दी में तुलसीदास और बङ्गला में वैष्णव लेखकों के प्रताप एक ज़बरदस्त हिन्दू साहित्य देश की भाषाओं में पैदा हुआ। सम्राट अकबर ही ने इस देश में एक सच्चे राष्ट्रीय दरबार को जन्म दिया और अकबर के अधीन भारतीय मस्तिष्क का बहुत बड़ा उत्थान हुआ।†

* India Office Library, Persian Manuscript, No. 370, interleaf facing folio 68.

†प्रसिद्ध अंगरेज़ विद्वान एच० जी० वेल्स सम्राट अकबर के विषय में लिखता है—

"हर तरह के पक्षपात से शून्य—जो समाज के टुकड़े-टुकड़े करके मतभेद पैदा करते हैं, दूसरे धर्मों के लोगों की ओर उदार, हिन्दू या द्रविड़ समस्त जातियों के लोगों की ओर समदर्शी, वह इस तरह का मनुष्य था, जो साफ़-साफ़ अपने साम्राज्य भर की परस्पर विरोधी जातियों और श्रेणियों को मिलाकर एक प्रबल और समृद्ध राष्ट्र बना देने के लिये पैदा हुआ था [The Outline of History, by H. G. Wells, London, P. 455]

एक दूसरे स्थान पर एच० जी० वेल्स लिखता है—

"एक सच्चे नीतिज्ञ के समान उसमें समन्वय की स्वाभाविक प्रवृत्ति मौजूद थी। उसने निश्चय किया कि मेरा साम्राज्य न मुसलिम होगा न मुग़ल, न राजपूत होगा न आर्य, न द्रविड़ होगा न हिन्दू, न उच्च जातियों का होगा न नीच जातियों का, मेरा साम्राज्य भारतीय साम्राज्य होगा।" Ibid. P. 459.

अकबर भारत की उन राष्ट्रीय लहरों का केवल मूर्तिमान फल था, जो अकबर के सैकड़ों साल पहले से भारत में चल रही थीं और जो अकबर के बाद तक भी अपना काम करती रहीं। सम्राट हर्ष वर्धन अकबर से कई सौ साल पहले प्रयाग में शिव, बुद्ध और सूर्य तीनों के मन्दिरों में जाकर बारी-बारी पूजा किया करता था। बंगाल में सम्राट हुसेन शाह द्वारा 'सत्य पीर' की पूजा का प्रचार, जिसे हज़ारों हिन्दू और मुसलमान एक समान मानते थे, अकबर के धार्मिक विचारों का एक प्रारम्भिक रूप था। फिर भी अकबर का व्यक्तित्व और उसका लक्ष्य दोनों निराले और अत्यन्त महान थे।

धार्मिक क्षेत्र में "दीने इलाही" द्वारा उसने एक सरल सार्वजनिक धर्म की नींव रखने की कोशिश की। सामाजिक जीवन में उसने हज़ारों साल की उस प्रथा को, जिसके अनुसार हर विजेता अपने युद्ध के क़ैदियों को ग़ुलाम बना लिया करता था, सन् १५८२ में क़ानूनन बन्द कर दिया। बलात् वैधव्य, बाल विवाह, बहु विवाह, धर्म के नाम पर पशुबलि और सती की प्रथा को उसने यथा शक्ति बन्द करने का प्रयत्न किया। किन्तु उसने अपने किसी सुधार को तलवार के ज़ोर से चलाने की चेष्टा नहीं की। फ्रेडरिक आगस्टस लिखता है कि अकबर प्रतिदिन ग़रीबों में जितना भोजन वस्त्र इत्यादि बंटवाता था और अपनी तीर्थ यात्राओं में जितना दान दिया करता था, उसमें साम्राज्य की आयका एक ख़ास हिस्सा ख़र्च हो जाता था। स्त्री जाति की स्वतन्त्रता का वह सच्चा पक्षपाती था। अकबर ने एक संयुक्त भारतीय राष्ट्र को अपनी आंखों के सामने साक्षात् करने का प्रयत्न किया। वास्तव में उसने एक नये भारत की रचना करनी चाही। जिस भारतीय राष्ट्रीयता को इस समय भारत में जन्म देने का प्रयत्न किया जा रहा है, उसका सबसे पहला प्रवर्त्तक और प्रचारक सम्राट अकबर ही था। फ्रेडरिक आगस्टस लिखता है—

"बहैसियत एक सेनापति के अकबर महान था, बहैसियत राजनीतिज्ञ के वह एक नये समाज का निर्माण कर्ता था और सच्चे मानव धर्म के एक क्रियात्मक व्याख्याता की हैसियत से आज तक कोई उससे बढ़कर नहीं हुआ।" [The Emperor Akbar, etc., by Frederic Augustus, P. 296]

—सम्पादक

विश्ववाणी ही के ग्राहक क्यों बनें ?

भारतीय चित्रकला

प्रोफ़ैसर हुमायूं कबीर, एम० ए०

प्रोफ़ैसर कबीर कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध और आदरणीय प्रोफ़ैसर हैं। कला के आप बहुत उच्चकोटि के पारखी हैं। संस्कृति और कला विषयक बंगला मासिक पत्र 'चतुरङ्ग' के आप सम्पादक हैं। प्रोफ़ैसर साहब राष्ट्रीय विचारों के हैं और बंगाल लेजिस्लेटिव कौन्सिल के सदस्य भी हैं। 'विश्ववाणी' पर हम प्रोफ़ैसर साहब की इस कृपा के बहुत आभारी हैं।

किसी भी क़ौम को अमर बना देने वाली चीज़ उस क़ौम का आर्ट यानी उसकी कला है। राजनैतिक परिस्थितियां रोज़ बदलती रहती हैं। जिस तरह से ये दृश्य बदलते रहते हैं, दुनिया के दिमाग़ पर उनका कोई टिकाऊ असर नहीं रहता। फ़लसफ़े या दर्शन-शास्त्र में भी कभी कभी बाल की खाल पर बहसें इतनी बढ़ जाती हैं कि उस सारी फ़िलासफ़ी का असली रूप नज़र से गुम हो जाता है, यहां तक कि दिमाग़ की पेचीदगियों में आत्मा लोप हो जाती है। लेकिन कला में केवल बुनियादी और सीधी सादी चीज़ें क़ायम रहती हैं और क़ौम के दिलो दिमाग़ पर सदा के लिए अपनी छाप लगा देती हैं। यही वजह है कि किसी भी क़ौम के असली चरित्र, उसकी गहरी से गहरी भावनाओं का पता उसकी कला से ही लगता है। आइन्दा आने वाली नस्लें और आइन्दा के ज़माने के लोग पुरानी कला को देख कर ही क़ौम के असली चरित्र को समझ सकते हैं।

तरह तरह की कलाओं में भी सब से ज़्यादा टिकाऊ और बुनियादी कला चित्रकला है। आदमी के परस्पर सामाजिक व्यवहार में शब्द केवल एक तरह के सिक्के का काम करते हैं। समाज की संस्थायें जैसे जैसे बदलती जाती हैं वैसे वैसे ही शब्द भी बदलते रहते हैं। इल्म मुसीक़ी यानी गायन कला एक बुनियादी कला है। लेकिन वह टिकाऊ नहीं कही जा सकती। गाना-बजाना सुनने से जो भावनायें हृदय में उत्पन्न होती हैं, वे इतनी क्षणिक और आकार रहित होती हैं कि उनका असर आत्मा में एक अस्पष्ट लहर सी पैदा कर देने से ज़्यादा प्रायः कुछ नहीं होता। इस कला में स्पष्टता की कमी ही वह ख़ास चीज़ है, जिसकी वजह से किसी क़ौम का ख़ास चरित्र या उनकी असली विशेषतायें इससे पूरी तरह ज़ाहिर नहीं हो सकतीं।

चित्रकला जब कि पिछली बुनियादों तक पहुंचती है, साथ ही उससे क़ौम के विशेष आकार और आचार का भी पूरा पता चल जाता है। ईरान की पुरानी चित्र कला से साफ़ पता चलता है कि उस ज़माने के ईरानी अपने आचार व्यवहार में किस तरह कांटे की तौल ठीक ठीक चलने की कोशिश करते थे। इसी तरह चीनी चित्रकला से चीनियों की बुनियादी किफ़ायतशारी यानी मौलिक मितव्ययिता का पता चलता है। दोनों से दोनों क़ौमों का चरित्र अलग अलग चमक उठता है। हालैंड की पुरानी ठोस शहरी सभ्यता और आज कल के यूरुप की दुखी आत्मा, इन दोनों का फ़र्क़ जितने ठीक ठीक

और जितनी सचाई के साथ इन दोनों की चित्रकला में देखा जा सकता है उतना शायद उनकी किसी और कला में नहीं। और जो बात दूसरे देशों की चित्रकला की बाबत कही जा सकती है ठीक वही भारतीय चित्रकला के बाबत कही जा सकती है।

पुराने ज़माने की भारतीय चित्रकला के उस लम्बे इतिहास पर अब हमें अधिक समय देने की ज़रूरत नहीं है जिसे एक बार लोग बिल्कुल भूल गये थे। एक दूसरे के बाद बाहर के हमला करने वालों से जो कुछ बचा था उसे ख़राब मौसिम के असरों और काल के हमलों ने ख़तम कर दिया। दुनियां भूल गई थी कि अजंता की गुफ़ाओं में वह बहुमूल्य कारीगरी सुरक्षित है जिसे देखकर याद आ जाता है कि उस कला के कलाकारों ने अपनी कला में भूत, भविष्यत् और वर्तमान से ऊपर उठने यानी काल की सीमाओं को लांघ जाने की कोशिश की थी। उन चित्रों में शक्लें इतनी ग़ज़ब की लचीली दिखाई देती हैं कि उस ज़माने की कला ठोस सांसारिक जीवन से बिलकुल एक अलग ही मालूम होती है। इस देश की ग्रीष्म ऋतु से गरमी और रोशनी चारों ओर फैलती है किन्तु इस फैलने से ही चीज़ों का अलग अलग व्यक्तित्व पिघलने और मिटने लगता है और एक तरह का अस्पष्ट ख़ाका और धुंधला समन्वय उसकी जगह ले लेता है। इसके बाद मुग़ल और राजपूत चित्रकला का समय आता है। इन चित्रकलाओं में चीज़ों के वही कांटे की तौल ठीक ठीक होने पर ज़ोर दिया गया है। मालूम होता है कि कला के क्षेत्र में भी तर्क और बुद्धिवाद ने एक दरजे तक अपना अड्डा जमाया। मुग़ल और राजपूत चित्रकला में दरबारी आदाब की दुनिया दिखाई देती है। वह एक सुरीले स्वर में दरबार के आदाब तरीक़ों का हर वक़्त ख़याल रखती है। यही उसकी विशेषता है। पुरानी भारतीय चित्रकला में आत्मा की जो गहरी तलाश और ऊपर उठने की आकांक्षा दिखाई देती है वह इसमें कहीं नहीं है। पुरानी भारतीय चित्रकला आदमी की ताक़त से बाहर अपने भावों को उठा ले जाने की कोशिश करती है। यही उस कला की गहराई और उसकी अलौकिकता का कारण है। मोग़ल और राजपूत चित्रकला में जो कुछ नफ़ासत या गहराई है वह उसकी सादगी और उसके आत्म संयम का नतीजा है। पुरानी भारतीय चित्रकला हमें एक अलौकिक उन्माद और अलौकिक आल्हाद की तरफ़ उड़ा ले जाती है। मुग़ल और राजपूत चित्रकला हमें इसी दुनिया में स्थिर कर देती है।

इसके बाद भारतीय आत्मा के पतन और उसके टुकड़े टुकड़े होने का समय आया। मुग़ल शासन के ख़त्म होने पर जो राजनैतिक बरबादी हुई उसका असर आत्मा के हर क्षेत्र पर पड़ा। साहित्य, चित्रकला, निर्माणकला, इन सब में पतन या गिराव के साफ़ चिह्न दिखाई देने लगे। पुराने निर्जीव मज़मून बार बार और नीरस ढङ्ग से दोहराये जाने लगे। कला का विस्तार ज़रूरत से ज़्यादा बढ़ा। लेकिन उस विस्तार के साथ साथ अपने अन्दर के तजरुबों की जो गहराई और विपुलता होनी चाहिये थी वह कहीं दिखाई न दी। यही उस समय की कला का ख़ास लक्षण है। इस कला से एक तरह की बन्दिश और निकम्मापन टपकता है।

इसके बाद हमारे यूरोप से मिलने का समय आया। जो लोग शुरू शुरू में यूरोप की सभ्यता के क़ायल हुए उन पर उसका बहुत गहरा असर पड़ा। मैकाले ने कहा था कि अङ्गरेज़ी की किताबों की एक अलमारी एशिया की हज़ारों बरस की जमा हुई बुद्धिमता से ज़्यादा क़ीमती है। और बहुत से लोग भी मैकाले की इस बात को सच मानने लगे। ज़्यादतियां होना क़ुदरती था। वैसे जो आदमी पहले किसी चीज़ का क़ायल होता है वह उस चीज़ की बुराइयों को भलाइयों से अलग करके नहीं देख सकता। यही हुआ। यूरोप की गन्दगियों और वहां के गंवारीपन तक की हमने तारीफ़ें करनी शुरू कर दीं और उनकी उसी तरह बल्कि उससे भी ज़्यादा नक़ल करना शुरू कर दिया जिस तरह हम यूरोप की अच्छी से अच्छी बातों की नक़ल करते थे। चित्रकला

में पहला असर यह पड़ा कि हमने बड़े भद्दे ढङ्ग से यूरोप की व्यापारी कला (Commercial art) की नक़ल शुरू की। लेकिन यह हालत देर तक नहीं रही। ज़्यादह समझदार और ऊंची आत्माओं ने पश्चिमी कला का ठीक ठीक अध्ययन किया और यूरोप वालों में भी इस तरह के काफ़ी आदमी पैदा हुए जिन्होंने भारत की खोई हुई आत्मा का फिर से पता लगाने में हमें मदद दी। इनमें हैवल का नाम बड़ी इज़्ज़त से लिये जाने के क़ाबिल है। हैवल ने भारतीय चित्रकला और उसके रहस्यों का जिस तरह फिरसे अर्थ समझाया उससे भारतीय विद्यार्थियों को नया उत्साह और नई उत्तेजना मिली। हिन्दुस्तानियों में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम सबके पहले सामने आता है। वह एक बड़े पुराने विद्वानों के घराने में पैदा हुए। उन्होंने यूरोप की चित्रकला को अच्छी तरह से सीखा और फिर जान बूझ कर उन्होंने यूरोपीय कला के ढङ्गों को छोड़कर पुराने भारतीय ढङ्ग को फिर से ज़िन्दा करने की कोशिश की। लेकिन उन्होंने अपनी शुरू की शिक्षा को भी व्यर्थ जाने नहीं दिया। यूरोपियन कला की इतने दिनों शागिर्दी करके उन्होंने खिंची हुई रेखा (drawn line) के महत्व को समझा। उन्होंने इस नये ज्ञान का अपने ही मतलब के लिए उपयोग किया। यूरोप की चित्रकला का लक्ष्य है मनुष्य के स्थूल शरीर या किसी भी चीज़ के स्थूल रूप के सौन्दर्य और उसकी सुडौलता को ठीक ठीक चित्रित करना। लेकिन अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की कला इस स्थूल शरीर से ऊपर उठ कर चलती है। उनकी कला में आत्मा की जिज्ञासा इतने ज़ोर की झलकती है कि स्थूल शरीर उस जिज्ञासा के अन्दर पिघल कर रह जाता है। उनकी कला में यूरोपियन कला से संपर्क बराबर बना रहता है। किन्तु जो आत्मा उस कला की जान है और उसमें से झलकती है वह प्राचीन तम एशिया की आत्मा का ही अक्स है।

अवनीन्द्रनाथ से भारतीय चित्रकला का एक नया युग शुरू होता है। उन्होंने न केवल यूरोपियन कला की शक्लों से ही तजरुबे किये बल्कि चीन और जापान की पुरानी कलाओं से भी नये ढङ्ग लिये। उनके अलग अलग चित्रों का तर्ज़ अलग अलग है, लेकिन उनका असली लक्ष्य सदा एक रहता है। वह पुरानी भारतीय कला की आत्मा पर ज़ोर देते हैं। लेकिन कुछ दूसरे लोगों ने उन्हें ग़लत समझा। उनका अनुकरण करने वाले कुछ चित्रकारों ने उनके भारतीय आत्मा पर ज़ोर देने का मतलब प्राचीन भारतीय कला के शरीर, उसकी ऊपरी शक्लों को फिर सामने लाना समझा। इन दूसरे चित्रकारों ने इसी ग़लत भावना के साथ उनका अनुकरण शुरू किया। वे अपने चित्रों में केवल पुरानी शक्लों को फिर से चित्रित करने लगे। क़रीब क़रीब इसी तरह की ग़लती हमने अपने राजनैतिक या राष्ट्रीय जीवन में की। राजनैतिक क्षेत्र में भी हमारे अन्दर जो राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई उसने अकसर जीवन की इस तरह की ऊपरी चीज़ों को, जो अरसा हुआ क़ुदरती मौत मर चुकी थीं, फिर से हमारे सामने लाकर खड़ा कर दिया। इन कालातीत चीज़ों से जिन्हें हम बहुत दरजे तक भूल गये थे फिर से हमें मोह होने लगा। इस ग़लत प्रवृत्ति का प्रभाव राजनीति में दिखाई दिया। चित्रकला में भी इसी गतासून यानी निष्प्राण प्रवृत्ति का हाथ हमारी नई कला की छाती पर बोझ की तरह दिखाई देने लगा। आत्मा की जिज्ञासा और ऊपर उठने की तड़प की जगह केवल भावुकता रह गई। भारतीय कला के रूप पथरा कर कुछ कटी छटी ऊपरी शक्लें बच रहीं। चित्रकला सिर्फ़ तसवीर बन गई। उसमें केवल इस तरह की पुरानी कथाओं और कहानियों को चित्रित किया जाने लगा और उन्हीं में कला को कस दिया गया जिनमें से बहुतसियों के प्राण निकल चुके थे।

कुछ कलाकारों ने इस ग़लत प्रवृत्ति की परवाह न करके, जिसका लक्ष्य केवल पुरानी चीज़ों को सजाना और चित्रित करना ही रह गया था, आज़ाद रविश अख़्तियार की। इनमें से हम यहां केवल दो के नाम दे सकते हैं। एक नन्दलाल बोस हैं। उनमें दो ज़बरदस्त विशेषताएं हैं, एक तो अपने चित्रों में वह तरह

तरह की शक्लों और कला के तरह तरह के तरीक़ों का उपयोग करते हैं। और दूसरे इस बारे में जितनी विभिन्नता उनके अन्दर पाई जाती है, उतना ही उन्हें अपनी कला की क्षमता पर विश्वास है। उनके चित्रों में एक वास्तविकता और एक ठोसपन होता है। यही उनका लक्ष्य होता है। इस बात में उनके गुरू अवनीन्द्रनाथ में और उनमें फ़र्क़ है। नन्दलाल बोस जो कुछ चित्रित करते हैं उसे ठोस और इन्द्रियगोचर बना देना चाहते हैं। इस्तलाही मायनों में यानी रूढ़ि अर्थों में वह केवल शरीर के चित्रकार (Realist) ही नहीं हैं। लेकिन वह अपने चित्रों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के बनाने में पूरे उस्ताद हैं और रेखा का भी वह इतना अच्छा उपयोग करते हैं कि उसी के कारण उनकी गणना सच्चे से सच्चे चित्रकारों में की जाती है। वह तजरुबे से ऊपर उड़ना नहीं चाहते, बल्कि शारीरिक और अलौकिक रूपों को ही ऊंचा ले जाकर अनन्त में मिला देने की चेष्टा करते हैं।

जामिनी राय का लक्ष्य कुछ और है और उन्होंने अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए बिलकुल दूसरे ही तौर तरीक़े ईजाद कर लिए हैं। उनमें एकाग्रता इतनी अधिक है कि कभी कभी बिलकुल मामूली चीज़ें भी उनके चित्रों में बेहद गहरी और शोकान्त दिखाई देने लगती हैं। वह रेखा से बहुत बचते हैं, जिसके कारण उनके चित्रों में वह ग़ज़ब का आत्म संयम, सरलता और एक तरह की तपस्या चमकने लगती है, जो और कहीं बहुत कम देखने को मिलती है। एक ऐसे देश और ऐसे लोगों में, जहां पर लोगों को जमे जमाये ढर्रों पर ही चलने की आदत है, जामिनी राय एक गहरी और स्थिर भावना के साथ कला के मौलिक तत्त्वों से चिपटे रहते हैं। आम जनता की कहानियों, उनके जीवन और उनकी कला के साथ जामिनी राय का ज़ाहिरा सम्बन्ध है और अपने चित्रों में उन्होंने इस जन सामान्य की कला के कुछ चिर-स्थायी अंशों और व्यापक पहलुओं को चित्रित किया है। उनके चित्र जिस तरह के ठोस और शक्तिशाली हैं, उनसे दूसरों को चुनौती भी मिलती है और उत्साह भी। उनकी शक्तिशाली कला से भारतीय कला के भविष्य के लिए बहुत कुछ आशा होती है।

और कई हैं जिनका ज़िक्र करने के लिये हमारे पास जगह नहीं है। चग़ताई की रेखायें ग़ज़ब की नाज़ुक होती हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर असल में तो कवि हैं। उन्होंने जो कुछ इस ओर तजरुबे किये हैं और जो कुछ चित्र खींचे हैं, उनसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के वक्तव्य की ऐसी नई नई गहराइयों का पता चलता है, जिनकी हमें आशा भी नहीं थी। आजकल की यूरोपियन कला से उनका बड़ा सम्बन्ध है। इससे इस बात का पता चलता है कि किस तरह युग की आत्मा अलग अलग और परस्पर भिन्ननाम-रूपों के अन्दर से अपने को प्रकट कर सकती है। और बहुत कुछ कहा जा सकता था। यदि जगह होती, तो इस मैदान के और बहुत से काम करने वालों का ज़िक्र किया जा सकता था। भारत अब दूसरों की नक़ल करने के ज़माने को बहुत पीछे छोड़ चुका। वह फिर एक बार अपने लिये और अपने ही तरीक़े पर विश्व को अपने वास्ते टटोलने और समझने की कोशिश कर रहा है।

चीन की आर्थिक उन्नति

प्रोफ़ैसर तान युन-शान

आरम्भ काल से ही चीन एक कृषि प्रधान देश रहा है। आज से लगभग दस हज़ार बरस पहिले भी चीन में खेती होती थी। आम तौर से लोग केवल खेती पर ही निर्वाह करते थे। वहां एक प्रकार का नियम सा हो गया था कि मर्द खेती करें और औरतें सूत कातें। चीन की एक कहावत है कि, "अगर एक आदमी खेती न करे तो किसी न किसी को ज़रूर भूखा रहना पड़ेगा और अगर एक औरत चर्खा न चलावे तो किसी न किसी को सर्दी में अवश्य कष्ट उठाना पड़ेगा।" खेती के अलावा और जितने भी उद्योग धन्धे थे, सब गौण थे। जीवन निर्वाह तो ज़्यादातर खेती के ही द्वारा होता था। जो लोग दफ़्तरों में काम करते थे या दूसरे दिमाग़ी कामों में लगे रहते थे वे भी पेंशन पाने के बाद खेती करते थे। प्राचीन चीन की बहुत सी ऐसी सुन्दर कहानियां

प्रोफ़ैसर तान युन-शान

मिलती हैं जिनमें लोगों के कृषि-प्रेम की बातें भरी हैं। साधु मेन्शीयस ने लिखा है कि, "बसन्त ऋतु में राजकुमार खेती की जांच करते थे। जुताई के वक्त अगर बीज की कमी पड़ती थी तो वे उसे पूरा करते थे। कटाई के समय अगर उपज कम होती थी तो वे उसको भी पूरा करते थे।" प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ क्वान्ट्ज़े ने कहा है, "राष्ट्र की आमदनी का प्रधान ज़रिया तो खेती ही थी। इसीलिये पुराने ज़माने के राजा किसानों की बहुत इज़्ज़त करते थे।" वह उनके अधिक पढ़ने लिखने के पक्ष में नहीं थे। क्योंकि उनको डर था कि विद्वान होकर कहीं ये स्वयं दूसरों के ऊपर बोझ न बन जायँ।

बादशाही ज़माने में बसन्त ऋतु में एक बड़ा उत्सव होता था। उस समय बादशाह स्वयं अपनी प्रजा के सामने खेती करने के लिये ज़मीन जोतता

था। यह उत्सव पीपिङ्ग के कृषि-मन्दिर में होता था। इस मन्दिर को चीनी भाषा में हिसन-नुगं-तान कहते हैं। आज के चीनी जीवन में बहुत से परिवर्तन हो गये हैं। खेती में दिनों दिन कमी होती जा रही है। लेकिन अब भी वर्तमान मर्दुमशुमारी के अनुसार क़रीब ७५ फ़ीसदी आदमी खेती करते हैं। आज भी खेती चीन का प्रधान धन्धा है।

खेती में सबसे बड़ा सवाल यह होता है कि ज़मीन किसके हाथों में रहे। चीन में भी यह सवाल रहा है। उस समय जब कि लोग घूमा फिरा करते थे और स्थायी रूप से एक स्थान पर नहीं रहते थे ज़मीन का मालिक सारा कुनबा हुआ करता था। जब लोग स्थायी रूप से एक स्थान पर रहने लगे और जम कर खेती करने लगे उस समय भी ज़मीन का मालिक सारा कुनबा ही रहा। चीन की एक प्रसिद्ध पुस्तक है "गीत ग्रन्थ" इसका एक भाग है 'चाऊ सुङ्ग'। इसमें एक जगह लिखा हुआ है—

ईश प्रदत्त नाज बीजों को
सबने सभी जगह बिखराया

इस पंक्ति से साफ़ ज़ाहिर है कि भूमि पर सारे समाज का अधिकार था। कुनबों "ने तरक़्क़ी करके एक राष्ट्र का रूप लिया। इसके साथ ही साथ भूमि पर अधिकार किसका हो और किस प्रकार का हो, इसमें भी कुछ परिवर्तन हुये। परन्तु फिर भी ज़मीन राष्ट्र की सम्पत्ति ही रही। गीत ग्रन्थ में एक जगह कहा है—

गगन के नीचे धरा जो है सभी सम्राट का है.
और जितने आदमी हैं सभी उसी की ही प्रजा हैं

इस स्थान पर यह कह देना आवश्यक है कि राजा का अर्थ वह व्यक्ति नहीं है जो राज्य करता है, बल्कि वह सारी संस्था है जिसके द्वारा राज्य कार्य संचालित होता है। राजा के स्थान पर राज्य अथवा राष्ट्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। उस ज़माने में ज़मीन को सारे राष्ट्र की सम्पत्ति मानते थे। सरकार ने जनता के बीच में ज़मीन को बांट दिया था और वह उनसे लगान लिया करती थी। ज़मीन की मालिक जनता थी, जनता ही उसको इस्तेमाल भी करती थी। इस तरीक़े को शोन-तीन विधान कहते हैं। लेकिन झगड़ा तो तब बढ़ा जब कि राजा ने राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करना शुरू किया और राजा तथा राष्ट्र के बारे में जो विचार थे उनमें गड़बड़ी आने लगी। राजा क्या है और राष्ट्र क्या है, इन दोनों में आपस का सम्बन्ध क्या है इसके बारे में विचारकों में मतभेद हो गया। राजा ने ज़मीन को अपनी ज़ाती जायदाद समझना शुरू कर दिया। उसने जिसको चाहा ज़मीन के टुकड़े अपनी इच्छानुसार बांटना आरम्भ कर दिया। जिन छोटे राजाओं को ये ज़मीनें मिलीं उन्होंने ज़रूरत भर की ज़मीन अपने पास रखकर बाक़ी अपने रिश्तेदारों को दे दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे जो ज़मीन जनता की थी वही राजाओं की ज़ाती जायदाद हो गई।

धीरे धीरे ज़मीन व्यापार की वस्तु हो गई। वह बेची और ख़रीदी जाने लगी। लेकिन चीन में ज़मीन के व्यक्तिगत अधिकार के अन्दर कई विशेषतायें हैं।

(१) ज़मीन पर व्यक्तिगत अधिकार है फिर भी जमीन का काफ़ी हिस्सा जनता के हाथों में है।

(२) ज़मीन ज़ाती तौर पर बेची और ख़रीदी जा सकती है फिर भी वह केवल कुछ ही व्यक्तियों के अधिकार में नहीं चली गई। चीन में ज़मींदारी प्रथा नहीं है। वहां बड़े-बड़े ज़मींदार नहीं हैं। खोज करने पर पता चला है कि जिन लोगों के पास ५० से १०० मो (ज़मीन का एक नाप) तक ज़मीन है उनकी संख्या कुल आबादी की ९ फ़ीसदी है और जिनके पास १०० मो से ऊपर ज़मीन है उनकी संख्या भी कुल आबादी की ५ फ़ीसदी है। ऐसे लोग बिल्कुल ही कम हैं जिनके पास ज़मीन बिल्कुल ही न हो। आम तौर से लोगों के पास दस पांच मो ज़मीन रहती है। इस प्रकार चीन में उनका प्रश्न अधिक गंभीर नहीं है जो लोग बिना ज़मीन के ही जीवन निर्वाह के लिये मजबूर होते हैं। चीन की राष्ट्रीय सरकार ने डा० सन की नीति के अनुसार भूमि सम्बन्धी प्रश्नों

की जांच पड़ताल करनी शुरू कर दी है। उसकी यह कोशिश है कि भूमि-अधिकार के प्रश्न को समाजवादी ढङ्ग से हल किया जाय जिससे सारी भूमि पर सारी जनता का ही अधिकार हो जाय।

चीन विशाल है। जहां तक प्राकृतिक उपज का प्रश्न है चीन समृद्धिशाली भी है। चूंकि बहुत दिनों से चीन एक खेतिहर देश ही रहा है इसलिये राष्ट्र की सबसे भारी सम्पत्ति भी खेती ही है। चावल, गेहूं, जौ, मक्का, कपास, चाय, ईख आदि काफ़ी मिक़दार में चीन में पैदा होती हैं।

चीन में जानवर भी काफ़ी हैं। अभी तक उनकी कुल संख्या तो नहीं कूती जा सकी है फिर भी यह बात प्रसिद्ध है कि चीन की आर्थिक व्यवस्था में पालतू जानवरों का काफ़ी बड़ा स्थान है। जंगलों में बाल वाले जानवर भरे पड़े हैं। इनको मार कर बाल इकट्ठा किये जाते हैं। यह बाल बाहर के देशों में भेजे जाते हैं। अधिकतर यह पश्चिम के देशों में जाते हैं। जंगलों में लकड़ियां भी काफ़ी होती हैं। चीन में तीन जंगली भाग हैं —(१) तीनों पूर्वी सूबे (२) फुकीन का सूबा (३) हुनान का सूबा। इन तीनों में पहिला सब से बड़ा है। इस सूबे में लकड़ी भी सबसे अधिक होती है। फ़ुकीन के जंगलों में कपूर (Camphor) के पेड़ बहुत हैं। व्यापारिक दृष्टि से ये पेड़ आवश्यक और महत्व पूर्ण हैं। मछलियां भी यहां काफ़ी मिलती हैं। ये मछलियां समुद्र, नदी और तालाब सब जगह पाई जाती हैं। समुद्र का वह हिस्सा जहां पर मछलियों का शिकार होता है २,८३,५०० वर्ग मील है। यहां पर जो मछलियां मिलती हैं उनसे राज को १५,३४,७२,३०० डालर सालाना की आमदनी होती है।

चीन में खनिज पदार्थों की बहुतायत है। उद्योग धन्धों और व्यापार में जितने भी खनिज पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है सभी काफ़ी मिलते हैं। कोयला, लोहा, तांबा, मैंगनीज़, तुंग्स्तीन, सोना, चांदी, पेट्रोल, पारा सभी कुछ चीन में बहुतायत से पाये जाते हैं। प्रसिद्ध चीनी भूगर्भ-शास्त्री व० ह० वोंग ने बताया है कि इस समय चीन में २,५०,००,००,००,००० टन कोयला है। जितना कोयला आज ख़र्च हो रहा है उतना ही कोयला लगातार १०,००० वर्ष तक ख़र्च होता रहे तो कहीं जाकर सब कोयला ख़त्म होगा। लोहा भी कम से कम १,१३,२८,०१,५७० टन मौजूद है। लेकिन अधिकतर लोहा मनचूरिया प्रदेश में मिलता है। मनचूरिया प्रदेश अगर सचमुच चीन के हाथ से निकल जाय तो चीन का बहुत नुक़सान होगा। तब चीन के पास लोहा क़रीब क़रीब नहीं के बराबर रह जायेगा। तुंग्स्तीन, जो कि चीन का एक अमूल्य खनिज पदार्थ है, काफ़ी मिलता है। सन् १९३३ ई० में दुनिया भर में १४,००० टन तुंग्स्तीन पैदा हुआ था जिसमें से ६,००० टन केवल चीन में पैदा हुआ था। एंटीमनी भी संसार में सबसे अधिक चीन में ही पैदा होता है। चीन देश में जितने भी खनिज पैदा होते हैं अगर उन सबको वहीं इस्तेमाल किया जाये तो इसमें कोई शक नहीं कि पहिले की तरह फिर से चीन संसार के सबसे अधिक समृद्धशाली देशों में से एक हो जाये।

हालाकि आरम्भ से ही चीन एक खेतिहर देश रहा है फिर भी वहां उद्योग धन्धों की कमी नहीं रही है। रेशम और चीनी मिट्टी के बर्तन तो चीन से ही संसार भर को गये हैं। रोम-साम्राज्य के जमाने में ही योरप के लोगों ने चीन के रेशमी कपड़ों और रेशम को जान लिया था। वे इनका इस्तेमाल भी करने लगे थे। लगभग २०० ई० पू० से ही चीन ने पश्चिमी संसार से रेशम का व्यापार करना आरम्भ कर दिया था। १७ वीं सदी में योरप में चीन के रेशमी कपड़ों का इस्तेमाल करना सभ्यता की निशानी समझी जाने लगी थी। इसी प्रकार चीनी मिट्टी के सुन्दर बर्तनों के लिये भी संसार के लोग चीन को बहुत दिनों तक याद रखेंगे। मिंग बादशाहों (१३६८-१६४४) के ज़माने में ये बर्तन अपनी सुन्दरता की पराकाष्ठा को पहुँच गये थे। "इसी ज़माने में समुद्र से होकर योरप से व्यापार करने का सीधा मार्ग खुला।

इसी ज़माने में चीनी मिट्टी के भारी बर्तनों को योरप तक ले जाना और व्यापार करना सम्भव हुआ।"

सादा जीवन और ऊंचे आदर्श

शुरू से ही आर्थिक दृष्टि से चीन किसी पर निर्भर नहीं रहा। ख़ुद चीन में खनिज पदार्थ तथा वे तमाम चीज़ें मौजूद थीं जिसके बल पर वे अपनी आर्थिक व्यवस्था को स्वतन्त्र रख सके। इंगलिस्तान का राजदूत मेकार्टनी एक दफ़ा बादशाह शीनलुंग के पास व्यापार-सम्बन्धी बात चीत करने गया। उस समय शीन लुंग ने मेकार्टिनी से कहा था कि चीन देश में सब तरह के पदार्थ मौजूद हैं और वह विदेशी असभ्यों से व्यापार सम्बन्ध करके उनकी चीज़ों को लेना नहीं चाहता। लेकिन सम्राट शीन लुंग को पता था कि इन "विदेशी असभ्यों" को चीन के सामानों की ज़रूरत है, ख़ास तौर से चाय, चीनी मिट्टी के बर्तन और रेशम की। इसीलिये इन विदेशियों से व्यापार करने के लिये मकाओ का बन्दरगाह खोल दिया गया। इसमें कोई शक नहीं कि स्वयं चीन को किसी भी विदेशी माल की ज़रूरत नहीं थी।

इतना ही नहीं। हुनान सूबे की मिसाल लीजिये। वहां पर इतना काफ़ी खाने का सामान होता है कि वह सूबा अपने यहां की ज़रूरत पूरी कर लेने के बाद बाहर वालों को भी खिला सकता है। इसीलिये हुनान का सूबा व्यापार करके और अपने यहां का सामान दूसरी जगहों पर भेज करके काफ़ी अमीर हो गया है। यही कारण है कि जिन आक्रमणकारियों ने चीन पर हमले किये हैं उनकी आंखें हमेशा इस सूबे पर और इसी प्रकार के दूसरे सूबों पर लगी रहीं। इन सूबों से उन्हें काफ़ी आमदनी होती थी।

वहां के गांव भी स्वतन्त्र आर्थिक जीवन व्यतीत करते हैं। गांवों में ही खेती के साथ साथ कपड़ों का भी काम होता है। दैनिक आवश्यकता की छोटी मोटी चीज़ें गांवों में ही मिल जाती हैं। गांवों में मशीन की चीज़ों का अभी ज़्यादा प्रचार नहीं हुआ है। वहां बड़े बड़े मेले लगते हैं और उन मेलों में लोग आपस में मिलते हैं और वहीं वस्तु विनिमय कर लेते हैं। इन मेलों से बड़ा लाभ होता है। लोगों का जी भी बहलता है और साथ ही अपनी ज़रूरत के सामान भी लोग ख़रीद लेते हैं। ये मेले साल में कई बार लगते हैं। इन मेलों का वर्णन वहां के कवियों और लेखकों ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया है।

साधु मेन्शीयस ने लिखा है कि गांव के लोग शायद ही कभी बाहर जाते हों। अपने ज़िले के बाहर तो वे कभी भी नहीं जाते। गांवों के रहने वाले ये लोग एक दूसरे की सहायता करते हैं। एक दूसरे के काम आते हैं और सहयोग से ज़िन्दगी बिताते हैं। बीमारी में एक दूसरे की मदद करते हैं और गांवों की रखवाली भी करते हैं। सचमुच उनका जीवन सहयोग और सहानुभूति से पूर्ण है। लाओत्ज़े ने भी सुन्दर शब्दों में ग्राम-जीवन का इस प्रकार वर्णन किया है—

"मीठा स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर वस्त्र, सुरक्षित मकान और आनन्दमय जीवन! गांव एक दूसरे के नज़दीक हैं। कुत्ते भंकते हैं और मुर्ग़ियां कुकड़ूं कूं करती हैं। ग्राम जीवन कितना सुखद, शान्त और आनन्दमय है। ये गांव के रहने वाले कभी भी बाहर नहीं जाते। इनका जीवन अपने गांवों में अपने खेतों और खलिहानों में ही बीतता है।" गांवों का यह वर्णन कितना सुन्दर है। परन्तु इसमें कोई भी बात बढ़ाकर नहीं कही गई है। आज भी वहां ऐसे लोग हैं जो अपने घरों से पांच मील से आगे नहीं गये हैं। शायद उन्हें बाहर जाने की ज़रूरत भी नहीं है। चीन का एक छोटा गांव अपना एक छोटा सा संसार है। एक ज़माना था जबकि वहां प्रत्येक घराना अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लिया करता था। घर के मर्द खेती करते थे। औरतें घर का सारा काम संभालती थीं। जानवरों का खिलाना, पिलाना, बच्चों की देख भाल करना, चर्खा चलाना, यह सब काम औरतों के ही ज़िम्मे थे। सुअर, शिकार की चिड़ियां, गाय वग़ैरह सभी

घरों में थीं। नज़दीक की नदियों और तालाबों में मछलियां काफ़ी मिल जाती थीं। छुट्टी के समय घर भर मिलकर किसी न किसी दस्तकारी में जुट जाता था। जीवनधारा शुद्ध, निर्मल और शान्त थी!

इस आर्थिक व्यवस्था के कारण लोग रूढ़िवादी और अलहदगी पसन्द हो गये थे। जीवन में उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील और विस्तृत नहीं था। परन्तु उनका आदर्श हमेशा ऊंचा था। महात्मा कनफुशियस के इन शब्दों को कि, "प्रकृति प्रदत्त तमाम वस्तुओं की उन्नति करना चाहिये और उनको पूरी तरह से प्रयोग में लाना चाहिये और इनका उपभोग व्यक्तियों को ही नहीं सारे समाज को करना चाहिये। मनुष्य के मस्तिष्क और शरीर पर सारे समाज का अधिकार है। उनका भी उपयोग समाज के लिये होना चाहिये, केवल चन्द लोगों के लिये नहीं।" चीन देश के निवासी कभी नहीं भूले कि जीवन का ध्येय ऊंचा है। सन्तोष, शुद्धता, मितव्ययिता और प्रयत्नशीलता उनके जीवन के चार साधन हैं। भारतवर्ष और चीन के जीवन आदर्शों में कितनी समता है और यह समता केवल बाह्य नहीं, आन्तरिक भी है।

पश्चिम से व्यापार

आज के चीन और प्राचीन चीन में बड़ा अन्तर हो गया है विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध हो जाने के कारण चीन की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में बड़ा फ़रक़ पड़ गया है। इसको समझने के लिए हमें चीन के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और व्यवसाय सम्बन्धी बातें जान लेना ज़रूरी होगा।

चीन में विदेशों से व्यापार का ज़माना अफ़ीम युद्ध के बाद से शुरू होता है। वह ज़माना मानव इतिहास में एक दुःखपूर्ण और लज्जाजनक ज़माना है। अफ़ीम-युद्ध में चीन को बेहद लज्जित होना पड़ा था। परन्तु शायद इसके लिये पश्चिम को चीन से भी अधिक लज्जित होना चाहिये। पश्चिमी संसार के नैतिक पतन का इससे अधिक ज्वलन्त उदाहरण ढूंढ़े नहीं मिलेगा।

चीन में सब से पहिले पुर्तगाल के व्यापारी ही अफ़ीम लाये थे। लेकिन वे अपने साथ कम अफ़ीम लाये थे। उसका प्रयोग केवल औषधियों में होता था। सन् १९२९ के शाही फ़र्मान के अनुसार अफ़ीम की केवल २०० पेटी चीन में आ सकती थीं। लेकिन सन् १७७३ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक विशेष रवन्ना लेकर बिहार, उड़ीसा और बङ्गाल में अफ़ीम लाकर कैण्टन सूबे में जमा किया और चीन में अफ़ीम का व्यापार बढ़ने लगा। यहां तक कि सन् १७८९ ई० में इस कम्पनी के अथक प्रयत्नों के कारण चीन में ४०८४ पेटी अफ़ीम आई। इस समय तक चीन के सभी बाज़ारों में अफ़ीम का प्रचार हो गया था। सन् १८३५-१८३९ ई० के अन्दर औसतन् ३०,००० पेटी सालाना अफ़ीम चीन में आई। चीन का करोड़ों रुपया हर साल इस अफ़ीम के लिये बाहर जाने लगा।

इसका नतीजा यह हुआ कि लाखों आदमी चरित्र भ्रष्ट, बीमार, कमज़ोर और बेकाम हो गये। इस लम्बे समय में चीन के लोगों का हर प्रकार का ह्रास हुआ। चीन का दुर्भाग्य अपने करिश्मे दिखलाता रहा। परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि चीन के लिये सब से बड़ा अभिशाप अफ़ीम-ख़ोरी थी। इस घृणित नशे ने चीन की सभ्यता की जड़ को ही काट दिया।

सरकार परिस्थिति की गंभीरता को समझती थी। सन् १८३९ ई० में लिन सी-हस जो कि एक लायक़ अफ़सर था कैण्टन का गवर्नर बनाया गया। यह आदमी इस भयंकर व्यापार को जड़ से उखाड़ने के लिये ही रखा गया था। इसके पहिले भी सरकार ने इस व्यापार में हस्तक्षेप किया था। लेकिन उसका फल कुछ न निकला। लिन ने व्यापारिक कम्पनियों से यह शर्त कराई कि वे बाहरी अफ़ीम को नहीं मंगायेंगी और अगर तलाशी लेने पर उनके जहाज़ों से अफ़ीम मिली तो वे जहाज़ ज़ब्त कर लिये जायेंगे और अफ़सरों को मौत की सज़ा मिलेगी। बाद में उसने कैण्टन के अंग्रेज़ व्यापारियों से २२९० पेटी अफ़ीम छीनी। यही अफ़ीम १८४० के युद्ध

का तात्कालिक कारण बनी। लेकिन इस युद्ध में चीन की हार हुई। नानकिंग की सुलह के अनुसार चीन को २१ करोड़ डालर हर्जाना देना पड़ा। उसके हाथ से हाङ्ग काङ्ग का बन्दरगाह भी निकल गया। कई जगह विदेशी व्यापार के लिये मण्डियां भी देनी पड़ीं। यह है कि इन शर्तों में कहीं अफ़ीम का नाम भी नहीं आया। आज की राष्ट्रीय सरकार ने इस बुराई को दूर करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उन्हें अभी पूरी सफलता नहीं मिली है।

अफ़ीम-युद्ध के पहिले विदेशी व्यापार केवल क्वांगची और मकाओ बन्दरगाह में केन्द्रीभूत था। अफ़ीम के अलावा घड़ियां आदि भी आती थीं। इस युद्ध के बाद बहुत से विदेशी व्यापारी, इस देश की ओर आकर्षित हुये। धड़ाधड़ सैकड़ों की तादाद में बन्दरगाह खुलने लगे। मशीनों के बने सस्ते माल बाज़ार में बिकने लगे। देशी कारीगरी, और उद्योग धन्धे नष्ट होगये। भारतवर्ष और चीन में इस मामले में भी कितनी समता है। योरोपीय राष्ट्रों द्वारा इन देशों का बराबर शोषण हुआ है।

सन् १८६४ ई० में चीन में विदेशी वस्तुओं का दाम ५,१२,९३,५७८ टायल था। यह बढ़कर सन् १९३१ ई० में १,४३,३४,८९,१९४ टायल हो गया। बाहर जाने वाली चीज़ों का दाम इन्हीं सालों में ५,४०,०६,०९, और ९०,९४,७५,५२५ टायल था। यह कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं है बल्कि एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का गला घोंटना है। चीन देश में अपार विदेशी पूंजी लगी है। आज भी अधिकतर खानें विदेशियों के हाथों में हैं। बहुत दिनों तक तो टकसालों पर भी उन्हीं का अधिकार था।

प्राचीन आर्थिक व्यवस्था का टूटना

विदेशियों से व्यापार शुरू हो जाने पर लोगों की ज़िन्दगी में बहुत से परिवर्तन हो गये।

(१) ग्राम-उद्योग के ख़त्म होने के कारण तमाम धन खिंचकर बन्दरगाहों और बड़े बड़े शहरों में आ गया। इनकी अहमियत भी बहुत बढ़ गई। राजनैतिक और सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से बड़े शहरों और बन्दरगाहों का महत्व बढ़ गया। शुरू में व्यापार की दृष्टि से शहरों का महत्व न था। वह तो संस्कृति और शिक्षा के केन्द्र समझे जाते थे। शंघाई आज से सौ वर्ष पूर्व एक छोटा सा गांव था। बन्दरगाह बन जाने के बाद इसकी महत्ता बढ़ी और आज शंघाई में क़रीब तीस लाख आदमी बसते हैं। यहां बहुत बड़ी तादाद में विदेशी भी रहते हैं। शंघाई के ही द्वारा पश्चिम की शक्तियां चीन की आर्थिक अवस्था का संचालन करती हैं और उसको अपने ताबे में रखती हैं। गांवों का महत्व अब नहीं रह गया। फिर भी चीन एक खेतिहर देश है। गांवों का पतन चीन के पतन का मूल कारण है। आज के नगर चीन से तथा उसके जीवन से कितनी दूर और कितने अलग हैं!

(२) आज चीन देश में पूंजीवाद तरक्क़ी कर चुका है। बड़ी बड़ी कम्पनियां खुल चुकी हैं। पूंजी विदेशी है और कम्पनियां भी विदेशी हैं। हमेशा से वर्ग-भेद चला आया है, चाहे वह वर्ग-भेद किसी प्रकार का हो। यह वर्ग-भेद चीनी इतिहास के स्वर्ण-युग में भी था। शोषक पूंजीपति तो हमेशा से किसी न किसी रूप में रहे हैं। लेकिन इन पश्चिमी पूंजीपतियों के मुक़ाबले के पूंजीपति इतिहास में ढूंढने पर भी नहीं मिलेंगे। आज के पहिले छोटे छोटे व्यापारी थे। परन्तु देश की सारी सम्पत्ति खिंचकर केवल कुछ हाथों में चली जाय ऐसा तो कभी भी नहीं हुआ था। हर किसान एक व्यापारी था। बनियों को हमेशा नीची नज़र से देखा जाता था। जब विदेशी व्यापारी आये थे, तो उन्होंने इन छुट भइयों को मार भगाया और अपना रंग जमा लिया।

लेकिन एक बात हुई। वह यह कि चीनी लोगों ने देखा देखी व्यापार और व्यवसाय के नये तरीक़े सीख लिये। उन्हों ने भी मिलें खोलीं, कम्पनियां बनाई और धीरे धीरे पूंजीवाद के राजमार्ग पर चलने लगे।

(३) पूंजीवाद के जन्म के बाद चीन ने भी मशीनों का प्रयोग सीखा और बड़े पैमाने पर उत्पादन का तरीक़ा सीखा। पुराने तरह के उत्पादन के ढङ्ग

बिल्कुल बदल गये। पूंजीवाद वर्तमान रूप में निखर आया। यह सब विदेशी व्यापारियों के संसर्ग का सुन्दर परिणाम है। शुरू में विदेशी व्यापारी तय्यार माल अपने यहां से लाकर चीन में बेचा करते थे, और अब वे अपनी पूंजी लगा करके चीन में ही मिलें खोल देते हैं। कच्चा माल सस्ता ही मिल जाता था। मज़दूरी बहुत कम थी। इसलिये इन्होंने सस्ता माल बना कर चीन के बाज़ारों को पाट दिया। अपनी कार्य संचालन शक्ति और पूंजी की सहायता से उन्होंने चीन का जी खोल कर पूरा शोषण किया। आज चीन में ४,००,००,००,००० डालर विदेशी पूंजी है। यानी आबादी के हिसाब से फ़ी आदमी दस डालर। चीन वालों ने भी नक़ल की, और इसी का नतीजा है कि आज चीन में १,७९५ फ़ैक्टरियां हैं।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का यह भी फल हुआ कि चीन में विदेशी बैंक भी खुल गये। ये बैंक आज कल सिक्कों के दर पर भी अधिकार किये हुये हैं। यूं तो छोटे मोटे बैंक चीन में किसी न किसी रूप में हमेशा रहे हैं। लेकिन वे किसी शक्तिशाली संस्था का रूप धारण करके सामने नहीं आये। उत्पादन के नवीन साधनों के साथ ही नये प्रकार के बैंकों का भी जन्म हुआ। इनकी भी नक़ल शुरू हुई और देशी बैंक भी धड़ाधड़ खुलने लगे। आज चीन में कुल १०६ स्वदेशी बैंक हैं। और २८ विदेशी बैंक हैं। लेकिन रंग इस वक्त विदेशी बैंकों का ही है।

मानचू शासन के अन्तकाल में उन अफ़सरों ने जो कि यह जानते थे कि आगे चल कर उनका सारा धन ज़ब्त हो जायेगा अपना धन विदेशी बैंकों में जमा कर दिया। यह धन उनकी बेईमानी की कमाई था। पिछले महायुद्ध में ये बैंक फ़ेल हो गये और इन बेईमान अफ़सरों का सारा रुपया डूब गया। प्रजातन्त्र की स्थापना के बाद फिर लोगों ने इन विदेशी बैंकों में रुपया जमा किया है। सन् १९२५ ई० में इन बैंकों में कुल ४,९४,७४,०६,८१७ डालर जमा थे। अब इस संख्या में और काफ़ी वृद्धि हुई है।

चीन की राजनीति में इन बैंकों ने घातक हस्त-क्षेप किया है। एक तरफ़ तो वे राष्ट्रीय सरकार को रुपया उधार देते रहे और काफ़ी सूद वसूल करते रहे, दूसरी तरफ़ चीन के दुशमनों को भी काफ़ी मदद करते रहे। राष्ट्रीय सरकार के इन दुशमनों को हमेशा रुपये की ज़रूरत पड़ती थी। उस समय यही बैंक उनकी सहायता करते रहे। गृह युद्ध के मुख्य कारणों में यह बैंक भी एक मुख्य कारण थे। किसी भी राष्ट्र के लिये इस प्रकार के परिवर्तन उस राष्ट्र की जड़ें हिला देने वाले साबित हो सकते हैं, फिर बेचारे चीन देश का तो कहना ही क्या है ! बहुत दिनों तक तो यह मालूम पड़ता था चीन इन धक्कों को बर्दाश्त न कर सकेगा। विदेशी तत्त्वावधान में पलने वाले शहरों के कारण ग्रामीण जीवन का पतन हो चुका था। खेती बाड़ी ही जीवन निर्वाह का एक मात्र साधन रह गई थी। छोटे छोटे उद्योग धन्धों के स्थान पर बड़ी बड़ी मिलें खड़ी थीं, नई नई कम्पनियां खुल गई थीं, नये नये बैंक स्थापित हो गये थे। यह प्राचीन देश मानों अपने प्राचीन गौरव पर शर्मा रहा था और शीघ्रता पूर्वक नवीनता को अपनाता जा रहा था। वर्तमान चीन परिवर्तनशील और नवीनतावादी है।

आर्थिक नवनिर्माण का नया आन्दोलन

आज के चीन की राष्ट्रीय सरकार असली नेताओं के हाथों में है। वे आर्थिक समस्या की अहमियत को खूब जानते हैं। स्वयं डा० सन ने खेती के मसले पर काफ़ी ग़ौर किया था। और उनके प्रोग्राम में हमारे जीवन में भौतिक उन्नति पर काफ़ी ज़ोर दिया गया था। सन् १९३१ ई० में राष्ट्रीय अर्थ समिति क़ायम की गई। इस समिति ने आर्थिक नवनिर्माण का प्रोग्राम बनाया। रचनात्मक कामों पर इस समिति ने अधिक ज़ोर दिया। पिछले दिनों में आर्थिक पुन-रुज्जीवन के आसार नज़र आने लगे हैं। भविष्य में इस समिति से हमें बड़ी बड़ी आशायें हैं।

देश की आमदनी के ज़रियों पर राष्ट्रीय सरकार ने कड़ी निगाह रखी। ग़ैर क़ानूनी महसूल समाप्त

कर दिये गये। खेती के लगान में भी आमूल परिवर्तन किया गया। वे परिवर्तन ये हैं (१) लगान पहिले ही से नहीं लगाया जा सकता। (२) जो लगान पहिले से लगा हुआ है उसमें बढ़ती नहीं की जा सकती। (३) कोई भी लगान चाहे विशेष हो या संयुक्त कुल खेत के सालाना मूल्य के एक फ़ीसदी से ज़्यादा नहीं होगा। इस सुधार से राष्ट्रीय आमदनी में बढ़ती हुई है। सन् २८ में २६,००,००,००० डालर लगान आया था। सन् ३३ में यह बढ़कर ८६,००,००,००० डालर हो गया।

सिक्कों के सम्बन्ध में भी सरकार ने काफ़ी सुधार और परिवर्तन किये। चीन में पहिले दो प्रकार के सिक्के चलते थे। एक चांदी का डालर था। इसके ही द्वारा विनिमय हुआ करता था। लेकिन चांदी का टायल टैक्स सम्बन्धी कामों में इस्तेमाल किया जाता था। बैंकों का काम भी इसी सिक्के के द्वारा होता था। इन दो सिक्कों के विनिमय दर में भारी हेरफेर हुआ करते थे। इससे बाज़ारों में काफ़ी गड़बड़ी मच जाया करती थी। सरकार ने इस समस्या को भी ख़ूबी के साथ सुलझाया। सेन्ट्रल बैंक में जो कि सरकारी बैंक था काफ़ी सुधार हुआ। इसकी पूंजी भी बढ़ाई गई। सरकार ने 'बैंक आफ़ कम्युनिकेशन' और 'बैंक आफ़ चीन' को भी अपने अधिकार में ले लिया। उनके हिस्सों के दर को भी बढ़ा दिया। सेन्ट्रल बैंक को नोट निकालने की इजाज़त दे दी। बैंक आफ़ कम्युनिकेशन को उद्योग-धन्धों के लिये अलहदा कर दिया और बैंक आफ़ चाइना को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बना दिया।

चीन में अच्छी सड़कें नहीं थीं। तमाम जहाज़, रेलवे तथा दूसरे यातायात के साधन कम्पनियों के अधिकार में थे। कम्पनियों के अधिकारी विदेशी पूंजीपति थे जो शोषण और अधिक से अधिक लाभ को ही दृष्टि में रखकर सड़कें बनवाते या पटरियां बिछवाते थे। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद इस दिशा में भी काफ़ी उन्नति हुई है। सड़कें बनाई गईं और रेल की पटरियां बिछाई गईं। नदियों को भी इस्तेमाल किया गया। सन् १९२१ में सड़कों की दौड़ केवल १,१८५ किलोमीटर थी। सन् ३६ में वह १,५८,५०० किलोमीटर हो गई। रेलवे, जहाज़रानी, हवाई जहाज़ आदि आदि में काफ़ी तरक्की हो रही है। पिछले युद्धों में चीन के उड़ाकू लोगों ने अपनी कार्य कुशलता का अच्छा परिचय दिया है।

ग्रामसुधार के लिये सरकार ने हमेशा कोशिश की है। 'बैक टु दि लैण्ड' (खेती की तरफ़ वापस जाओ) आन्दोलन सरकारी प्रोत्साहन से ही चल रहा है। देश भर में बहुत से नये नये कॉलेज खुल गये हैं जहां पर वैज्ञानिक ढङ्ग से शिक्षा दी जाती है। गांवों के अन्दर भी प्रारम्भिक स्कूल और हाई स्कूल खुल गये हैं। इन सब जगहों में कृषि-शिक्षा का विशेष प्रबन्ध है। बहुत से स्कूलों में तो निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। गांव के लोग इन स्कूलों को चलाने में मदद देते हैं। सहयोग समितियों ने गांवों में काफ़ी उन्नति की है। सन् १९२९ में केवल २४ सहयोग समितियां थीं। आज कम से कम २६,२२४ सहयोग समितियां चीन के गांवों में फैली हुई हैं।

अगर हम ध्यान पूर्वक देखें तो हमें मानना पड़ेगा कि चीन की सरकार ने इतने कम समय में देश के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक जीवन में आमूल परिवर्तन ही नहीं किये बल्कि क्रान्ति करदी है। उसकी सफलता आश्चर्यजनक है। आयात कम हो रहा है, निर्यात बढ़ता जा रहा है। गोकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में चीन की हालत बहुत अच्छी नहीं है फिर भी दिनों दिन उन्नति हो रही है।

सन् १९३५ की पहली छैमाही में निर्यात से आयात २८,९३,०७,००० डालर अधिक था। सन् '३६ में घट कर यह १२,७०,६७,००० डालर रह गया। हम आशा करते हैं कि चीन की सरकार इसी प्रकार गांवों की उन्नति का ध्यान रखेगी। गांवों की उन्नति में ही चीन राष्ट्र की उन्नति निहित है। भारत के सात लाख गांवों की तरह चीन भी लाखों गांवों का राष्ट्र है।

धरती के बेटे

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी

बचपन की खुशियां, जिन के निशान मेरे दिल पर अब भी कायम हैं, हमारे इस बूढ़े बड़ को भी याद होंगी। किसी दिन यह वृक्ष जवान था और इसकी भावनायें किसी किसान दूल्हे के मीठे सपनों से भी मनोहर थीं। उन दिनों शायद इसकी छाया इतनी घनी न थी। पर जहां तक मेरी याद का सम्बन्ध है मैंने इसे बुढ़ापे की दशा में ही गुज़रते देखा है। कभी कभी मैं सोचता हूं इसका रूप आज भी वैसा ही है, जैसा उस रोज़ होगा। जब मैं पहली बार इसकी छाया में आ बैठा था।

दिन दिन, पल पल इस वृक्ष ने राहगीरों की बातें सुनी हैं। वह चुप है ज़रूर, पर उसे लोक-जीवन की सैकड़ों घटनाओं का पता है। सैकड़ों जाड़ों, गरमियों और बरसातों की कहानियां, अमीरी ग़रीबी की खींचातानी, अनगिनत झगड़े और तमाशे—इन सब ने उसके सीने पर बेहद सूक्ष्म निशान छोड़े हैं। इसके नीचे का कच्चा चबूतरा, जो अब आधे से ज़्यादा टूट फूट गया है और जिसके बारे में शीतल छाया का मज़ा लेने वाले चरवाहे और किसान लड़के अपनी कोई ज़िम्मेवारी महसूस नहीं करते, पहले बहुत सुन्दर था। यहां बैठकर मैंने अनेक बार इस पेड़ के कांपते पत्तों की तरफ़ टकटकी लगाकर देखा था। कई बार तो मैं इसके तने से इस तरह लिपट गया था, जैसे अपने मासूम हाथ फैलाकर मैं अपने पिता की टांगों से जा लिपटता था।

हमारे गांव के इतिहास के साथ इस बूढ़े बड़ का यह अटूट सम्बन्ध किसी ख़ास व्याख्या का मुहताज नहीं। हमेशा से आदमी और वृक्ष के बीच में प्यार की एक सूक्ष्म भावना कायम है और यह संबंध हमेशा कायम रहेगा। वृक्ष तो हमारे गांव के चारों तरफ़ बीसियों नहीं सैकड़ों हैं, पर जो सन्तोष मुझे इस बूढ़े बड़ के नीचे बैठकर मिलता है, और कहीं नहीं मिलता। कभी कभी तो मैं यह भी महसूस करता हूं कि वह गहरा सांस ले रहा है और राहगीरों की तरफ़ से निगाह फेर कर मेरी तरफ़ देख रहा है। उसकी निगाहों में एक ठोस सचाई भरी है—वही सचाई, जो कठिन परिश्रम के बाद छाया में बैठे हुये किसान और मज़दूर को सदियों से महसूस होती रही है।

यह वृक्ष यहां न होता तो पास का यह नहर का पुल बिलकुल बेरौनक होता। नहर सरहन्द की यह छोटी शाखा, जिस पर सैर करने के लिये मैं ख़ुशी ख़ुशी चला आता हूं, बहुत पुरानी नहीं। इसे इधर आये चालीस साल हुये होंगे। जब खुदाई का काम हो रहा था, मज़दूरों और मज़दूरनियों की पसीने से तर पेशानियां देखकर, उनके हंसी मज़ाक़ और गाली गलौज को सुनकर, उनकी छिपी हुई भावनाओं में इनसानियत की बुनियादी अनुभूति पाकर यह बड़ बहुत तृप्त हुआ होगा। और फिर जब यह पुल बनना शुरू हुआ था, तो ठेकेदार और सरकारी इञ्जनीयरों के बीच में रिश्वत का रिश्ता देखकर सभ्यता और सरमायादारी की असलियत भी उस पर ख़ूब खुल गई होगी।

'धरती में जकड़े हुये वृक्ष चलने की इच्छा करते हैं और आदमी एक ऐसे स्वर्ग की अभिलाषा में

भटकता फिरता है, जहां से मुकुटधारी देवता भी मुक्त होने के लिये व्याकुल हैं !'

क्या हमारा यह बूढ़ा बड़ भी चलने की इच्छा कर रहा है ? ऐसी अच्छी जगह इसे और कहां मिलेगी ?

वह एक राही जा रहा है। बुढ़ापे की वजह से बेचारे का जिस्म ठिठुर रहा है। वह ज़रा रुक क्यों नहीं जाता ? इतनी भी क्या जल्दी है ?

आ जाओ, सरदार जी, ज़रा सुस्ता लो।

मेरी आवाज़ शायद राही तक नहीं पहुंची। वह चला गया, दूर, बहुत दूर। बूढ़ा बड़ ख़ामोश खड़ा रहा।

मैं भी तो सपनों के क़िले बना रहा हूं। चाहता हूं दूर क्षितिज के पास जा पहुंचूं, जहां सपनों की परियां लोरियां गा रही हैं। बूढ़ा बड़ ख़ामोश खड़ा है। शायद वह कहना चाहता है, 'देख किस तरह अपने बाजू फैला रखे हैं मैंने तेरे गिर्द। क्या मेरी छाया की लोरियां सुन्दर नहीं ?'

जब तक यह बड़ यहां खड़ा है तब तक यह धीरे धीरे हर एक के कानों में कहता है—'प्यार और बड़प्पन एक ही सुन्दरी के दो गाल हैं।' टक-टकी लगाकर मैं इसकी चोटी की तरफ़ देखता हूं।

वृक्ष के ख़ामोश प्यार में वह ग़लतफ़हमियां कहां जो आदमी के संसार में पग पग पर नज़र आती हैं !

२

"टुट्ट गये त्रेल दे मोती
पैलां पौंदी दे !"

—'ओस के मोती टूट गये—मैं (मोरनी की तरह) नाच रही थी !'

कोई किसान युवती गा रही है। चोटी के पत्ते जगमग-जगमग कर उठे। पञ्जाबी भाषा का यह गीत सैकड़ों बरस से दिलों की यात्रा करता आरहा है।

"रात ने सूर्य से कहा—'तुम चांद के हाथ प्यार के पत्र भेजा करते हो; मैं उनका जवाब ओस के रूप में घास पर छोड़ जाती हूं !' "—रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है।

गांव की लड़की यह जानती, तो यों अपने पैरों के नीचे ओस के मोती न तोड़ देती। बूढ़ा बड़ शायद धरती की इस बेटी को पुकार पुकार कर कहना चाहता है—'तुमने ओस के मोती क्यों तोड़े !'

यह लो, दो बच्चे चले आ रहे हैं। घर पर मां बाप घुड़कियां देते हैं। पर बूढ़े बड़ के पास सिर्फ़ ख़ामोश प्यार है, जो उनके मन में गड़ता चला जा रहा है। सूर्य की तरफ़ मुंह किये वे गा रहे हैं—

"सूरजा ! मूरजा !!
झग्गा देऊं टोपी देऊं
तेड़ नं लंगोटी देऊं
करारी धुप्प कड़ दे !"

—'ओ सूरज मूरज ! मैं तुम्हें कुरता दूंगा, टोपी दूंगा और कमर के लिये लंगोटी दूंगा। तेज़ धूप निकालो।'

बच्चों की किलकारियां सुनकर बूढ़े बड़ की ख़ामोशी में कुछ फ़रक़ नहीं पड़ता। सैकड़ों बच्चे बारी बारी यहां आते हैं। 'छोटे बच्चों को मेरे पास आने दो। बहिश्त का राज्य ऐसा ही है !'—मसीह का यह बोल मेरे मन में गूंज उठता है।

स्कूल मास्टर बच्चों को डांट कर कहता है—'सबक़ क्यों नहीं याद किया ? बूढ़े बड़ के नीचे छलांगें मारने से क्या हासिल ?'

बच्चों को यह हिदायत फ़ज़ूल मालूम होती है। सदियों से वे सूर्य के लिये कुरते, टोपी और लंगोटी की भेंट लिये हाज़िर रहे हैं। शर्त यही है कि वह जाड़े में ज़रा तेज़ चमके और बच्चों के चारों ओर गरम किरनों का जाल बुन दे।

बूढ़ा बड़ एक मस्त कवि की तरह खड़ा रहता है। किसानों के गीतों का वह पुराना सरपरस्त है। धरती के बेटों की अमीरी ग़रीबी का चश्मदीद गवाह है। शायद वह उनके दिलों की बातें भी भांप लेता है—

"पिप्पल गावे, बोहड़ गावे
गावे हरियाला तूत
खड़ के सुन, राहिया !

तेरी रूह होजूगी सूत।"

—"पीपल गा रहा है। बड़ गा रहा है। हरियाला शहतूत गा रहा है, खड़ा होकर सुन, ओ राही, तेरी रूह ठीक हो जायगी।'

"बिरछां दे गीत सुन के
मेरे दिल बिच्च चानन होया।"

—'वृक्षों के गीत सुनकर मेरे दिल में रौशनी हो गई।'

मस्त हवा में, जादू भरे वातावरण में, जब बसन्त की देवी ललचाई हुई निगाहों से एक एक वृक्ष पर और पेड़ पौधे की ओर झूमती इठलाती चली आती है, धरती की रग रग में मधु-भरा संगीत समा जाता है। ख़ुद-फ़रामोशी की अवस्था में शायद हर एक वृक्ष कुछ न कुछ गुनगुनाता है।

शांत घड़ियों में पत्तों की मामूली सी सरसराहट सुनकर भी राही पर अकसर वृक्ष की दिली कैफ़ियत खुल जाती है। वृक्षों के संगत में उनकी भाव-भरी सरसराहट से प्रभावित होकर आदमी हमेशा धरती के दिली भेद पा लेता है।

न अकेला आदमी भला, न अकेला वृक्ष। गांव का कवि हमेशा अपनी राय देता आया है—

"कल्ली होवे न बनां बिच्च टाहली
कल्ला न होवे पुत्त जट्ट दा!"

—'(ईश्वर करे) शीशम भी जंगल में अकेला न हो, और न किसी किसान का बेटा इकलौता हो।'

लोकगीत गांव के वातावरण में गूंजते रहते हैं—धरती के गीत, वृक्षों के गीत······

"बेरियां तू बेर लगा दे
तैनूं कुज्झ न लग्गा मुटियारे!"

—'बेर वृक्षों पर फल आता है। युवती, तुझे कोई फल न लगा!'

"रुत्त यारियां लौन दी आई,
बेरियां दे बेर पक गये!"

—'अब वह ऋतु आ गई, जब आपस में मुहब्बतें पैदा होंगी। बेरियों के बेर पक गये।'

"मैनूं कल्ली नूं चुबारा पा दे
रोही वाले जण्ड वड्ढ के।"

—'मेरे लिये अलग चौबारा बनवा दो। बियाबान के शमी वृक्ष को काट कर (शहतीर बना लेंगे)।'

"वेहड़े ला त्रिवेनी,
छावें बैह के कत्तिया करूं!"

—'आंगन में एक साथ तीन वृक्ष लगादो। उन की छाया में बैठकर मैं चरखा काता करूंगी।'

"थड़ियां बाझ न सोंहदे पिप्पल
फुल्लां बाझ फुलाहियां
हस्सां नाल हमेलां सोहंदियाँ
बन्दां नाल गजराइयां
'धन्न भाग मेरे' आखे पिप्पल
'कुड़ियां ने पींघां पाईयां!'
सौन विच्च कुड़ियां ने
पींघां असमान चड़ाइयां।"

—"न चबूतरों के बिना पीपल सुहावने लगते हैं, न फूलों के बिना फुलाही के पेड़। हस्स१ के साथ हमेल२ भली लगती है और बन्द३ के साथ गजराई४। पीपल कह रहा है—'मेरा अहो भाग्य कि लड़कियों ने मुझ पर झूले डाले हैं!' सावन में लड़कियों ने अपने झूले आसमान की ओर बढ़ाने शुरू कर दिये हैं।"

"'बिरछा! बिरछा!!' तोता बोलिया
'इक्के तेरी ज़िमीं मैड़ी
इक्के तेरा मुड्ढ पुराना!'
'न मेरी ज़िमीं मैड़ी
न मेरा मुड्ढ पुराना
इक्के खादा नवाब दीयां डाचियां
इक्के शतीर कप्प खड़े तरखानां
तरखानां दे मरन बच्चड़े
आवन ढुक ढुक मकानां
मरन नवाब दीयां डाचियां
नाले आपूं मरे नवाब सियाना!'"

—"'वृक्ष! ओ वृक्ष!!' तोता बोला 'एक तो यह तेरी भूमि बुरी है (जो तेरा पालन नहीं कर सकती), और तेरा तना भी अब पुराना हो गया है।'

१, २, ३, ४, गहनों के नाम।

'न मेरी भूमि बुरी है, न मेरा तना पुराना है। एक तो मुझे नवाब की ऊंटनियाँ खा गईं और फिर तरखान मुझसे शहतीर काट ले गये। तरखानों के बच्चे मर जांय और उनके सम्बन्धी उनसे मातमपुर्सी के लिये आया करें। नवाब की ऊंटनियां मर जायें और वह सयाना नवाब ख़ुद भी मर जाय!' "

लोकगीतों ने बार बार धरती के बेटों को गुदगुदाया है।

बच्चे की तरह मैं इस बूढ़े बड़ की गोद में चला आता हूं। खेतों से लौटते हुये किसानों के गीत रहस्य-पूर्ण ख़ामोशी को चीरते हुये मुझ तक पहुंचते हैं।

दिन बीत जाता है और रात, उस स्त्री की तरह जो अपने कन्धों पर बाल बिखराये बैठी हो, धरती को अपने अंचल में छुपा लेती है।

रात के बढ़ते हुये अंधेरे में हमारा यह बड़, जो मेरे बूढ़े दादा की तरह काला कम्बल ओढ़े खड़ा रहता है, अपने भावों में खो जाता है। और घर जाने से पहले मैं इस बूढ़े वृक्ष के तने से एक दो घड़ियों के लिये लिपट जाता हूं।

अपना मन-भाता पुराना गीत गाता हुआ मैं नहर का पुल पार करके घर की राह लेता हूं—

"नदी किनारे रुक्खड़ा खड़ा सी अमन अमान
डिगदा होया बोलिया—'जी दे नाल जहान!' "

—"नदी के किनारे वृक्ष अमन अमान से खड़ा था। गिरता हुआ वह बोला—जान है तो जहान है!' "

(३)

वे सब फूल, जो कल रात अपनी भीनी भीनी सुगन्ध से लिपट कर सो गये थे, अब जाग उठे हैं। बूढ़े बड़ ने भी काला कम्बल उतार फेंका है।

एक नहीं, दो चार नहीं, बीसियों किसान अपने अपने बैल लिये नहर के पुल से गुज़र रहे हैं, जल्दी, बहुत जल्दी। कोई मूंछों पर हाथ फेर रहा है। कोई आंखें मल रहा है।

"सूर्य भगवान को लाख लाख नमस्कार।"

"हां हां, सूर्य को मेरा भी नमस्कार। वह रोज़ चमकता है।"

"इस बूढ़े बड़ को भी मेरा नमस्कार।"

"मेरा भी।"

हमेशा से आदमी और वृक्ष के बीच में प्यार की एक सूक्ष्म भावना चली आती है और यह सम्बन्ध हमेशा क़ायम रहेगा। धरती में जकड़े हुये वृक्षों की रगों में लहू दौड़ रहा है, कभी तेज़ चाल से, कभी धीरे धीरे—आदमी के लहू की तरह।

हमारे बूढ़े बड़ की जड़ें धरती की नब्ज़ पहचानती हैं।

कितना असीम है जीवन का विस्तार! आदमी और वृक्ष दोनों धरती के बेटे हैं।

बूढ़ा बड़ एक अनुभवी और भावुक बुज़ुर्ग की तरह खड़ा हमारे गांव को तक रहा है।[१]

[१] इस लेख में पञ्जाबी लोक-गीतों ही का प्रयोग किया गया है।—लेखक

पंछी

"विनोद"

हल्कापन, बल हो पङ्खों में, गगन बिहारी चाल।
पंछी अपने पङ्ख सम्हाल।

बाग-बनों में विचरण करना,
डाली-डाली का मन हरना,
अपने मधु गायन से बन का—
कोना कोना मुखरित करना,
किन्तु वृक्ष, शाखा, भू पर दो नज़रें लेना डाल।

कुछ फल खाना और गिराना,
कल की चिन्ता कभी न लाना,
दिन में काम, विराम रात में—
जीवन का क्रम सहज निभाना,
आश्रम नीड़ रहे कुछ क्षण को, मुक्त रहे पर चाल।

मुक्त गगन में तेरा डेरा,
भूमण्डल पर तेरा फेरा,
जगती तेरी तू जगती का—
जीवन पर उद्यम का घेरा,
पङ्खों में हल्का पन, बल हो, पकड़ न पाये काल।

गीता का यही सार है

परिडत सुन्दरलालजी

परिडत जी ने सर्व-धर्म-सम भाव की खोज में दुनियां की अनेक धर्म पुस्तकों का गम्भीर अध्ययन किया है। गीता के उपदेशों को वे मानव धर्म के बहुत ऊंचे उपदेशों में मानते हैं। वे गीता को न सिर्फ़ हिन्दुओं की बल्कि मानव मात्र के लिये आदर्श धर्म पुस्तक समझते हैं। हमारे अनुरोध पर परिडत जी ने गीता पर अपनी बहुमूल्य टीका 'विश्ववाणी' के पाठकों के लिये लिखना स्वीकार किया है। हम चाहते हैं पाठक इसका गम्भीरता के साथ मनन करें। संसार के कल्याण का मार्ग गीता का ही मार्ग है।

हिन्दुओं की उन किताबों की तादाद जिन्हें वे अपने धर्म के ग्रन्थ मानते हैं, हज़ारों नहीं तो सैकड़ों आसानी से गिनाई जा सकती हैं। दुनिया में जो 'धर्म' जारी हैं उनमें शायद दूसरे किसी 'धर्म' की इतनी ज़्यादा किताबें नहीं हैं। ऐसा होना क़ुदरती भी है। यूं तो दुनिया के सारे 'धर्म' एक दूसरे से मिलते चले आते हैं और सब एक ही सनातन परम्परा के हिस्से या एक ही बड़े पेड़ की चारों तरफ़ फैली हुई डालियों के अलग अलग फूल हैं, लेकिन फिर भी जहां तक अलग अलग देशों की परम्पराओं का सवाल है, हिन्दू

परिडत सुन्दरलाल जी

परम्परा दुनिया की परम्पराओं में, शक नहीं, सबसे पुरानी परम्परा है। यहूदी परम्परा इसके बहुत बाद की है। चीनी परम्परा भी जहां तक मालूम हुआ है इससे ज़्यादा पुरानी नहीं। इसके अलावा आज से दो ढाई हज़ार वर्ष पहले चीनी परम्परा ने जिस ज़ोर का पलटा खाया, हिन्दू परम्परा ने कभी नहीं खाया, या खाते खाते बच गई। दुनिया के लिखे और बेलिखे इतिहास से इस बात की हलकी सी झलक मिलती है कि एक तरफ़ ईरान के पहाड़ी मैदानों से लेकर अरब सागर और हिन्द महासागर तक और दूसरी तरफ़ अफ़रीका की नील नदी के किनारे किनारे बहुत पुराने समय में दो बहुत बड़ी और ऊंची परम्पराएं जन्म लेकर हिन्दुस्तानी और चीनी परम्पराओं से पहले हज़ारों बरस तक आदमी को जीवन का रास्ता दिखा चुकी थीं। लेकिन अब उनकी गड़ी हुई जड़ें या सूखी हुई शाखें भी कहीं ढूंढने से नहीं मिलतीं। क़िस्मत के अचूक और अटल चक्कर में ठीक समय पर अपना रहा सहा खून बाद की परम्पराओं को देकर और अपने सड़े गले हाड़ मांस से उनके लिए खाद तय्यार करके वे परम्पराएं दुनिया से चल बसीं। जिस तरह भगवान

अनन्त है उसी तरह उसकी रचना भी अनन्त है। हमें इधर या उधर इस रचना का ओर या छोर देखने का हौसला नहीं करना चाहिये। हमारी छोटी शक्ति के लिये यह नामुमकिन भी है। लेकिन फिर भी इसमें शक नहीं दुनिया में जो किताबें आज मिलती हैं उनमें ऋग्वेद सबसे पुरानी है, और दुनिया की परम्पराओं में हिन्दू परम्परा सबसे पुरानी। ऋग्वेद की इस समय की १०,५८० ऋचाओं में कितनी शुरू की हैं और कौन सी कब कब उसमें शामिल की गईं इस बहस में पड़ने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन इस ज़माने के तमाम धर्मों और धर्म ग्रन्थों की तुलना करने से इसमें कोई शक नहीं रह जाता कि

तमाम धर्मों का असली स्रोत एक ईश्वर है, सब धर्म पुस्तकों की असली मां जिसे क़ुरान में 'उम्मुल किताब' कहा गया है उसी ईश्वर के पास है, पर इन सब धर्मों के ज़्यादहतर बाहरी नाम रूपों, कर्म काण्डों, रूढ़ियों और शब्दों तक का निकास ऋग्वेद और ख़ास कर उसकी शुरू की ऋचाएं हैं। इसीलिये ऋग्वेद को सब धर्मों की मां (मदर आफ़ आल रिलिजन्स) कहा जाता है।

हिन्दू धर्मग्रन्थों में वेदों का और ख़ासकर ऋग्वेद का सबसे ज़्यादह मान है। लेकिन वेद इतनी बड़ी चीज़ हैं, उनकी ज़बान इतनी पुरानी और अजीब है और एक एक मन्त्र के इतने इतने तरह से अर्थ लगाए जा सकते हैं कि न केवल बेपढ़े लोगों के लिये बल्कि विद्वानों के लिए भी हज़ारों बरस से वेद एक पहेली हैं और हमेशा पहेली ही रहेंगे। वेदों का निचोड़ उपनिषदों को माना जाता है जिसमें से कई वेदों के ही हिस्से हैं। इसमें शक नहीं उपनिषदों या ख़ास ख़ास बारह उपनिषदों को, जिनके सब असली मन्त्रों को मिला कर दो फ़र्मों की एक किताब भी नहीं बनती, अपने ऊंचे इख़लाक़ (मारल आइडियलिज़्म), गहरे फ़लसफ़े। (ट्रान्सेंडेंटल मैटाफ़िज़िक्स) और अपने गूढ़ अध्यात्म (डीप स्पिरिचुएलिटी) की वजह से दुनिया की ऊंची से ऊंची किताबों में एक ऊंची जगह हासिल है। हज़ारों पढ़े लिखे हिन्दू ऐसे मिलेंगे जिनसे अगर किसी बहुत बड़े और भयंकर तूफ़ान या भौंचाल के समय पूछा जावे कि तुम अपने किस ग्रन्थ रत्न को आगे की दुनिया के लिये सब से ज़्यादह बचा कर रखना चाहते हो तो वे कहेंगे— 'उपनिषद'। हज़ारों ग़ैर हिन्दू विद्वान भी इस बात में उनकी राय से सहमत होंगे।

लेकिन उपनिषद भी कोई आम फ़हम चीज़ नहीं हैं। उपनिषदों को समझ सकना या उनका रस ले सकना केवल विरलों को ही बदा है। उपनिषदों से उतर कर हिन्दुओं में किसी एक पुस्तक का सब से ज़्यादा मान है तो वह 'श्री मद्भगवद्गीता' का। गीता की भाषा और उसके तर्ज़ बयान के आसान होने की वजह से उसके पढ़ने पढ़ाने वालों की तादाद भी उपनिषदों के पढ़ने पढ़ाने वालों की निस्बत हज़ारों गुना ज़्यादह है। गीता माहात्म्य में "सब उपनिषदों" को मिलाकर उनकी तुलना एक "गाय" के साथ की गई है और गीता को "उस गाय से दुहा हुआ दूध" और "महान अमृत" कहा गया है। उपमा बहुत दर्जे तक ठीक है। उसी 'महात्म्य' में लिखा है कि जिस आदमी ने गीता को "अच्छी तरह याद कर लिया" उसे फिर "दूसरे शास्त्रों के संग्रह" करने की कोई ज़रूरत नहीं। सचमुच गीता अपने ज़माने के तमाम हिन्दू शास्त्रों का सार है। संस्कृत ग्रन्थों में जितना गीता का प्रचार है उतना किसी दूसरे ग्रंथ का नहीं है। पिछले हज़ारों बरस में जितने भाष्य और जितनी टीकाएं गीता पर लिखी जा चुकी हैं उतनी, एक क़ुरान मजीद को छोड़ कर शायद ही दुनिया की किसी दूसरी किताब पर लिखी गई हों। कम से कम इसमें शक नहीं अपने ज़माने तक की भारतीय संस्कृति का गीता सबसे बढ़िया और सबसे सुन्दर चोटी का फूल है। गीता उन इनी गिनी किताबों में से है जो देश और काल की हदों से ऊपर उठ कर सारी इन्सानी क़ौम की और हर ज़माने के लोगों की एक समान बपौती है, जो सबके लिये फ़ायदे और बरकत की चीज़ हैं और जिनका सबको एक

बराबर अभिमान हो सकता है। गीता दुनिया के अमर ग्रन्थों में से एक है।

आदमी की ख़ास समस्याएं या मुश्किलें क़रीब क़रीब हर देश और हर ज़माने में एक ही सी रही हैं। इन समस्याओं के बाहरी रूप और उनके नाम बदलते रहे हैं। कभी कोई समस्या ज़्यादह सामने रही है और कभी कोई। लेकिन इनकी असलियत कभी नहीं बदली। हर आदमी की आत्मा में, और सारे समाज में, वही स्वार्थ और परमार्थ, ख़ुदी और ख़ुदा की लगातार लड़ाई जारी है। यह लड़ाई सदा नये नये रूप बदलती रहती है। ख़ुदी, छोटे-छोटे स्वार्थों के रूप में, आदमी की आँखों में पर्दा डालकर, उसे अपने और पराए का भेद सिखाकर, ख़ुद अपनी असली और टिकाऊ भलाई की तरफ़ से उसे अन्धा कर देती है। लेकिन बात वही है। और यही वजह है कि गीता आज भी हमारे लिए वैसी ही रास्ता दिखाने वाली है जैसी आज से पांच हज़ार साल पहले थी। यही वजह है कि दुनियां की सब ख़ास-ख़ास धर्म पुस्तकें मनुष्य क़ौम के लिए सच्चे उपदेशों और सच्ची नसीहतों का एक अनन्त सरचश्मा हैं।

महाभारत के भीष्म पर्व के २५ वें अध्याय से ४२ वें अध्याय तक का नाम गीता है। यह वह बात चीत है जो लड़ाई के शुरू में श्रीकृष्ण और अर्जुन में हुई थी। लड़ाई के दसवें दिन संजय ने यह बात चीत धृतराष्ट्र को सुनाई थी। संजय कहता है कि—मैंने यह बात चीत "व्यास की कृपा से स्वयं योगेश्वर कृष्ण के मुंह से" सुनी थी (१८–७५)। भीष्म-पर्व के दूसरे अध्याय में ज़िक्र है कि व्यास ने संजय को वह "दिव्य दृष्टि" दे दी थी जिससे दूर बैठा हुआ संजय लड़ाई का सारा हाल देखता रहता था और आवाज़ें सुनता रहता था। क़ुदरती तौर पर बहुत से टीकाकारों ने यह शक ज़ाहिर किया है कि ऐन लड़ाई के मैदान में जब दोनों फ़ौजें तय्यार खड़ी थीं, इस तरह के कठिन विषयों पर श्रीकृष्ण और अर्जुन का श्लोकों में इतनी लम्बी बात चीत करना, फिर संजय का उन श्लोकों को किसी चमत्कार से दूर बैठे हुए सुन कर याद रखना मुमकिन नहीं है। यह बहस यहां तक चली कि गीता के सात सौ श्लोकों में से एक टीकाकार ने १००, एक ने ३६, एक ने २८ और एक ने ७ मूल श्लोक खोज निकाले। इन टीकाकारों के मुताबिक़ इन मूल श्लोकों का मज़मून ही वह मज़मून है जो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बातचीत में समझाया था और जिसे बाद में बढ़ाकर और श्लोक बनाकर व्यास ने ७०० श्लोकों की गीता तय्यार कर दी। इसी कठिनाई की बिना पर कई विद्वान गीता के अन्दर लड़ाई के बयान को महज़ अलंकार (Allegory) और आदमी की आत्मा के अन्दर होने वाली नेकी और बदी की लड़ाई का बयान बताते हैं। इस बारे में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की यह राय बिल्कुल ठीक मालूम होती है कि—"परन्तु जिनको ग्रन्थ का ही रहस्य जानना है उनके लिए इस बहिरंग परीक्षा के झगड़े में पड़ना अनावश्यक है।" (गीता-रहस्य, विषय-प्रवेश)। महाभारत का युद्ध कभी हुआ हो या न हुआ हो, उसमें लड़ाई से पहले श्रीकृष्ण और अर्जुन ने इस तरह की बातचीत की हो या न की हो, संजय को दिव्य दृष्टि मिली हो या न मिली हो, यह ज़ाहिर है कि गीता की श्लोक रचना न श्रीकृष्ण और अर्जुन की की हुई है और न संजय की। यह श्लोक रचना व्यास की है। गीता के श्लोकों को इसी शक्ल में श्रीकृष्ण या अर्जुन के मुंह से निकला हुआ समझना, या गीता की बातचीत को किसी इतिहास की कसौटी पर कसना गीता का ठीक आदर करना नहीं है। वह "भगवत्-गीता" जो "तमाम उपनिषदों को दुहकर" तय्यार की गई है, जिसे पढ़ने के बाद फिर (कि मन्यैः शास्त्र संग्रहैः) किसी दूसरे शास्त्र को पढ़ने की ज़रूरत नहीं रह जाती, अपने ख़ास ढङ्ग से, अपने ज़माने की धार्मिक हालत का एक ख़ाका और साफ़-साफ़ रूप में हर देश और हर ज़माने की धर्म संकट में

पड़ी हुई आत्माओं के लिए (१८–७८) एक सुन्दर, क़ीमती और अमर सन्देश है।

गीता में जगह जगह उस ज़माने की धार्मिक हालत, अलग-अलग पंथों, मज़हबी ख़यालों, साम्प्रदायों पूजा के तरीक़ों, रूढ़ियों, रस्म रिवाजों अन्धविश्वासों दार्शनिक असूलों वग़ैरह का ज़िक्र किया गया है; उनके ठीक होने या ग़लत होने. या एक दूसरे के ख़िलाफ़ होने या न होने, पर बहस की गई है; उन सब में एक बुनियादी एकता, मेल, समन्वय या सामंजस्य दिखाने की कोशिश की गई है; आत्म संयम और सदाचार यानी अपने नफ़्स पर क़ाबू और नैतिकता को सब मज़हबों की जड़ और आत्मा की तरक़्क़ी का पहला ज़ीना बताया गया है; ग़ैरियत के पर्दे को हटाकर "अपनी तरह सबको," "अपने अन्दर सबको" और "सब में अपने को" देख सकना मुक्ति के लिए ज़रूरी बताया गया है; "जड़, चेतन, चर, अचर" सारी रचना में और "सब प्राणियों के हृदय में" एक परमेश्वर के दर्शन का उपदेश दिया गया है; और आख़ीर में इन सब रास्तों को तय करते हुए पूरी आत्म-शुद्धि और पूरे आत्मसंयम के बाद आत्मा की आगे की तरक़्क़ी के तरीक़ों और मंज़िलों की तरफ़ इशारा किया गया है। यही श्रीमद्भगवत् गीता का सार है।

अब हमें यह देखना है कि इनमें से हरेक बात पर अलग-अलग गीता से हमें क्या जानकारी होती है और क्या उपदेश मिलता है !

सब से पहले गीता को समझने के लिए ज़रूरी है कि हम उस ज़माने की हालत, विचारों और रिवाजों को, जहां तक उनका गीता से पता चलता है, जान लें।

गीता के शुरू ही में अर्जुन ने अपनी जो सबसे पहली और सबसे बड़ी कठिनाई श्रीकृष्ण के सामने पेश की है वह यह है—

मैं अगर इस लड़ाई में हिस्सा लूंगा तो हमारा सारा ख़ानदान मिट जायगा, और जब कोई ख़ानदान या कुल मिट जाता है तो उस कुल के सब पुराने रस्म रिवाज भी (कुल धर्माः सनातनाः—१·४०) उसके साथ-साथ मिट जाते हैं, उनके मिट जाने पर कुल के रहे सहे लोगों और ख़ासकर स्त्रियों को रोककर रखने वाली कोई चीज़ नहीं रह जाती, अधर्म फैलता है, उससे स्त्रियों का चलन बिगड़ता है (१–४१), स्त्रियों का चलन बिगड़ जाने से 'वर्ण संकर' होने लगता है, यानी जन्म से वर्ण या जाति का भेद नहीं रह जाता, जब इस तरह का वर्ण संकर हो जाता है तो वे लोग जिन्होंने अपने कुल वालों की हत्या की, और उनके साथ साथ कुल के और सब लोग भी यहां तक कि उस कुल के मरे हुए 'पितर' भी ज़रूर सबके सब 'नरक' को जाते हैं, क्योंकि उन पितरों को 'पिण्डदान' देने वाली और 'जल चढ़ाने' वाली यानी उनका क्रिया कर्म करने वाली उनकी कोई ठीक ठीक औलाद नहीं रह जाती (१–४२), नतीजा यह होता है कि 'कुलों' के अपने अपने 'धर्म' और उसके साथ-साथ 'जातियों' के अलग-अलग पुराने परम्परा से चले हुए 'धर्म' यानी रस्म रिवाज भी (जाति धर्माः कुल धर्माश्च शास्वताः १–४३) मिट जाते हैं और हम यह हमेशा से सुनते चले आये हैं कि जिन लोगों के 'कुल धर्म' मिट जाते हैं उन सबको ज़रूर नरक में बास करना पड़ता है (१–४४)। इसलिए इस लड़ाई में हिंसा लेना हमारे लिए "महापाप" है (१–४५)।

अर्जुन ने इस अध्याय में तीन जगह लफ़्ज़ 'पाप' इस्तेमाल किया है (१–३६,३९,४५) जिस पाप की तरफ़ अर्जुन की निगाह जा रही है वह मामूली माइनों में हिन्सा या आदमी की हत्या नहीं, बल्कि अपने कुल के लोगों को मारने, यानी कुल के मिटने का पाप है (कुलक्षय कृतं दोषं—१–३८,३९)। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि गीता में 'जाति' शब्द (१–४३) का मतलब वर्ण यानी ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र नहीं है। वर्ण का फ़रक़ एक अलग चीज़

थीं, जाति का फ़रक़ एक अलग। दोनों जन्म से माने जाते थे और 'कुल' अलग अलग थे ही। महाभारत से यह साफ़ पता चलता है कि अलग अलग 'जातिओं' या जिन्हें 'ज्ञातियां' भी कहते थे, उनमें और अलग-अलग वर्णों में उन दिनों विवाह का रिवाज था। 'जन्म' से यहां मतलब पितृ परम्परा यानी बाप की नसल है।

दूसरे अध्याय में हमें उस ज़माने के कुछ और विचारों का पता चलता है। इनमें ख़ास विचार 'वेदों में विश्वास' है। लोग वेदों की चरचा में मगन थे, (२–४२) उसका उनके दिलों पर और ख़ुद अर्जुन के दिल पर गहरा असर था (२–५३)। वेदों की बातें उन्हें कहने और सुनने में बड़ी प्यारी लगती थीं (२–४२)। वे कहते थे कि इससे बढ़ कर और कोई चीज़ है ही नहीं (२–४२)। लेकिन वेदों से जो चीज़ उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में ले रक्खी थी, वह सिर्फ़ तरह तरह के ऊपरी कर्मकाण्ड थे (क्रिया विशेष बहुलां—२–४३), जैसे यज्ञ, हवन, जप, तप, पूजा, पाठ, दान वग़ैरह (९–२०,२१;११–४८,५३; इ०)। इनसे उनका मक़सद या लक्ष्य सिर्फ़ "भोग ऐश्वर्य" ऐश आराम और अपनी दुनयवी "कामनाओं को पूरा करना" और ज़्यादह से ज़्यादह "स्वर्ग" यानी "इन्द्र-लोक" हासिल कर वहां के "दिव्य भोगों" का ऐश भोगना होता था (२–४३, ४४;९–२०,२१; इ०)। उनका नरक तकलीफ़ों की और स्वर्ग भोगों और ऐश की जगह थे। यज्ञ कई तरह के होते थे (४–३२)। तीनों वेदों ऋक्, साम और यजुर के अलावा (९–१७,२०) बहुत से लोग अलग अलग स्मृतियों के मानने वाले थे और वैदिक यज्ञों के अलावा स्मृति-यज्ञ भी होते थे (९–१६)। वैदिक और स्मृति दोनों तरह के यज्ञों में मन्त्र पढ़-पढ़ कर घी और तरह-तरह की खाने की और दूसरी चीज़ों की अग्नि कुण्ड में आहुतियां दी जाती थीं (४–२४;९–१६; इ०) और सोमरस दिया जाता था (९–२०)। गीता के दूसरे, छठे और नवें अध्यायों में और उसके बाद भी कहीं कहीं जिस तरह वेदों का ज़िक्र आया है, उससे ज़ाहिर है कि लोग उन दिनों वेदों के सिर्फ़ कर्मकाण्ड से ही वास्ता रखते थे, उसके ज्ञान-काण्ड यानी ज़्यादह ऊंचे और व्यापक असूलों से नहीं।

एक परमेश्वर के अलावा बहुत से लोग अलग-अलग देवताओं की भी पूजा करते थे। इन देवताओं से भी तरह-तरह के भोगों और दुनियां के सुखों की प्रार्थनाएं की जाती थीं। उन्हें तरह-तरह से ख़ुश करने की कोशिशें की जाती थीं। उनके नाम पर यज्ञ किए जाते और यज्ञों में उनके नाम ले लेकर आहुतियां दी जाती थीं। (३–११,१२;४–१२,२५;७–२०,२३; इ०)। 'पत्र, पुष्प, फल, और जल वग़ैरह' भी चढ़ाए जाते थे (९–२६)। देवताओं के अलावा 'पितरों' और 'भूतों' की पूजा का भी रिवाज था। सब के नाम पर अलग अलग यज्ञ होते थे, और सब के सामने तरह तरह के चढ़ावे चढ़ाये जाते थे (९–२५,२६)।

शकुन वग़ैरह मूढ़ विश्वासों यानी वहमों में भी लोग ख़ासे फंसे हुए थे (१–३१)।

वर्ण व्यवस्था की तरह आश्रम व्यवस्था का भी रिवाज था। उसमें भी दिल की हालत या भावना की जगह ऊपर के भेस और नियमों को ज़्यादा ज़रूरी समझा जाता था, जैसे यह कि 'सन्यासी' आग को हाथ न लगाये, यह यह काम न करे वग़ैरह (६–१)।

जो लोग सिर्फ़ एक परमेश्वर को मानते थे, वे भी कई अलग अलग रास्तों से उसे जानने या हासिल करने की कोशिश करते थे (४–११)। ग़रज़, देश में उस वक्त बहुत से पन्थ, सम्प्रदाय और 'धर्म' (१८–६६) जारी थे। कुछ लोग 'सिद्धियों' के पीछे भी दौड़ते थे, और उन्हें हासिल करने के दो रास्ते थे। एक यज्ञ वग़ैरह कर्मकाण्ड और दूसरा दुनिया से अलग रह रूखा ज्ञान।

जब कर्मकाण्ड का इतना ज़ोर था, यानी ऊपरी रस्मों को इतना ज़रूरी समझा जाता था, क़ुदरती तौर पर दार्शनिक यानी उसूली निगाह से दो ख़ास सम्प्रदाएं या तरीक़े एक दूसरे के ख़िलाफ़ देश में जारी थे। इन दोनों का गीता में बार-बार ज़िक्र आता है (२–३९;३–३;५–२;१३–२४;)। एक सांख्य सम्प्रदायी, जो यज्ञ, कर्मकाण्ड वग़ैरह की जगह ज्ञान पर ज़्यादा ज़ोर देते थे और ज्ञान को ही निजात यानी मुक्ति का ज़रिया मानते थे, जो हर तरह के कामों को बुरा और 'त्याज्य' यानी तर्क कर देने के क़ाबिल मानते थे (१८–३), और मामूली गृहस्थ ज़िन्दगी से अलहदगी (सन्यास) को मुक्ति के लिए ज़रूरी बताते थे। और दूसरे कर्म सम्प्रदायी, जो कर्मकाण्ड यज्ञ वग़ैरह पर ज़ोर देते थे और उन्हीं के ज़रिये मुक्ति मानते थे। गीता में ज्ञान और कर्म दोनों को योग बताया गया है (३–३)। ध्यान, प्राणायाम वग़ैरह के भी कई तरीक़े जारी थे (१३–२४,४–२९; ६०)।

गीता में साफ़ लिखा है कि वह ज़माना, इस देश में, महज़ पाण्डवों के ऊपर कौरवों के ज़ुल्मों का ही ज़माना नहीं था, बल्कि चारों तरफ़ "धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान" का ज़माना था। ठीक वह ज़माना था, जब कि ईश्वरीय अवतारों या महान आत्माओं के जन्म लेने, गीता जैसे अमर उपदेशों के दिये जाने, और सच्चे "धर्म के फिर से क़ायम किए जाने" की ज़रूरत होती है (४–७,८)।

इन्हीं धर्मों, पन्थों और सम्प्रदायों के गोरखधन्धे में पड़ कर, अपने लिये साफ़ रास्ता न देखे अर्जुन ने अपने को "धर्म सम्मूढ़ चेतः" (२–७) कह कर श्री कृष्ण से राह दिखाने की प्रार्थना की है। अर्जुन की इस प्रार्थना का जवाब ही गीता का उपदेश है।

हम अपने अगले लेख में गीता के एक-एक अध्याय पर अलग-अलग एक सरसरी निगाह डालेंगे।

आगता

श्री सुन्दरलाल त्रिपाठी

मैं समझ नहीं पाता कि मैं अपनी मनोवृत्ति का क्रीतदास क्यों हूं,—जब कि मैं उसका सम्राट् हूं। मेरे मनोराज्य में आख़िर अपर का अधिकार, अपर का आधिपत्य क्यों है,—जब मैं जानता हूं कि अपर मेरे द्वारा आयत्त नहीं है।

—और मन ? अपरापर प्रत्येक उसका राजा है,—प्रत्येक उसका राजाधिराज। मन उसका है, वह मन का नहीं है—इसीलिए तो।

लेकिन मैं भाग्य को कोसूंगा, कोस कर मरूंगा और मर कर जिऊंगा। क्योंकि मैं मन का हूं, मनोवृत्ति का—दास, क्रीतदास ! मैं अपर का हूं, पर का—पर मेरा नहीं है।—मैं दासानुदास हूं—निःस्व मैं, क्षुद्रप्राण मैं !—मैं इसी प्रकार जिऊंगा ? यह नर का जीवन नहीं है—नाबदान के कीड़े का जीवन है !

मैं मनुष्य हूं—मस्तिष्क का अधिकारी और मनोभावना का ग़ुलाम ? वृत्ति मेरी—और विवेक मेरा नहीं !—मैं जिऊंगा या मरूंगा ?—मैं जी कर मरूंगा या मर कर जिऊंगा ?—जीवन काहे का है—जी कर मरने का, या मर कर जीने का ?

आज़ाद हिन्दुस्तान में न फ़ौज होगी न हथियार

श्री मज़्हरअली सोख़्ता

(५)

आदमियों आदमियों के बीच की दीवारों का टूटना

इससे पहले के लेख में हमने जीव-विज्ञान (बायोलॉजी) की दृष्टि से इस सवाल पर बहस की थी और बताया था कि जीव-विज्ञान हमें इनसान की तरक़्क़ी के बारे में क्या बताता है। इस लेख में हम यह दिखाना चाहेंगे कि इतिहास से हमें क्या-क्या पता चलता है। हम यह दिखायेंगे कि इनसान लगातार तरक़्क़ी करता रहा है और अगर सारे मनुष्य-समाज को हम एक समाज की हैसियत से देखें, तो इस तरक़्क़ी में कभी रुकावट नहीं पड़ी।

शुरू में इनसान एक नस्ल था

समाज-विज्ञान की सारी खोजों से साबित है कि शुरू में मनुष्य जाति का निकास एक ही जगह और एक ही जाति से हुआ। शुरू की नस्ल एक ही नस्ल थी। किसी तरह वह नस्ल किसी एक जगह पैदा हो गई। इसके बाद ज़िन्दा रहने और बढ़ने की क़ुदरती प्रवृत्तियों के अनुसार वह मनुष्य जाति और दूसरे जानवरों की तरह बढ़ती और फैलती रही। आदमी की सामाजिक ज़िन्दगी में जितने बड़े-बड़े क़ुदरती और नैतिक फ़रक़ पैदा हो गये और उसमें जितनी भिन्नताएं और रंग बिरंगापन आ गया, वह सब बाद की चीज़ें हैं। आदमी के अन्दर नस्ल यानी पैतृकता के असर ने और बाहर की परिस्थिति, देश वग़ैरह के असरों ने मिलकर इन सब भिन्नताओं को पैदा किया। इन भिन्नताओं के इन आन्तरिक कारणों का सम्बन्ध मनोविज्ञान के साथ, और बाहर के कारणों का सम्बन्ध बाहर की परिस्थिति के साथ है। इन दोनों ने ही मिलकर इतिहास की रचना की है।

मनुष्य में दो तरह की प्रवृत्तियां

आदमी ज्यों ज्यों तरक़्क़ी करता रहता है, उसके ऊपर दो तरह की ताक़तें क़रीब-क़रीब एक से ज़ोर के साथ अपना असर डालती रहती हैं। एक तरफ़ तो नस्ल या पैतृकता की ताक़त सब पुरानी आदतों, गुणों, रिवाजों को क़ायम रखने और हर तरह की तब्दीलियों का विरोध करने की कोशिश करती है। दूसरी तरफ़ एक बढ़ते हुए समाज की और बाहर की परिस्थिति की। दोनों की बढ़ती और बदलती हुई ज़रूरतें इस बात को ज़रूरी कर देती हैं कि आदमी नई परिस्थिति के अनुसार अपने आपको बराबर बदलता रहे और अपने जीवन में लगातार तब्दीलियां करता रहे। इन दोनों परस्पर विरोधी ताक़तों के प्रभाव से मनुष्य का जीवन इतिहास में एक ख़ास तरफ़ बढ़ता और खिलता रहता है। दूसरे जानवरों की तरह मनुष्य भी ज़िन्दा रहना चाहता है। इसी तरह समाज भी अपने सामाजिक जीवन को क़ायम रखना चाहता है। इसी से ऊपर की दोनों शक्तियों में एक क़ुदरती सम-तोल बना रहता है। मनुष्य जीना चाहता है। अपनी इस इच्छा को पूरा करने के लिये कोशिशें करता है। इन कोशिशों के फलस्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों के

शरीरों में कुछ अङ्ग-प्रत्यङ्ग निकम्मे होकर लोप होते रहते हैं और कुछ बढ़ते और अधिक ताक़तवर होते रहते हैं। इसी व्यापक नियम के मातहत तमाम प्राणियों के अन्दर तरह-तरह के शारीरिक ढङ्ग और शारीरिक शक्तियां पैदा होती रही हैं; बढ़ती रही हैं और बदलती रही हैं। आदमी की खाल, उसके तरह-तरह के रङ्ग, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, चेहरा मोहरा, जानवरों के जबड़े, सींग, दांत, पंजे वग़ैरह इसी प्रगति के नतीजे हैं। अर्थात् एक तरफ़ देश की भौगोलिक परिस्थिति और दूसरी तरफ़ प्राणियों के अन्दर की प्रवृत्तियां और ज़रूरतें। जानवरों के अन्दर एक दूसरे पर हमला करने और अपने को बचाने की आदतें। उनकी खूंखारी, फुर्ती, हिंसा की ओर प्रवृत्ति, चालाकी ईर्षा, क्रूरता, डर, कायरता, सहनशीलता, प्रेम, सहानुभूति वग़ैरह जितने गुण और जितनी शक्तियां हैं, सब इसी तरह पैदा होती हैं। अकसर जब प्राणी को इनमें से किसी अङ्ग या किसी शक्ति की ज़रूरत नहीं रह जाती, या ज़रूरत कम हो जाती है, तो इन अङ्गों, आदतों या शक्तियों में भी या तो काफ़ी तब्दीली हो जाती है, या उनका बिलकुल लोप हो जाता है। इसलिये यह बात पूरे विश्वास के साथ कही जा सकती है कि मनुष्य के सारे इतिहास की बुनियाद इसी ख़ास चीज़ पर है कि मनुष्य का सारा स्वभाव और उससे भी ज़्यादा उसका शरीर और बाहर के हालात सब इतने लचीले, नरम और परिवर्तनशील हैं कि मनुष्य जीवन की हर नई ज़रूरत के साथ साथ इनकी शक्लों में गहरी तब्दीली हो सकती है। इससे यह भी ज़ाहिर हो जाता है कि शुरू में मनुष्य के दिल में किसी भी जानदार या बेजान चीज़ के लिये पैदायश से नफ़रत या द्वेष नहीं था। मनुष्य स्वभाव में जितना राग और द्वेष, मुहब्बत और नफ़रत पाई जाती है, वह सब बाद की पैदा हुई हुई चीज़ें हैं और मनुष्य के सांसारिक जीवन के परिवर्तनों के साथ साथ ये चीज़ें उसके स्वभाव में पैदा हो गई हैं। आदमी को पैदा होते ही अपने चारों तरफ़ ज़बरदस्त, भयङ्कर और हानिकर परिस्थितियां दिखाई दीं। उसके अपने पास न भोजन था और न कपड़ा। चारों तरफ़ जो शक्तियां उसे नज़र आईं, उनसे न उसका परिचय था और न वह उन्हें समझ सकता था। तरह तरह के पशु चारों तरफ़ से उसे घेरे थे, जिनसे उसकी अपनी ज़िन्दगी ख़तरे में थी। इनमें से बहुत से जानवर मनुष्य की निसबत कहीं ज़्यादह ताक़तवर और ज़्यादह सूझ-बूझ वाले थे। इस सब को देखकर मनुष्य के अन्दर दूसरों से डर और नफ़रत, द्वेष, चालाकी, ग़ुस्सा, हिंसा, क्रूरता, बदले की इच्छा वग़ैरह सब दोष पैदा हो गये, जो डर के साथ साथ चलते हैं। जब एक बार यह सब गुण अवगुण मनुष्य स्वभाव में पैदा हो गये, तो इन्हीं के अनुसार मनुष्य में दूसरों पर हमला करने या अपनी रक्षा करने की सब प्रवृत्तियां पैदा हो गईं और उनके साधन जमा हो गये।

जीवो जीवस्य जीवनम्

इसके अलावा क़ुदरत का नियम है कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्', अर्थात् प्राणी प्राणी ही को खाकर जी सकता है। एक तरह के प्राणी दूसरी तरह के प्राणियों को मिटा कर, या उनसे बेजा फ़ायदा उठाकर ही अपने को ज़िन्दा रख सकते हैं। ज़िन्दगी केवल बेजान चीज़ों के सहारे क़ायम नहीं रह सकती। वनस्पति, कन्द, मूल, फल, दूध और मांस प्राणियों के क़ुदरती आहार हैं और जो प्राणी जितना ज़्यादा ऊंची क़िस्म का प्राणी है, उसे अपनी ज़िन्दगी के लिये उतने ही ज़्यादा जानदार चीज़ों की ज़रूरत होती है। साथ ही जिसकी जान ली जाय उसे दर्द या तकलीफ़ होती ही है।

इसके अलावा आदमी अपने जीवन के हर काम में, जैसे सांस लेना, चलना, खाना, बोलना, इन सब में कहीं जान-बूझकर और कहीं अज्ञानता से, कहीं ख़ुद और कहीं दूसरों के ज़रिये करोड़ों ऐसे छोटे छोटे जानवरों की हिंसा करता रहता है, जो आंख से दिखाई नहीं देते। मुमकिन है कोई समय ऐसा रहा हो, जब कि मनुष्य केवल कन्द मूल फल पर ज़िन्दगी बसर करता था। लेकिन उसके बाद वह समय आया जब

कि मनुष्य ने शिकार खेलना शुरू किया। उसी समय के क़रीब मनुष्य के इतिहास का दौर शुरू हुआ। परिन्दा, मछली और मांस उसी समय से मनुष्य की मामूली ख़ूराक दिखाई देने लगे। केवल अपने शरीर को क़ायम रखने के लिये भी उसे जानवरों को पकड़ना और मारना पड़ा। उन्हें खाने के लिये काटना और भूनना पड़ा और उनकी खालों से अपने लिये कपड़ा तय्यार करना पड़ा। उसके बाद वह ज़माना आया जब आदमी ने जानवरों का पालना शुरू किया। अब उसने जानवरों को पकड़ने और मारने के साथ साथ उन्हें पालना और और भी ज़्यादा निर्दयता के साथ उन्हें अपने काम में लाना शुरू किया। इसके बाद खेती का ज़माना आया। लेकिन इसके बाद भी जानवरों का शिकार खेलना और उन्हें पालना दोनों जारी रहे और ये दोनों पेशे ही खेती से उतर कर आदमी के सब से ज़्यादह मददगार पेशे बने रहे। आदमी का दरख़्तों से तरह-तरह के फल फूल पैदा करना इसी जानवरों के पालने की आदत का एक रूप है। आदमी जितनी खेती करता है या सब्ज़ियां पैदा करता है आमतौर पर सिर्फ़ इसलिये करता है कि उन्हें काटे, पीसे, भूने, उबाले, और खा जाय। इस सबसे पूरी तरह साबित हो जाता है कि क़ुदरत ही का यह एक नियम है कि ज़िन्दगी को क़ायम रखने के लिये हिंसा, क्रूरता और दूसरे को अपनी आवश्यकता पूर्ति का साधन बनाना ज़रूरी है। क़ुदरत ने इस तरह के नियम क्यों बनाये, यह बात इतनी ही रहस्य पूर्ण है जितनी यह कि मनुष्य क्यों पैदा किया गया। यह सवाल फ़िलासफ़ी या अध्यात्मका सवाल है जिससे इस समय हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु इससे कोई समझदार आदमी इनकार नहीं कर सकता कि इस तरह के क़ानून हैं और समस्त मानव उन्नति की यह ही बुनियाद है।

आत्मरक्षा की भावना

इस तरह ज़िन्दगी की कशमकश में दूसरे प्राणियों को मारना और उनसे अपने स्वार्थ के लिए काम लेना आदमी की ज़िन्दगी के लिये क़ुदरती और ज़रूरी हो जाता है। हिंसा, क्रूरता और निर्दय होड़, मनुष्य के आचार व्यवहार के रात दिन के तरीक़े बन जाते हैं। यही उसे उचित मालूम होने लगते हैं। अपनी ज़िन्दगी उसे बार बार ख़तरे में दिखाई देती है। अपने बढ़ने के रास्ते में उसे तरह तरह की रुकावटें पड़ती हैं। इन ख़तरों और इन रुकावटों से उसे मालूम होता है कि प्रकृति उसे मुक़ाबले के लिये चुनौती देती है। उसे मुक़ाबला करना पड़ता है। उसके भीतर की प्रवृत्ति, उसकी जीवन शक्ति उसे इसके लिये मजबूर कर देती है। कम से कम शुरू में उसका मतलब ख़ाह-म-ख़ाह दूसरों पर हमला करना नहीं होता। वह केवल दूसरों से अपनी रक्षा करना चाहता है और अपने को ज़िन्दा रखना चाहता है। अपने चारों तरफ़ की हालत पर उसका कोई क़ाबू नहीं होता। अपनी रक्षा करने और अपने को ज़िन्दा रखने की प्रवृत्ति उसमें क़ुदरती और पैदायशी होती है। बिलकुल ऐसा मालूम होता है कि कोई अदृष्ट शक्ति या विधि उसे अपने हाथ का एक खिलौना बनाकर खेलती है। मनुष्य चाहे य न चाहे यह शक्ति उसे अपने ढङ्ग से खिलाती रहती है और इस चक्कर में डालकर उसे अज्ञात लक्ष्य की ओर बढ़ाये ले जाती है जिसका पता लगा सकना मनुष्य के लिये नामुमकिन होता है।

मनुष्य की सारी भावनाओं में डर सब से बढ़कर और सबसे भयङ्कर भावना है। यह डर ही शुरू से मनुष्य के सारे व्यवहार की जड़ होता है। इस डर की भावना के असर में इस तरह के तरीक़ों से मनुष्य अपनी दुनयवी ज़िन्दगी की समस्याओं का मुक़ाबला करता है। एक विचित्र और रहस्यमय बात यह है कि अपने जीवन के किसी समय दूसरे जानवरों के मुक़ाबले में आदमी के अन्दर औरों की आदतों की नक़ल कर लेने और उन्हें सीख लेने की योग्यता बहुत ज़्यादा बढ़ने लगती है। मुमकिन है इसका एक कारण यह भी हो कि मनुष्य दूसरे बहुत से पशुओं के मुक़ाबले में कमज़ोर और असहाय होता है। उसमें

उसनी ख़ूंख़ारी, फ़ुर्ती, शारीरिक शक्ति नहीं होती, न उसके सींग होते हैं,न उनके से दांत और न पंजे। पशुओं के तरह तरह के रङ्ग, उनकी खाल के ऊपर के धब्बे और रङ्ग बिरङ्गी धारियां भी आदमी में नहीं होतीं जो उन पशुओं को अपनी रक्षा करने में बड़ी मदद देती हैं। लेकिन आदमी में दूसरों की नक़ल करने और दूसरों के तरीक़े सीख लेने की यह योग्यता उसे बेहद मदद देती है। उसमें यह भी विशेषता होती है कि वह जिन चीज़ों और जिन आदतों को अपने लिए फ़ायदे की समझता है उन्हें अपनाता जाता है और जिन्हें अपने लिये हानिकर समझता है उन्हें छोड़ता रहता है। इसीलिये वह धीरे धीरे न केवल दूसरे जानदारों के आत्म रक्षा के तरीक़ों और हमला करने के तरीक़ों को ही अच्छी तरह सीख लेता है बल्कि बहुत से जानवरों के और और तरीक़ों, व्यवहारों और उद्योगों की भी नक़ल कर लेता है। वह केवल नक़ल ही नहीं करता बल्कि उनमें आवश्यक उलट फेर करके उन्हें अपनी ज़रूरतों के मुताबिक़ ढाल कर अपने स्वभाव का एक अङ्ग बना लेता है।

मनुष्य की रचनात्मक शक्ति

इस तरह मनुष्य तमाम प्राणियों के अलग अलग स्वभाव और उनकी अलग अलग आदतों का एक संग्रह, उनका एक नमूना बन जाता है। उसका सामाजिक जीवन सबसे ज़्यादह रङ्ग बिरङ्गा और सब से ज़्यादह व्यापक हो जाता है। इसी व्यापकता और विभिन्नता के कारण मनुष्य के अन्दर की रचनात्मक शक्तियां और ज़्यादह काम में आती और बढ़ती हैं। उसकी ज़रूरतें बढ़ती जाती हैं। उसके सामाजिक व्यापारों का क्षेत्र बढ़ता जाता है। नतीजा यह होता है कि शुरू में जिन सीधी सादी चीख़ पुकारों से वह अपनी भावनाओं को ज़ाहिर करता था वे अब बढ़ते बढ़ते और तरक़्क़ी करते करते एक दूसरे को समझने, मिलकर काम करने और सामाजिक जीवन के अलग अलग क्षेत्रों में, तरह तरह के व्यापार करने के लिये बोली की एक पेचीदा पद्धति बन जाती हैं। इसी तरह धीरे धीरे मनुष्य की भाषाएं और ज़बानें बनती हैं। इसी तरह आदमी की वह शुरू की सीधी सादी समझ जो उसे हानिकर कामों से हटाती और फ़ायदे के कामों की तरफ़ लगती थी बढ़ते बढ़ते उसकी तर्क शक्ति, अक़्ल, और दलील की ताक़त बन जाती है जो आगे चल कर उसके सारे जीवन को चलाती और उसे राह दिखाती है।

जितनी साइन्सों का आदमी की ज़िन्दगी के साथ सम्बन्ध है ,वे आदमी की तरक़्क़ी के इन सब पहलुओं जैसे भाषण, अक़्ल वग़ैरह पर रोशनी डालती हैं। ये सब चीज़ें आदमी में उस समय पैदा हुई और बढ़ीं कि जिस समय अभी ऐतिहासिक युग शुरू नहीं हुआ था। उन शुरू की हालतों में आदमी की ये चीज़ें किस तरह से धीरे धीरे बढ़ीं उसकी कुछ कल्पना हम दो बातों से कर सकते हैं। एक तो उन बहुत पुरानी चीज़ों से जो पुरातत्व विद्या ने खोद खोद कर ज़मीन के नीचे से निकाली हैं और दूसरे उन बेशुमार मनुष्य जातियों से जो अभी तक उन शुरू की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में ही जगह जगह दुनिया में मिलती हैं। यहां हमने इस बात का केवल संकेत कर दिया है ताकि यह थोड़ा बहुत पता लग जावे कि ऐतिहासिक युग के ठीक शुरू होने के समय आदमी में क्या क्या गुण और उसकी क्या क्या आदतें थीं।

मनुष्य में युद्ध की प्रवृत्ति

इस तरह शुरू से लेकर और उस समय तक, जब तक कि आदमी ने शिकार खेलना सीख लिया, समय चाहे कितना भी लगा हो इसमें कोई शक नहीं कि आदमी की तरक़्क़ी लगातार जारी रही। इस के हमें काफ़ी अच्छे सुबूत मिलते हैं। शिकार के युग के बाद से हमें और भी ज़्यादह सुबूत इस बात के मिलते हैं, और घटनाओं का इतना साफ़ और विश्वसनीय क्रम हमारे सामने मौजूद है कि उस समय से बाद की तरक़्क़ी और भी ज़्यादह साफ़, लगातार और बेरोक दिखाई देती है। शिकार का ज़माना आते आते

आदमी का दिमाग़ बाक़ी जानवरों के दिमाग़ों से बिलकुल अलग और उन्नत बन चुका था। दूसरों से लड़ने या मिलकर रहने की प्रवृत्तियां और तरीक़े काफ़ी साफ़ साफ़ शक्ल अख़्तियार कर चुके थे। लड़ाई के तरीक़े इसलिये क्योंकि उसे अपनी बाहर की ज़िन्दगी पर हमलों और ख़तरों का मुक़ाबला करना पड़ता था, और मिलकर रहने के तरीक़े इसलिये कि उसे अपने सामाजिक जीवन में अमन और एक व्यवस्था क़ायम रखनी पड़ती थी, और उस जीवन को भीतर से एक ख़ास रूप और तरतीब देनी पड़ती थी, जिससे सब सुखी और चैन से रहें। यद्यपि मनुष्य और बहुत से जानवरों के मुक़ाबले में पैदाइश से कमज़ोर था, फिर भी इन नये तरीक़ों को सीख लेने की वजह से और उसके दिमाग़ की ताक़त के बढ़ जाने की वजह से, उसका बल और उसकी सूझ बूझ बहुत ज़्यादा बढ़ गई। जैसा हम देख चुके हैं, उसे अपने को केवल ज़िन्दा रखने के लिये लड़ाई और मुक़ाबला करना पड़ता था और हिंसा और क्रूरता के तरीक़ों से काम लेना पड़ता था। इसलिये क़ुदरती और लाज़िमी तौर पर उसकी ज़िन्दगी के दूसरे पहलुओं के मुक़ाबले में लड़ाई का यह पहलू ज़्यादा तरक़्क़ी कर गया। यहां तक कि उसके अपने समाज के अन्दर अमन और शान्ति क़ायम रखने के तरीक़े भी इन्हीं लड़ाई के तरीक़ों के अनुसार ढलने लगे और इस काम में भी आदमी ने अपनी लड़ाई की भावना और लड़ाई के तरीक़ों से ही सबसे ज़्यादा काम लिया। अपने को किसी तरह ज़िन्दा रखना ज़िन्दगी का सबसे बड़ा लक्ष्य था। इसलिये और सब चीज़ें इसी के मातहत थीं और इसी को मुख्य चीज़ समझ कर ढाली गई। न केवल हथियार और युद्ध की शिक्षा ही, बल्कि सामाजिक संस्कृति की क़रीब क़रीब सब मुख्य चीज़ें, उसके गीत, उसके नाच, उसकी कसरतें, उसके खेल तमाशे सब इस तरह गढ़े गये, जिनसे आदमियों में लड़ने का माद्दा पैदा हो और लड़ाई के लिये वे हर समय तय्यार रहें। शिकार के दिनों में आदमी की ख़ूराक तक केवल लड़ाई की ताक़त पर निर्भर थी। इसलिये वह ताक़त ख़ूराक से उतर कर आदमी के स्वभाव का सबसे ज़बर्दस्त अङ्ग बन गई। आदमी के सब विचारों और भावों पर, उसके दिल और दिमाग़ दोनों पर, इस रुझान की गहरी छाप पड़ गई। आदमी ने देखा कि उसकी सफलता के लिये जितने ज़रूरी हथियार थे—चालाकी, छल, दग़ा और दूसरे को चकमा देना, हिंसा और क्रूरता में दूसरों से बढ़ जाना भी उतनी ही ज़रूरी चीज़ें थीं। जो लोग समाज के साथ किसी तरह का जुर्म करते थे, उन्हें सख़्त से सख़्त शारीरिक यातना पहुँचाना, हाथ पांव काट डालना, मार डालना पत्थर मारना, ज़िन्दा जला देना और तरह तरह की क्रूर से क्रूर यातनाएं पहुंचाना मामूली सज़ाएं समझी जाती थीं। समाज के अन्दर किसी तरह का भी गोलमाल या बदअमनी हो, तो उसे शान्त करने के लिये नङ्गी तलवार ही सबसे बड़ा और सबसे उचित उपाय समझा जाता था। क़ुदरती तौर पर समाज सबसे ज़्यादा इज़्ज़त उन लोगों की करता था और उन्हीं को सबसे बढ़ बढ़ कर इनाम देता था, जो सबसे ज़बरदस्त योधा होते थे और जो समाज की लड़ाइयों में, चाहे वे दूसरों पर हमला करने के लिये की गई हों, या अपनी रक्षा के लिये की गई हों, सबसे होशियार नेता और सरदार साबित होते थे।

मिल जुल कर रहने की भावना और तरक़्क़ी

दूसरी तरफ़ इन्हीं लड़ाइयों के ज़रिये, जो माल असबाब आदमी के पास इकट्ठा हो जाता था, उससे लोग अधिक से अधिक फ़ायदा उठा सकें, आइन्दा लड़ाई ज़्यादा सफलता के साथ और ज़्यादा अच्छी तरह लड़ी जा सके, ज़िन्दगी में असली सुख और शान्ति पैदा हो सके, इन सबके लिये सामाजिक ज़िन्दगी की शक्लों और उसके तरीक़ों का बढ़ना भी ज़रूरी था। इन बातों के लिये उतना ही ज़रूरी और लाज़मी यह था कि मिलकर काम किया जावे, एक दूसरे की मदद की जावे और काम करने वालों में एक व्यवस्था क़ायम हो। आत्म-त्याग और आत्म-समर्पण के भाव

व्यक्तियों में आयें और इनके साथ जिन गुणों का होना ज़रूरी है, यानी एक दूसरे की इज़्ज़त, एक दूसरे से मोहब्बत, हमदर्दी, इनसाफ़, ईमानदारी, सेवा, इतना ही नहीं बल्कि सब के भले के लिये व्यक्ति का अपने सारे हितों को क़ुरबान कर देना और समाज के सब सदस्यों में एक गहरा भाईचारा क़ायम करना, यह सब चीज़ें भी आदमी में पैदा हों और बढ़ें। ये दोनों अलग अलग तरीक़े एक दूसरे के ख़िलाफ़ और एक दूसरे को काटने वाले थे। लड़ाई के तरीक़ों में मुख्य चीज़ यह थी कि दूसरे को हराया जावे, मिटा दिया जावे, अपने अधीन कर लिया जावे और उससे अपना काम निकाला जावे। इसके ख़िलाफ़ समाज में मिल जुल कर रहने के तरीक़ों में सब से मुख्य चीज़ यह थी कि हर व्यक्ति का ख़याल रखा जावे, सब की रक्षा की जावे, सब में भाईचारा, न्याय और बराबरी और मोहब्बत क़ायम की जावे और समाज के बड़े लोगों और नेताओं में दूसरों की तरफ़ अनुकम्पा और वात्सल्य भाव पैदा किया जावे। दूसरे शब्दों में इसका मतलब यह था कि समाज रूपी बड़े कुटुम्ब के अन्दर बाप, मां और बच्चे के छोटे से कुटुम्ब का सारा ख़ाका बुन दिया जावे और उस छोटे से कुटुम्ब की सारी परस्पर भावनाएं और एक दूसरे का लिहाज़ इस बड़े कुटुम्ब के रोज़मर्रा के जीवन में क़ायम कर दिया जावे। ज़ाहिर है कि हिंसा, क्रूरता, चालाकी, धोखा, दूसरे को चकमा देना और उससे काम निकालना वग़ैरह चीज़ें इन ऊपर के गुणों के बिलकुल ख़िलाफ़ और उनका नाश करने वाली थीं। ख़ासकर शिकार के युग में, जब कि मनुष्यों के गिरोह बहुत ही छोटे छोटे थे और सामाजिक जीवन अभी बहुत सादा और कम पेचीदा था। मनुष्य-स्वभाव की प्रवृत्तियों, सामाजिक ज़रूरतों और बाहर की परिस्थिति के दबाव, सब ने मिलकर इन दोनों परस्पर विरोधी भावनाओं और तरीक़ों के बीच एक काम चलाऊ समझौता और समतोल पैदा कर दिया।

समय समय पर इस तरह के आदर्शवादी लोग, समाज को बनाने और उसे सुधारने वाले पैदा होते रहे, जिन्होंने महसूस किया कि इन दोनों तरह की प्रवृत्तियों के बीच कितना भयङ्कर और नाशकर विरोध है। इस विरोध की बुराइयों से समाज को बचाने के लिये उन्होंने अपनी पूरी शक्ति ख़र्च की। उनकी ज़बरदस्त कोशिशों से मिल जुल कर रहने के तरीक़े ज़्यादा शुद्ध और मज़बूत होते चले गये। सामाजिक सङ्गठनों की सख़्ती कम होती गई और मनुष्य के दिल से और उसके सामाजिक जीवन से हिंसा और क्रूरता का आकर्षण और चाव घटता चला गया। इसके बाद बहुत दिनों तक वह ज़माना था, जब कि आदमी एक जगह से दूसरी जगह चलते फिरते रहते थे, अपनी जगह बराबर बदलते रहते थे और उनके वे गिरोह, जिनमें वे मिल जुल कर रहते थे, अभी बहुत छोटे छोटे थे। इस तमाम ज़माने में बाहर की परिस्थिति और बाहर के हमलों का दबाव बहुत ज़ोर का था। आदमी पर उसका गहरा असर था। अलग अलग छोटे छोटे गिरोह एक दूसरे से बहुत दूर दूर रहते थे। उस ज़माने में आदमी के अन्दर मिल कर रहने, प्रेम और भाईचारे की जितनी भावनाएं थीं वे केवल अपने छोटे छोटे गिरोहों तक ही परिमित थीं। आदमी का दिमाग़ केवल उन छोटे से गिरोहों के अन्दर ही मिलकर रहने की कल्पना कर सकता था। उस गिरोह से बाहर के सब प्राणी, चाहे वे जानवर हों या इनसान ग़ैर और दुश्मन समझे जाते थे। इन छोटी छोटी हदों के अन्दर व्यक्तियों और गिरोह के हितों में स्वार्थ और परहित में या सबके हित में एक समतोल क़ायम कर सकना ज़्यादा आसान था। हर आदमी अपने गिरोह की जीत हार में उसके नफ़े नुक़सान में साफ़ साफ़ हिस्सा लेता था। इसलिये वह यह आसानी से अनुभव कर सकता था कि उसको केवल अपने स्वार्थ के लिये नहीं, बल्कि सबके भले और लाभ के लिये काम करना ज़रूरी है। यह दोनों तरह के रुझान साथ साथ काम करते रहे। इनसान का दिमाग़ उसे दोनों तरफ़ रास्ता दिखाता रहा। इसी दिमाग़ पर इन्सान को भरोसा था। इसी हालत में इन्सान ने अपने चारों तरफ़ की हालतों

और तमाम जानवरों का मुक़ाबला किया। दूसरे जानवरों के मुक़ाबले में आदमी का दिमाग़ कहीं ज्यादा बढ़कर और कहीं ज़्यादा लचीला साबित हुआ। उसके मुक़ाबले में दूसरे जानवर ज़रूरत के अनुसार अपने में बहुत कम उलट फेर कर सकते थे। कोई नई बात सोचकर निकाल सकना तो उनके लिये नामुमकिन ही था। आदमी दूसरों से सीखने की ताक़त में और ख़ुद नई चीज़ें सोच निकालने की ताक़त में, दोनों में अपना सानी न रखता था। ज़िन्दगी के नये नये तजरुबों से वह लगातार अपने ज्ञान और सूझ बूझ के भण्डार को बढ़ाता रहा। एक ईजाद से दूसरी ईजाद और एक सूझ से दूसरी सूझ तक पहुंचने में आदमी का दिमाग़ तरक़्क़ी करता चला गया। उसकी शक्ति बढ़ती गई। बाहर की दुनिया के मुक़ाबले के लिये उसके तरीक़ों, उपायों, हथियारों और सूझ बूझ का ख़ज़ाना बढ़ता गया।

आदमी के नये हथियार

एक छोटी सी ईजाद ने यानी बड़ी बड़ी और मज़बूत गदाओं ने आदमी के लड़ने की ताक़त को बहुत बढ़ा दिया। इसके बाद आदमी ने पत्थरों को बतौर हथियार के दूर दूर फेंकने का हुनर ईजाद किया। उसने बड़े बड़े मज़बूत गोफन बनाये। इनसे आदमी की ताक़त और भी बढ़ गई। उसका हाथ दूर खड़े हुए दुश्मन तक पहुंच सकता था और वह काफ़ी दूर से वार कर सकता था। फिर उसने पत्थरों को काट छांट और घिस कर उनके तरह तरह के हथियार बनाये, जिनसे वह जानवरों के सींगों, दांतों, नाख़ूनों, चोंचों, पंजों वग़ैरह से कहीं बढ़कर काम लेने लगा। शुरू में उसने ये हथियार इन्हीं की नक़ल में बनाये थे। लेकिन थोड़े ही अरसे में वे इन सबसे बढ़ गये। जानवरों के पास इनके मुक़ाबले के लिये कोई हथियार न थे। आदमी के भालों की नोकें, उसके छुरे, ख़ंजर, तलवारें, भाले, फावड़े, कुल्हाड़े सब जानवरों के क़ुदरती हथियारों की नक़ल में बनाये गये थे। लेकिन ये सब जानवरों के क़ुदरती हथियारों से कहीं ज़्यादा भयङ्कर और कहीं ज़्यादा घातक साबित हुये। जानवर चौकन्ने रहते थे और बड़ी तेज़ी से भाग सकते थे। उनसे बढ़ने के लिये आदमी ने तीर और कमान ईजाद किये। वह अब बहुत दूर से और अपने को सुरक्षित रख के अपने दुश्मनों पर हमला कर सकता था। जब आदमी लकड़ी और पत्थर का काफ़ी उपयोग करने लगा, तो उसे धीरे धीरे आग का पता चल गया और कुछ दिनों बाद उसने ख़ुद जब चाहे आग पैदा करना सीख लिया। इस ख़ौफ़नाक चीज़ की ईजाद ने आख़री तौर पर दूसरे सब जानवरों के ऊपर आदमी के प्रभुत्व को क़ायम कर दिया—

गिरोहों का अलग अलग होना

दूसरे जानवरों के ऊपर आदमी का बड़प्पन और प्रभुत्व तो क़ायम हो गया, लेकिन आदमी अपने चारों तरफ़ की क़ुदरती हालत का ग़ुलाम बना रहा। अपनी ख़ूराक के लिये शिकार करके जानवरों को मारना एक ऐसा तरीक़ा था, जिस पर हमेशा भरोसा न किया जा सकता था। जो मनुष्य जातियां अभी तक केवल शिकार से अपना पेट भरती हैं, उन्हें देखकर यह बात साबित हो चुकी है कि उनमें से हर आदमी को अपना खाना हासिल करने के लिये चालीस मील से लेकर दो सौ मुरब्बा मील की ज़रूरत पड़ती है। नतीजा यह हुआ कि शिकार के समस्त युग में आदमियों के छोटे छोटे गिरोह या तो बढ़ने बन्द हो गये और या अगर कुछ बढ़े, तो उन्हें बार बार एक बड़े गिरोह के कई छोटे छोटे गिरोह करके अलग अलग दिशाओं में फैल जाना पड़ा, और फिर वह कभी लौटकर अपने असली गिरोह से नहीं मिले। उनके न बढ़ सकने का कारण या तो वे कठिनाइयां थीं, जो प्रकृति ने उनके बढ़ने के रास्ते में रख दीं और या कुछ ऐसी रोक थाम की बातें थीं, जो हर समाज अपनी ज़रूरत से ज़्यादा आबादी को बाहर निकाल देने के लिये करता रहता है। जो गिरोह अपनी ख़ूराक की तलाश में इधर उधर घूमते

थे, उन्हें जगह जगह और क़दम क़दम पर ऐसी रुकावटों का सामना करना पड़ता था, जिन्हें पार कर सकना उनके लिये नामुमकिन हो जाता था। कहीं उन्हें बड़े बड़े और घने जङ्गल मिल जाते थे, कहीं ज़बरदस्त और गहरी नदियाँ, कहीं दुर्गम पहाड़ और कहीं बड़ी बड़ी झीलें और समुद्र। इन दिक़्क़तों की वजह से ये गिरोह लाचार होकर ख़ास रक़बों या स्थानों तक महदूद रहते थे और उन स्थानों में एक गिरोह दूसरे गिरोह से टूट कर अलग अलग ज़िन्दगी बसर करते रहते थे। उसी ज़माने में तरह तरह की संस्थाएं, तरह तरह के रिवाज और तरह तरह की ज़बानें मनुष्यों में पैदा हो गईं। मनुष्य के इतिहास का यह वह लम्बा युग था, जब कि मनुष्य के अलग-अलग गिरोहों में विभिन्नताएं बढ़ती चली गईं।

लेकिन आदमी के जिस दिमाग़ ने पशुओं को जीत लिया था, उसने इस कठिनाई में भी आदमी को मदद की। कुल्हाड़ों और आग के ज़रिये उसने अभेद्य जङ्गलों को क़ाबू में किया। दूसरे जानवरों से तैरना सीखकर उसने नदियों को पार किया। उसने डोंगियों और किश्तियों की ईजाद की, जिनसे बड़ी-बड़ी नदियां उसके लिये सड़कें बन गईं। बीच की वादियों से होकर उसने पहाड़ों को पार किया। रस्सों और सीढ़ियों के पुलों से उसने खाइयों को पार किया। इस तरह उसने एक के बाद दूसरी दीवार को अपने रास्ते से हटाया। यहां तक कि धरती के चारों कोनों में पहुंचने के लिये कोई चीज़ कहीं पर उसे रोकने वाली न रह गई।

मानव-संस्कृति का प्रारम्भ

इसके बाद वह ज़माना आया, जब आदमी ने जानवरों को पालना शुरू किया। केवल शिकार का ज़माना (Hunting period) ख़त्म हो गया। उसकी जगह जानवर पालने और बड़ी बड़ी चरागाहें रखने का ज़माना (Pastoral Period) आया। इसके बाद आदमी की ज़िन्दगी में एक और क्रान्ति हुई। आदमी ने अब पशुओं के अलावा दरख़्तों को पालना शुरू किया। यानी उसने फलों की काश्त, सब्ज़ियों का बोना और खेती का धन्धा शुरू किया। इस नये उद्योग ने और आदमी की इस नई ईजाद ने मनुष्य समाज में इस सिरे से उस सिरे तक एक क्रान्ति पैदा कर दी। इसी नई ईजाद के प्रताप से आदमी के गिरोहों का एक जगह से दूसरी जगह चलते फिरते रहना और बड़े गिरोहों का टूट कर छोटे छोटे गिरोह बनते रहना क़रीब क़रीब बन्द हो गया। आदमी को अपनी ख़ूराक निश्चित समय पर और निश्चित जगह से मिलने लगी। मनुष्यों के गिरोह जम कर एक जगह रहने लगे। इसी से सब उद्योग-धन्धों और कलचर यानी संस्कृति की बुनियादें पड़ीं। इन्हीं तब्दीलियों ने अन्त में मनुष्य को अपने बाहर की प्राकृतिक अवस्था पर क़रीब क़रीब हावी कर दिया। उसे उस पर बहुत कुछ क़ाबू हासिल हो गया। इस समय के बाद से आदमी को रचनात्मक ढङ्ग से सोचने और काम करने के लिये कहीं ज़्यादा निश्चिन्तता और कहीं ज़्यादा सुभीता मिलने लगा। ख़ूराक के ठीक समय पर और ठीक मिक़दार में मिलने से क़ुदरती तौर पर मनुष्य की शक्ति और उसकी क्षमता बेहद बढ़ गई। नतीजा यह हुआ कि उसकी ज़रूरतें भी बढ़ीं। उसके रहने सहने का ढङ्ग बहुत ज़्यादा उन्नत, ऊंचा और जटिल हो गया। नई ज़रूरतों को पूरा करने और नये रहन सहन के ढङ्गों को क़ायम रखने के लिये बड़े बड़े हुनर और उद्योग धन्धे पैदा हो गये।

मानव जाति के इतिहास में यह एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी। उसी समय से भौतिक और नैतिक उन्नति का एक युग शुरू हुआ, जो अभी तक जारी है।

आदमी की नई नई ईजादें

शारीरिक दृष्टि से आदमी रीछ या शेर के मुक़ाबले में बिलकुल तुच्छ था। जितना बोझ ऊंट या हाथी ले जा सकता था आदमी उसका एक छोटासा हिस्सा भी ले जाने के क़ाबिल नहीं था। वह उससे

आधी तेज़ी से या आधी दूर तक भी नहीं दौड़ सकता था, जितना कि ऊंट या घोड़ा दौड़ सकता था। फ़िर भी उसने इन जानवरों को अपने काम में जोता और एक प्रकार से अपने शरीर की शक्ति उनके ज़रिये से बढ़ा ली। प्रकृति की घटनाओं के साथ भी आदमी का परिचय और उनके बारे में आदमी की जानकारी बढ़ती चली गई। प्रकृति के नियमों को वह और ज्यादा गहराई के साथ समझने लगा। जिस तरह उसने जानवरों और दरख़्तों की आदतों और उनके व्यवहार का अध्ययन किया था। उसी तरह अब उसने प्राकृतिक शक्तियों की आदतों और उनके व्यवहार का अध्ययन करना शुरू किया। उसने बहुत दरजे तक उन्हें भी पाल लिया। आग की मदद से उसने पहले के ज़माने के पत्थर के औज़ारों की जगह अब कांसे और उसके बाद लोहे के हथियार और औज़ार बनाने शुरू किये। इनमें से हर एक नई ईजाद ने मनुष्य की बढ़ती हुई सभ्यता के लिए उन्नति के नये नये दरवाज़े खोल दिये। इसी समय से जगह जगह अनेक देशों में मानव सभ्यता के विकास के युग प्रारम्भ हुए। खेती में समय पर बारिश होने मे फ़सल न होने या ख़राब हो जाने का डर रहता था। अब पानी के बहाव और दबाव के क़ुदरती नियमों (hydraulic laws) का अध्ययन किया गया। आबपाशी के लिये बड़ी बड़ी नहरें खोदी गईं। बन्द बांधे गये। जलाशय तय्यार किये गये। इनसे खेती में बहुत बड़ी मदद मिली और बारिश के न होने से फ़सल के ख़राब होने का डर बहुत कुछ जाता रहा। बड़े बड़े और अभेद्य जङ्गल, दुर्गम पहाड़, बड़े बड़े रेगिस्तान और विशाल समुद्र आदमी की बढ़ती हुई ज़रूरतों के सामने सिकुड़ कर उसकी बढ़ती हुई तिजारत की सड़कें बन गये। इन सड़कों ने अलग अलग गिरोहों के रहने के स्थानों और उनकी मण्डियों का एक दूसरे से नाता जोड़ दिया। इसके बाद पहियों और गाड़ियों की ईजाद हुई। इसी तरह किश्तियों और जहाज़ों की ईजाद हुई। आदमी की आंधी की तरह या समुद्र की लहरों की तरह सारी धरती के ऊपर घुमा देने के लिये खुद आदमी की और जानवरों की शक्ति के अलावा अब प्रकृति की शक्तियों से भी काम लिया जाने लगा। जानवरों की शक्ति, पानी की शक्ति, हवा की शक्ति, भाप की ताक़त और बिजली की ताक़त इन सब ने आदमी के बल और उसके महत्व दोनों को बढ़ा दिया। उसका सर दुनिया के ऊंचे से ऊंचे पहाड़ों से ऊंचा उठने लगा। उसकी नज़र उन जगहों को भी भेदने लगी, जहां पक्षी भी कभी उड़कर नहीं पहुंचे। वह जल पर और स्थल पर दोनों पर सैकड़ों हाथियों को अपनी जेब में डाल कर आश्चर्यजनक तेज़ी के साथ दौड़ने लगा। उसकी आवाज़ ज़मीन के दूसरी तरफ़ वहां के लोगों के कानों तक पहुंचने लगी। आज उसके कान ज़मीन के किसी भी हिस्से में पैदा होने वाली आवाज़ को दूर बैठे सुन सकते हैं। उसकी आंखें छोटे से छोटे अणुओं और परमाणुओं को बेध सकती हैं और हज़ारों और लाखों मील दूर की घटनाओं को देख सकती हैं। इसी हिसाब से उसकी दूसरों पर हमला करने की ताक़त भी बढ़ी। पुराने ज़माने की तलवार और तीर कमान की जगह अब वह हथियार ईजाद हो गये, जिनकी पहुंच और जिनकी भयङ्कर मार की कल्पना कर सकना भी कठिन है। आदमी के लड़ाई के मैदान अब सैकड़ों और हज़ारों मील लम्बे होते हैं और एक एक लड़ाई के अन्दर उस ज़बरदस्त पैमाने पर हत्या और विनाश देखने में आता है कि जिसकी मिसाल महाभारत के मशहूर युद्ध या इङ्गलिस्तान के इतिहास के मशहूर सौ वर्ष के युद्धों (Hundred years war) में नहीं मिलती।

बिखरे हुए गिरोहों का फिर से एक होना

सारी मनुष्य जाति का शुरू का बीज एक छोटा सा अकेला असहाय गिरोह था, जो किसी एक कोने में बाक़ी दुनिया से अलग रहता था। इस बीज से बढ़ते बढ़ते अब मनुष्य सारी पृथ्वी के ऊपर फैला हुआ है। जहां भी मनुष्य रह सकता है, वहां वह

मौजूद है। यहां तक कि कहीं कहीं एक मुरब्बा-मील में ५०० से ८०० तक आदमी रह रहे हैं। बिलकुल शुरू के असभ्य ज़माने से लेकर आजकल के सभ्यता के युग तक यह फैलाव और यह बढ़ौती बराबर और लगातार उत्तरोत्तर ही होती रही है। मनुष्य सब तरफ़ उन्नति करता और फैलता रहा है। इतिहास से पता चलता है, यह बढ़ौती कितनी ज़बरदस्त हुई है और कहीं किसी समय भी इस बढ़ौती का रुकना या पीछे को हटना नज़र नहीं आता। मनुष्य अपने इस फैलाव में न कहीं रुकता दिखाई देता है और न झिझकता। यह सारी प्रगति एक लगातार विकास की प्रगति रही है। उसका क्षेत्र बराबर बढ़ता रहा है। उसकी गहराई और विभिन्नता यानी रंग बिरंगापन बराबर बढ़ता रहा है। उसकी तेज़ी और गति भी अधिकाधिक होती चली गई है। यह सारी प्रगति किसी विचित्र और रहस्यमय लक्ष्य की ओर बढ़ी चली जा रही है।

जब से आदमियों का एक जगह से दूसरी जगह जाकर बसना और बड़े गिरोह का टूटकर छोटे छोटे गिरोह बनना बन्द हुआ, तब से मनुष्य के सामाजिक जीवन में एक बहुत बड़ा युगपरिवर्तन हुआ। मनुष्य को नये और ज़बरदस्त संकट में से निकलना पड़ा। शुरू में मनुष्य अपने शुरू के निवासस्थान से हटकर छोटे छोटे गिरोह बनकर चारों तरफ़ फैला था। उसके बाद कुदरती दीवारें टूटीं। आदमी को उसकी ख़ूराक का मिल सकना ज़्यादा निश्चित हुआ। पुरानी ख़ानाबदोशी की भावना और उसकी ज़रूरत दोनों ख़त्म हुईं। परिस्थिति या कुदरत की वह ताक़तें, जो समाज को टुकड़े टुकड़े कर रही थीं बदलीं। दूसरी ताक़तें जो सामाजिक जीवन को मिल कर एक करने वाली थीं, उनकी जगह आईं। इसके बाद जो ज़माना आता है, उसमें एक दूसरे में समा जाना और एक का दूसरे में मिल जाना यही सबसे प्रधान प्रगतियां नज़र आती हैं। मनुष्य के बिखरे हुये अलग अलग गिरोहों में फिर से स्थायी सम्बन्ध क़ायम होने और उनके फिर से एक होने की ज़बरदस्त लहरीकें चल पड़ीं।

नई दिक़्क़तें

ये बुनियादी तब्दीली एक तरफ़ तो अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति के ऊपर मनुष्य की अन्तिम विजय को साबित करती है। दूसरी तरफ़ इसी तब्दीली ने मुख़्तलिफ़ मनुष्य जातियों के बीच एक गहरी और नई कशमकश पैदा कर दी है। यह कशमकश पहले से भी कहीं ज़्यादा भयङ्कर और घातक दिखाई देती है। इसके नतीजे भी कहीं ज़्यादा गहरे हो सकते हैं। लेकिन जिस तरह आदमी की भौतिक समस्याओं के हल होने में वैसे ही उसकी नैतिक और मानवीय समस्याओं के हल होने में भी कोई 'चक्कर' यानी पीछे हटना या 'प्रत्यवाय' दिखाई नहीं देता। यह सारी प्रगति एक लगातार और ज़बर्दस्त उत्तरोत्तर है। भौतिक यानी कुदरती दीवारों को तोड़ने में आदमी को लाखों साल लगे हैं। लेकिन इन मानवीय दीवारों को तोड़ने में ऐतिहासिक युग के थोड़े से समय के अन्दर मनुष्य इतनी तेज़ी से काम कर रहा है कि जिसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। बोली, मज़हब, क़ायदे क़ानून, रस्म रिवाज, संस्थायें, जाति भेद, पेशों के भेद, ज़ात, देश और काले गोरे का फ़र्क़ सब एक एक कर बड़ी तेज़ी के साथ टूट रहे हैं। हम इसको महसूस नहीं कर रहे हैं क्योंकि हमारी नज़रें बहुत थोड़े समय तक थोड़ी सी दूर के अन्दर और अपनी क़ौम या अपने गिरोह के अन्दर महदूद रहती हैं। इस प्रगति को ठीक ठीक देख सकने के लिये ज़्यादा विशाल, गहरी और उदार दृष्टि की ज़रूरत है।

लेकिन इन मानवीय दीवारों के टूटने के सवाल पर हम अपने अगले लेख में विचार करेंगे।

सुरजी

श्रीमती शिवरानी प्रेमचंद

आज से ५० वर्ष पहले सुरजी जब ब्याह कर आई, तो उसके घर में पति भर एक आदमी था। पति एक लाला के यहाँ हलवाही करता था। सुरजी गोरे रंग की ख़ूबसूरत औरत थी। उसका चरित्र भी शरीर ही की तरह गोरा था। उम्र भर उसकी ओर किसी ने उँगली तक न उठाई। हां, उसका स्वभाव हँसमुख था। पति के मालिक लाला जी गाँव के रिश्ते में उसके देवर लगते थे।

होली के त्योहार पर सुरजी को प्रति वर्ष एक चुनरी इनाम मे मिलती। जब उसका परिवार बढ़ गया, वह बूढ़ी होने को आई, तब भी उसे प्रति वर्ष लाला जी के यहाँ चुनरी पहन कर आशीर्वाद देने की लालसा वैसी ही रहती।

सुरजी का पति मर गया था। लेकिन वह होली के दिन उसी उत्साह से लाला साहब के यहाँ जाना चाहती। अपने बड़े लड़के से बोली—जाकर एक नारियल तो ला।

लड़का—पैसे कहाँ हैं?

सुरजी—अनमनी होकर बोली—और सब खर्चे के लिए तो पैसे मिलते हैं; एक नारियल के लिए तुम्हारे पास पैसे नहीं बचते।

लड़का—तुम तो और का और समझ गईं। जब पैसे ही नहीं हैं, तो मैं किससे लाऊँ?

सुरजी बड़बड़ाती हुई भीतर पहुँची। भीतर से कपड़े की एक बँधी हुई पोटली लाई।

बेटे के सामने उसे रखती हुई बोली—देखो, इसमें कितने पैसे हैं। इनमे एक रुपया भुनाकर ला दो।

लड़के ने गिनकर बताया—सवा रुपये के पैसे हैं। दो आने मेरी भुनाई के हो गये। और एक नगद और दो आने का नारियल मिलेगा, लोगी न? बोलो मंज़ूर है?

सुरजी—पहले नारियल तो ला। ज़रा सी मेहनत पर तुम्हारे दो आने पैसे हो गये। देने की कौन कहे, लेने को तैयार बैठे हो।

लड़का—आज त्योहार का दिन है। ताड़ी कहाँ मिलेगी बिना पैसों के?

सुरजी—तुम ख़ुद कमाकर खाओ-पियो। मेरी कमाई पर क्यों दाँत गड़ाये हो? फिर सरकार के यहाँ कुछ पीने को तो मिलेगा ही।

लड़का—वहाँ के पैसे तो तुम्हारे हाथ लगेंगे।

सुरजी—बकवाद मत कर। पहले जाकर नारियल वग़ैरह लाओ। थोड़ी अबीर भी ला देना।

लड़का चुपके से उठकर चला गया। १० मिनट के बाद सारा सामान ला दिया।

सुरजी नारियल को पाकर अपनी बहू को देती हुई बोली—'देखो, इसे एक फूल की थाली में अच्छत के साथ रखकर दो। तुम लोग भी साफ-सुथरे कपड़े पहन कर चलो।'

बहू बोली—मेरे पास कहाँ कपड़े हैं। कहो तो तुम्हारी वही चुनरी पहन लूँ।

सुरजी—नहीं उसे तो मैं नहीं दूँगी। उसे पहन कर मैं सरकार के यहाँ जाऊँगी। और तुम्हीं अकेली तो हो नहीं। एक चुनरी को कौन-कौन पहनेगी। मैं खाली उसे पहन सकती हूं। और फिर उसे मैं पचास बरस से पहन रही हूं।

बहुओं को भी यही ठीक लगा कि एक ही चुनरी तो है, उसे इन्हें ही पहनना चाहिए।

बुढ़िया चुनरी पहन कर सारा सामान सजाकर चलने लगी। बुढ़िया के पीछे लगभग पचास आदमी और चले।

लाला जी के दरवाज़े पर जब बुढ़िया पहुंची, तो उसे देखकर लाला जी खड़े हो गये। लाला जी बड़ी आव-भगत से उसे बैठाकर कुशल-क्षेम पूछने लगे।

बुढ़िया पर थोड़ी देर के लिए जैसे जवानी आ गई। हँसती हुई बोली—परमात्मा इस ड्योढ़ी को सदा आबाद रखे।

लाला जी—अब तो तुम बूढ़ी हो गईं।

सुरजी—मैं जो भी हो गई हूं उससे क्या? और आप ही कहाँ अब जवान हैं?—मेरी मिठाई और चुनरी मँगाई कि नहीं?

लाला जी—कहीं बुढ़ौती में किसी को चुनरी और मिठाई मिली है?

सुरजी—तुम्हीं को देना पड़ेगा। मेरी ज़िन्दगी तुम्हीं लोगों को देखते ही कट जाय, यही मेरी कामना है। मैं इन लड़कों की आशा बिल्कुल नहीं करती। मरते समय वे कह गये हैं कि तुम्हारे लिए लाला जी ही सब कुछ हैं। तुम्हें देखकर मुझे सन्तोष है।

लाला जी—मैं कहीं भाग थोड़े ही जाता हूं।

लाला जी ने नौकर से खाना मंगवा कर खुद अपने हाथों परस कर सब को खाना खिलाया।

उस दिन लाला जी स्वयं सब को खिलाते। सब खा-पी चुके तो लाला जी ने पान मंगवा कर बुढ़िया को दिया; सवा सेर मिठाई, एक रुपया और एक चुनरी भी लाकर दी।

बुढ़िया—अभी तो होली खेलूंगी। अभी तुम अपनी इन चीज़ों को अपने पास रखो। बुढ़िया ने लाला जी की आरती करके उनके माथे पर अबीर लगाई।

लाला जी ने उसको सलाम किया और माथे पर अबीर लगाई।

बुढ़िया—"सदा अनन्द रहै यह द्वारे, मोहन खेलैं होली री" यह कह कर थाली का अच्छत लिए हुए हर एक कमरे में छिड़कती हुई आशीर्वाद देने लगी।

बुढ़िया होली की रीति-रिवाज पूरी करके अपने घर गई।

× × ×

बैशाख का महीना था। खलिहानों से अनाज उठ-उठ कर घरों में आ रहा था बुढ़िया के बड़े लड़के ने कोई दो मन गेहूं चुरा कर अपने घर में रख लिया। बुढ़िया भीतर गई तो देखा। देखकर पूछने लगी तो औरतें बोलीं—हम क्या जानें, कहां से आया?

बड़े लड़के का आठ बरस का लड़का बोला—हमें पैसा दो तो हम बता दें।

बुढ़िया—हां, हां बेटा! बता, तुम्हें पैसे मिलेंगे।

लड़का—लाला जी के खलिहान में से चुरा कर दादा जी लाये हैं।

बुढ़िया चोरी का नाम सुनते ही धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ी। फिर दूसरे लड़के से बोली—इसे उठाकर ले चलो।

लाला जी के यहां पहुंचकर बोली—यह सरकार का गेहूं है। मेरे बड़े लड़के ने चोरी की है।

चोरी का नाम सुनकर लाला जी को भी क्रोध आ गया। बोले—किसने कैसे चोरी की?

बुढ़िया—कुछ नहीं। आप खलिहान न गये होंगे। उसने पहले अपने ही घर में रख लिया।

लाला जी—भाभी, तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि चोरी का है।

बुढ़िया—उसी के बड़े लड़के ने बताया।

लाला जी—खूब! लड़के की शिकायत तुम खुद कर रही हो।

बुढ़िया—गवाही क्यों न दूं सरकार? ज़िन्दगी तो आपकी रोटियों पर बीती।

लाला जी—गेहूं रखवा दो। ताकीद रखो।

बुढ़िया—नहीं लाला जी, उसे बुला कर सज़ा दो।

लाला जी—गेहूं मिल गया तो अब उसे सज़ा क्या दूं?

"नहीं, नहीं। उसकी आदत बुरी हो जायगी।"

लाला जी—पहला अपराध माफ़ कर देना चाहिए।

बुढ़िया—इसे आपने लड़के की तरह पाला-पोसा है। इसे नहीं माफ़ करना चाहिए। अगर ये

छोड़ दिये गये, तो इनकी आदत ख़राब हो जायगी। ऐसे लड़कों को हरगिज़ नहीं माफ़ करना चाहिये। मुझसे ज़्यादा आपकी बदनामी होगी। बाहरी को आप माफ़ कर सकते हैं, घर वालों को नहीं। अभी बुलवाइये, मैं बैठी हूं।

लाला जी—अच्छा तुम जाओ, मैं उसे एकान्त में किसी समय समझा दूंगा।

बुढ़िया—नहीं, आप अभी बुलवाइए। आपकी सज़ा अच्छी है, और लोग तो उसे जीता न छोड़ेंगे।

लाला जी ने उसे बुलवा भेजा।

बुढ़िया ने अपने सामने अपने लड़के को पिटवाया।

लड़के से बाद में बोली—ऐसी हरकत फिर कभी करेगा?

लड़का—नहीं।

सुरजी—जिसका नमक खाता है बेईमान, उसी के घर चोरी करता है। तुम कहां से पल-पल कर बड़े हुए हो मालूम है? तुम्हें ज़रूरत थी, मांग लेते। तुम्हारा यह काम नहीं कि चोरी करो। हमको पचास बरस बीत गये किसी तरह की शिकायत नहीं आई।

लाला जी से हाथ जोड़ती हुई बोली—सरकार इस बार जेल मत भेजवाइये। आगे ऐसा कभी नह होगा।

लाला जी बुढ़िया के भाव को समझ गये। बोले—नहीं, मैं इसे जेल ज़रूर भेजवाऊंगा।

बुढ़िया—नहीं सरकार, इस बार माफ़ कर दें। बाद को अगर फिर इसने ऐसा किया, तो आप मन चाही सज़ा दे सकते हैं। इसमें कुछ भी भलमन्साहत होगी, तो आइन्दा यह ऐसा काम कभी न करेगा।

लाला जी—ख़ैर, अब की बार तुम्हारे कहने से मैं छोड़ दे रहा हूं। मगर फिर इसको ऐसा करने पर ज़रूर जेल भेजवा दूंगा।

बुढ़िया सबको लेकर अपने घर गई। लड़के के ऊपर मार तो ज़रूर पड़ी थी; पर बुढ़िया ख़ुश थी। बुढ़िया के भीतर एक अभिमान जाग उठा था।

घर और पड़ोस की स्त्रियां कहतीं—तुम्हें क्या मिला इसे पिटवाने से।

बुढ़िया गर्व के साथ सबसे कहती—क्या चोरी करने के लिए हमारे बच्चा हुआ है। आज पचास बरस से लाला जी के यहां हूं। मेरी इज़्ज़त है।

स्त्रियां—उसी पर तुम फूली हो। लड़के को पिटवा दिया, यह भी कोई अच्छी बात है।

बुढ़िया - कहीं और जगह तो वह और ज़्यादा पिटता। तुम जिसे प्यार समझती हो, उसे मैं ज़हर समझती हूं। फिर भगवान के यहां तो ईमान ही जायगा।

सभी औरतें मुंह बिचका-बिचका कर वहां से चली गईं। बुढ़िया बैठी रही। उसे आज ख़ुशी थी।

× × ×

बुढ़िया बीमार पड़ी। उसे सख़्त बुख़ार आया। लाला जी उसे देखने रोज़ाना आते। एक दिन लाला जी पास खड़े होकर बोले—कुछ खाओगी भौजी?

बुढ़िया—होली तो बहुत दूर है और अब वह मेरे लिए दूर ही रहेगी। आज तुम अपने हाथ से थोड़ी मिठाई खिला दो न?

लालाजी ने मिठाई मंगवाकर उसे खिलाई। बुढ़िया बोली—लालाजी, अब तो चलने का समय हो रहा है। इन बच्चों की देख-रेख करना। देखो बहुत से आदमी खड़े हैं लेने के लिये। ज़रा तुम अपने पैर तो मेरे सामने कर दो। मैं उसे छू लूं। और थोड़ा सा पानी अपने हाथ से मेरे मुंह में डाल दो। और तुम अपने ही हाथ से मुझे कफ़न भी देना। मैं तो भगवान से प्रार्थना करती हूं कि दूसरे जन्म में भी आप ही हमारे मालिक हों।

फिर सभी बच्चों को बुलाकर बोली—सरकार, मेरे सामने इनकी देख रेख का वचन दीजिये।

लाला जी—आज से हमारी ज़िम्मेदारी और भी बढ़ गई। मैं भी भगवान से प्रार्थना कर रहा हूं कि मुझे तुम्हारी ऐसी भाभी मिले। लालाजी ने सलाम किया।

सुरजी धीरे धीरे गुनगुनाती हुई बोली—"सदा आनन्द रहे यह जोरी, द्वारे मोहन खेलैं होरी।"

यह कहकर उसने सदा के लिये मौन साध लिया।

लालाजी की आंखें आंसुओं में तैरने लगीं। बच्चों से बोले इसका कफ़न मैं लाऊंगा।

हंस हंस कर ऊब चुका हूं !

विश्वम्भरनाथ

यौवन के प्रथम चरण में
उन्मत्त हृदय अलसाया;
वासना थिरक कर नाची
कोयल ने कुहू सुनाया !

जीवन की गूढ़ पहेली
हंस हंस मैंने सुलझाई;
चिन्ता की एक कनी तक
मन में भी कभी न आई !

अपनी सुख की दुनिया में
यौवन के साज सजाये;
घूंघट दे लज्जा भागी
कितने उपवन मुरझाए !

भावों में चहल पहल ले
जीवन बसन्त बन आया;
नित नूतन सुख-साजों से
मोहक मधु-स्रोत बहाया !

अभिलाषा के अङ्गों में
थी जिज्ञासा की लाई;
उन्मादों की लहरों में
थी टीसों की गहराई !

रजनी के शेष चरण में
मन आकुल हो रोता है;
मैं टूटी बीन बजाता
जब सारा जग सोता है !

नयनों के खारे जल से
कल्मष वे छूट रहे हैं;
माया के सारे बन्धन
जर्जर हो टूट रहे हैं !

कोई अदृश्य का वासी
वह दीपक-राग सुनाये;
मन के कोने कोने में
स्वर्णिम आभा छा जाये !

स्वर्णिम आभा में देखूं
अपनी प्रगल्भ क्रीड़ा को;
मन की इस मधुशाला मे
नर्तन करती पीड़ा को !

आहों औ उच्छ्वासों से
अन्तर का वेश सजालूं,
अपने हीतल के भीतर
दुखियों का देश बसालूं !

लू की असह्य लपटो में
जगती बनती अङ्गारा;
पर यह जूठे टुकड़ों पर
जीवन की बाजी हारा !

इन दुखियों के माथे पर
जो श्वेद बिन्दु ढल आये;
अपने विगलित अन्तर में
वे एक रहस्य छुपाये !

सूली पर प्रेम तपस्वी
जीवन का मर्म सिखाता;
मन्सूर दार पर चढ़कर
प्रियतम की गैल दिखाता—

अपने मानस के परदे
अब दुख से भर लेने दो;
हस हंस कर ऊब चुका हूँ
जी भर कर रो लेने दो !

इस युद्ध में अमरीका कितनी मदद देगा ?

श्रीमती कैथलीन बार्न्स

प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने जनवरी सन् १९४१ से तीसरी बार अमरीका का शासन सूत्र अपने हाथ में लिया है। उधार पट्टाबिल पास हो गया और प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने ऐलान किया कि अमरीका हर प्रकार से ब्रिटेन की सहायता करेगा। अमरीका का स्वार्थ इसी में है कि किसी प्रकार ब्रिटेन इस युद्ध में विजयी हो। बिना ब्रिटेन को सहायता दिये जर्मनों की हार की आशा करना दुराशा मात्र है। अमरीका के शासक इस बात को भली प्रकार समझते हैं। आज जर्मन सेना ने यूनान और क्रीट को पदाक्रान्त करके वहां पर स्वस्तिका झण्डा फहरा दिया। यह बड़े संकट का समय है। पिछले पौने दो वर्षों में जिस द्रुत गति से जर्मनी ने सारे यूरोप पर अधिकार जमाया है, उसको देखकर ऐसा मालूम पड़ता है कि अगर जल्दी ही अमरीका ब्रिटेन की सहायता नहीं करता, तो मर्ज़ लाइलाज हो जायगा। अमरीका के वैधानिक अड़ंगे ऐसे हैं, जिनके कारण ब्रिटेन को पूरी सहायता नहीं मिल रही है। अगर रूज़वेल्ट ने सख़्ती से काम नहीं लिया, तो परिस्थिति बिगड़ जायगी। इस लेख में हम इसी पर ग़ौर करेंगे कि अमरीका किस किस प्रकार की मदद ब्रिटेन को दे सकता है।

सितम्बर सन् ३९ अगस्त से ४० के बीच में अंग्रेज़ों को अमरीका ने १,७३९, ७३३,००० डालर के सामान की सहायता दी। उस समय अमरीका में जो कुछ निर्यात हुआ था, उसका ४४.३% का सामान ब्रिटेन को मिला। इसमें से ब्रिटेन ने ७७९,९७४,००० डालर चुकाया। बाक़ी कनाडा ने दिया। जुलाई, अगस्त और सितम्बर सन् ४० में, जब कि फ्रांस का पतन हुआ, अमेरिका के निर्यात का १।३ हिस्सा अकेले ब्रिटेन ने लिया। बाक़ी २।३ हिस्सा साम्राज्य के और देशों ने लिया। अगस्त सन ४० में ९५% हवाई जहाज़ और उसके हिस्से, ९०% गोला बारूद, ६९% लोहा और फ़ौलाद और ५७% तांबा वग़ैरह दूसरे सामान ब्रिटेन, कनाडा, हिन्दुस्तान, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका भेजे गये। यह सब तभी सम्भव हो सका, जबकि अमरीका की कांग्रेस ने निरपेक्षता के प्रस्ताव को ४ नवम्बर सन् १९३९ को रद्द कर दिया। जून ४० में अमरीका ने ब्रिटेन को ६०,००० राइफ़ल, ८०,००० मशीनगन, ८०,०७५ एम० एम० बन्दूकें और बहुत सा लड़ाई का सामान दिया। सितम्बर सन् ४० में कनाडा में नौसिखियों के लिये अमरीका ने २२९ हल्के टैंक दिये।

शुरू में दाम दो और खुद ले जाओ (cash and carry) के सिद्धान्त के अनुसार सामान ब्रिटेन को जाता रहा। परन्तु फ्रांस के पतन के बाद अंग्रेज़ों को इन सामानों की बहुत अधिक ज़रूरत पड़ी। उस समय ब्रिटेन को केवल २९२ जहाज़ मिले थे, जब कि फ्रांस को ९४० जहाज़ मिले। ९५ कनाडा को और १२३ दूसरे देशों को मिले थे। लेकिन जून सन् ४० के बाद इसमें वृद्धि होने लगी। अक्टूबर तक कुल ३,३३४ हवाई जहाज़ बाहर भेजे गये। इसमें से ब्रिटेन को १,०५६ हवाई जहाज़ मिले। कनाडा को ४२७ और दूसरे देशों को १४२ हवाई जहाज़ मिले। खाली अक्टूबर में १७७ हवाई जहाज़ ब्रिटेन को भेजे गये, १०२ कनाडा को और ८ दूसरे देशों को।

अभी तक यह पता नहीं चला कि इन जहाज़ों और दूसरे सामानों का क्या इस्तेमाल ब्रिटेन ने किया और काम लेने पर ये कैसे साबित हुये। लेकिन ब्रिटेन ने अमेरिका के अच्छे से अच्छे हवाई जहाज़ों को लिया है। उनमें से कुछ ये हैं—करटिस P-40 दौड़ाने वाले जहाज़, डगलस D B-7 हमला करने वाले जहाज़ B—24 भारी बमबाज जहाज़, Boeing B-17-c 'उड़ने वाले क़िले' इनमें से काफ़ी संख्या में जहाज़ ब्रिटेन पहुँच चुके हैं; परन्तु शायद ये अभी इस्तेमाल नहीं किये गये। इन जहाज़ों के बारे में यह आम शिकायत है कि ये जर्मन जहाज़ों के सामने हल्के और कमज़ोर पड़ते हैं। ऐसा कहना बिलकुल ग़लत नहीं है। ये जहाज़ सबके सब बिलकुल नये माडल के भी नहीं हैं।

सामान ले जाने वाले जहाज़ भी ब्रिटेन को मिले हैं। सन् ३९ की पहिली सितम्बर और दिसम्बर सन् ४० के बीच निम्नांकित देशों को अमेरिका ने सामान लादने के जहाज़ दिये।

देश	संख्या	टन
ब्रिटेन	१३२	४७०,९०८
कनाडा	४३	६१,६१७
फ्रांस	१९	४९,२२९
बेलजियम	९	६८,६७७
इटली*	३	९,२७५
यूनान*	१०	४२,११२

ब्रिटेन की खास जरूरतें

अभी अभी ब्रिटेन को जिन चीज़ों की जरूरत है, उन चीज़ों को नीचे लिखे श्रेणियों में बांटा जा सकता है। उद्योग सम्बन्धी चीज़ें, खाने के सामान, जहाज़, धन और आदमी। फ्रांस की हार जर्मनी की सर्वतोमुखी विजय और बालकन देशों के पतन के कारण ब्रिटेन की स्थिति ख़तरनाक़ हो गई है। जर्मनी ने विजित देशों के कच्चे माल ही पर अधिकार नहीं किया, या उसने उद्योग-धन्धों के केन्द्रों को ही अपने वश में नहीं किया, बल्कि उसने ऐसे स्थानों पर भी अधिकार किया है जहां से वह ब्रिटेन के औद्योगिक केन्द्रों को आसानी से तहस-नहस कर सकता है। जर्मनी और ब्रिटेन की शक्तियों के अथवा उनके नुक़सानों के सही आँकड़े नहीं मिलते। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि पिछले दिनों में कवेन्टरी, बरमिंघम और मिडलैण्ड के दूसरे स्थानों पर हमला करके, जर्मनी ने ब्रिटेन के उद्योग धन्धों को बहुत नुक़सान पहुंचाया है। बड़े बड़े कारखाने, हथियारों की फ़ैक्टरियां और बन्दरगाह बर्बाद हो गये।

कोयला, लोहा और फ़ौलाद

ब्रिटेन के पास कोयला बहुत काफ़ी है। लेकिन लोहा और फ़ौलाद की उत्पत्ति जर्मनी की औसत उत्पत्ति का केवल आधा है। और यह भी तब जब कि बाहर से लोहे के टुकड़े कतरन वग़ैरह काफ़ी मिल जाँय। पिछली गर्मियों में ब्रिटेन ने ज़्यादा से ज़्यादा १४,०००,००० टन सालाना के हिसाब से फ़ौलाद तैय्यार किया। लेकिन इतना फ़ौलाद घरेलू ज़रूरियात

*इन देशों को उस ज़माने में जहाज़ दिये गये थे, जब कि ये लड़ाई में शामिल नहीं हुये थे। इनमें अधिकतर जहाज़ पुराने थे, ५० पुराने हवाई जहाज़ भी ब्रिटेन को दिये गये। इसके एवज़ में ब्रिटेन ने सुदूर पूर्व की कुछ ज़मीनें दी थीं।

को भी पूरा नहीं कर सकता। अमेरिका से पिछले महीनों में औसतन् ५००,००० टन फ़ौलाद आता था। अबसे इसमें काफ़ी वृद्धि हो गई है। साम्राज्य और हिन्दुस्तान में लगभग ३,५००,०० टन सालाना फ़ौलाद तैय्यार होता है। परन्तु फिर भी उनको बाहर से मँगाना ही पड़ेगा। पिछले महीनों में कनाडा ने १००,००० टन फ़ौलाद अमेरिका से मँगाया है। जब यूरोप से लोहा मिलना बन्द हो गया, तब ब्रिटेन ने स्थानीय उत्पादन क़रीब ५०% बढ़ाया (लगभग २००,०००,००० टन सालाना) और साथ ही स्पेन और उत्तरी अफ्रीका से भी काफ़ी लोहे के टुकड़े आदि मँगाया। अमेरिका से ५००,००० टन फ़ी महीना के हिसाब से लोहे के टुकड़े ब्रिटेन मँगा सकता है। परन्तु क़ानूनी अड़चनों के कारण अभी जल्दी नहीं हो रही है।

तेल

ब्रिटेन के पास ख़ुद का तेल बिल्कुल नहीं है। इसलिये तीन तरीक़ों से वह तेल को पा सकता है। पहिला, इतना धन चाहिये कि महँगे से महँगे मूल्य पर भी बाहर से तेल खरीदा जा सके। दूसरा, जहाज़, जो कि तेल लावें, सुदृढ़ और सुरक्षित हों। तीसरा, स्वयं ब्रिटेन में कम से कम तेल ख़र्च किया जाय और अधिक से अधिक तेल लड़ाई के लिये बचाया जाय। इनमें सब से कठिन काम जहाज़ों का है। सन् ३८ ई० में कुल ११,२००,००० टन तेल बाहर से विलायत में आया था। इसमें से वेनीज़ुलासे ३८%, ईरान से २०%, अमेरिका से १७.५%, ट्रीनीडाड से ६.५%, ईराक़ से ४.५%, रुमानियाँ से ३% और रूस से २.५% आया था। ब्रिटेन के पास काफ़ी सामान लादने के जहाज़ हैं। और अगर ख़ास नुक़सान न हुआ, तो वे अन्त तक पूरे पड़ जायेंगे। ब्रिटेन के पास कुल ५,४००,००० टन के जहाज़ हैं। साम्राज्य में कुल ४००,००० टन के जहाज़ हैं। अमेरिका ने ९ जहाज़ लड़ाई के शुरू होने के बाद ब्रिटेन को दिये हैं।

दूसरे खनिज पदार्थ

ब्रिटेन के पास ताँबा, अल्युमुनियम, सीसा, जस्ता और दूसरे खनिज पदार्थ कितने हैं, इसका ठीक पता हमें नहीं है। लेकिन इन चीज़ों के बारे में इतना तो आसानी से कहा जा सकता है कि शायद ही सारी ज़रूरतें पूरी हो सकें। अल्युमुनियम को ही लीजिये। सन् ३८ में ब्रिटेन ने २५,००० टन अल्युमुनियम पैदा किया। ब्रिटेन में ख़ुद ६५,००० टन का ख़र्चा था। इसलिये कनाडा, स्विट्ज़रलैण्ड और नार्वे से मँगाना पड़ा। फ्रांस के पतन के बाद संसार में जितना भी अल्युमुनियम होता है, उसके आधे पर जर्मनी का अधिकार हो गया। हवाई जहाज़ के उत्पादन विभाग के मन्त्री लार्ड बेवर ब्रुक ने ब्रिटेन को अल्युमुनियम की कमी के लिये आगाह किया था। उन्होंने सबसे अपील की थी कि वे घर के बर्तन तक सरकार को दे दें। ब्रिटिश अल्युमुनियम कम्पनी और अल्युमुनियम कम्पनी आफ़ कनाडा से ब्रिटेन ने सारा अल्युमुनियम ख़रीद लिया। आज भी वह अमेरिका से काफ़ी अल्युमुनियम ख़रीद रहा है।

औद्योगिक-उत्पादन

इस मामले में पूरी जानकारी पाना असम्भव है। रोज़ाना हवाई हमले होते रहते हैं। इससे कितना नुक़सान हुआ है और फ़ैक्टरियों में कितना उत्पादन हुआ है, इस पर सरकार कभी प्रकाश नहीं डालती। बल्कि इस चीज़ को अच्छी तरह से गुप्त रक्खा जाता है। फ्रांस के पतन के बाद उद्योगों और उत्पादन में काफ़ी तरक्की हुई थी, परन्तु यह उन्नति अनवरत नहीं रह सकी। बमों की वर्षा ने काफ़ी विघ्न उपस्थित किया है। उत्पादन में देरी केवल बमों के गिरने से नहीं होती, बल्कि अलारम के कारण बड़ी गड़बड़ी मच जाती है और इससे काफ़ी समय नष्ट होता है।

ब्रिटेन की जितनी भी आवश्यकतायें वे तो अमेरिका की मदद से ही पूरी हो सकती हैं। प्रधान मन्त्री चर्चिल और दूसरे मन्त्रियों के वक्तव्य इसी

आशय के हमेशा प्रकाशित होते रहे हैं। आज कनाडा तथा दूसरे देश ब्रिटेन को पिछले युद्ध से कहीं ज़्यादा मदद दे रहे हैं; लेकिन पिछले युद्ध से ज़्यादा ज़रूरतें भी इस युद्ध में बढ़ गई हैं। हिन्दुस्तान और दूसरे उपनिवेशों से खाने पीने की चीज़ों की काफ़ी मदद मिल सकती है। आज बहुत सी चीज़ों को ये देश स्वयं पैदा कर लेते हैं और इनके लिये ब्रिटेन को चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

खाने का सामान

पिछले युद्ध में जितना खाने का सामान ब्रिटेन के पास था, उससे अधिक युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में अब की दफ़े था। परन्तु इस मामले में काफ़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है। जिन जिन यूरोपीय देशों से खाने का सामान ब्रिटेन के पास आता था, वे सब जर्मनी के अधिकार में चले गये। भूमध्य सागर के बन्द होने और पनडुब्बी जहाज़ों की शरारतों के फल स्वरूप उधर से भी रास्ता बन्द हो गया। अण्डे, प्याज़, ताज़ा और सूखे फल, हरी तरकारियाँ और जानवरों के लिये चारा की भारी कमी हुई है। आज दिन मन्त्रिमण्डल के सामने इनकी कमी एक समस्या बनकर आ गई है। पिछले १४ दिसम्बर को गोश्त के राशन में कमी कर दी गई। वह दो शिलिंग दो पेंस से घट करके १ शि० १० पें० फ़ी आदमी हो गया। गेहूं वग़ैरह भी कम है। यह तो कनाडा और अमरीका से लाया जा सकता है, परन्तु ब्रिटेन तक उसका पहुँचना ही मुश्किल है।

जहाज़

हवाई जहाज़ों के बाद ब्रिटेन को पानी के जहाज़ों की ज़रूरत है। पानी के जहाज़ दो प्रकार के होते हैं। सामान ढोने वाले जहाज़ और लड़ाई के जहाज़। लड़ाई के बाद से मित्र राष्ट्रों और निरपेक्ष देशों के ४०,००,००० टन के जहाज़ डुबाये जा चुके हैं। यह बयान अंग्रेज़ों का है। लड़ाई के दूसरे वर्ष में हफ़्ते में औसतन ६६,८५९ टन ब्रिटेन का, और २२,२५२ टन मित्र राष्ट्रों का नुकसान हुआ है। पिछले बसन्त के ज़माने में २,००,००० टन हफ़्ते के औसत से नुकसान हुआ है।

आज कम से कम १०,००,००० टन के ब्रिटिश जहाज़ों की मरम्मत होती रहती है। हवाई हमलों ने इस काम में और भी कठिनाई पैदा करदी है। इन नुकसानों की सूची को देखकर जो हमें अन्दाज़ा लगता है, उससे कहीं अधिक नुकसान हुआ है। जिस समय युद्ध छिड़ा अङ्गरेज़ी साम्राज्य के पास कुल २,१०,००,००० टन के जहाज़ थे। इसमें १,८५,००,००० टन समुद्र में जाने वाले जहाज़ थे। इनमें से कई तो औपनिवेशिक व्यापार के लिये आवश्यक थे। शुरू में ब्रिटेन को ७,२३२,००० टन के जहाज़ों की आमदनी हुई। और इस प्रकार साम्राज्य के पास कुल २,५७,००,००० टन के जहाज हो गये। लेकिन इस संख्या पर अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता। सितम्बर ३९ से अप्रेल ४१ तक ब्रिटेन के डूबे हुये जहाज़ों का विवरण इस प्रकार है :—

शत्रुओं द्वारा डुबाये या नष्ट किये गये	३६,११,८४२ टन
आमतौर से नष्ट या ख़राब होने वाले	८,८३,००० टन
माल से लड़ाई के जहाज़ बनने वाले	१३४,००० टन
फ़्रेंच बन्दरगाहों में रोके गये	७०,००० टन
कुल जोड़ ...	४६,९८,८४२ टन

इतने समय में जितने ब्रिटेन को मिले—

नया बना हुआ	१७,१८,००० टन
पकड़े हुये	५,६५,००० टन
ख़रीदे हुये	१३,८४,००० टन
फ़्रांस और डेनमार्क से मिले	६,५८,००० टन
नार्वे, नीदरलैण्ड्स बेलजियम, पौलैण्ड से मिले हुये ...	६२,५०,००० टन
निरपेक्ष	७,५०,००० टन
बदली के	३,०५,००० टन
कुल जोड़ ...	१,१५,३०,००० टन

लड़ाई के जहाज़

अंग्रेज़ पानी के जहाज़ों में अपना सानी नहीं रखते। इसमें वे आज भी संसार में सबसे अधिक शक्तिशाली हैं। इधर इस शक्ति में कुछ कमी हुई है। परन्तु जर्मनी के मुक़ाबले आज भी अधिक शक्तिशाली जहाज़ी बेड़ा अङ्गरेज़ों के पास है। किन्तु एक कमज़ोरी है। पनडुब्बी किश्तियों से रक्षा करने वाले छोटे जहाज़ संख्या में कम हैं। वे अधिक तेज़ भी नहीं चलते। इनकी चाल क़रीब २० नाट के है। भूमध्य सागर तथा दूसरी जगहों पर काफ़ी संख्या में ये जहाज़ हैं। ख़ाली उत्तरी अटलांटिक सागर में क़रीब २०० जहाज़ हमेशा रहते हैं। पर आज की आवश्यकताओं को देखकर यह संख्या बहुत अधिक नहीं है। नीचे की तालिका से पता चल जायेगा कि आज की स्थिति इन जहाज़ों के सम्बन्ध में क्या है।

	लड़ाई के शुरू में बने,	बन चुके,	बन रहे हैं
१-बड़े जंगी जहाज़	१५	१४	९
२-हवाई जहाज़ ले आने वाले जहाज़	७	६	६
३-निगहबानी रखने वाले	६२	६१	२३
४-नाश करने वाले	१७८	१७०	१८
५ पनडुब्बी किश्तियां	५५	४६	४

आर्थिक स्थिति

अङ्गरेज़ी सरकार को आमतौर से ख़र्च चलाने के लिये धन की कमी अभी नहीं पड़ सकती। टैक्स लगाकर और क़र्ज़ लेकर वह अपना काम आसानी से चला सकती है। लेकिन बाहर से सामान ख़रीदने के लिये उसको धन की आवश्यकता पड़ेगी। इसीलिये ब्रिटिश ख़ज़ाने के मन्त्री सर फ्रेडरिक फ़िलिप्स ने दिसम्बर सन् ४० में ही वाशिंगटन से धन की अपील कर दी थी। क़र्ज़ विदेशी विनिमय पर लिया जायेगा। चार तरीक़ों से इनको धन मिल सकता है, (१) विदेशों में अङ्गरेज़ी सामान को बेच कर (२) रिज़र्व सोने को बेच कर (३) बाहर जो पूंजी लगी हुई है उसकी आमदनी से (४) बाहर लगी हुई पूंजी को बेच कर या वापस लेकर।

लड़ाई के पहिले साल में ब्रिटेन ने सामान के बदले अमरीका को १,७३,९७,३३,००० डालर दिया। आगे तैयार होने वाले माल के लिये तथा हवाई जहाज़ों को तैय्यार करने के लिये फ़ैक्टरी वग़ैरह बनाने के लिये ५०,००,००,००० और १,००,००,००,००० डालर बीच में दिया। लड़ाई के दूसरे साल में भी, शुरू में, ७७,८०,-००,००० डालर ब्रिटेन का अमरीका में था। साथ ही १,०४,२०,००,००० डालर का बाण्ड भी था। वहां के खनिज पदार्थों, तेल के कुओं आदि में क़रीब १,४६,००,००,००० डालर का धन था। अक्तूबर सन् ४० तक ५१,४८,१७,००० का सोना अमरीका को जा चुका था। जितना पिछले साल में सामान आया था, उससे २,००,००,००,००० अतिरिक्त डालर का सामान इस साल के शुरू में आया। इतना ख़र्चा सचमुच अङ्गरेज़ों के लिये परेशानी की बात है। कारण यह कि युद्ध न जाने कितने वर्षों तक चलेगा।

आदमी

इस लड़ाई में आदमियों की अधिक ज़रूरत नहीं है। पर शायद सन् ४२ तक काफ़ी आदमियों की ज़रूरत पड़े। तब तक स्थिति न मालूम कैसी रहेगी; अंग्रेज़ों के पास इस समय १५,००,००० सेना है। गृहरक्षक भी १७,००,००० हैं। भूमध्य सागर में भी इस समय काफ़ी आदमी हैं। कनाडा, आस्ट्रेलिया न्युज़ीलैण्ड आदि की १,५०,००० सेना आज भी हिन्दुस्तान और अफ्रीका आदि देशों में मौजूद है। ब्रिटेन को अभी केवल पाइलट, बन्दूक़ची और आबज़र्वर्स की ज़रूरत है। नौ सेनापतियों और विशेषज्ञों की भी ज़रूरत है। शुरू में पाइलटों की बहुत कमी पड़ गई थी। हवाई मन्त्री सर आर्चीबाल्ड सिन्क्लेयर ने R. A. F. में अधिक से अधिक आदमी मांगा

है। इसके लिये ऐसा इन्तज़ाम हो गया है, जिससे १,००,००, २०,०००, के बीच में पाइलट हर साल तैय्यार हो जायं।

ब्रिटेन के लिये युद्ध सामग्री

अंग्रेज़ों को सामान अधिक से अधिक और जल्दी से जल्दी चाहिये। विशेषज्ञों का कहना है कि अब तक जिस गति से अमरीका सामान तैय्यार कर रहा है वह बहुत कम है। सामान को बनाने की फ़ैक्टरियां यों ही बहुत कम थीं, उनको बढ़ाया जा रहा है। परन्तु जब तक काफ़ी फैक्टरियां न तैय्यार हो जायं, तब तक काफ़ी सामान नहीं मिल सकता। सन् ४१ के अन्त के पहिले किसलर की फ़ैक्टरियां पूरी तौर से टैंक नहीं बना सकेंगी। उसी तरह पाकार्ड मोटर कम्पनी भी Rolls Ryoce हवाई जहाज़ अगली गर्मी के पहिले नहीं बना सकती। इस प्रकार काम तो नहीं चल सकता। जल्दी तो करनी ही पड़ेगी। विशेषज्ञों ने इस मामले में ये सम्मतियां दी हैं—

१—कामों का संगठन बढ़ना चाहिये। बिना संगठित प्रयत्न के काम नहीं चलेगा। साथ ही निर्देशन का काम भी सुचारु रूप से संचालित होना चाहिये। अभी तक इस मामले में काफ़ी ढीला ढाली हुई है। अच्छा संगठन और सुदृढ़ भित्तिपर निर्देशन ही तभी काफ़ी काम कम समय में हो सकेगा।

२—उत्पादक साधनों का भी अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब कि छोटी छोटी फ़ैक्टरियां भी इस्तेमाल की जायं। छोटी छोटी फ़ैक्टरियों को अधिक से अधिक इस्तेमाल किया जाय, उनको संगठित रूप से काम में लाया जाय और काफ़ी पूंजी लगाकर काफ़ी माल पैदा करने की कोशिश की जाय, तो काफ़ी माल पैदा हो सकता है। अभी अव्यवस्थित ढङ्ग से काम हो रहा है। उनकी व्यवस्था ठीक होनी चाहिये, साथ ही संगठित उत्पादन होना चाहिये।

३—प्रारम्भिक तैय्यारियों को भी वैज्ञानिक ढङ्ग से किया जाय, तो भी काम चल सकता है। अगस्त में सेना और पानी के जहाज़ों में जो हथियार रहते हैं, उनके विशेषज्ञों की कमेटी बैठी थी। इस कमेटी ने वर्ग-विभाजन करके इनके प्रारम्भिक वस्तुओं का प्रबन्ध करने की सिफ़ारिश की। लेकिन इस बोर्ड ने सिफ़ारिश करके अपना काम समाप्त किया। उसने अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं किया। इसमें कोई शक नहीं कि अधिक शीघ्रता करने से काम में गड़बड़ी होती है, परन्तु समय खोने से काम नहीं चलेगा। जल्दी तो करनी ही पड़ेगी।

उत्पादन सामग्री का विभाजन

तात्कालिक ज़रूरतों के सामान तो तभी तय्यार हो सकते हैं, जब कि डिफ़ेन्स विभाग काम का बंटवारा कर दे। इस बंटवारे को भी वैज्ञानिक ढङ्ग से समझदारी के साथ संगठित करना चाहिये। "Rule of Thumb" का सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी माल तैय्यार किया जाय, उसको अमरीका और ब्रिटेन में बराबर बांटा जाय। परन्तु अगर अमेरिका की रक्षा के लिये ब्रिटेन की जीत आवश्यक है, तो इस प्रकार के बटवारे से काम नहीं चलेगा। हवाई जहाज़ वग़ैरह ख़ासतौर से ब्रिटेन को फ़ौरन मिलने चाहिये। इस बात का ध्यान अब रखा जाने लगा है। पिछले २० नवम्बर को जेनरल मारील ने ऐलान किया था कि एयर कोर ब्रिटेन को २६, चार इन्जन वाले बड़े बमबाज़ (B-24) शीघ्र ही देगा। ५ दिसम्बर को वार डिपार्टमेन्ट (युद्ध विभाग) ने ब्रिटेन को २० बोइङ्ग (B 17-c) जहाज़ दिये। इस काम में और जल्दी होनी चाहिये।

और अधिक हवाई जहाज़?

पिछले गर्मी के दिनों में डिफ़ेन्स कमीशन ने ४२ तक में २६,००० हवाई जहाज़ बनाने का आर्डर दिया था। साथ ही उसने ब्रिटेन के लिये भी १४,००० जहाज़ों का आर्डर दिया था। लेकिन यह प्रोग्राम अभी पूरा होता नहीं दिखता।

मि० नउसन ने १३ दिसम्बर को कहा था कि १००० जहाज़ प्रति मास नहीं तैय्यार हो सकते। इसमें

१ नं० की कमी करनी पड़ेगी। बमबाज़ों की पैदावार बहुत कम हो रही है। अभी अभी १२००० बमबाज़ों की और मांग की गई थी। परन्तु इतने बमबाज़ों को तैय्यार करना असम्भव मालूम पड़ता है। कोशिश तो की जा रही है। फ़ोर्ड प्रेट और ह्विटनी इञ्जन मार्च से बनाने लगा है। अगले गर्मियों में पाकर्ड भी Rolls-Ryoce बनाने लगेगा। Allison भी काफ़ी कोशिश करके Curtiss P-40 दौड़ाने वाले जहाज़ों को बनाने लगा है। इस साल १००० के क़रीब ये जहाज़ फ़ी महीने बनने लगेंगे।

लड़ाई के सामान और हथियार

कहा जाता है कि अंग्रेज़ों के पास १,५०० टैंक हैं। सन् ३९ में २०,००,००,००० डालर के सामान बनते थे। अब ५०,००,००,००० डालर के सामान बन रहे हैं। अमरीका ने ब्रिटेन और कनाडा को ९,९४,७१,००० डालर के सामान व हथियार सन् ४० के पिछले दस महीनों में दिया है। हालाँकि अंग्रेज़ों ने फ़ौलाद काफ़ी ख़रीद लिया है फिर भी अभी और फ़ौलाद की ज़रूरत उनको पड़ेगी। डर यह है कि बार बार हमला होने से ब्रिटेन के लोहे के धन्धों का काफ़ी नुकसान हो रहा है; अगर काफ़ी लोहा न मिला तो क्या होगा ? ब्रिटेन को काफ़ी लोहा अमरीका से मिल सकता है। प्लेट, छड़ें, चादरें, कच्चा लोहा, पक्का लोहा आदि सब मिल सकते हैं। लेकिन बने हुये हथियार बहुत ज़्यादा अमरीका नहीं दे सकता। Armeur plate या दूसरे फ़ौलाद के सामान कठिनता से मिलेंगे।

पानी के जहाज़ों की सहायता

यह सहायता काफ़ी मिल रही है। फिर भी ज़रूरत के मुताबिक़ मदद अभी नहीं पहुँच रही है। नीचे लिखे तरीक़ों से इसमें भी तरक्क़ी हो सकती है।

१—अंग्रेज़ों के खर्चे से अमरीका में ये जहाज़ बनाये जांय।

२—अमरीका के सामान ढोने वाले जहाज़ ब्रिटेन के हाँथ बेचे जाँय।

३—दूसरे देशों के जहाज़ जो बेकार अमरीकन बन्दरगाहों में पड़े हैं, उन्हें अंग्रेज़ों को दे दिया जाय।

४—निरपेक्षता, का एक्ट बदल कर अमरीकन जहाज़ों को लड़ाई के क्षेत्रों में जाने की इजाज़त दी जाय।

ब्रिटेन को पानी के जहाज़ों की सहायता

जिन तरीक़ों से अमरीका ब्रिटेन को पानी के जहाज़ों की सहायता दे सकता है वे तरीक़े ये हैं।

१—और भी ज़्यादा नाशकारी जहाज़ ब्रिटेन को भेजे जाँय।

२—Pan-American निरपेक्षता की रक्षा करने के लिये जो जहाज़ रखे गये हैं, वे ब्रिटेन को दे दिये जाँय।

३—अमरीका के लड़ाई के बेड़ों का इस्तेमाल सामान लेकर जाने वाले जहाज़ों की देखरेख करने वाले जहाज़ों की जगह पर किया जाय।

इसमें कोई शक नहीं कि जब ये जहाज़ लड़ाई के जगहों पर जायेंगे, तो इनको जर्मनी की पनडुब्बियों का सामना करना पड़ेगा। इस प्रकार अमरीका भी युद्ध में शामिल हो जायेगा। परन्तु अगर अँग्रेज़ों को मदद करनी ही है, तो इस संघर्ष को बचाया नहीं जा सकता। मुमकिन है कि जब जर्मनी अमरीका को तैय्यार देखे, उस समय प्रत्यक्ष संघर्ष न लेकर उसको बचा जाने की कोशिश करे।

अमरीका की सैनिक मदद

अमरीका सैनिक भी दे सकता है। परन्तु अङ्ग-रेज़ों को सैनिकों की उतनी ज़रूरत नहीं है, जितनी कि विशेषज्ञों, जहाज़ चलाने वालों और उड़ाकुओं की है।

१—शुरू में अमरीका ने मल्लाहों की मदद दी थी। अब उनकी ज़रूरत और भी बढ़ गई है। लेकिन इस संख्या में अभी बढ़ती होती नहीं दिखयी पड़ती।

२—जहाज़ी अफ़सर ब्रिटेन के पास काफ़ी हैं। उनके काम करने का ढङ्ग वैज्ञानिक है। उनके पास काफ़ी आदमी इस प्रकार के हैं, जो ख़ूबी के साथ

सारा काम चला सकते हैं। अमरीका के अफ़सर अङ्ग-रेज़ी काम करने के ढङ्ग को ठीक से जानते भी नहीं। इनकी ज़रूरत अङ्गरेज़ों को नहीं है।

३—उड़ाके अफ़सर भी बहुत कम नहीं हैं। फिर भी ब्रिटेन का काम नहीं चल सकता। ईगल स्क्वेड्रन में बड़ी अमरीकन ट्रेनिंग पा रहे हैं, जिनसे बड़ी बड़ी आशायें हैं। इनकी संख्या बढ़ती जा रही है। अटलांटिक में उड़ने के लिये अमरीकन उड़ाके रखे गये हैं। अमरीका का यह प्रोग्राम है कि सन् ४०-४१ में २४००० उड़ाके तैय्यार करले। लेकिन सवाल यह है कि क्या अमरीका अपने सब आदमियों को ब्रिटेन के हवाले कर देगा। यह असम्भव है।

४—फ़ौजी सहायता के लिये अमरीकन सिपाहियों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। देशी सरकारी क़ानूनों के कारण यह संख्या आसानी से बढ़ भी नहीं सकती।

माली मदद

इसके ६ तरीक़े हो सकते हैं।

१—ज़ाती और सरकारी क़र्ज़।

२—पश्चिमी भूभाग में जो अङ्गरेज़ी हिस्से हैं, उनको बेच देना।

३—लैटिन अमरीका और अमरीका में ब्रिटेन अपनी जायदाद बेच दे।

४—अमरीका स्टर्लिंग को ख़रीद ले।

५—अमरीका ब्रिटेन को उपहार स्वरूप धन दे।

६—धन के बजाय पूरी तैय्यारी करदे और साथ ही दूसरे सामान भी दे। ये छः तरीक़े हैं, जिनसे ब्रिटेन को अमरीका से माली इमदाद मिल सकती है।

सारांश

अमरीका की जनता ब्रिटेन की मदद करना चाहती है। परन्तु ऐसा लगता है कि लोगों ने इस सहायता की गम्भीरता को नहीं समझा, उसकी ज़िम्मेदारी को महसूस नहीं किया। आज जर्मन ताकतवर हो रहा है, ब्रिटेन हर तरफ़ से कमज़ोर होता जा रहा है। जर्मन हवाई जहाज़ अङ्गरेज़ी हवाई जहाज़ों से कहीं अच्छे हैं। खाने की कमी होती जा रही है। लड़ाई का रूप भयावह होता जा रहा है। चर्चिल की सरकार वाशिंगटन की सहायता के लिये बार बार अपील कर चुकी है। सङ्कट के बादल उमड़े आ रहे हैं। क्या अमरीका ईमानदारी और पूरी ज़िम्मेदारी के साथ, वैज्ञानिक ढङ्ग से ब्रिटेन की सहायता करेगा? इसका उत्तर भविष्य के गर्भ में है।

पापी कौन ?

जापान की मिलों और कारखानों में मजदूरों को बारह-बारह घन्टे काम करना पड़ता है। कम-से-कम मजदूरी में उनसे ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते हैं? हिन्दुस्तान की मण्डियां अपने हाथ में रखने के लिए। मगर उनकी भाषा में 'हमारी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए।' यह वहां के मालदार पूँजीपति करते हैं। वहां के ग़रीबों का इसमें कोई फ़ायदा नहीं। वहां के मालदार आदमियों का भी कल्याण इसमें नहीं है और हमारा तो हरगिज नहीं है।

बीस-बीस हजार फुट की ऊँचाई पर से बम गिराये जाते हैं। जर्मन लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि 'हमने लण्डन बेचिराग़ (ऊजाड़) कर दिया है।' अंग्रेज कहते हैं, 'हमने बर्लिन को भून डाला है।' और हमारे लोग समाचार पत्रों में ये सब खबरें पढ़ते हुए मजे में भोजन करते हैं। औरतें और बच्चे मर रहे हैं। लड़ने वाले और ग़ैर-लड़ने वालों में कोई फ़र्क नहीं किया जाता. क्या इन लड़ने वाले लोगों को हम पापी कहें? लेकिन हम पुण्यवान कैसे साबित हो सकते हैं? हम ही तो उनका माल खरीदते हैं?

—विनोबा

निग्रो संस्कृति साहित्य और कला

कुमारी ज़ोरा नील हर्स्टन

निग्रो कला की तरह निग्रो साहित्य भी बहुत ऊंचे दरजे का है। पुरातत्व विभाग ने हज़ारों वर्ष पुराना निग्रो साहित्य आज दुनिया के सामने पेश किया है। यद्यपि अफ़रीका के रेतीले भूभाग के नीचे यह साहित्य दफ़न पड़ा था, दुनिया की निगाहों से ओझल, ताहम निग्रो साहित्य की हज़ारों वर्ष पुरानी परम्पराओं ने निग्रो साहित्यकारों के दिलों की धूप-छांह पाई है और वर्तमान निग्रो साहित्य में हमें अपने पूर्वजों के हज़ारों वर्ष पुराने विचारों का अद्भुत समन्वय मिलता है। जाने अनजाने हमारी प्राचीन प्रतिभा हमारे दिलों में बैठकर हमारे साहित्य-प्रणेताओं का मार्ग प्रदर्शन करती रही।

कुमारी ज़ोरा नील हर्स्टन

पिछले सौ वर्षों में पुरातत्ववेत्ताओं ने अफ़रीकन संस्कृति के इन अवशेषों को दुनिया के सामने रखा है, जिनका दुनिया को कोई इल्म न था। कवि टेनीसन ने 'टिम्बकटूं' पर जो एक बचपन से भरी हुई उपहासास्पद कविता लिखी है; नई खोजों की रोशनी में टेनीसन का वह उपहास सत्य में परिणत होता दिखाई दे रहा है। टिम्बकटूं की संस्कृति उतनी ही ऊंची और विविधता लिये हुए थी, जितनी प्राचीन समय की अथवा इस ज़माने की कोई भी संस्कृति। इथियोपिया, ग़ना, मेले और सोंघे साम्राज्यों के सांस्कृतिक अवशेषों पर यदि हम एक निगाह डालें, तो हमें प्राचीन निग्रो गौरव की एक झलक मिल सकती है।

मिसाल के तौर पर सोंघे (सूडान) साम्राज्य शिक्षा की दृष्टि से इतना उन्नत था कि इसलामी दुनिया के मशहूर से मशहूर शिक्षक वहां तालीम देने आते थे। सारे सूडान में विश्वविद्यालय की तालीम का प्रचार था। अहमद बाबा उस ज़माने का मशहूर निग्रो विद्वान, शिक्षक और दार्शनिक था। वह निग्रो अध्यात्मका समुज्वल रत्न था। उसने ४० से अधिक ग्रन्थ धर्म, ज्योतिष, भाषा, विज्ञान, आत्मकथा आदि पर लिखे हैं। सन् १५९२ में जब टिम्बकटूं पर मोरक्कनों ने हमला करके उस पर क़ब्ज़ा किया, तो अहमद बाबा के पुस्तकालय की १६०० अमूल्य पुस्तकें नष्ट कर दीं। अहमद बाबा का

पुस्तकालय अपने समय का अमूल्य पुस्तकालय था। अहमद बाबा का नाम प्रकाश में आने के कारण सब उससे परिचित हैं। किन्तु अहमद बाबा की तरह उस ज़माने में सैकड़ों ही योग्य निग्रो विद्वान थे। समूचे पच्छिमी अफ़रीका में सैकड़ों निग्रो स्कूल क़ायम थे। उनके कई विश्वविद्यालय भी थे, जहां भाषण-विज्ञान, मन्तक़, भाव-विज्ञान, शब्द-विज्ञान, अङ्कगणित, स्वच्छता, वैद्यक, कविता, दर्शन, संगीत और ज्योतिष के विषयों पर शिक्षा दी जाती थी। *

दिमाग़ के लिहाज़ से मुक़ाबला होने पर निग्रो विद्वान अकसर अरब विद्वानों से बाज़ी ले जाते थे। इथियोपिया में तो निग्रो संस्कृति कहीं बढ़ी चढ़ी थी। निग्रो संस्कृति का असर इथियोपिया की सीमाओं को लांघकर चारों ओर फैला था। इथियोपिया के निग्रो ज्ञान के प्रकाश ने आस पास के अनेकों देशों को रौशन किया था। पुरातत्व की खोजें हमारे इस दावे को साबित करती हैं। रेत के नीचे मुरदों की दुनिया से निग्रो संस्कृति के अवशेष, उनके ग्रन्थ, उनके ज़ेवर, उनके कपड़े, उनकी कला के नमूने निग्रो के उस युग के विकास को आज कल की सभ्य दुनिया के सामने फैला कर रख देते हैं। हमारा लुप्त इतिहास प्रकट होकर हमें ऐसे निग्रो सरदारों के नाम बताता है, जिन्होंने अपने बाहुबल से हज़ारों मील लम्बे चौड़े साम्राज्य क़ायम किये थे। अनजान निग्रो सिपाही अदृश्य से निकल कर सैन्य संचालन की योजनाओं में संसार के लिये नये अध्याय जोड़ गये। निग्रो विद्वानों ने अपने दर्शन और अपने अध्यात्म से ज़िन्दगी के उन्नत तर मयार और आदर्श क़ायम किये।

निग्रो संस्कृति की इस ऐतिहासिक रोशनी में यदि हम अमरीकन सभ्यता में निग्रो के आश्चर्यजनक पार्ट को देखें, तो हमें कोई हैरत न होगी। निग्रो महान संस्कृति का उत्तराधिकारी है। यदि इस दबाई और सताई हुई हालत में भी वह इतना क्षमतावान साबित हो सकता है, तो सहूलियतें पाकर वह ग़ज़ब कर सकता है। निग्रो साहित्य की वर्तमान उन्नति को देखकर दुनिया आज दङ्ग है। बहुत से अमरीकन, जो निग्रो के पिछले इतिहास से बे ख़बर हैं, इस उन्नति के लिये भोंडी दलीलें पेश करते हैं। उनकी नज़रों में हर अच्छे निग्रो साहित्यकार की नस्ल में कहीं न कहीं गोरे अमरीकनों का ख़ून मौजूद है! यह दलील उतनी ही लचर है, जितनी यह कि महान साहित्यकार पुश्किन इसीलिये महान हो सका चूंकि उसके अन्दर निग्रो रक्त मौजूद था। कुछ अमरीकन समालोचकों का कहना है कि निग्रो साहित्य के प्रचार के पीछे केवल अमरीकन परोपकार और प्रोत्साहन वृत्ति है।

हम इन समालोचकों को क्या जवाब दें? सच तो यह है अमरीकन संस्कृति के बनाने में जितना मौलिक हिस्सा निग्रो ने लिया है, उतना गोरे अमरीकनों ने नहीं। गोरों ने तो यूरोप के देशों की घटिया नक़ल ही अमरीकन संस्कृति में जोड़ी है। निग्रो ग्राम-गीत, निग्रो धर्म कथायें, और निग्रो संगीत 'जज़्ज़'—अमरीकन संस्कृति की ये तीन निग्रो विशेषताएं हैं। सच तो यह है अमरीकन संस्कृति की केवल यही तीन विशेषताएं हैं। चूंकि गोरों ने वैज्ञानिक तरीक़े से अमरीका के आदिमवासियों "रेड इण्डियन्स" की संस्कृति का नाश कर दिया, इसलिये उस संस्कृति के कोई प्रमुख अवशेष नहीं दिखाई देते। जब प्रसिद्ध कलाकार ड्रॉगाक ने अपने मशहूर नाटक में विशिष्ट अमरीकन वातावरण के दृश्य देने चाहे, तो उसे निग्रो संस्कृति को ही आधार बनाना पड़ा। निग्रो ने अपने सीधे सादे तरीक़े से अमरीकन संस्कृति में सादगी, सहज भाव और ग्राम परम्परा के ऐसे अध्याय जोड़े हैं, जो पूरे पूरे अमरीकन हैं। अमरीकन गोरा तो यूरोपीय संस्कृति का घटिया हिस्सेदार बना रहा। निग्रो कला में विविधता है, सामंजस्य है, अधिक आकर्षण शक्ति है और अपनी अपील में वह कहीं ज़्यादा प्रेरक है।

---

*'Negro culture in west Afica', by—G. W. Ellis

अमरीकन निग्रो सुविधाहीन प्राणी बना रहा। उसके पास शिक्षा के साधन न थे। इसीलिये उसकी कला पढ़े लिखों की नकल करने की प्रवृत्ति से अछूती रही। जहां उसने गोरों की नकल की है, वहां केवल सार रूप से। उनके आकार प्रकार को उसने नहीं अपनाया। उसने गोरों के ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को लेकर उन पर निग्रो जामा पहनाया और तब स्वीकार किया। वह किसी आचार विचार से बंधा न था। प्रकृति का उन्मुक्त जीव, हर नई चीज़ों को उसने बिना संकोच अपनाया। न उसे समालोचकों का डर था और न व्याकरण का बोझा ही उसके सर पर था। इसीलिये उसकी कला बन्धनों से उन्मुक्त कला है। इसीलिये वह दुनिया की सब से अधिक मौलिक कला है। अमरीकन गोरे अपनी कला का मॉडेल यूरोप में ढूंढ़ते फिरते हैं, किन्तु निग्रो कलाकार अपना मॉडेल अपने ही बीच में अमरीकन वातावरण में ही तलाशता है। फिलिस ह्वीटले आदि कुछ निग्रो कवियों ने बजाय अपनी कला को उन्नति देने के गोरों के टेकनीक को अपनाया, किन्तु इनका असर निग्रो जन सामान्य पर नहीं पड़ा।

अमरीका में निग्रो कला और साहित्य की उन्नति का बहुत कुछ कारण आर्थिक है। निग्रो ग्राम-गीत, और निग्रो धर्म-कथाओं में जो कुछ मौलिक और विशेष है, उसकी जड़ें उस गुलामी की प्रथा में मिलती हैं, जिसने निग्रो-आत्मा पर बेहद असर डाला। अमरीका में करीब २४० वर्ष तक निग्रो एक गुलाम की हैसियत से रहा। गुलामी के कष्टप्रद जीवन और गोरों के भयङ्कर अत्याचारों ने उसके स्वभाव को अत्यधिक भावुक और धार्मिक बना दिया। उसके गुलाम जीवन में आशा की कोई किरन न थी। दुःख और मुसीबत के पहाड़ जैसे दिन उसके सामने थे। ज़िन्दगी हर वक्त चौबीसों घण्टे सूली पर लटकी हुई थी। उसके लिये इस पृथ्वी और नरक में कोई अन्तर न रह गया था। इस भयङ्कर परिस्थिति से छुटकारा पाने के न उसके पास साधन थे और न इसकी उसे उम्मीद ही थी। उसने असफल विद्रोह किये, जो कुचल कर दबा दिये गये। इस दुनिया के दुखान्त जीवन से ऊब कर उसने स्वर्ग की कल्पना के सपने देखने शुरू किये। वास्तविक जीवन में न सही, ख्वाब और कल्पना में ही उसने बाइबिल के उस स्वर्ग में अपने आपको पाया, जहां न दुःख था न दारिद्र्य, न कष्ट थे न चिन्ता, जहाँ सोना बिना मांगे मिलता था और दूध और शहद की नदियां बहती थीं। गोरे मालिक के चाबुक बार बार जितनी देर में सड़ सड़ उसकी पीठ को छीलते थे, वह उस कल्पना के स्वर्ग में उस सन्धि-काल में घूम आता था। इस कल्पना ने उन्हें बेहद धार्मिक बना दिया। वे सूली पर चढ़े हुए साक्षात् ईसा को अपने अन्दर अनुभव करने लगे। उनके धर्म गीत महज़ गिरजे में पढ़ी जाने वाली धार्मिक प्रार्थनाएं नहीं हैं, जो प्रार्थना में सिर्फ सौन्दर्य बढ़ाते हैं, बल्कि वे एक पूरी जाति के अन्दर की असह्य वेदना के मूर्तिमान रूप हैं। निग्रो की नज़रों में ईसा रविवार के दिन याद करने और बाक़ी सप्ताह के छै दिन भूल जाने की चीज़ नहीं। वे सूली पर चढ़ी हुई एक पूरी क़ौम के प्रतीक हैं।

निग्रो के 'मज़दूरों के गीत' (Blues) में उसकी आर्थिक स्थिति की छाप और अधिक साफ़ है। निग्रो मजदूर काम करते हुए जिस वक्त झूम झूम कर ये गीत गाते हैं, तो सुनने वाले भी बरबस पद-चाँप भरने लगते हैं। मजदूर का हथौड़ा जिस वक्त लहर खाकर उठता और गिरता है, निग्रो-गीत उसमें स्वर ताल भरता है। एक भावपूर्ण गीत है—

> "तुम्हारी प्यारी माँ कहां थी—
> जब जहाज समुद्र में डूबा?
> जहाज़ के डेक पर—
> गुलामी में बंधी अलबामा के खेतों के लिये"

निग्रो 'जज़्ज़' अमरीकन संगीत-नृत्य की अद्भुत विशेषता है। गत महायुद्ध के बाद से यूरोप और अमरीका में इस नृत्य का बेहद प्रचार हुआ। इस नृत्य से मानों समस्त मानवीय भावनाएं हृदय के बांध फोड़कर तूफ़ान की तरह उमड़ पड़ती हैं। पुराने

लोग ग़मग़ीन रहकर अपना ग़म ग़लत करते थे। अधीर निग्रो शारीरिक चेष्टा में अपने दुःख भुलाता है। जड़ज़ में डाइनामाइट की सी शक्ति है, बिजली की सी चपलता है और झकझोर डालने वाली उमङ्ग है। जड़ज़ उसे थका कर चूर कर देता है और वह अपने दुःखों को भूलकर गहरी नींद में विश्राम पाता है। जड़ज़ की फुर्ती निग्रो को संसार का सब में अधिक कार्यशील और फुर्तीला प्राणी घोषित करती है। कुछ लोगों की राय में निग्रो के बलिष्ठ शरीर में यह जो ग़ज़ब की लचक और फुरती है, उसका कारण उसकी हड्डियों में कैलसियम की बहुतायत है। जड़ज़ के परिचालन में निग्रो से कोई बाज़ी नहीं ले जा सका। प्रसिद्ध रूसी कलाकार स्टोकावस्की लिखता है —

"अमरीका के निग्रो संगीतज्ञ कला के क्षेत्र में आश्चर्य जनक हिस्सा ले रहे हैं। वे खुले दिमाग़ से चीज़ों को पक्षपात रहित होकर देखते हैं। उन्होंने संगीत की जीर्ण नसों में नये रक्त का संचार किया है। इनके वाद्य-यंत्र इनके दासानुदास की तरह इनके इशारों पर नाचते हैं। जिन चीज़ों से कुशल यूरोपियन संगीतज्ञ बचते हैं, वही चीज़ें निग्रो संगीत का सौन्दर्य बढ़ाती हैं। निग्रो कलाकार संगीत के नये नये रहस्यों का पता लगाता रहता है।"

१९ वीं सदी के निग्रो साहित्य की प्रवृत्ति कुछ कुछ यूरोपियन साहित्य की नक़ल की ओर झुकी, किन्तु वह प्रवृत्ति क्षणिक प्रवृत्ति थी। आज कल का निग्रो साहित्य निग्रो क़ौम के साहित्यिक विकास की सच्ची तसवीर है। जीन टूमर, रुडल्फ़ फ़िशर, बरगार्ट दुबॉय और वाल्टर ह्वाइट उपन्यास क्षेत्र में, लैङ्गस्टन ह्यजेज़, काउण्टी कलेन, क्लाड मैके, कविता के क्षेत्र में एलेन लाक, फ्रैंकलिन फ्रेज़र, जेम्स वेल्डन जानसन, चार्ल्स एस० जानसन, अबराम एल० हैरिस और जान स्काइलर, निबन्ध के क्षेत्र में अपनी कलापूर्ण कल्पना, भावों के सौन्दर्य और विद्वत्ता में अमरीकन साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। रोलैण्ड हेज़ गीत मंच के और पाल राबेसन रङ्गमंच के मशहूर निग्रो कलाकार हैं। साहित्य के क्षेत्र में बिलकुल नई भावना दिखाई देती है। बुकर टी वाशिङ्गटन के वक़्त का नैराश्यवाद ख़त्म हो गया है। १९ वीं सदी के एक कवि की इन पंक्तियों—

> निग्रो की कोख से पैदा किया है भगवान
> कौन सा पाप किया था ऐसा ?

की जगह बीसवीं सदी का निग्रो कवि मैके कहता है

> क़ब्र के मुंह से भय कैसा ?
> मर्दों की तरह हम हत्यारों और कायरों का सामना करेंगे,
> कफ़न सर से बांध कर, मौत का स्वागत करने—
> लड़ेंगे, रक्त के अन्तिम बिन्दु तक लड़ेंगे।

पहले निग्रो लेखक आपको तुच्छ समझते थे, किन्तु अब वे अपने महत्व को समझते हैं। जार्ज स्काइलर ने अपने गद्य-ग्रन्थों में इसी स्वाधीन भावना को व्यक्त किया है। उसका स्पष्ट, चुभता हुआ तर्ज़ है। उसके लेखों में कहीं कहीं इतनी गहरी चुटकी होती है कि विरोधी तड़प जाता है। किन्तु उद्देश्य सदा उसकी आंखों के सामने रहता है। स्काइलर की लेखनी में ग़ज़ब की ताक़त है। भावुकता उसमें छू तक नहीं गई। उसकी विश्वविख्यात पुस्तक 'Our Greatest Gift to America" (अमरीका को हमारी सबसे बड़ी देन) साहित्य की अपने तर्ज़ की अद्वितीय पुस्तक है। २५ वर्ष पहले के निग्रो औपन्यासिक केवल सम्पन्न निग्रों को अपने उपन्यास का पात्र बनाते थे। किन्तु आज कल के निग्रो उपन्यासकार रुडल्फ़ फ़िशर और क्लाड मैके के मशहूर उपन्यास The walls of Fericho और Home to Harlem के प्रमुख के पात्र भी ग़रीब निग्रो ही हैं।

आजकल का निग्रो साहित्य पीड़ित और दलित निग्रो समाज का पथ प्रदर्शक है। निग्रो लेखक जीवन दायिनी साहित्य का सृजन करके निग्रो जनता में नित नवीन रक्त का संचार कर रहे हैं। हमारा साहित्य इस बात का साक्षी है कि हमारी निग्रो क़ौम का भविष्य उज्जल है।

रूढ़ि और मौलिकता

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates.

—टी० एस० इलियट

'भारतवासी रूढ़िवादी हैं,' यह कथन हम सब ने कभी-न-कभी सुना है। प्रायः यह स्वीकार भी होता रहा है। एक दिन इस कथन में सराहना का भाव था—यह भारतीयों का गुण समझा जाता था कि वे रूढ़ियों को मानते हैं; आज, जब चारों ओर 'प्रगति' की इतनी चर्चा है, तब रूढ़ियां हमारे जीवन-नाटक के खल-नायक के पद पर शोभित होने लगी हैं। साहित्य में भी, विशेषतया आलोचना के प्रसंग में, यह फ़ैशन सा हो गया है कि रूढ़ि का तिरस्कार किया जाय। जब यह तिरस्कार इतना स्पष्ट नहीं भी होता, तब भी हम किसी आधुनिक लेखक की समकालीनता अथवा 'आधुनिकता' का मूल्यांकन इसी कसौटी पर करते हैं कि वह किस हद तक रूढ़ियों को मानता अथवा तोड़ता है। उदाहरणतया हम प्रायः कहते हैं कि 'हरिऔध' 'रूढ़िवादी' हैं, तथा पन्त और 'निराला' 'आधुनिक' हैं, यानी रूढ़ियों के प्रति विद्रोही हैं।

आलोचना के वर्त्तमान फ़ैशन की ओर तनिक ध्यान दें, तो हम देखेंगे, आजकल हिन्दी में (हिन्दी में ही क्यों, प्रायः सर्वत्र ही) लेखक अथवा कवि की रचनाओं के 'मौलिक', 'व्यक्तिगत', विशेष गुणों पर ज़ोर देने की परिपाटी भी चल पड़ी है। आजकल का साहित्यकार अपनी भिन्नता के लिए ही प्रशंसा पाता है, 'मौलिकता' और 'भिन्नता' पर्य्यायवाची भी बन गए हैं। कवि को हम उसके पूर्ववर्त्तियों से, विशेष कर निकट पूर्ववर्त्तियों से, उच्छिन्न कर के देख सकें तभी हमें सन्तोष होता है। आलोचकों के आगे यह कहना अपने को हास्यास्पद बना देना होगा कि कभी-कभी साहित्यकार का गौरव, उसकी रचना का महत्व, इस बात में भी हो सकता है कि उसमें साहित्यकार के पूर्ववर्त्तियों की लम्बी परम्परा, उसके साहित्य की रूढ़ि, पुनः जी रही है और मुखर हो रही है!

लेकिन हास्यास्पद बनने का ख़तरा उठाकर भी यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि रूढ़ि—परम्परा—के विषय में अपनी धारणाओं की दुबारा जांच करना अनिवार्य हो गया है। क्या हमारी धारणा ठीक है? क्या 'रूढ़ि' की परिभाषा, 'पुराने साहित्य की अग्राह्य और खण्डनीय परिपाटियां' ही है? क्या परम्परा को निबाहना, गई हुई पीढ़ियों की रीतियों और सफलताओं के अन्धानुकरण का ही नाम है? रूढ़ि क्या है? परम्परा का साहित्य में क्या स्थान है, और साहित्यकार के लिए क्या मोल?

रूढ़ि की रूढ़िग्रस्त परिभाषा हमें छोड़नी होगी, हमें उदार दृष्टिकोण से उसका नया और विशालतर अर्थ लेना होगा। हमें सब से पहले यह समझना होगा कि रूढ़ि अथवा परम्परा कोई बनी बनाई चीज़ नहीं है, जिसे साहित्यकार ज्यों का त्यों पा या छोड़

सकता है, मिट्टी के लोंदे की तरह अपना या फेंक सकता है। हमें यह किंचित् विस्मयकारी तथ्य स्वीकार करना होगा कि परम्परा स्वयं लेखक पर हावी नहीं होती, बल्कि लेखक चाहे तो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है, लेखक की साधना से ही रूढ़ि बनती और मिलती है। और हम यह भी सिद्ध करेंगे कि रूढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए वाञ्छनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है।

रूढ़ि की साधना, परम्परा के प्रति जागरूकता, कैसे प्राप्त होती है और किस प्रकार साहित्यकार के मानस को, उसके कार्य के मूल्य को, प्रभावित करती है? इस जागरूकता का मुख्य उपकरण है एक ऐतिहासिक चेतना—अर्थात् जो कालानुक्रम में बीत गया है, अतीत है, उसके बीतेपन की ही नहीं, उसकी वर्तमानता की भी तीखी और चिर-जाग्रत अनुभूति। साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि साहित्य में और जीवन में 'आसीत्' का और 'अस्ति' का, जो 'अचिर' हो गया है उसका और जो 'चिर' है उसका, और इन दोनों की परस्परता का, अन्योन्याश्रयता का, ज्ञान उसमें बना रहे। आधुनिक हिन्दी लेखक में यदि यह ऐतिहासिक चेतना होगी, तो उसकी रचना में न केवल अपने युग, अपनी पीढ़ी से उसका सम्बन्ध बोल रहा होगा; बल्कि उससे पहले की अनगिन पीढ़ियों की, और उनके साथ अपनी पीढ़ी की संलग्नता और एक सूत्रता की भी तीव्र अनुभूति स्पन्दित हो रही होगी। जो 'है', उसकी साधना में ऐसा साहित्यकार कभी उसे एक ओर हटाकर नहीं फेंक सकेगा जो 'था', वह अनुभव करेगा कि 'अतीत' उसी का नाम है जो पहले से वर्त्तमान है, जब कि 'आज' वह है जो वर्त्तमान होना आरम्भ हुआ है। अतीत और वर्त्तमान के इस दुहरे अस्तित्व की, उनकी पृथक् वर्तमानता और उनकी एक सूत्रता की, निरन्तर अनुभूति ही ऐतिहासिक चेतना है, और इस चेतना का अनवरत स्पन्दनशील विकास ही परम्परा का ज्ञान। काल की प्रवहमानता के ऐसे ज्ञान के बिना साहित्यकार उस प्रवाह में अपना स्थान भी नहीं जान सकता, 'आधुनिक' क्या, किसी भी युग में जम नहीं सकता। ऐसे ज्ञान से हीन साहित्यकार एक ऐसा अंकुर है, जो कहीं से भी प्राण-रस खींचने का मार्ग नहीं बना सका, 'काल के महा प्रांगण' में कहीं भी अपनी जड़ें नहीं जमा सका, जो उच्छिन्न होकर ही फूटा है।

इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का यत्न किया जाय। इसके लिए हम आज का कोई भी कवि ले लें—'नूतन' अथवा 'विद्रोही' माना जाने वाला कवि ही—मान लीजिए सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। क्या इन्हें समझना, इनकी समीक्षा करना, साहित्य के विकास में इनका स्थान और महत्व निश्चित करना, इनकी रचना का मूल्य आँकना, केवल उन्हीं को अकेले अकेले देखकर सम्भव है? क्या उनकी तत्कथित विशेषता, भिन्नता को देखने के लिए भी हम उन्हें उनके पूर्ववर्त्तियों के बीच नहीं रखेंगे, उनसे तुलना नहीं करेंगे? क्या उन पर, किसी भी कवि पर, कोई भी मत स्थिर करने से पहले हम उसके पूर्ववर्त्ती साहित्यकारों और कवियों के साथ उसके सम्बन्ध की जाँच पड़ताल नहीं करेंगे?

इस प्रकार का अन्वेषण केवल 'ऐतिहासिक' विवेचन के लिए नहीं, कलात्मक विवेचन के लिए भी नितान्त आवश्यक है। क्योंकि कोई भी कलावस्तु, चाहे वह कितनी भी नयी क्यों न हो, ऐसी वस्तु नहीं है, जो अकस्मात् अपनेआप 'घटित' हो गई है; वह ऐसी वस्तु है, जो अपनेआप में नहीं, अपनी पूर्ववर्ती तमाम कलावस्तुओं की परम्परा के साथ घटित हुई है। जितनी ही वह नयी है, उतनी ही महत्वपूर्ण घटना कलावस्तुओं की परम्परा के साथ घटित हुई है; उतना ही परम्परा के साथ उसके सम्बन्ध का अन्वेषण करना प्रासंगिक हो गया है! क्योंकि जो 'पहले से वर्त्तमान' है, उसकी तो एक बनी-बनाई परम्परा थी, उसमें एक प्रवहमान स्थिरता, एक सामंजस्य था, जो कि एक नयी वस्तु के आविर्भाव से डाँवाडोल हो गया है। पुनः किसी प्रकार का सामंजस्य

स्थापित होने के लिए, एक नया तारतम्य प्राप्त करने के लिए; समूची परम्परा को पुनः जमाना होगा, फिर इसके लिए आवश्यक परिवर्त्तन चाहे कितना ही अल्प अथवा सूक्ष्म क्यों न हो।

परिणाम यह निकला कि प्रत्येक नयी रचना के आते ही, पूर्ववर्त्ती परम्परा के साथ उस रचना के सम्बन्ध, उनके परस्पर अनुपात, और सापेक्ष्य मूल्य अथवा महत्व का फिर से अंकन हो जाता है, तथा पुरातन और नूतन, 'रूढ़' और 'मौलिक', परम्परा और प्रतिभा में एक नया तारतम्य स्थापित हो जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम वर्त्तमान को अतीत के मानदण्ड पर नाप रहे हैं, अथवा की अतीत को ही वर्त्तमान द्वारा आँक रहे हैं। वास्तव में इस क्रिया द्वारा दोनों विभूतियां परस्पर एक दूसरे पर, और साथ ही दोनो के योग पर, घटित होती हैं। आधुनिक साहित्यकार को मानना पड़ता है कि वह चाहे या न चाहे, उसे अतीत द्वारा, रूढ़ि द्वारा, उतना ही नियमित होना पड़ता है, जितना वह स्वयं उसे परिवर्त्तित अथवा परिवर्धित करता है।

निस्सन्देह ऐसा ज्ञान आधुनिक साहित्यकार के उत्तरदायित्व को बहुत बढ़ा देता है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इससे साहित्य-रचना में कठिनाइयाँ भी उत्पन्न होती हैं। क्योंकि इससे लेखक में वह चेतना उत्पन्न होती है कि एक विशेष अर्थ में वह अतीत के द्वारा जोखा जा रहा है, उसके आगे परीक्षार्थी है। लेकिन उसे यह भी समझना चाहिए कि वह अतीत के द्वारा जोखा ही जाता है, कुण्ठित नहीं होता। अतीत का निर्णय खण्डित करने वाला, बाँधने वाला, नहीं है। आधुनिक लेखक की आलोचना 'पूर्ववर्त्तियों जैसा' या 'पूर्ववर्त्तियों से अच्छा या बुरा' कह कर नहीं की जा सकती। नहीं आधुनिक साहित्य का मोल पूर्ववर्त्ती आलोचकों की कसौटियों पर आँका जा सकता है। अतीत के द्वारा जोखे जाने का अर्थ अतीत के मानदण्डों द्वारा जोखा जाना नहीं है। अतीत के कृतित्व का अन्धानुकरण तो विघातक होगा। निरी गतानुगतिकता से कला की परम्परा की रक्षा कदापि नहीं होगी: क्योंकि जो केवल आवृत्ति है वह नूतन नहीं है, और नूतनता के चमत्कार के बिना वह कला ही नहीं है। अतीत के द्वारा जोखे जाने का अभिप्राय इतना ही है कि नूतन रचना उसके साथ एक तारतम्य स्थापित कर सके, एक सूत्र हो सके, उसमें परम्परा की प्रवहमानता स्पन्दित हो। यदि ऐसा नहीं होता, और जब तक ऐसा नहीं होता—यदि नयी रचना के साथ कला की रूढ़ि का कोई सम्बन्ध नहीं बनता, वह एक विलग, असम्बद्ध, खण्डित इकाई के रूप में रहती है तब और तब तक, वह कला के क्षेत्र में महत्व नहीं रखती प्राणवान् नहीं होती है। बिना एक गतियुक्त और वर्धमान (Organic) परम्परा के, एक जीवित रूढ़ि के, कला का अस्तित्व टिक नहीं सकता। इस चौंकाने वाली और किंचित शंकनीय उक्ति को तनिक और स्पष्ट करके कहना होगा। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कोई रचना इसीलिए महत्व रखती है कि वह परम्परा के अनुकूल है; अभिप्राय केवल इतना है कि यह अनुकूलता अथवा तारतम्य उसके महत्व की सूचक हो सकती है। रूढ़ि के साथ सम्बन्ध अथवा तारतम्य स्वयं ही रचना का मूल्य अथवा महत्व नहीं है; मूल्य अथवा महत्व उस गतियुक्त और वर्धमान परम्परा में रूढ़ि की सजीव प्रवहमानता में है, जो इस तारतम्य से व्यंजित होती है।

यह परिभाषा, और यह सूक्ष्म भेद, इतना महत्व रखता है कि पुनरावृत्ति-दोष का सामना करके भी इसे और स्पष्ट करने का प्रयत्न करना होगा। यों कहें कि कोई भी लेखक अतीत को ज्यों का त्यों, सत्तू के गोले की तरह निगल नहीं सकता, लेकिन साथ ही वह अपनी रचना के लिए किसी एक-देह कलाकार को आदर्श बनाकर, अथवा किसी विशेष काल का अनुसरण करके भी नहीं चल सकता। एक कवि या कवि-समुदाय को आदर्श मान कर उसके ढंग या शैली की साधना करना वयःसंधि-प्राप्त लेखक के लिए रुचिकर या हितकर हो सकता है, एक युग की अनुगतिकता साहित्यिक व्यायाम अथवा रुचि-परिष्कार

के लिए उपयोगी हो सकती है। लेकिन प्रौढ़ और बलिष्ठ साहित्य इसी तरह नहीं पल सकता। साहित्यकार को कला की साहित्य सृष्टि की, मुख्य प्रवृत्तिसे, साहित्यिक परम्परा की निरन्तर विकासशील प्रवहमानतासे, परिचित होना ही होगा; अतीत में से निकट अतीत और उसमें से वर्त्तमान के विकास की भी परम्परा के प्रति ऐतिहासिक जागरूकता उसे पानी ही होगी। उसे अपने निजी, व्यक्तिगत, भिन्न, अकेले मन के प्रति ही नहीं, अपने साहित्य के, अपने समाज के, अपनी सांस्कृतिक परिवृत्ति के, अपने देश के समष्टिगत मन के—यदि उसकी क्षमता उतनी है तो जन-मन, विश्व-मन के—प्रति भी सचेतन होना होगा; उसे इसका भी तीव्र अनुभव करना होगा कि यह विशालतर मन उसके निजी मन से कहीं अधिक गौरव रखता है; और जितने ही बड़े मन की, जितनी ही गहरी चेतना उसमें है, उतना ही अपने युग के साथ उसका सम्बन्ध फलप्रद है। इतना ही नहीं, उसे यह भी जानना होगा कि यह सामूहिक मन परिवर्त्तित हो सकता और होता है, विकासशील है; पर इस विकास और परिवर्त्तन में वह अपने किसी अंग का परित्याग अथवा बहिष्कार नहीं करता, केवल उनके प्रति एक नयी चेतना पैदा करता है। वाल्मीकि के लिए वेदों को, कालिदास के लिए वाल्मीकि को, तुलसीदास के लिए कालिदास को अथवा मैथिलीशरण गुप्त के लिए तुलसीदास को, वह छोड़ नहीं देता; वह इन सब को अपनी वर्धमानता के लम्बे सूत्र में पिरोता चलता है। उस मन में 'अतीत' कुछ भी नहीं होता, केवल 'पहले से वर्त्तमान' की वह परम्परा बढ़ती चलती है, जिसमें नया आया हुआ वर्तमान अपना स्थान बनायेगा। अचिर के साथ चिर के तारतम्य की यह बाध्यता, अचिर की माला में गुंथ जाने का चिरका अधिकार—साहित्यकार के लिए रूढ़ि अथवा परम्परा का यही 'शापमय वरदान' है।

शायद इतना भी पर्याप्त नहीं होगा, शायद साहित्यकार को इससे भी अधिक कुछ जानना होगा। एक तो उसे यह समझना होगा कि 'कला की, साहित्यरचना की मुख्य प्रवृत्ति' युग के सबसे उल्लेखनीय कवियों की ही रचनाओं में प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य नहीं है। बहुत सम्भव है कि एक युग की मुख्य चिन्ताधारा ऐसे कवियों में लक्ष्य हो जो अपने युग में, या कभी भी, प्रसिद्धि नहीं पा सके। इस कठिनाई का सामना करते हुए उसे युग की नब्ज़ पहचाननी होगी, युग की चेतना का विशालतर रूढ़िकी चेतना के साथ सम्बन्ध जोड़ना होगा।

दूसरी कठिनाई उसके आगे यह होगी कि यद्यपि सामूहिक मन निरन्तर बदल रहा है, तथापि यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि यह परिवर्त्तन अनिवार्य रूप से 'उन्नति' का ही परिणाम है—कि इस परिवर्त्तन द्वारा हम कलात्मक दृष्टि से (अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, कम से कम उस हद तक जितना कि कल्पना की जा सकती है) पहले से अच्छे हो गए हैं। निश्चय पूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कला की सामग्री निरन्तर बदलती रहती है, कला शायद नहीं बदलती। सम्भव है, सामूहिक मन का परिवर्तन केवल जीवन के संगठन की क्रमशः बढ़ती हुई उलझन का ही परिणाम है, और स्वयं एक अधिक कम्प्लेक्स विचार-संघट्टना का पर्यायवाची है। किन्तु वह चाहे जो हो, यह तो स्पष्ट है ही कि उस परिवर्तन द्वारा प्राचीन और नवीन में एक अन्तर आ जाता है। अतीत और वर्तमान के इस अन्तर को हम यों कह सकते हैं कि सचेतन वर्त्तमान, अतीत की एक नये ढङ्ग की और नये परिमाण में अनुभूति का नाम है, जैसी और जितनी अनुभूति उस अतीत को स्वयं नहीं थी। वर्त्तमान में रहने वाले साहित्यकार के लिए अतीत का, परम्परा का, यही महत्व है।

आधुनिक साहित्यकार के लिये रूढ़ि के ज्ञान को, ऐतिहासिक चेतना को इतना महत्व देना पाठक को अनुचित जान पड़ सकता है। वह कह सकता है कि ऐसी चेतना के लिये बहुत पढ़ाई की, प्रकाण्ड पाण्डित्य की आवश्यकता होगी और इतिहास की साक्षी दे सकता है कि कलाकार पण्डित नहीं होते,

न पण्डित कलाकार। वह कह सकता है कि बहुत अधिक कोरे 'ज्ञान' से अनुभूति-क्षमता कम होती है। सरसरी दृष्टि से यह तर्क बहुत संगत जान पड़ता है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो इसमें एक भ्रान्त धारणा निहित है। ज्ञान अथवा शिक्षण केवल किताबी जानकारी का, परीक्षाएं पास करने के लिए या रौब डालने के लिए इकट्ठे किए हुए इतिवृत्त का नाम नहीं है। निस्सन्देह साहित्यकार को अपनी ग्रहण-शीलता को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।*

लेकिन रूढ़ि के ज्ञान के लिए, परम्परा के सजीव स्पन्दन की चेतना के लिए निरी जानकारी और पाण्डित्य अनिवार्य नहीं है। ऐतिहासिक चेतना प्राप्त करने के लिए, निजी मनके साथ और उसके ऊपर सामूहिक मनका अनुभव करने के लिए, कुछ को बहुत परिश्रम करना पड़ सकता है, कुछ उसे अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। भारत के ग्राम्य मन की जो जीवित अनुभूति गांधी में है, या हिन्दी साहित्य क्षेत्र में प्रेमचन्द में, वह पाण्डित्य के सहारे नहीं आई है। जो सांस्कृतिक चेतना 'प्रसाद' में गूढ़ अध्ययन के सहारे जागी जान पड़ती है, × वह अधिक स्वाभाविक और स्वच्छ रूप में सियारामशरण गुप्त में लक्षित होती है। कोई लोग घोख कर ज्ञान प्राप्त करते हैं, कोई अनायास सीख कर। पाण्डित्य पर हमारा आग्रह नहीं है, आग्रह इस बात पर है कि साहित्यकार में अतीत की चेतना होनी या आनी चाहिये, और उसे आजीवन इसे पुष्ट और विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

किसी ने कहा है, The dead writers are removed from us because we 'know' so much more than they did अर्थात् 'हम पूर्ववर्ती लेखकों से इसलिये अलग हैं कि हम उनसे कहीं अधिक जानते हैं।' वह अधिक क्या है? स्वयं हमारे पूर्ववर्ती लेखक ही, जिन्हें हम जानते हैं। यही परम्परा के निर्माण की क्रिया का खुलासा है। इसी बात को दूसरी तरह कहें, तो कह सकते हैं कि रूढ़ि के, परम्परा के विरुद्ध हमारा कोई 'विद्रोह' हो सकता है, तो यही कि हम अपने को परम्परा में जोड़ दें!

और यह योग किस प्रकार होता है? साहित्यकार के आत्मदान द्वारा। कलाकार निरन्तर अपने व्यक्तिगत मन को, अपने तात्कालिक, क्षणिक अस्तित्व को, एक महानतर मन और विशालतर अस्तित्व के ऊपर निछावर करता रहता है, अपने निजी व्यक्तित्व को एक वृहत्तर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए मिटाता रहता है। यह आत्म-निवेदन मृत्यु नहीं है—ऐतिहासिक चेतना के सहारे कलाकार को जानना चाहिए कि व्यक्तित्व का उत्सर्ग उसका विनाश नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा वह उस परम्परा को भी परिवर्धित कर रहा है, जिस पर वह निछावर है। छोटे व्यक्तित्व से निरन्तर बड़े व्यक्तित्व की ओर बढ़ते जाना—यही कलाकार की प्रगति और उन्नति है। और ऐतिहासिक चेतना—परम्परा के स्पन्दन की अनुभूति—इस उन्नति का साधन और मार्ग है।

२

"Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion it is not the expression of personality, but an escape from personality."

—टी० एस० इलियट

साहित्य के निर्माण को समझने के लिए रूढ़ि के आगे व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग की इस क्रिया का, जिसे

* हमारा अनुमान है कि आज के अधिकांश हिन्दी साहित्यकारों में इतनी जानकारी नहीं है, जितनी उनकी ग्रहणशीलता अथवा अनुभूति-क्षमता है। उसे कम किए बिना भी निरी जानकारी बढ़ाने की बहुत काफ़ी गुन्जाइश है।

×इस आयास-सिद्ध सांस्कृतिक चेतना के साथ 'प्रसाद' में एक प्रतिगामी चेष्टा भी है; अपने युग के साथ उनका तारतम्य नहीं स्थापित हुआ। देखिए 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में प्रस्तुत लेखक का निबंध 'परिस्थिति और साहित्यकार'।

ऊपर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, विशेष महत्व है। अतएव इसे और निकट से देखने का प्रयास असंगत न होगा।

आलोचना का विषय साहित्य है, साहित्यकार नहीं; कविता है, कवि नहीं; यद्यपि साहित्य और काव्य की जांच के लिए भी हमें निरन्तर उस मन की क्वालिटी परखनी होगी, जिससे साहित्य उद्भूत हुआ है। स्पष्ट रहे कि 'मन की परख' व्यक्तित्व की या व्यक्तिगत इतिहास की जांच से बिल्कुल भिन्न है—क्योंकि अनुभव करने वाला प्राणी और रचना करने वाला मन अलग अलग है या होने चाहिए। इस प्रकार किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करने के लिए हमें अन्य साहित्यिक कृतियों के साथ उसके सम्बन्ध की ओर तो ध्यान देना ही होगा, साथ ही साथ हमें यह भी जाँच करनी होगी कि रचना का उसके निर्माता के साथ—रचना करने वाले मन के साथ—क्या सम्बन्ध है। 'प्रौढ़' और कच्ची कवि-प्रतिभा का अन्तर कवियों के 'व्यक्तित्व' के अनुपात में निहित नहीं है, इसमें नहीं है कि किसका व्यक्तित्व कितना बड़ा अथवा आकर्षक है, कौन अधिक रोचक है, अथवा किसके पास अधिक 'सन्देश' है; वास्तविक अन्तर की पहचान यह है कि कौनसा कवि मानस किन्हीं विशेष, अथवा परस्पर भिन्न, 'उड़ती हुई' अनुभूतियों के मिश्रण और संयोग और चिर-नूतन संगम के लिए अधिक परिष्कृत और ग्रहणशील माध्यम है।

अंग्रेजी कवि-आलोचक टी० एस० इलियट ने इस क्रिया की तुलना एक रसायनिक क्रिया से की है। सल्फ़र डायक्साइड और आक्सीजन से भरे हुए पात्र में यदि प्लाटिनम का चूर्ण प्रविष्ट किया जाय, तो वे दोनों गैसें मिलकर सल्फ़्यूरस एसिड में परिवर्तित हो जाती हैं। यह क्रिया प्लाटिनम की उपस्थिति के बिना नहीं होती; तथापि बनने वाले अम्ल में प्लाटिनम का कोई अंश नहीं होता, न प्लाटिनम में किसी प्रकार का कोई परिवर्त्तन ही दीखता है—वह ज्यों का त्यों पड़ा रह जाता है। इलियट कवि-मानस की तुलना इस प्लाटिनम के चूर्ण से करता है। कवि-मानस भी किन्हीं विभिन्न अनुभूतियों पर असर डालकर उनके मिश्रण और सङ्गम का माध्यम बनता है; उस सङ्गम से एक कलावस्तु निर्मित होती है, जो विभिन्न तत्वों का जोड़ भर नहीं, उससे कुछ अधिक है, एक आत्यन्तिक एकता रखती है, और जो बिना कवि-मानस के माध्यम के अस्तित्व नहीं प्राप्त कर सकती थी।

ध्यान रहे कि यद्यपि कवि-मानस ही इस संयोग से चमत्कार उत्पन्न करता है, और इस क्रिया में भाग लेने वाले तत्व कुछ अनुभूतियां हैं, जो कवि के अपने जीवन के घटित से भी उपजी हो सकती हैं (या उसके आत्म-घटित से बाहर की भी हो सकती हैं), तथापि कलावस्तु का निर्माण निरी निजी अनुभूतियों से नहीं होता—कलावस्तु बनती है उन अनुभवों में—उन अनुभूतियों और भावों के संगम में, जिनमें कवि स्वयं अलग, तटस्थ है; जिन पर उसका मन काम कर रहा है। एक दूसरी उपमा की शरण लें, तो कवि का मन एक भट्ठी है, जिसके ताप में विभिन्न धातुएं पिघल कर एक रस हो जाती हैं। ढली हुई धातु विभिन्न तत्वों से बनी है, उनमें से कुछ धातुएं स्वयं भट्ठी के स्वामी की सम्पत्ति भी हो सकती हैं, तथापि भट्ठी के स्वामी से भट्ठी का और भट्ठी से धातु का अलगाव और स्वतन्त्र अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। कलाकार जितना ही बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति-जीवन और रचनाशील मन का यह अलगाव भी आत्यन्तिक होगा, उतना ही रचना करने वाला कवि-मानस अनुभव करने वाले मानव से दूर और पृथक् होगा; उतना ही चमत्कारपूर्ण उन अनुभूतियों और भावों का संगम होगा, जो कविता-रूपी प्रतिमा की मिट्टी है—फिर चाहे ये अनुभूतियां और भाव कवि के निजी अनुभव के, व्यक्तिगत जीवन के, हल क्यों न हों। यों कहें कि जितना ही महान कलाकार होगा, उतनी ही उसकी 'माध्यमिकता' परिष्कृत होगी।

जिस मिट्टी से काव्य रूपी प्रतिमा बनती है, जिन तत्वों द्वारा कवि-मानस का असर एक चमत्कारिक योग उत्पन्न करता है, वे तत्व क्या हैं? उन्हें दो

श्रेणियों में बांटा जा सकता है—स्थायी भाव (emotions) और संचारी भाव। कवि इन से जो चमत्कार उत्पन्न करता है, पाठक के मन पर जो प्रभाव डालता है, वह कला के क्षेत्र से बाहर कहीं किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकता—कला का 'रस' कला ही में प्राप्तव्य है, उस अनुभूति की कला के बाहर की किसी अनुभूति से तुलना नहीं की जा सकती। यह अनुभूति एक ही भाव के द्वारा उत्पन्न हो सकती है या अनेक भावों के सम्मिश्रण से, या भावों और अनुभूतियों के संयोग से। और ये अनुभूतियां उत्पन्न करने के लिए कवि कई प्रकार के साधन काम में लाता है। कई प्रकार के चित्र खड़े कर सकता है। रस-सृष्टि के साधन अनेक और उलझे हुए होते हैं, पर उन साधनों द्वारा उत्पन्न होने वाले चमत्कार में एक आत्यन्तिक एकता होती है। वास्तव में कलाकार का मन एक भाण्डार है, जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियां, शब्द, विचार, चित्र, इकट्ठे होते रहते हैं—उस क्षण की प्रतीक्षा में जब कि कवि-प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चमत्कारिक योग उत्पन्न हो।

और कविता की, कलावस्तु की श्रेष्ठता, उसमें वर्णित विषय की या भाव की श्रेष्ठता या भव्यता में नहीं है; और लेखक के लिए उन विषयों या भावों के महत्व में या उसके जीवन में उनकी व्यक्तिगत अनुभूति में तो बिल्कुल नहीं है। कविता का, कलावस्तु का गौरव, उसकी भव्यता उस रसायनिक क्रिया की तीव्रता में है, जिसके द्वारा ये विभिन्न भाव एक होते हैं और चमत्कार पैदा करते हैं। कविता की—काव्यानुभूति की तीव्रता, और कविता में वर्णित अनुभूति की तीव्रता—परस्पर भिन्न न केवल हो सकती है बल्कि अनिवार्य रूप से होती है। कला के भावों और व्यक्तिगत भावों का पार्थक्य अनिवार्य है। पाठक के लिये कवि या साहित्यकार का महत्व उसकी निजी भावनाओं के कारण, उसके अपने जीवन के अनुभवों से पैदा हुए भावों के कारण नहीं है। यह दूसरी बात है कि काव्य-रचना की क्रिया में अन्य भावों और अनुभूतियों के साथ, उसके अपने भाव और अपनी अनुभूतियां भी एक इकाई में ढल जांय—या कि केवल अपने भाव और अनुभूतियां ही उस क्रिया के उपकरण बनें। रचयिता का महत्व रचना करने की क्रिया की तीव्रता में है। यही बात ऊपर दूसरे ढङ्ग से कही गई है—कि जितना ही कलाकार महान होगा, उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृत होगी। वास्तव में काव्य में कवि का व्यक्तित्व नहीं, वह 'माध्यम' प्रकाशित होता है, जिसमें विभिन्न अनुभूतियां और भावनाएं चमत्कारिक योग में युक्त होती हैं। काव्य एक व्यक्तित्व की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।

काव्य की निर्व्यक्तिक परिभाषा से एक परिणाम और निकलता है। काव्य में नूतनता—और बिना नूतनता के कला कहां है?—लाने के लिए कवि को नूतन अनुभव खोजने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी खोज—नूतन मानवीय अनुभूतियां प्राप्त करने की लहक—उसे मानवीय वासनाओं के विकारों की ओर ही ले जायगी, और उस पर पुष्ट होने वाला साहित्य या काव्य मानवीय विक्रिया (perversity) का ही साहित्य होगा। कवि का कार्य नये अनुभवों की, नये भावों की खोज नहीं है, प्रत्युत् पुराने और परिचित भावों के उपकरण से ही ऐसी नूतन अनुभूतियों की सृष्टि करना, जो उन भावों से पहले प्राप्त नहीं की जा चुकी हैं। वह नयी धातुओं का शोधक नहीं है, हमारी जानी हुई धातुओं से ही नया योग ढालने में और उस से नया चमत्कार उत्पन्न करने में उसकी सफलता और महानता है।

यह स्थापना शंकनीय जान पड़ती है। लेकिन विश्व का महान साहित्य उठाकर देख डालिए, सर्वत्र हमारे परिचित भाव ही हमें मिलेंगे, किन्तु नूतन योगों में; और हम यह भी पाएंगे कि इस या उस महान कलाकार की रचना का वैशिष्ट्य उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों की 'नूतनता' में नहीं, उसके उपकरणों के परस्पर अनुपात और योग के प्रकार की विभिन्नता में, और सृजन की क्रिया की तीव्रता की भिन्नता में है;

और यह क्रिया, इस क्रिया की तीव्रता, विभिन्न परिचित उपकरणों से नूतन चमत्कारिक वस्तु का निर्माण, चेष्टित नहीं है, वह स्वयं चमत्कारिक है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कलावस्तु के निर्माण में चेष्टित अथवा आयास-सिद्ध कुछ भी नहीं है। निस्सन्देह कवि-कर्म का बहुत बड़ा अंश चेष्टित है, आयास-पूर्वक सिद्ध होने वाला है, किन्तु वह अंश उपर्युक्त क्रिया की तीव्रता से सम्बन्ध नहीं रखता। बल्कि छोटे कवि में दोष यही होता है कि जहां परिश्रम आवश्यक है, वहां वह प्रतिभा पर निर्भर करता है, और जहां 'प्रतिभा' का क्षेत्र है, वहां आयास-पूर्वक तीव्रता लाना चाहता है। दोनों बातें उसकी रचना को व्यक्तिगत बनाती हैं, और हमारी निर्व्यक्तिक परिभाषा के अनुसार दोष हैं।

व्यक्तिगत अनुभूति की दृष्टि से देखा जाय, तो लेख के इस खण्ड के ऊपर दी गई टी० एस० इलियट की उक्ति से कोई छुटकारा नहीं है—कि कविता निजी अनुभूतियों की मुक्ति—अभिव्यक्ति—नहीं, वह अनुभूति से मुक्ति है, व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं, व्यक्तित्व से छुटकारा है। यद्यपि, जैसा कि इलियट ने कहा है, इनसे छुटकारा पाने का अर्थ वही समझ सकते हैं, जिनके पास अनुभूतियां और व्यक्तित्व हैं।

[३]

काव्य के लिये महत्व रखने वाले भावों का अस्तित्व, कवि के जीवन या व्यक्तित्व में नहीं, स्वयं काव्य में होता है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति प्रत्येक पाठक समझ सकता है, टेकनिक की खूबियाँ भी अनेक पहचान सकते हैं, जब कि काव्य के निर्व्यक्तिक भाव को परखने वाले व्यक्ति थोड़े ही होंगे—यह कहने से उपर्युक्त स्थापना खण्डित नहीं होती। कला के भाव व्यक्तित्व से परे होते हैं, निर्व्यक्तिक होते हैं। और कवि इन निर्व्यक्तिक भावों का ग्रहण, और आयासहीन अभिव्यंजना तभी कर सकता है, जब वह व्यक्तित्व की परिधि से बाहर निकल कर एक महानतर अस्तित्व के प्रति अपने को समर्पित कर सके, अर्थात् जब उसका जीवन वर्त्तमान क्षण ही में परिमित न रह कर अतीत की परम्परा के वर्त्तमान क्षण में भी स्पन्दित हो, जब उसकी अभिव्यक्ति केवल उसी की अभिव्यक्ति न हो जो जी रहा है, बल्कि उसकी भी जो पहले से जीवित है। कवि का जीवन आज में बद्ध नहीं है, वह त्रिकाल जीवी है।

इन स्थापनाओं से कुछ लोग चौंक सकते हैं। उन्हें लग सकता है कि यह आलोचना का एक नया फ़ैशन भर है, जिसमें सार कुछ नहीं, क्योंकि आधुनिकता केवल परम्परा पर मुंह बिचकाने का ही दूसरा नाम है। इन लोगों से हमारा निवेदन है कि हम परम्परा की अवज्ञा करना तो दूर, परम्परा के महत्व पर ही आग्रह कर रहे हैं। इस पर आपत्ति किसी को हो सकती है तो उनको, जो परम्परा का अस्तित्व ही मिटा डालना चाहते हैं। यद्यपि होनी उन्हें भी नहीं चाहिए।

हम यह कहेंगे कि हमारी स्थापनाओं पर आपत्ति करने वाले वही लोग होंगे, जो स्वयं अपनी परम्परा से परिचित नहीं हैं—फिर आपत्ति चाहे परम्परा के नाम पर हो, चाहे प्रगति के। क्योंकि ये स्थापनाएं ऐसी नयी नहीं हैं; हमारे ही शास्त्र का विकास है। कुप्पी नयी है, लेकिन शराब पुरानी है!

हमारे आचार्यों ने भी रूढ़ियों के अध्ययन पर ज़ोर दिया है। यह भी उन्होंने माना है कि यद्यपि काव्य का सरोकार सभी मानवीय अनुभूतियों से है, साधारण भी और असाधारण भी, तथापि कला की खोज नूतन, अवर्णित और अज्ञात भावों के लिए नहीं है, जैसा कि देश और विदेश के कई आधुनिक कवि समझते रहे हैं। यह भी उन्होंने प्रतिपादित किया है—प्रत्यक्ष सिद्धान्त के रूप में नहीं तो अप्रत्यक्ष उप-सिद्धान्त के रूप में—कि कला के भाव निरे मानवीय भाव नहीं हैं, वे उन भावों के चमत्कारिक योग से उत्पन्न होने वाले, और उनसे भिन्न, तत्व हैं। काव्यानुभूति की नूतनता इस योग की नूतनता है। काव्य का 'रस' कवि में, या कवि के जीवन में, या वर्ण्य विषय अथवा अनुभूति में, या किसी शब्द

विशेष में नहीं है, वह काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है।

प्रगति-पक्ष से भी आपत्ति हो सकती है—कि इस स्थापना द्वारा प्रगति को धक्का पहुँचेगा। लेकिन इस आपत्ति का उत्तर लेख के पूर्वार्ध में है—परम्परा का निकट परिचय उसका अन्धानुकरण नहीं है, बल्कि उसे विकसित करने की तत्परता है।

हम अतीत को मिटाना नहीं चाहते, उसे छोटा भी करना नहीं चाहते, लेकिन हम उसकी दुहाई भी नहीं देते, पराभूत होकर उसके आगे झुकते भी नहीं। हम अतीत के प्रति एक नये दृष्टिकोण की मांग करते हैं, वर्त्तमान में उसके स्थान की एक नयी परिकल्पना करते हैं। हमारे लिए वयस्कता, शैशवावस्था का खण्डन नहीं है; उससे सम्बद्ध और प्रस्फुटनशील विकास का बोध है। हम परम्परा की एक विकसित परिभाषा करते हैं—कि वह वर्त्तमान के साथ अतीत की सम्बद्धता और तारतम्य का नाम है।*

* लेखक की शीघ्र प्रकाशित होने वाली पुस्तक 'त्रिशंकु: संघर्षकालीन साहित्य' का एक अध्याय।

अब न मुझे दुर्बल-जन कहना

श्री प्रभुदयालु, अग्निहोत्री

अब न मुझे दुर्बल-जन कहना।

नभ से बरस पड़ें अंगारे,
आकर अड़ें क्रूर ग्रह सारे,
सरक रही हो भू पग-तल की तो भी अटल - अचल सम रहना।
अब न मुझे दुर्बल-जन कहना।

हास-अश्रु सुख-दुख का मेला,
थी वह तो बचपन की बेला,
अब न कल्पनाओं की दुनियां अब न भाव-सरिता में बहना।
अब न मुझे दुर्बल-जन कहना।

उस दिन जो अविरत तप तपकर,
पिघल पड़ा मेरा कोमल उर,
वह नरता का धर्म, अचलता क्या घुल-घुल भूधर का बहना।
अब न मुझे दुर्बल-जन कहना।

चट्टानों से टकराया हूं,
अतल सिन्धु में बह आया हूं,
भय किङ्कर मेरे, मैं हंस-हंस सीख चुका पावक में दहना।
अब न मुझे दुर्बल-जन कहना।

भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटेन

श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' बी० ए०, एल-एल० बी०

२७ नवम्बर १९३९ को ब्रिटिश पार्लमेन्ट में भाषण करते हुये भूतपूर्व प्रधान मन्त्री स्वर्गीय श्री नेविल चेम्बरलेन ने कहा—

"मेजर एटली ने कहा है कि साम्राज्यवाद का परित्याग कर दिया जाय। उन्होंने साम्राज्यवाद की परिभाषा नहीं दी और न उन्होंने यही बतलाया कि उनके विचार में वह कौनसा देश है, जो आज भी साम्राज्यवाद को अमल में ला रहा है। वास्तव में मैं यह नहीं जानता कि उनका क्या प्रयोजन था। परन्तु यदि साम्राज्यवाद का मतलब है जातीय श्रेष्ठता का दावा; यदि उसका अर्थ है दूसरे राष्ट्रों की राजनीतिक तथा आर्थिक स्वाधीनता का दमन; यदि उसका प्रयोजन यह है कि साम्राज्यवादी देश के हित के लिये दूसरे देशों के साधनों का शोषण, तो मैं कहूंगा कि ये इस देश की विशिष्टताएं नहीं हैं (हर्षध्वनि), किन्तु ये विशेषताएं तो जर्मनी में वर्तमान शासन-प्रबन्ध की हैं।......बहुत वर्षों से यह एक स्वीकृत सिद्धान्त बन गया है कि...औपनिवेशिक साम्राज्य का शासन प्रबंध एक ट्रस्ट है, जिसकी व्यवस्था मुख्यतः उन देशों की जनता के हित के लिये की जाती है, जिनका उससे सम्बन्ध है।"

श्री नेविल चेम्बरलेन ने साम्राज्यवाद की जो व्याख्या की है, वह यद्यपि कार्ल मार्क्स अथवा लेनिन की व्याख्या से अधिक विश्लेषणात्मक और पूर्ण नहीं है, तथापि साम्राज्यवाद के प्रमुख तत्व उसमें निहित हैं। साम्राज्यवाद का प्रयोजन है दूसरे राष्ट्रों की राजनीतिक तथा आर्थिक स्वाधीनता का दमन।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब प्रधान मंत्री ने यह शब्द कहे थे, तब शायद भारत की जनता की राजनीतिक पराधीनता तथा आर्थिक शोषण का चित्र उनके मस्तिष्क में नहीं रहा होगा। परन्तु राजनीति-निपुण प्रधान मंत्री ने ब्रिटिश साम्राज्य को ब्रिटेन का ट्रस्ट बतलाया है और यह कहा है कि इस ट्रस्ट की ब्रिटिश सरकार ट्रस्टी है और साम्राज्य की जनता के प्राथमिक हित के लिये उसका शासन-प्रबन्ध करना सरकार का कर्त्तव्य है। यह ट्रस्टी शिप का सिद्धान्त भी बड़ा विचित्र है। 'ट्रस्ट' वास्तव में उसी समय तक वैध और नियमित होता है, जब तक कि ट्रस्टी न्याय पूर्वक ट्रस्ट का प्रबन्ध उनके हित के लिये करें, जिनके लिये ट्रस्ट बनाया गया है। परन्तु जब साम्राज्य की प्रजा 'ट्रस्ट' की आवश्यकता न समझे और वह स्वयं ही अपना प्रबन्ध करना चाहे, तब ट्रस्टी की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती। आज भारत की जनता भारत के लिये राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता चाहती है, तब ऐसी दशा में ब्रिटेन का यह दावा करना कि वह तो भारत का ट्रस्टी है, आधार हीन और उसी के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। परन्तु वस्तुतः सत्य तो यह है कि ब्रिटेन ट्रस्टी नहीं है, प्रत्युत एक साम्राज्यवादी देश है। इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आज प्रत्येक व्यक्ति यह अपनी आंखों से देख सकता है कि जब भारत की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के निर्माण में भारतीयों का कुछ भी हाथ नहीं, तब क्या यह सत्य नहीं है कि भारत में आर्थिक तथा राजनीतिक स्वाधीनता नाम मात्र को भी नहीं है। भारत के

आर्थिक साधनों का उपयोग भारतीय जनता के हितों के लिये न होकर ब्रिटेन की जनता के हितों के लिये ही होता रहा है और आज की स्थिति पहले से कुछ भी भिन्न नहीं है।

ब्रिटेन में भारत की स्वाधीनता के प्रश्न पर दो प्रकार के दृष्टिकोण हैं। एक ऐसा दल है, जो स्वाधीनता का प्रबल समर्थक है और वह यह चाहता है कि भारत के आर्थिक शोषण तथा राजनीतिक पराधीनता का अन्त कर दिया जाय। वह भारतीय जनता के स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करता है। यह दल अल्पमत में है। इसमें ब्रिटेन के मज़दूर दल के कुछ सदस्य तथा समाजवादी नेता शामिल हैं। इस दल का ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटेन के लोकमत पर कोई गहरा प्रभाव नहीं है। सन् १९३१ में मज़दूर दल के नेता स्वर्गीय रेमज़े मेकडानेल्ड ब्रिटेन के प्रधान मंत्री थे। उससे पूर्व वह भारतीय स्वाधीनता के बड़े प्रबल-समर्थकों में थे। उन्होंने उस सम्बन्ध में अपनी एक प्रसिद्ध पुस्तक में भारत की स्वाधीनता का बड़े ज़ोर के साथ समर्थन किया है। परन्तु उनके शासन काल में जिस भारतीय विधान की रचना की गई, वह स्वायत्त शासन के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत है। वह मज़दूर नेता होते हुए भी भारतीय स्वाधीनता के लिये कुछ योग नहीं दे सके, बल्कि उनके शासन-काल में राष्ट्रीय आन्दोलन का बड़ी प्रचण्डता से दमन किया गया। इसी समय मज़दूर दल के एक नेता श्री वेज़वुड बेन भारत मंत्री थे। इनके शासन-काल में भारत में सत्याग्रह आन्दोलन हुआ था और उस समय भारत में जैसी दमन-नीति का प्रयोग किया गया, वैसा शायद ही उससे पहले कभी किया गया हो।

ब्रिटेन में एक दूसरा दल भी है। यह दल भारत में अपना साम्राज्य बनाये रखने के पक्ष में है। इस दल में उदार, तथा अनुदार और विशेषतः पूंजीपति शामिल हैं। ब्रिटेन के लोकमत पर इसका बड़ा प्रभाव है और यह विशाल बहुमत में भी है। इसलिये ब्रिटेन में चाहे किसी दल की सरकार क्यों न हो, या वह 'राष्ट्रीय सरकार' क्यों न हो, इस दल का हर हालत में उस पर प्रभाव रहता है। यही कारण है कि मज़दूर दल, जो भारत की स्वाधीनता का समर्थक है, के सदस्य भी यदि मंत्रि मण्डल में शामिल हो जांय, तब भी सरकार की मनोवृत्ति में वांछनीय परिवर्तन होना सम्भव नहीं। उसके लिये तो सम्पूर्ण ब्रिटिश-लोकमत में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है।

आज ब्रिटेन में श्री विन्स्टन चर्चिल की सरकार है। यह राष्ट्रीय सरकार है। इसमें उदार, अनुदार, मज़दूर आदि सभी दलों के मंत्री हैं। आज से एक वर्ष पूर्व मेजर एटली, जो मज़दूर दल के नेता थे, वही आज मंत्रिमण्डल के सदस्य हैं। परन्तु उनके सदस्य हो जाने से भी भारत के प्रति ब्रिटेन की नीति में कोई अन्तर नहीं हुआ। वर्तमान भारत मंत्री श्री अमेरी अनुदार दल के सदस्य हैं। यह प्रसिद्ध साम्राज्यवादी हैं और इनकी नीति उग्र तथा अनुदार है।

भारतीय स्वाधीनता का प्रश्न

सर सेमुअल होर—"भारतीय स्वाधीनता के सबसे प्रमुख विरोधियों में सर सेमुअल होर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जब सन् १९३५ का गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया क़ानून बनाया गया था, तब सर होर ही भारत मन्त्री थे। इस क़ानून को इतना अनुत्तर-दायी बनाने में सर होर का विशेष हाथ था। २५ अक्टूबर १९३९ को पार्लमेंट में भारतीय समस्या पर अपने भाषण में आपने कहा—

"जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं औपनिवेशिक स्वराज्य दो तरह का नहीं है। जिस औपनिवेशिक स्वराज्य के विषय में हमने सोचा था, वह वही औपनिवेशिक स्वराज्य है, जिसका उल्लेख श्री वेजवुड-बेन ने किया है—सन् १९२६ का औपनिवेशिक स्वराज्य। मैंने यह बतलाया कि औपनिवेशिक स्वराज्य कोई एक पुरस्कार नहीं है, जो किसी सुपात्र जाति को दिया जा सके। परन्तु वह तो उन तथ्यों की स्वीकृति है, जो वास्तव में विद्यमान हैं। जितने

शीघ्र इन तथ्यों का अस्तित्व भारत में क़ायम हो जायगा, और मेरे विचार में जितना शीघ्र हो उतना ही श्रेष्ठ है, तो हमारी नीति का लक्ष्य पूरा हो जायगा। अगर मार्ग में कठिनाइयां हैं, तो हमारी पैदा की हुई नहीं हैं। यह तो इस उप-महाद्वीप की बहुत सी जातियों और वर्गों के मतभेदों में निहित हैं। जिस तरह हमारा लक्ष्य भारतीयों को उनके कार्य में मदद देना है, उसी प्रकार स्वयं भारतीयों का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वे इन भेद भावों को दूर करें।......

"हमारे 'साम्प्रदायिक निर्णय' के बावजूद ये भेद भाव आज भी मौजूद हैं और जब तक ये दूर नहीं किये जायंगे, हम अल्प-संख्यक जातियों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का परित्याग नहीं कर सकते।......

"जब तक ये (भेद भाव) मौजूद रहेंगे सरकार के लिये यह असम्भव है कि यह केन्द्र में पूर्ण उत्तर-दायित्व की मांग को स्वीकार करने के लिये कोई एक तिथि नियत करदे। यदि हमने ऐसा कर दिया, तो हमारी वह प्रतिज्ञाएं मिथ्या सिद्ध हो जायंगी, जो समय समय पर हमने मुसलमानों, दूसरे अल्पमतों तथा यूरोपियन जाति से की हैं।"

आज जिस औपनिवेशिक स्वराज्य के विषय में सर होर इस प्रकार की व्याख्या कर रहे हैं और जिसे ब्रिटिश नीति का भारत में लक्ष्य बतला रहे हैं, उसी सम्बन्ध में सन् १९३५ के शासन-विधान में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल के ज़ोर देने पर भी उसका उल्लेख मात्र करने पर उन्होंने आपत्ति प्रकट की थी। आज जब संकट में सरकार फंसी है, तो उसी प्रकार की घोषणा की जा रही है।

सर होर ने जिस साम्प्रदायिक समस्या की ओर संकेत किया है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करने से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। परन्तु भारत की वैधानिक प्रगति के मार्ग में इसे बाधा का रूप देना तो किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

सर ह्यूगो नील—आप उप-भारत मन्त्री (Under Secretary of state for India) हैं। १८ अप्रेल १९४० को इन्होंने कामन सभा (पार्लिमेंट) में सरकार की भारत सम्बन्धी नीति के बारे में कहा—

"ब्रिटिश सरकार पूर्ण स्वाधीनता के लिये भारत की मांग को स्वीकार नहीं कर सकती। उसे इस बात का अत्यन्त खेद है कि कांग्रेस ने भारत के लिये साम्राज्य की व्यवस्था के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य अथवा अन्य किसी स्थिति को अस्वीकार कर दिया है। उसकी मांग की स्वीकृति का मतलब होगा साम्राज्य के शेष भाग से भारत का सम्बन्ध-विच्छेद, भारतीय शासन विधान से 'ताज' (Crown) का निष्कासन, और मुसलमानों तथा दूसरे अल्पमतों व नरेशों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अन्त। भारत को कई भागों में विभाजित करने का प्रस्ताव उस भारतीय एकता की सच्ची भावना को नष्ट कर देगा, जिसका अङ्गरेज़ी शासन प्रणाली ने वर्षों में बड़े परिश्रम से निर्माण किया है। हमें उन प्रवृत्तियों को बड़े सन्देह के साथ देखना चाहिए, जो भारतीय एकता की इस भावना का नाश कर देना चाहती हैं।"

इस अवतरण में उप-भारत-मन्त्री ने स्पष्ट रूप से यह बतला दिया है कि मुस्लिम लीग की भारत के विभाजन की योजना—पाकिस्तान—उस भारतीय एकता की भावना का विनाश करती है, जिसे कितने ही वर्षों में, अङ्गरेज़ी शासन-प्रणाली के द्वारा पैदा करने का उद्योग बड़े परिश्रम से किया गया है। परन्तु यह अत्यन्त विवाद का विषय है कि अपनी इस घोषणा के बाद ब्रिटिश सरकार ने आज तक भारत के विभाजन की नीति की निन्दा नहीं की। इसके विपरीत कुछ सरकारी वक्तव्यों में ऐसी बातें कही गईं हैं, जिनसे इन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला है।

सर ओनील ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ब्रिटिश सरकार भारत की पूर्ण स्वराज्य की माँग को स्वीकार नहीं कर सकती और उसके स्वीकार करने से

स्थिति में क्या परिवर्तन हो जायगा, यह भी उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में बतलाया है—

(१) साम्राज्य के शेष भागों से सम्बन्ध-विच्छेद।

(२) भारतीय शासन-विधान में 'ताज' का कोई स्थान न रहेगा।

(३) मुसलमानों तथा अल्पमतों की रक्षा की ज़िम्मेदारी नष्ट हो जायगी।

(४) भारत के देशी नरेशों की रक्षा के लिये उत्तरदायित्व का अन्त।

भारत की स्वाधीनता का मतलब यह नहीं है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विरोधी हो जायगा। वह स्वाधीन हो जाने पर भी संसार के राष्ट्रों के साथ मित्रता का सम्बन्ध रखेगा। और इसमें सन्देह है कि वह ब्रिटेन के साथ मित्रता का सम्बन्ध न रखे। स्वाधीन भारत का सम्बन्ध स्वेच्छा से होगा, दबाव या किसी की पराधीनता के कारण नहीं। इसलिए पारस्परिक सम्बन्ध यदि दोनों के लिये हितप्रद सिद्ध होना वांछनीय है, तो यह आवश्यक है कि दोनों की स्वेच्छा से ऐसा हो। यदि यह सम्बन्ध दबाव और साम्राज्यवादी शोषण के कारण है, तो उसका अन्त ही दोनों के लिये श्रेयस्कर है।

स्वाधीनता प्रत्येक राष्ट्र का जन्म-सिद्ध अधिकार है। यदि ब्रिटेन अपने साम्राज्य के राष्ट्रों को अपनी इच्छा से स्वाधीन कर देता है, तो इसका फल यह होगा कि वे राष्ट्र ब्रिटेन के साथ अपना सम्बन्ध कायम रखेंगे—जैसे कनाडा और आस्ट्रेलिया। यदि ब्रिटेन अपने साम्राज्य के देशों को स्वाधीनता नहीं देगा, तो इसमें शक नहीं कि उनमें स्वयं स्वाधीनता प्राप्ति के लिये प्रबल आकांक्षा पैदा होगी और इस प्रकार स्वाधीनता के लिये राष्ट्र अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग करेंगे। क्या ब्रिटेन को अमरीका के स्वाधीनता-युद्ध का स्मरण नहीं है? क्या अमरीका के शासन-विधान में 'ताज' का कोई स्थान न होने से वह ब्रिटेन का समर्थक नहीं है?

अल्पमत और मुसलमानों की रक्षा के लिये यदि भारत में अंग्रेज़ी राज्य क़ायम है, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत किसी भी युग में स्वाधीन राष्ट्र नहीं बन सकता। क्योंकि हम किसी ऐसे युग की कल्पना नहीं कर सकते, जिसमें भारत से इन अल्पमतों का सर्वनाश हो जाय, या यह समस्या आख़िरी रूप से सुलझ जाय। इसलिये यहां ब्रिटेन का मतलब यह है कि भारतीय स्वयं मिल कर अपने देश की इस समस्या का समाधान करने में अयोग्य हैं। अतः उन्हें एक विदेशी सत्ता की आवश्यकता है।

देशी नरेशों की समस्या भी स्वाधीनता के मार्ग में बाधा के रूप में पेश की जाती है। क्या वास्तव में देशी नरेशों को यह भय है कि स्वाधीन भारत में उनका अन्त अनिवार्य है? आज तक कांग्रेस ने यह कभी निश्चय नहीं किया कि देशी राज्यों का अन्त कर दिया जाय। महात्मा गांधी तो देशी राज्यों में 'प्रजातंत्र' की स्थापना चाहते हैं। वह राज्यों का विनाश नहीं चाहते।*

डा० ए० बेरीडेल कीथ—प्रोफ़ेसर कीथ राजनीति के संसार-विख्यात विद्वान लेखक हैं। यह उच्चकोटि के वैधानिक विशेषज्ञ हैं। यह साम्राज्यवादी विचारक हैं। ब्रिटेन की राजनीतिक विचारधारा पर उनका प्रभाव है। इसलिये उनके भारत के सम्बन्ध में विचारों का विश्लेषण यहां प्रासंगिक होगा। उन्होंने "भारत में उत्तरदायी शासन" नामक एक लेख लिखा है, जिसमें भारतीय स्वाधीनता की समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। उन्होंने

* "मैं तो सिर्फ़ ऐसे समझौते की ही कल्पना कर सकता हूं जिसमें बड़ी बड़ी रियासतें अपने दर्जे को क़ायम रखेंगी। एक तरह से यह चीज आज की स्थिति से कहीं बढ़कर होगी, लेकिन दूसरी दृष्टि से राजाओं की सत्ता इतनी सीमित रह जायगी कि जिससे देशी रियासतों की प्रजा को अपनी रियासतों में स्वायत्त-शासन के वे ही अधिकार प्राप्त होंगे, जो हिन्दोस्तान के दूसरे हिस्सों की जनता को प्राप्त रहेंगे। उनको भाषण, लेखन व मुद्रण की स्वतंत्रता और शुद्ध न्याय निरपेक्ष रूप से प्राप्त होगा।

—महात्मा गांधी—हरिजन-सेवक २० अप्रैल १९४०

लिखा है कि उत्तरदायी शासन अथवा प्रजातन्त्र केवल ब्रिटेन की ही निजी रचना है और वह इसी देश में सफल भी हुई है। विगत महायुद्ध के बाद यूरोप के कई देशों में प्रजातन्त्र की स्थापना की गई। परन्तु उन देशों में वह सफल न हो सकी। ब्रिटेन में उत्तरदायी शासन-प्रणाली की सफलता का प्रधान कारण यह है कि उसका बहुसंख्यक निर्वाचक-दल न्याय-प्रिय, उदार और समझौता पसन्द है। यही कारण है कि ब्रिटेन में शासन की बड़ी से बड़ी भूल की आलोचना भी बड़े उत्तरदायी ढङ्ग से की जाती है। यदि और कोई देश होता, तो चेम्बरलेन की सरकार के विरुद्ध देश में भयङ्कर विद्रोह किया जाता; परन्तु ब्रिटेन का लोकमत उदार है, वह समझौता-प्रिय है; इसलिये वहां के राजनीतिक दलों में राष्ट्र के नाम पर एक मत होकर बलिदान होने की भावना है। जिस देश में ऐसा राष्ट्रीय सङ्गठन हो, उसी देश में उत्तरदायी शासन स्थापित हो सकता है। प्रो० कीथ ने लिखा है "यदि भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करनी है, तो यह आवश्यक है कि भारत में उसकी सफलता के लिये वैसी ही अवस्थाएं पैदा की जांय, जैसी कि ब्रिटेन में हैं। जनता में सङ्गठन की आवश्यकता है। क्योंकि ऐसे सङ्गठन के आधार पर ही बहुमत का शासन क़ायम किया जा सकता है।" आगे उन्होंने लिखा है कि इस सिद्धान्त के प्रकाश में कांग्रेस ने उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये जो मांग पेश की है, उस पर विचार किया जाय, तो यह प्रकट हो जायगा कि भारत में ऐसी स्थिति नहीं है, जो उत्तरदायी शासन के अनुकूल हो। मुसलमानों के सम्बन्ध में प्रो० कीथ ने लिखा है कि—"किसी भी ब्रिटिश सरकार के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह मुसलमानों पर उत्तरदायी शासन लाद दे। यदि मुसलमान उसे मंजूर न करें।" साथ ही यह भी "कि किसी भी सरकार के लिये असम्भव है कि वह हिन्दुओं की आकांक्षा के विरुद्ध भारत को हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विभाजित कर दे।" भारत में राजनीतिक दलों का निर्माण यदि धार्मिक आधार पर होगा, तो भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना अथवा सफलता सम्भव नहीं हो सकती; ऐसा प्रोफ़ेसर कीथ का मत है। वह धार्मिक या सामाजिक जीवन के लिये संरक्षण चाहते हैं।

साम्प्रदायिक समस्या के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"यह स्पष्ट है कि यह भारतीयों का कर्तव्य है कि वे इस समस्या का हल सोचें। यदि उनमें पर्याप्त सङ्गठन तथा एकता नहीं है और न एक दूसरे की सद्भावना और उदारता पर विश्वास है, तो निश्चय रूप से वे उत्तरदायी शासन के योग्य नहीं हैं।"

परन्तु दुःख तो यह है कि भारतीयों को सङ्गठन करने अथवा समझौता करने का सुयोग ही नहीं दिया जा रहा है। भारत में साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये तो काफ़ी प्रयत्न किया जाता है, परन्तु उनके मतभेदों को दूर करने के लिये कुछ भी कोशिश नहीं की जाती। सत्य तो यह है कि जब तक भारत की अल्प संख्यक जातियों में यह भावना बनी रहेगी कि भारत में अङ्गरेज़ी सरकार ही उनकी एक मात्र संरक्षक है, तब तक वे परस्पर सङ्गठन और समझौता करने के प्रयत्न की सफलता को सन्देह की दृष्टि से देखते रहेंगे।

प्रोफ़ेसर कीथ भारत की पूर्ण स्वाधीनता के विरोधी हैं। वह भारत को साम्राज्य के अन्तर्गत ही रखना चाहते हैं। परन्तु भारतीय रियासतों के नरेशों के सम्बन्ध में उनका यह स्पष्ट मत है कि राज्यों में स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर प्रजातन्त्र की स्थापना करनी चाहिए। यदि देशी राज्यों की प्रजा स्वायत्त-शासन चाहती है और वे उसके योग्य हैं, तो उसमें प्रजातन्त्र की स्थापना अवश्य ही की जानी चाहिए।

मुस्लिमलीग की पाकिस्तान की योजना के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर कीथ ने यह लिखा है कि—मुस्लिमलीग के इस दावे को मानना कि मुसलमान

एक राष्ट्र हैं और केवल वेही—अपने भविष्य के निर्माता हैं सत्य के साथ अन्याय होगा।*

लार्ड लिनलिथगो—भारत के भूतपूर्व भारत मंत्री लार्ड जेटलैण्ड तथा वर्तमान भारत मंत्री श्री अमेरी भी भारतीय स्वाधीनता के विरुद्ध हैं। वे ब्रिटिश सरकार की ओर से यह घोषणा कर चुके हैं कि उसका लक्ष्य शीघ्र भारत में औपनिवेशिक स्वाराज्य की स्थापना करना है। यह औपनिवेशिक स्वराज्य सन् १९३१ के वैस्टमिनिस्टर क़ानून के ढंग का होगा, यह भी स्पष्ट रूप से लार्ड लिनलिथगो तथा भारत मंत्री घोषित कर चुके हैं। ७ अगस्त १९४० को ब्रिटिश सरकार की आज्ञा से भारत के वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने एक घोषणा प्रकाशित की, जिसमें यह उल्लेख है कि युद्ध के बाद भारत के राष्ट्रीय जीवन में प्रमुख दलों के प्रतिनिधियों की एक परिषद् सरकार द्वारा नियुक्त की जायगी। यह परिषद् भारत के लिये नवीन शासन-विधान तैयार करेगी। इसमें ब्रिटिश सरकार भी मदद देगी।

जब तक यह परिषद् स्थापित की जाय, तब तक भारत के प्रतिनिधियों को मिल कर निम्न लिखित दो प्रश्नों पर विचार कर लेना चाहिए। पहला प्रश्न यह है कि इस परिषद् का स्वरूप क्या होगा और इसके निर्णय किस प्रकार किये जायंगे। दूसरा प्रश्न है—शासन-विधान के सिद्धान्तों और रूप रेखा का निर्णय।

अल्प संख्यकों के विचारों और मतों पर पूरा ध्यान दिया जायगा।

यद्यपि इस घोषणा के पढ़ने से ऐसा प्रभाव पड़ता है कि ब्रिटिश सरकार ने अपनी स्थिति को पहले से अधिक स्पष्ट कर दिया है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं किया गया है। इसके विपरीत स्थिति और भी जटिल बना दी गई है।

यह घोषणा अन्य दूसरी घोषणाओं के समान ही अस्पष्ट है। इसमें स्पष्ट शब्दों में यह नहीं लिखा है कि युद्ध की समाप्ति पर जो परिषद् विधान बनाने के लिये नियुक्त की जायगी, उसे औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर विधान बनाने का अधिकार होगा। परिषद् का स्वरूप कैसा होगा? क्या वह वास्तव में प्रतिनिधि-परिषद् होगी या गोलमेज-परिषद्, इसका भी ठीक ठीक स्पष्टीकरण घोषणा में नहीं किया गया है। इसमें यह भी नहीं बतलाया गया है कि प्रतिनिधि मनोनीत किये जायंगे या चुने जायंगे। इसमें ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि भी होंगे या नहीं! 'परिषद्' के स्वरूप के विषय में भारतीय प्रतिनिधि निर्णय करेंगे। परन्तु इसकी क्या गारंटी है कि उनका निर्णय सरकार को मान्य होगा।

फिर अगर यह भी मान लिया जाय कि यह परिषद् जिस विधान को बनायेगी, वह औपनिवेशिक स्वराज्य के ढंग का होगा, तब इसकी क्या गारंटी है कि उसके निर्णय पार्लमेंट द्वारा बिना संशोधन स्वीकार कर लिये जायंगे।

पार्लमेंट के सदस्यों का भारत को सन्देश—२३ दिसम्बर १९४० को पार्लमेंट (कॉमन-सभा) के नौ सदस्यों ने अपने हस्ताक्षरों के साथ एक सन्देश भारत की जनता के नाम भेजा। इस पर आनरेबुल सर एडवर्ड काडोगेन, सर स्टेनली रीड, दी राइट आनरेबुल सर फ्रेडरिक स्काइस और जान वार्डला मिल (अनुदार); दी राइट आनरेबुल एच० बी०

* In like manner it is impossible to accept as consonant with realities of the position in India the claim of the Muslim League that the Muslims of India are a nation by themselves and alone are the final judges and arbiters of their future destiny. That way lies nothing but disaster......The task is to make India a real unity; to partition it would merely assure abiding misfortune and lack of liberty for all.

—Dr. A. B. Keith: Indian Review December 1940.

कीथ-स्मिथ और एफ० डब्ल्यू० पी० लारेंस (मज़दूर); सर जार्ज शुस्टर (लिबरल नेशनल) एच० ग्राहम व्हाइट (लिबरल) श्री करनौन वारलेट (स्वतंत्र) के हस्ताक्षर हैं।

इस सन्देश द्वारा भारत की जनता से यह अपील की गई है कि वह वायसराय के ७ अगस्त १९४० की घोषणा को स्वीकार कर ले। भारत को पहले औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त कर लेना चाहिये। यदि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हो गया, तो वह 'पूर्ण स्वाधीनता' पर फिर ज़ोर नहीं देगा।

इस सन्देश में लिखा है—

"ब्रिटिश जनता ने निश्चय कर लिया है कि भारत को पूर्ण राजनीतिक स्वाधीनता दे दी जाय। हम यह जानते हैं कि जिन भारतीय नेताओं ने हाल ही में इङ्गलैण्ड का भ्रमण नहीं किया है, वे वास्तव में पर्याप्त रूप से यह अनुभूति नहीं कर सकते कि इस देश में भारत को दूसरे उपनिवेशों के बराबर के पद पर देखने की कितनी गहरी आकांक्षा है। ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल की समूची कल्पना इस बात का तकाज़ा करती है कि भारत को स्वाधीन होने की आवश्यकता है। हम अत्यन्त सच्ची भावना के साथ यह कह सकते हैं कि इस देश के समस्त दल उस समय अत्यन्त हार्दिक सन्तोष का अनुभव करेंगे, जब कि भारत पूर्ण रूप से स्वाधीन हो जायगा।"

प्रेम-पुजारी

मौलवी मक़बूल हुसैन, अहमदपुरी

हम तो प्रेम-पुजारी !

धर्म प्रेम का सबसे अच्छा, प्रेम की शोभा सारी ;
कोई माने या न माने, हम तो प्रेम - पुजारी !
आशा है यह अपने मन की, प्रेम कन्हैया आएं !
साँस-साँस को अपना कर लें, हिरदय में रम जायें !

विपदा कटे हमारी !
हम तो प्रेम - पुजारी !

गाएं भजन बंसी वाले के, ख़्वाजा[१] की जय बोलें ;
बड़े पीर[२] की आसा लेकर, मन की घड़ी खोलें !
नाव चले मँझधारी !

हम तो प्रेम - पुजारी !

दास बनें कमली वाले के, रामचन्द्र के दरबारी !
कहें मगन हो 'अहमदपुरी' सबसे हमारी यारी !
सबसे लाज हमारी !
हम तो प्रेम - पुजारी !

---

१ ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती। २ ख़्वाजा ग़ौस समदानी, जिनको भारत में बड़ा पीर भी कहा जाता है।

प्रतिक्रिया

श्री विष्णु

एक अनहोनी बात हो गई थी उस दिन। ललिता को रुमाल, मेज़-पोश, चादर आदि निकालना बहुत अच्छा लगता है। कितने ही सुन्दर-सुन्दर रुमाल, मेज़ पोश उसने निकाले हैं। किनारों के सुन्दर फूल, बेल बूटे, बीच की सुन्दर चिड़िया उसके हाथ से इतनी संयत बैठती है कि स्कूल मास्टर तक अचरज करते हैं। उसकी बनाई कृष्ण की तसवीर देख कर तो वे बोले थे—'हाथ बड़ा अच्छा है ललिता का। कलाकार का हाथ है।

लेकिन वह अनहोनी बात बड़ी विचित्र थी। जीजी से मिलने गई कि लौटती बार रास्ते में मुसलमानों के कई छोकरे अपने मोहल्ले के चौड़े आँगन में बैठे थे। उन्होंने ललिता को देखा और देखा कि उसके हाथ में एक रेशम का कढ़ा हुआ रुमाल है। थे शरारती और मनचले। राह चलते भले घर की बहू बेटी को छेड़ देते थे। शोहदे कहीं के। लेकिन भले घर की बहू बेटी थीं कि सुनकर कांप उठतीं, डरतीं और जल्दी जल्दी आगे बढ़ जातीं। क्या मजाल उनकी कि मुड़ कर देख लेतीं और कह देतीं—हमें तुम क्या कहते हो ! बोलो ·····घर में मां बहिन है कि नहीं·········और कि शक्ति हैं हम ! मातृ शक्ति ही नहीं ! रणचण्डी, महाकाली भी हैं···।

लेकिन कौन जाने कि यह रणचण्डी, महाकाली, कभी थीं भी या मानव के उर्वर मस्तिष्क की कोरी कल्पना मात्र है; क्योंकि उस रास्ते से जाने वाली किसी नारी ने कभी भी मुड़कर उन छोकरों का प्रतिवाद नहीं किया था। इसी से दिन पर दिन उनका साहस बढ़ रहा था। और इसी से ललिता को भी उन्होंने छेड़ा था: लेकिन ललिता कांप कर भी रुक गई थी। मुड़कर कहा था—'बोलो······उसकी आवाज़ उन छोकरों तक पहुँचती कि उससे पहिले ही एक छोकरा बोल उठा था -'एक रुमाल हमें भी चाहिये।'

रुमाल ललिता क्षण भर के लिये सोच में पड़ गई—रुमाल तुम्हें मिलेगा, रुमाल तो मैं बहुत काढ़ती हूं—मुझे काढ़ना अच्छा लगता है········।

ललिता शायद लताड़ देती उन छोकरों को, पर रुमाल की बात ने उसका मुंह सी दिया और वह चुपचाप आगे बढ़ गई। बढ़ते-बढ़ते उसने सोचा—कितने उच्छृङ्खल, असंयत, असंस्कृत हैं ये नव-युवक·····। रुमाल मांगते हैं और रुमाल को उपलक्ष बना कर शायद कुछ और मांगते हैं·····। लेकिन मैं कहती हूं रुमाल इन्हें मिलेगा और वह उपलक्ष ही होगा। उसके साथ वास्तव में वह कुछ मिलेगा कि कल्पना भी न की होगी उन्होंने·····। तब देखूंगी कि साहस कब तक उनका साथ देता है और कहां तक बढ़ सकते हैं ये लोग·····।

यही वह अनहोनी घटना थी, जिसका ललिता को बड़ा ध्यान था, और जिस कारण वह कई दिन से दत्त चित्त हो रुमाल पर बेल बूटे निकाल रही थी। उसने अपनी सारी कला, सारी कारीगरी, उस एक रुमाल पर खर्च कर दी थी। चाहा था रुमाल ऐसा बने कि लोग दूर से देख कर अश अश कर उठें। कहें कला की सुन्दरतम कृति है। इसीलिये वह सब

ओर से ध्यान छोड़ बैठी थी। न सखी सहेलियों में खेलने जाती, न सिनेमा देखने। कांग्रेस के जलसों में भी उसे अब दिलचस्पी नहीं थी।

जीजी उसकी जेल में थीं और जीजा देहात में काम कर रहे थे।

इसी बीच में एक दिन मां ने कहा - अरी लली! तू जीजी से मिलने जायेगी या विनोद को ले जाऊं।

ललिता बोली---विनोद को ले जाना मां। वह उस दिन था कहां जब जीजी ने सत्याग्रह किया था। मेरी ओर से नमस्ते कहना और कहना कि मैं बहुत खुश हूं। और मां! जीजी के सामने रोना मत!

क्यों रोऊंगी, पगली लड़की?---मां ने कहा और आंचल से आंसू पोंछ डाले। बोली---सुन! लाहौर जाना है तो तेरी चाची से मिलना होगा। दो चार दिन रह आऊंगी। तब तक तू है ही यहां। अपने भइया का ख्याल रखना।

ललिता सुन कर खुश हुई। मां ने तो चाहा था कि ललिता भी जावे; पर वे ग़रीब आदमी थे। गिरस्ती जिससे बनी थी, वह तो साल बीते मुंह मोड़ कर चला गया था। दो बेटी और दो बेटियों को लेकर मां बची थी। किसी तरह दिन काट रही थी। बड़ी लड़की जिस घर गई, वह घर गान्धी के साथ हो गया था। ललिता की जीजी जेल गई और जीजा जाने वाले थे। और इसी जीजी के कारण ललिता, और घरों की ललिता, कृष्ण या वनिता की तरह फ़ैशन परस्त और बुज़दिल नहीं थी। सजना उसे भी अच्छा लगता था। रुचि से कपड़े पहिनती थी, पर जब चलती थी तो ऐसे कि अपने को भूली नहीं है और कि आस पास वालों को जताती है---अरे देखो मैं हूं।

मुझे कहीं जाने में डर नहीं है क्योंकि मैं अपने को जानती हूं। तुम्हें जानने में भी सजग हूं। इसी लिये वह उस दिन उन शोहदों की ओर मुड़कर देख सकी थी। जी में उठा था कि दो दो बातें कर ले, पर रुमाल की बात बीच में आ गई थी। क्यों न वह फिर रुमाल द्वारा बात कर ले। रुमाल उसे प्यारे भी तो बहुत लगते हैं।

इसी रुमाल को काढ़ते काढ़ते उसके मन में कई बार उठा था कि जिस दिन वह उसे पूरा कर लेगी, तो लाल रेशम से उसके बीच में मोटे हरूफ़ों में लिखेगी---'ललिता की भेंट'······नहीं! वह तो लिखेगी -- 'भइया'·· यह भी नहीं उसे तो लिखना चाहिये---बहिन की भेंट······छि! छि! यह भाई बहिन क्या? यह कविता के कोमल स्वर उसे नहीं रुचते! इन पवित्र भावनाओं के पीछे ही समूचा जीवन क्यों छिपाया जावे। यों बारबार मानव को याद दिलाया जावे कि अबला नारी को सदा पुरुष की अपेक्षा है। बहिन भाई, मां पूत, पति पत्नि और बाप बेटी के रूप में। क्यों न उसे यह भी बताया जाय कि वह नारी है और इसीलिये शक्ति है।

ठीक। वह उस रुमाल के बीच में लिखेगी---'शक्ति' और सचमुच एक दिन जब रुमाल पूरा हो गया, तो उसने सुन्दर सुन्दर बड़े बड़े अक्षरों में लिखा---'नारी शक्ति है' ऐसे सुन्दर हरूफ़ थे मानों छापेखाने के सुनहरे नये नये अक्षर उठा कर टांक दिये हों। किनारों पर कितनी ही सुन्दर सुन्दर फूल पत्तियां कढ़ी थीं। बन की चिड़ियें थीं, मानों फूलों को लेकर उड़ रही हों। रंग ऐसे सोख थे कि आंखें उन पर गड़ जाती थीं। लगता था कि कोई सपना सच्चा हो गया है या कि निर्विकार कल्पना साकार बन गई है।

रुमाल बड़ा भी इतना था कि छोटी-सी चौकी पर बिछाया जा सके। उसने जान बूझकर ही बड़ा बनाया था। छोटे-से जेब के रुमाल को क्या काढ़ना? वह भी कोई काम है। जी में आया था, मेज़-पोश बना दूं; पर इतना रेशम उसके पास था नहीं। फिर ग़रीब मां को तंग करना भी उसने नहीं चाहा।

जब वह रुमाल या कहिये छोटा-सा मेज़-पोश बनकर तैयार हो गया, तो ललिता ने लम्बी सांस ली। छाती का बोझ जैसे उतर गया; लेकिन छाती तो बोझ सहने के लिये थी। एक उतरा तो दूसरा आकर रखा गया। समस्या थी कौन इस रुमाल को उन छोकरों तक पहुंचावे। सोचा- भैया से कहूंगी। वे

दे आवेंगे······लेकिन भइया गुस्सा हो गये तो,··· तो क्या करे वह रुमाल तो वहां जाना ही है।······ तो वह अकेली जावेगी······बेशक वह डरती नहीं, वह तो शक्ति है······वह जावेगी और अवश्य जावेगी। स्वयं अपनी आंखों से देखेगी कि क्या करते हैं वे शोहदे······।

और उसी सांझ को जब धूप मुंडेरों से चढ़ गई थी। आस्मान में उजेला अलसा कर सिमटता जा रहा था और बाहर गायें बन से उतावली लौट रही थीं, वह अपने घर से निकली। डर को दूर भगा कर भी कंपकंपी न जाने क्यों उसे छू छू जाती। उसे दूर करने को वह तेज़ चलती; परन्तु फिर भी ठिठक जाती! कोई सामने आ जाता, समझती, भइया हैं। पूंछते हैं, कहां जाती है लली? 'कहां', ललिता कहती और देखती, भइया नहीं हैं······छि! छि! मैं कायर क्यों हुई? मैं शक्ति हूं······मैं डरूंगी क्यों?

कि वह मोहल्ला आ गया। आंखें उठाकर देखा, सामने आँगन है। आँगन में दो तीन खाटें हैं, दो तीन कुरसियां हैं और उन सबको लिये एक युवक बैठा है। केवल एक······ललिता का रोम रोम जैसे सिहर उठा······क्या करूं अब?

चाल उसकी बहुत थमी-सी, दृष्टि सहमी और भीतर एक भयङ्कर द्वन्द! लज्जा, ग्लानि, क्रोध भय और शक्ति की आंधी ने जैसे उसे झकझोर डाला··। कि वह पास आ गई, उस युवक को पहिचान भी लिया वही है, जिसने रुमाल मांगा था······बेशक वही है······।

कि पृथ्वी जैसे फटी और ललिता उसमें समा गई······।

कि रक्त में एक उबाल-सा आया ······।

कि ललिता बिल्कुल रास्ते से हटकर और समीप जाकर बोली– सुनते हो!

युवक चौंक कर उठा, क्या है?

बोलती रही, पिछले इतवार को जब मैं इधर से जा रही थी, तो तुमने रुमाल मांगा था; लो यह रुमाल है और चाहिये तो गोविन्द बाबू के घर कहला भेजना, भेज दूंगी······।

क्षण भर में यह सब हो गया। ललिता इतना बोल गई और खट-खट करके गली के दूसरे पार चली गई। वह युवक ठगा-सा, चकित-सा, कांपता-सा वहीं का वहीं बैठा रह गया। मानों शून्य में देखता हुआ कि क्या हुआ यह, अविश्वसनीय, अकल्पनीय और अद्‌भुत! अमृत-सा कड़ुआ और विष-सा मीठा······।

एक क्षण की अवधि कितनी अल्प पर कितनी महान हुई उस दिन······।

× × ×

और फिर दिन पर दिन बीत गये। ज्यूं ज्यूं समय बीतता, ललिता का कौतूहल भी सन्ध्या के प्रकाश-सा मन्द पड़ता जाता। भय कम होता और शक्ति भरती आती। कल्पना की परियें न जाने उसे किस किस लोक में ले जातीं; और उसका मन न जाने कितनी कितनी डुबकियां लगाकर फिर ऊपर आ जाता; पर वह निश्चय न कर पाती कि रुमाल का क्या हुआ और कि उस युवक ने क्या सोचा······।

कि एक दिन भइया खाना खाते खाते पूछ बैठे। लली, तुम्हारा रुमाल तो नहीं खोया गया।

ललिता जैसे भयङ्कर वेग से कांप उठी, 'रुमाल'!

'हाँ! तुम रुमाल बहुत सुन्दर काढ़ती हो न? एक ऐसा ही सुन्दर रुमाल मैंने देखा था।'

'कहां देखा था?'—किसी तरह माघ पूस के कड़कते जाड़े-सी वह बोल उठी। भइया कहते रहे— जीजी के घर जाते हुये रास्ते में चौक जो पड़ता है; वहीं का रहने वाला एक मुसलमान युवक कल आया था और उसी ने वह रुमाल मुझे दिखाया था।

'क्या कहा था उसने?' धड़कती छाती और काँपते दिल को दबा कर ललिता ने फिर पूछा।

'कहता था आप के घर से कोई स्त्री शायद यह रुमाल गिरा आई है'। 'पिछले जुमे को वे उधर गई थीं।' मैंने कहा, कभी नहीं। मां लाहौर गई हैं और

लली पन्द्रह दिन से उधर गई नहीं। कोई और होगी।'

हां! हां! ललिता बोली—मैं नहीं गई उधर। कोई और होगी।

हां लली, वह तो ठीक है पर वह रुमाल तो इतना सुन्दर था कि जी में उठा कि कह दूं बेशक लली का बनाया हुआ है······।'

'कहा नहीं फिर।'

कैसे कहता लली? और ये मुसलमान युवक बड़े शोहदे होते हैं। न जाने क्यों और किस मतलब से पूछता था वह। आजकल किसी का भरोसा नहीं। और लली! मुसलमान ही क्यों? हिन्दू भी समय पर नहीं चूकने। ज़माना बिगड़ा है आज कल।

सो तो है ही, ललिता ने सांस लेकर कहा।

'इसीलिये मैंने कह दिया था कि वह भूल कर रहा है। रुमाल किसी और का होगा। उस युवक ने फिर पूछा था, क्या आप बता सकते हैं कि और कौन हो सकता, जिसको कि रुमाल लौटा दिया जावे। मैंने कहा था कि मैं कैसे बता सकता हूं।

वह युवक चला गया था, पर एक बात थी लली। वह युवक कुछ विशेष चिन्तित, विशेष नम्र और पीड़ित जान पड़ता था। सम्भवतः वह कुछ कहना चाहता था, पर कह नहीं पा रहा था।

हूं—ललिता इतना ही कह सकी। उसके जी में तो उठा कि कह दे, भइया! वह रुमाल मेरा था। मैंने ही उसे दिया था, और कि मैं उससे मिलकर पूछना चाहती हूं वह उसे कैसा लगा और वह मुझ से और क्या चाहता है, लेकिन कहा उसने इतना ही, छोड़ो भी इन बातों को। होगा कोई मतलबी, शायद छल करता हो।

और फिर कुछ रुककर बोली भइया! अम्मा गई थीं दो चार दिन के लिये, पर आई नहीं। महीना बीत रहा है।

हां, हां! भइया बोले—मैंने चिट्ठी लिखी है जल्दी लौट आवें! ललिता ने बात तो टाल दी; पर मन उसका शान्त नहीं हुआ। वह तो उस युवक को स्वयं अपनी आंखों से देखना चाहती थी कि उसकी छाती के भीतर के द्वन्द्व को देखे! देखे कि मानव के जो इतने वर्ग इतने भेद स्वयं मानव ने बनाये हैं, वे क्या उसकी मानवता की जो मूल प्रकृति है, उसको नष्ट कर देते हैं? क्या मुसलमान बन जाने से ही कोई शोहदा हो जाता है? क्या हिन्दू होने ही से कोई स्वार्थी हो जाता है······। इसीलिये उसने भइया से फिर कहा—भइया! एक दिन जीजी के घर चलना। जीजा जी तो अब लौटेंगे नहीं। जीजी ने कहा था कभी कभी उधर देखती रहना।

भइया बोले—तो आज ही हो आवें न?

ललिता तो यही चाहती थी। भइया को आगे करके चल पड़ी। दिल उसका धड़क रहा था और आंखें उतावली-सी पथ को देख लेतीं—चौक अभी दूर है। विचार उठता चौक में कौन-कौन बैठा होगा। वह युवक भी होगा शायद। शायद वह भइया को पहिचान कर कह बैठे—यही औरत थी वह जिसने रुमाल डाला था—

वह गिरते-गिरते बच गई। भइया बोले—देख कर चलो।

'ठोकर लगी है, भइया। पत्थर डाल दिया किसी ने।'

लेकिन अगर भइया जानें तो पत्थर रास्ते पर नहीं; बल्कि ललिता की छाती पर पड़ा था, जिससे टकरा कर उसके विचार बिखर जाते और वह सिहर सिहर उठती...।

कि चौक आ गया ...।

कि ललिता ठिठकी सहमी...वहां तो कोई भी नहीं...निपट सूना है...एक दरवाज़े पर कोई वृद्ध खड़े खांस रहे हैं ..। ललिता ने चलते चलते उन्हें देखा। लगा उसे कि वृद्ध ने पुकारा हो—ओ बेटी! सुनो तो ज़रा। लेकिन हुआ तो यह कि ललिता मोहल्ले को पार करके जीजी के मकान के पास आ गई। उसके दिल की धड़कन कम हो गई। छाती का कोई बोझ उतर गया: मानों जेठ की दुपहरी में शीतल वायु का झोंका उसे छूता हुआ निकल गया।

उसके प्राण लौटे पर प्रश्न जो था वह तो उसी तरह उसकी छाती में छुरी मारे बैठा रहा—वह युवक कहाँ होगा और कि रुमाल में उसने क्या पाया होगा...कि एक बार उससे पूछ ले—नारी को पहिचानते हो ? लेकिन ललिता को फिर वह अवसर नहीं मिला। धीरे धीरे प्रश्न की साकारता मिट कर निर्विकार जीवन में घुल मिल गई।

× × ×

फिर दिन पंख लगा कर उड़े, महीनों ने उनका पीछा किया और न जाने कैसे वे ही सब एक दिन स्थूलकाय वर्षों में परिणत हो गये। नीले आसमान के नीचे दुनिया ने बहुत रंग पलटे। घर बिगड़े, घर बने। तरंगें अथाह जल को बहा कर ले गई और उतना ही अथाह जल फिर वहाँ बहने लगा। एक दिन ललिता का विवाह हुआ। किसी की धरोहर थी मालिक को सौंप दी गई। वही मालिक ललिता का प्राणेश्वर पति बना। उसी का घर ललिता का घर बना। उसी के जीवन में ललिता ने अपने जीवन को फलते फूलते देखा। देखते देखते वह अल्हड़ लली प्रेम का पाठ पढ़ने लगी। देखते देखते वह 'मां' बनी। दो पुत्र उसने पाये और उन्हीं पुत्रों को लेकर उसका सुख-दुख निर्मित हुआ। ऐसे ही दिनों में एक दिन ललिता ने अपने पति से कहा—नरेन का ज्वर नहीं उतरा। सात दिन होगये। किसी और डाक्टर को दिखाना चाहिये। पति बोले-सोच कर—चाहिये तो।

ललिता बोली—तो आज ही बुला लाओ न ? बच्चे की हालत अच्छी नहीं है। कहते-कहते ललिता का मन उमड़ आया। आंचल से आंखें पोंछ कर नरेन के पास जा बैठी। देखने लगी कि चांद से मुखड़े वाला नरेन पीला हो आया है। बोलता नहीं। स्थिर, संयत, लेटा है। कभी कभी रोकर पुकार उठता है मां,—पानी ! मां, पेट दुखता है।

मां जो ललिता है, कभी अर्क पिला देती है। कभी पुचकार कर कहती है—तेरे पिताजी बाज़ार गये हैं सन्तरा लेने।

सन्तरा नरेन का जीवन है इसी से उसका लालच ज़रा शान्ति देता है। इसी बीच में ललिता दूसरे बच्चे को देखती है। घर का काम सम्हालती है। उसे झाड़ना बुहारना है, बर्तन साफ़ करने हैं, रोटी पकानी है, बच्चे को नहलाना धुलाना, खिलाना पिलाना है। घर के और काम भी हैं, जो सब ललिता को करने हैं। ललिता करने से डरती नहीं, बल्कि खुश होती है। यूं कभी कभी तंग आकर खीझती तो कह देती—ऐसे जीवन से मौत भली, पर इस कहने में उसकी आत्मा नहीं बोलती थी, मन ही मन वह परमात्मा से कहा करती 'तेरा दिया राम सब पावें—जैसा मैंने पाया।' ग़रीब है तो क्या ? पति का प्रेम उसे मिला है। पुत्रों से गोद भरी है। दो वक्त पेट भर कर रोटी खा सकती है। काम उसका कभी अटकता नहीं। तीज त्योहार, ब्याह आदि पर भी वह यथाशक्ति कुल देवता की मनौती मनाती है।

लेकिन अब आकर जैसे उसके संयत जीवन में ठोकर लगी है। पांच वर्ष का नरेन बेहाल पड़ा है। कभी जाग उठता है, तो खड़ा हो जाता है। कभी बोलता भी नहीं, केवल रो देता है। और उसकी रुलाई सुन कर ललिता की छाती फट जाती है···कि प्राण देकर बच्चे को बचा ले······कि किसी तरह नरेन एक बार दौड़ा दौड़ा आवे और कहे अम्मा ! भूख लगी है·····कि एक बार वह उसे उठाकर छाती में भर कर कहे—मेरे बच्चे ! मेरी आंखों के प्रकाश, मेरे जीवन के स्तम्भ······।

कि बाहर से पति ने पुकारा—डाक्टर आ रहे हैं।

शीघ्रता से उठी और पास के कमरे में किवाड़ों से सट कर खड़ी हो गई, ताकि डाक्टर जो कहें उसे सुन सके।

डाक्टर एक मुसलमान सज्जन थे। वेश भूषा यूरोपियनों जैसी थी। आकृति से बहुत विनम्र जान पड़ते थे। बड़े ध्यान से उन्होंने बच्चे को देखा। मुख का भाव बदला। आंखें गम्भीर हुईं। स्थिर संयत स्वर में बोले—टाइफ़ॉयड का अटैक है। हालत

चिन्ताजनक तो है, पर ठीक होने की पूरी पूरी आशा है। छाती पर ज़रा बलग़म जमा है।

और कह कर डाक्टर फिर कुरसी पर बैठ गये। बक्स में से दवा निकाली। बोले—यह आध आध घण्टे की दवा है। बीच में पुड़िया देना। पानी मांगे तो पिला देना। कभी दूध भी देना। दवा देने से बलग़म निकलेगा तो डरना नहीं। तेल मल देना। भेज दूंगा।

समझाने के लिये दवा की एक खूराक अपने हाथ से बच्चे को पिलादी।

क्षण बीते बीते कि खांसी उठी, ऊबकाई आने लगी। बच्चा बिलख उठा।

डाक्टर ने कहा—बच्चे की मां को बुलाओ तो।

डाक्टर के कहने से पहिले ही ललिता वहां आ गई। डाक्टर की ओर पीठ करके बच्चे को उसने गोद में उठा लिया। रुमाल निकाल कर मुंह पोंछने लगी······।

कि डाक्टर ने रुमाल को देखा। फिर पलंग के पास रखी हुई टेबुल पर दृष्टि गई·····।

कि ललिता के पति बोले—डाक्टर साहेब! आप कृपा कर आज शाम को भी देख लें तो·····।

'हां, हां! मैं ज़रूर आउंगा। इधर और भी कई मरीज़ हैं।'

ललिता कृत्य-कृत्य हुई। बच्चे को शान्ति मिल गई थी! उसे लिटा दिया। डाक्टर चले गये। फ़ीस उन्होंने ले ली थी और विश्वास दिलाया था कि बच्चे को ख़तरा नहीं है। पति साथ गये कि दवा ले आवें और ललिता वहीं बैठी रही बच्चे को देखती हुई।

सहसा उसकी दृष्टि एक चमड़े के बटुये पर पड़ी। उठा कर देखा, ज़रूर डाक्टर साहेब भूल गये हैं··· क्या है इसमें···खोल कर देखूं···नहीं, नहीं किसी की चीज़ नहीं देखनी चाहिये······पर यह क्या चोरी है!···केवल कौतूहल है······।

और उसने खोल ही डाला उस बटुये को। जैसे बिच्छू ने डंक मारा हो। चौंक कर कांप उठी। वह··वहां···।

बटुये में कुछ पत्र थे, रुपये थे, प्रिसक्रिपशन भी थे और एक खाने में तह किया हुआ रुमाल था। यह वही रुमाल था, जो एक दिन लड़की ललिता ने एक मुसलमान शोहदे को छकाने के लिये निकाला था। देखकर ललिता के सामने सात वर्ष पुरानी घटना नई हो उठी। जैसे उसने आस्मान को फटते देखा। देखा एक युवक उतर रहा है······वह कांप उठी। उसका दिल तूफ़ान की तरह डोल उठा। उसने रुमाल को निकाल कर अपने हाथों में ले लिया कि उसके पति वहां आकर खड़े हो गये। बोले—लली! डाक्टर अपना बटुआ भूल गये थे। देखा तुमने···कि सामने उन्हें बटुआ नज़र आ गया। उठाकर चलते चलते बोले—डाक्टर भी कितने ला परवाह निकले। बटुआ भी कोई ऐसे भूलता है। वे चले गये। ललिता ठगी सी देखती रह गई। बोल ही नहीं सकी कि सुनो तो रुमाल भी उनका है, लेते जाओ।

यह क्या हुआ...रुमाल तो मेरे हाथ में है... डाक्टर क्या कहेंगे...रुमाल उन्होंने कहाँ पाया...यही डाक्टर क्या वह शोहदा है...वह क्या करे अब...क्या करे...क्या कहे अपने पति को...।

कि बच्चा रो उठा क्षीण स्वर में—मां। पानी!

मां जाग गई। जल्दी से चम्मच से पानी पिलाया, फिर उसके मुंह को पोंछती पोंछती बोली—अच्छे हो न मुन्ने। सन्ध्या तक खेलने लगोगे। है न! बबुआ लोगे...।

और फिर न जाने क्या सोचा! बच्चे की बग़ल में मुह छिपा कर रो उठी। सुबुक-सुबुक कर रोती मानों छाती फट पड़ी थी, मानों अन्दर ग़ुबार भरा पड़ा था।

कि पति की आवाज़ सुनाई दी। वह उठी नहीं। अभी तक बेसुध थी। पति ने आकर देखा, तो अचरज हुआ। हाथ थाम कर बोले—क्या हुआ लली! कि लली चौंक पड़ी और कांप कर उठ खड़ी हुई, बोली—नहीं, नहीं...पति जैसे घबरा गये—लली...।

लली ने अब देखा—पति हैं। आंखें फाड़कर बोली—क्या कहा डाक्टर ने! 'डाक्टर ने तो ठीक

कहा है, पर तुम्हें क्या हुआ है और तुमने उनके बटुये से रुमाल क्यों निकाला है ?

रुमाल—वह थर थर कांपी !

'हां वे कहते थे एक बहुत पुरानी परन्तु पवित्र स्मृति थी वह उनकी, उसी रुमाल ने उन्हें डाक्टर बनाया है। उसी रुमाल ने उनके जीवन में मानव-प्रेम की ज्योति जगाई है, और कहते थे एक लड़की... कि ललिता बोल उठी—ऐसा कहा डाक्टर ने, तो... तो आप सुनिये वह रुमाल मेरा है।

'तुम्हारा'—पति ने अचकचा कर पूछा।

'हां ! 'मैं अब डरती नहीं। सच कहती हूं—रुमाल मैंने उन्हें दिया था......कि पति ने उसे आगे नहीं बोलने दिया। अपनी भुजाओं में बांधते हुए कहा—मैं सब जानता हूं, लली।

उनकी वाणी बहुत नम्र बहुत कोमल थी।

× × ×

उसी सन्ध्या को वे डाक्टर अचानक ही बिना आवाज़ दिये ललिता के कमरे में आ खड़े हुये। दरवाज़े पर यथाशक्ति ज़मीन में माथा झुका कर उन्होंने इतना ही कहा—मैं तुम्हें सलाम करता हूं जीजी ! और बिना पूछे अन्दर आने के लिये माफ़ी चाहता हूं।

ललिता भौंचक-सी उन्हें देखती ही रह गई। बोल न सकी। केवल आंखों से पानी की कुछ बूंदे पृथ्वी पर ढुलक पड़ीं। और अगर वह देख पाती तो देखती कि ठीक उसी समय डाक्टर की आंखों भी पानी की कुछ बूंदें पृथ्वी पर ढुलकी थीं।

और उन पानी की चन्द बूंदों ने कितना कुछ कहा यह कौन जाने ?

ललिता भौंचक-सी देखती रह गई। कुछ जवाब न दे सकी...लेकिन दूसरे ही क्षण जैसे गर्व से उसकी छाती उमड़ आई। उसने आंखें उठाकर डाक्टर की ओर देखा, लेकिन लज्जा ने उसे देखने नहीं दिया। केवल आंखों से पानी की कुछ बूंदें पृथ्वी पर ढुलक पड़ीं।

सरमायादारी

मौ० हामिद अली खां

दौलत ने कैसी शोरिश[1] उठाई ?
क्या बादशाही और क्या गदाई[2] ।
भूखों की रोटी हथिया के बन्दा,
करता है बन्दों पर क्यों ख़ुदाई ?

शाही गदाई, मेरी फ़क़ीरी ,
जब उठ गए यह पर्दे रयाई[3] ।
यह भी है इन्सां, वह भी है इन्सां,
वह इसका भाई, यह उसका भाई ।

---

१ विद्रोह; २ फ़कीरी; ३ झूठे

पृथ्वी की उम्र

प्रोफ़ैसर मनोहरलाल मिश्र, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०

पृथ्वी की उम्र कितनी है यह एक बहुत ही जटिल सवाल है। परन्तु जटिल होते हुये भी इसे हल करने की कोशिशें बहुत पुराने ज़माने से चली आती हैं। ऐसा कहा जाता है कि पृथ्वी की उम्र जानने की कोशिशें उस समय से हो रही हैं, जब से मनुष्य में बुद्धि का विकास आरम्भ हुआ। यह कोशिश अभी भी जारी है। हर ज़माने के मनुष्यों ने अपने अपने मत के अनुसार पृथ्वी की उम्र ठहराई है। भिन्न भिन्न ज़माने के भिन्न भिन्न विद्वानों द्वारा पृथ्वी की जो भी उम्र ठहराई गई है उन सब में समानता नहीं है। एक उम्र दूसरे तरीक़े से निकाली गई उम्र से मिलती नहीं है। लोग अपने अपने तरीक़े को ही ठीक समझते हैं। यह तो मानना ही होगा कि इतनी भिन्न भिन्न प्रकार से निकाली गई, पृथ्वी की भिन्न भिन्न उम्रों में एक ही ठीक हो सकती है। परन्तु कौनसी ठीक है इसका निर्णय करना ज़रा टेढ़ी खीर है। आजकल के विज्ञान की उन्नति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कुछ उम्रें यदि बिल्कुल ठीक नहीं हैं तो लगभग ठीक के ही समान हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि पृथ्वी की उम्र निकालने का प्रयत्न उस समय से शुरू हुआ है, जब से मनुष्य में बुद्धि का विकास हुआ। परन्तु इन प्रयत्नों में गम्भीरता कभी नहीं आई। वे सब ज़्यादातर मन बहलाने के विचार से ही किये जाते थे। उन लोगों ने इस प्रश्न की गम्भीरता पर ध्यान ही नहीं दिया। उन दिनों के कोई लिखित ग्रन्थ नहीं हैं। हमें इस विषय की चर्चा कुछ पुराने गीतों और कविताओं में मिलती है। इन कविताओं तथा गीतों के लेखकों का भी पता नहीं लग सका कि वे किस काल के थे। उसके बाद जैसे जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे इस विषय की चर्चा भिन्न भिन्न धर्म-पुस्तकों तथा दूसरे ग्रन्थों में होने लगी। इधर लगभग २०० साल से इस प्रश्न को वैज्ञानिक तरीक़ों से हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है। भिन्न भिन्न लोगों ने अपने अपने मत के अनुसार पृथ्वी की उम्र का अन्दाज़ लगाया है।

पृथ्वी की उम्र निकालने के आज तक जितने प्रयत्न हुए हैं, उन्हें हम दो भागों में बांट सकते हैं। पहिले भाग में वे प्रयत्न हैं, जो कि वैज्ञानिक काल से पहले किये गये थे। इन प्रयत्नों का पूरा पूरा विवरण हमें कहीं भी ठीक से नहीं मिलता। हां इस विषय की चर्चा अवश्य पाई जाती है। ऐसा मालूम होता है कि उस काल के मनुष्यों को समय का अन्दाज़ कम था। इसलिये उनकी बताई हुई पृथ्वी की उम्र में और आधुनिक तरीक़ों से जानी गई पृथ्वी की उम्र में करोड़ों वर्षों का अन्तर है।

वैज्ञानिक काल के पूर्व के विद्वानों द्वारा पृथ्वी की निकाली गई उम्र बाद के विद्वानों के मत के अनुसार भिन्न है। ये लोग किस प्रकार इन नतीजों पर पहुंचे इसका पता नहीं लगता। कालडिया के लोगों के मत के अनुसार पृथ्वी की उम्र ५० हज़ार वर्ष से अधिक नहीं है। कुछ दिनों तक कालडिया में इस मत का काफ़ी ज़ोर रहा। बाद में वहां के पुरोहितों ने इस बात का विरोध किया। इन पुरोहितों के मत के अनुसार पृथ्वी की उम्र ५० हज़ार के स्थान पर २० लाख वर्ष ठहराई गई। बैबीलोनके ज्योतिषियों

के मत के अनुसार पृथ्वी ५ लाख वर्ष पुरानी थी। उनका यह भी मत था कि इसी समय मनुष्य का भी जन्म हुआ था और मनुष्य तथा पृथ्वी का जन्म-काल एक ही है। पारसी लोगों ने और उनके ज़रथुस्त्री पुरोहितों ने इसकी उम्र १२,००० वर्ष ही ठहराई है। यूनानी विद्वान लुक्रेशश का मत निराला ही है। उसके अनुसार पृथ्वी का जन्म उस समय हुआ था, जब कवियों ने कवितायें रचनी शुरू कीं। इस लिहाज़ से पृथ्वी की उम्र बहुत ही कम ठहरती है। पुराने ज़माने के ईसाई पादरी भी इस विषय में दिलचस्पी लिया करते थे। उनके मत के अनुसार पृथ्वी की उम्र ६००० वर्ष से कम नहीं है। आर्क बिशप उशर ने हिब्रू पञ्चांगों द्वारा पृथ्वी की उम्र ४००४ वर्ष निकाली थी और इसकी चर्चा बाईबिल में भी मिलती है। इनके सिवाय रोम तथा मिश्री लोगों ने भी इस विषय की ओर ध्यान दिया था। उन लोगों का मत है कि पृथ्वी की उम्र वर्षों में नहीं आंकी जा सकती; परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह बहुत ही बड़ी है। भारत के विद्वान लोग पृथ्वी का जन्म अनादि काल से बतलाते हैं।

इस प्रकार देखने से पृथ्वी की उम्र कुछ लोगों के मत के अनुसार कुछ हज़ार वर्ष और कुछ लोगों के अनुसार अनादि काल की ज्ञात होती है। यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन भिन्न भिन्न मतों के अनुसार दी गई पृथ्वी की उम्र में से केवल एक ही ठीक हो सकती है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौनसी ठीक है? क्या पृथ्वी सच में चार हज़ार वर्ष ही की है, जैसा कि ईसाई धर्म-पुस्तक में लिखा है, या अनादि काल से चली आ रही है, जैसा कि भारतीय ब्राह्मणों का कथन है।

भिन्न भिन्न मत वालों में इस प्रकार का वाद-विवाद आपस में चल रहा था कि लगभग १५० वर्ष पहिले भूगर्भ-शास्त्र रोशनी में आया। उन दिनों इस विषय के पंडितों ने इस प्रश्न पर बहुत ही ध्यान-पूर्वक विचार किया। वे लोग इस बात पर कभी भी विश्वास न कर सके कि यह पृथ्वी केवल ४००४ वर्ष ही पुरानी है। उन लोगों के मत के अनुसार पृथ्वी में दो प्रकार की चट्टानें पाई जाती हैं, प्राथमिक और द्वैतीयिक। इनमें से प्राथमिक वे हैं, जो कि पृथ्वी के गर्भ से निकले हुए गर्म तथा पिघले हुए भिन्न भिन्न पदार्थों तथा धातुओं के मिश्रण से बनी हैं। ये पदार्थ पृथ्वी के गर्भ से पिघली हुई हालत में पृथ्वी की दरारों आदि से बाहर निकलते हैं। बाहर निकल कर ठंडे हो जाते हैं और जहां तहां जम जाते हैं। कुछ जो बाहर नहीं निकल पाते, अपने उद्‌गम स्थान से कुछ दूर ही, पृथ्वी की सतह और उद्‌गम स्थान के बीच में ही, रह जाते हैं और वहां का तापक्रम कम होने पर वहीं जम जाते हैं। ये सब प्राथमिक चट्टानें हैं। पृथ्वी के गर्भ से पिघली हुई दशा में निकलने के कारण उन्हें आग्नेय चट्टान भी कहते हैं। ये तहों में नहीं पाई जातीं। पृथ्वी में इनके यहां वहां बड़े बड़े जमाव पाये जाते हैं। ज्वालामुखी पर्वतों से निकल कर भी ये बाहर आ जाती हैं। दूसरे प्रकार की चट्टानें द्वैतीयिक कही जाती हैं। ये प्राथमिक चट्टानों के टूटे हुए टुकड़ों के एक स्थान पर इकट्ठा होने पर बनती हैं। प्राथमिक चट्टानें हवा, पानी, बर्फ़, गरमी आदि के थपेड़ों से टूट फूट जाती हैं और बाद में और भी छोटे छोटे टुकड़ों में बंट जाती हैं। जब ये टुकड़े छोटे छोटे हो जाते हैं, तब पानी अथवा हवा द्वारा ये बहकर दूसरे किसी स्थान में जमा हो जाते हैं। ये एक के ऊपर एक अलग अलग तहों में जमा होते हैं। कुछ वर्षों के दबाव के कारण कभी कभी ये भीतर धंसते जाते हैं। कुछ वर्षों के दबाव से उनमें सख़्ती आ जाती है। तब ये चट्टान का रूप धारण कर लेते हैं। प्राथमिक चट्टानों के टूटने से लेकर द्वैतीयिक चट्टानों के पूरे तौर पर बन जाने तक लाखों वर्ष लगते हैं। यही आजकल भी हो रहा है। परन्तु यह बात बिलकुल ठीक है कि द्वैतीयिक चट्टानों का बनना प्राथमिक चट्टानों पर निर्भर रहता है। यह मानी हुई बात है कि कुछ द्वैतीयिक चट्टानें, पहिले की द्वैतीयिक चट्टानों के टूटने फूटने से बनी हैं। परन्तु यहां हमारा संकेत उन द्वैतीयिक चट्टानों से है,

जो कि सबके पहिले बनी थीं। आजकल ये द्वैतीयिक चट्टानें बिलकुल ही भिन्न दशा में पाई जाती हैं।

पृथ्वी पहिले इतनी गर्म थी कि ऊपर की सारी चट्टानें पिघली दशा में थीं। तभी से पृथ्वी का जन्म होता है। पृथ्वी के ठंडा होने में, प्राथमिक चट्टानों के जमने में, उनके टूटने फूटने में तथा बह कर दूसरे स्थान पर जमा होने में करोड़ों वर्ष लगे हैं। और पृथ्वी के ऊपर की द्वैतीयिक चट्टानों को देखने पर यह बात सिद्ध होती है कि वास्तव में पृथ्वी की उम्र कुछ ही हज़ार वर्षों की नहीं है, परन्तु अरबों वर्ष की है। वैज्ञानिक काल में इस प्रश्न पर जितनी भी परीक्षाएं हुई हैं, उन सबसे पृथ्वी की उम्र अरबों वर्ष आंकी गई है। इसलिये पहिला सबसे बड़ा अन्तर इन दोनों कालों में जानी गई पृथ्वी की उम्र में यही है कि पूर्वकाल वाले यदि कहते हैं कि पृथ्वी की उम्र कुछ ही हज़ार वर्षों की है, तो बाद वालों के मत से वह अरबों और खरबों वर्षों से कम नहीं है। चट्टानों के टूटने फूटने और उनके जमा होने से यही मालूम होता है कि पृथ्वी की उम्र कई अरब वर्षों की है और वैज्ञानिक काल में इस प्रकार जानी गई उम्र बहुत कुछ ठीक है।

परन्तु वैज्ञानिक काल में भिन्न भिन्न विद्वानों द्वारा और भिन्न रीतियों से निश्चित की गई पृथ्वी की उम्र में भी आपस में बहुत अन्तर है। इसका कारण यह है कि इन सब में अभी इसी बात में मतभेद है कि पृथ्वी का जन्म कब से माना जाय। अपने अपने मत के अनुसार लोगों ने पृथ्वी का जन्म एक निश्चित समय से माना है और इसी कारण इनमें अन्तर है। भौतिक शास्त्र के विद्वानों ने पृथ्वी का जन्म उस समय से माना है, जब वह सूर्य मंडल से निराले ग्रह के रूप में होकर भिन्न हुई थी। इन्हीं विद्वानों में से कुछ इसका जन्म उस समय से मानते हैं, जब पृथ्वी की चट्टानों में "रेडियम" का अपने अवयवों में विभक्त होना शुरू हुआ था; चाहे यह पृथ्वी के ग्रह रूप में होकर भिन्न होने पर आरम्भ हुआ हो, अथवा उसके पहिले। कुछ भौतिक शास्त्र के पंडितों का यह भी मत है कि पृथ्वी का जन्म उस समय से समझना चाहिये, जब पृथ्वी पर पिघली हुई चट्टानें ठण्डी होकर जमना आरम्भ हुई थीं। इसी प्रकार रसायनिक शास्त्र के विद्वान अपने मत के अनुसार इसके जन्म का समय निश्चित करते हैं। उनका मत है कि पृथ्वी का जन्म उस समय से समझना चाहिये, जब पृथ्वी का तापक्रम कम होते होते १००० सें० रह गया था। जब पानी की भाफ ठंडी होने पर पानी के रूप में पृथ्वी पर रह गई थी, और जब समुद्रों का जन्म हुआ था। भूगर्भ शास्त्र के विद्वानों के अनुसार पृथ्वी का जन्म उस समय से आरम्भ होता है, जब कि पृथ्वी की प्राथमिक चट्टानों का टूटना फूटना आरम्भ होकर उनके कणों का दूसरी जगह पर जम कर द्वैतीयिक चट्टानों का बनना आरम्भ हुआ था। अथवा उस समय से आरम्भ करते हैं, जब समुद्र में दूसरी चट्टानों से घुलकर, नमक जमा होना आरम्भ हुआ था? वनस्पति तथा जन्तु शास्त्र के पंडित लोग भी अपना मत प्रगट करते हैं; पर इन्होंने अभी तक कुछ अधिक नहीं किया है। इस प्रकार निश्चित की गई उम्र में आपस में करोड़ों वर्षों का अन्तर है और यह अन्तर, पृथ्वी का जन्म-काल निश्चित न होने के कारण होना स्वभाविक ही है? हालां कि पृथ्वी की उम्र निश्चित रूप से आज कल लोग जान गये हैं, फिर भी सन्देह रह ही जाता है; जब कि यह उम्र अरबों व खरबों वर्ष तक चलती है।

हमने ऊपर बताया है कि वैज्ञानिक काल के पूर्व भिन्न भिन्न विद्वानों द्वारा निश्चित की गई पृथ्वी की उम्र कुछ ही हज़ार वर्षों की आंकी गई है। पिछले २०० वर्षों में निश्चित की हुई उम्र अरबों और खरबों वर्षों की ही। इसमें केवल एक अपवाद है और वह है भारतीय पंडितों द्वारा निश्चित की गई पृथ्वी की उम्र। भारतीय पंडितों ने पृथ्वी की उम्र "अनादि काल" से बताई है। यह 'अनादि काल' वर्षों में बताया गया है। इन पंडितों द्वारा निश्चित की गई उम्र, वैज्ञानिक रीति से निश्चित की गई उम्र से इतनी अधिक मिलती है कि देखकर आश्चर्य होता है!

पैसा : कमाई और भिखाई

श्री जैनेन्द्र कुमार

हमारे घरों में बच्चा कभी पढ़ने के बजाय खेलता है, तो श्रीमती गुस्से में आकर कहती हैं "दुष्ट, पढ़ता क्यों नहीं है ?"। वही गुस्सा स्थायी होने पर दुश्चिन्ता का रूप ले लेता है। तब मां कहती है—"मेरा क्या, खेलता रह ऐसे, तू ही आगे भीख मांगता फिरेगा। पढ़ेगा-लिखेगा तो हाकिम बनेगा, नहीं तो दर दर भटकेगा।"

लड़का भीख माँगने या पढ़ लिख कर अफ़सरी करने के अन्तर को समझता हुआ झल्लाकर कह देता है कि "हाँ, हम माँगेंगे भीख।"

मां कहती है "हाँ, भीख ही तो माँगेगा। इन लच्छनों तो और तुझसे क्या होगा ? बेशरम, बेशऊर, दुष्ट !!"

आदि आदि कहती हुई दो एक चपत बच्चे की कनपटी पर रख देती है।

इस पर बालक का नियम बंधा हुआ नहीं है कि वह क्या करेगा। कभी रोकर बस्ते में मुंह डाल कर बैठ जायगा, तो कभी मुंह उठा कर चलता बनेगा, और बस्ते को हाथ न लगायेगा। कभी विरोध में भाग कर धूप में और भी ज़ोर शोर से गुल्ली-डंडा खेलने लग जाता है। और कभी।···आशय, उसके मन का ठिकाना नहीं है।

किन्तु छोड़िये मां बेटे को। सीधे भिखमंगे को लीजिये। उस दिन अख़बार में पढ़ा कि एक आदमी पकड़ा गया। वह तरह-तरह के किस्से कह कर स्टेशन पर यात्रियों से माँगा करता था। ज़रूर उसमें अभिनय की कुशलता होगी। विद्यार्थी अपने को कहता था, तो विद्यार्थी लगता भी होगा। इसी तरह अनाथ बालक, संकटापन्न पिता, भटका यात्री, सम्भ्रान्त नागरिक आदि-आदि बता कर सुना गया कि वह हर रोज़ खासी 'कमाई' कर लेता था। उसके डेरे पर पांच हज़ार की जमा मिली।

वह ऐसे पाँच हज़ार जमा कर पाया ! सुनते हैं दस-बारह वर्षों से वह यह व्यापार कर रहा था।

हमारे पड़ोसी ने बीस वर्ष व्यापार किया और ढाई लाख रुपया पैदा किया।

पर भिखारी जेल में है। और लाला साहब रायबहादुर हैं। क्योंकि भिखारी की कमाई कमाई न थी और लाला की कमाई कमाई थी। भिखारी ने ठगा और लाला ने कमाया। तभी पहला क़ैदी है और लाला मैजिस्ट्रेट की कुर्सी पर हैं। हमारा वह छोटा बच्चा क्या समझे ! भीख और कमाई में यह फ़र्क़ है।

अगर हाथ फैलाने वाले ने अपने पीछे कुछ जोड़ रखा है, तो उसका हाथ फैलाना धोखा देना है। तब क़ानून उसे देखेगा।

सज़ा मिलने पर जब हम ऐसे आदमी के बारे में सोचते हैं, तो दया नहीं आती, गुस्सा आता है। हम उसे धूर्त, दूसरे शब्दों में चतुर मानते हैं। हमें उत्सुकता होती है कि जाने उसने कैसे इतना रुपया जमा कर लिया होगा। चालाक आदमी है, अच्छा हुआ कि पकड़ा गया और सज़ा मिली। हो सकता है कि उसकी सज़ा पर हमारे सन्तोष का कारण हो कि हमारी भरी जेब पर से एक ख़तरा दूर हुआ और झुंझलाहट

का यह कारण हो सकता है कि पांच हज़ार रुपये उसके पास कैसे पहुंचे, जो कहीं हमारे पास में होते ?

अब दूसरे भिखारी की कल्पना कीजिए कि जो सचमुच असहाय है। जितने दाने उसके हाथ पर आप डाल देंगे, उतने से ही वह अपनी भूख मिटाने को लाचार है। इस आदमी को पकड़ने के लिये क़ानून का सिपाही कष्ट नहीं करता; क्योंकि आसानी से लात घूंसे मार कर या मनुष्यता हुई तो धेला-पैसा उस पर फेंक कर उसे अपने से टाला जा सकता है।

अब अपने मनकी सच बात कहिए। वह चतुर ठग और यह निपट भिखारी, दोनों में आपको कौन कैसा लगता है ? चतुराई के लिए आप एक को जेल पसन्द करेंगे, मोहताजी के लिए दूसरे पर आप दया करेंगे, यानी उसे उसके भाग्य पर छोड़ देंगे। सच पूछिए तो दीन भिखारी से आपको कष्ट और अमीर भिखारी से आप को गुस्सा होता है। अर्थात् जो ठगी से अपनी सहायता कर लेता है, वह आपको ताहम आदमी मालूम होता है। पर जो उतना भी नहीं कर सकता और निपट आपकी दया पर निर्भर हो रहता है, वह आपकी आँखों में उससे गया-बीता है। मालूम हो जाय कि यह जो सामने आपके हाथ फैला रहा है, झोली में उसी के हज़ार रुपये हैं, तो आप उसे ग़ौर से देखेंगे, उससे दिलचस्पी लेंगे। अपनी कक्षा से उसे एक दम अलग और तुच्छ नहीं मानेंगे।

पर वह भिखारी जो काया से सूखा है और पेट का भूखा; आप चाहेंगे कि वह आपकी आंखों के आगे पड़ ही जाय, तो जल्दी से जल्दी दूर भी हो जाय। आप यथा शीघ्र पैसा फेंक कर या रास्ता काट कर उससे अपने को निष्कंटक बना लेना चाहेंगे। अर्थात् झूठ मूठ के भिखारी को आप सह सकते हैं। सचमुच के भिखारी को नहीं सह सकते। वह हमें अपनी ही लज्जा मालूम होता है।

अब एक बात तो साफ़ है। वह यह कि पैसा चाहिए। पेट को अन्न चाहिये और अन्न यद्यपि धरती और मिहनत से होता है, पर मिलता वह पैसे से है। पैसा पहना नहीं जाता, खाया नहीं जाता; उससे किसी का कुछ भी काम नहीं निकलता। तो भी हर एक को हर काम के लिए चाहिये पैसा ही। यानी पैसे में जो ताँबा है, उसे खाओ तो चाहे वह किसी क़दर ज़हर ही साबित हो, फिर भी पैसे की क़ीमत है। ऐसा इसलिए कि वह क़ीमत उस (तांबे) की नहीं, हमारी है। हमने वह क़ीमत दी है, इसी से हम पर ही वह बदला उतारती है। पैसा क्या रुपया फेंकिए कुत्ते के आगे, वह उसे सूंघेगा भी नहीं। रोटी डालिए, तो आपकी इस उदारता के लिये न जाने कितनी देर तक अपनी पूंछ हिलाता रहेगा। यानी ग़र्ज़ों के सिवा रोटी से अधिक पैसे में मूल्य नहीं है।

पैसे के मूल्य को हम कैसे बनाते हैं और हमी उसे कैसे थामते हैं ? यह एक दिलचस्प विषय है। लोग कहेंगे 'अर्थ-शास्त्र' का, पर सच पूछिए, तो यह काम-शास्त्र का विषय है। काम का यहां अर्थ कामना लिया जाय। कामना के वश व्यक्ति चलता है। इस तरह पैसा शुद्ध मानव-शास्त्र का विषय है। व्यक्ति के मानस से अलग ताँबे के पैसे की अठखेलियों को समझना बिजली के बटन से अलग रोशनी वाले बिजली की लट्टू को समझने जैसा होगा। कठपुतली खेल कर रही है, खूब नाच-कूद दिखाती है, पर पीछे उसके तार थमे हैं, बाज़ीगर की उँगलियों में। पर वह तार तो हमें दीखता नहीं, बाज़ीगर दुबका है और सामने कठपुतलियों का तमाशा दीखता है। बच्चे तमाशे में बड़े मगन होते हैं, पर समझदार तमाशा देखने या दिखाने के लिए कठपुतलियों से नहीं बाजीगर से बात करेंगे। पैसे के बारे में भी यही मानना चाहिए। उसका शास्त्र आदमी के मन के शास्त्र से वैसे ही दूर है, जैसे आदमी की उँगली से कठपुतली या बिजली के बटन से लट्टू दूर है। बीच का तार दिखता नहीं है; इसलिए वह और भी अभिन्न भाव से है।

पर छोड़िये। कहीं यह अनर्थ शास्त्र न समझा जाय। पर एक बात है, अर्थ-शास्त्र पढ़ने वाला उस अर्थ-शास्त्र को पढ़ाने वाला ही बनता है। उस शास्त्र-ज्ञान के कारण कभी अर्थ-स्वामी तो बनता हुआ वह

बैठा नहीं गया। अपने अर्थ-शास्त्र को पढ़ाने और पढ़वाने के लिए ऊपर का अर्थ-स्वामी ही अर्थ शास्त्रियों को अपने अर्थ में से तनख्वाह देने का काम ज़रूर करता रहता है। इससे प्रकट है कि अर्थ का भेद अर्थ-शास्त्र में नहीं है, कहीं अन्यत्र है।

थोड़ी देर के लिए पैसे का पीछा कीजिए। इस हाथ से उस हाथ, उस दूसरे से फिर तीसरे फिर चौथे, इस तरह पैसा चक्कर काटता है। उस बेचारे के भाग्य में चकराना ही है। कहीं वह बैठा कि लोग कहेंगे कि क्यों रे, तू बैठा क्यों है? चल अपना रस्ता नाप।" किन्तु पैसे को अपनी यात्रा में तरह-तरह के जीव मिलते हैं। एक उसे छाती से चिपटा कर कहता है कि हाय-हाय; मेरे पैसे को छेड़ो मत, मेरी छाती के नीचे उसे सोने दो।

पर, पैसे बेचारे की क़िस्मत में सोना बदा हो तो सभी कुछ न रुक जाय। इससे यदि उन प्रेमी का प्रेम पैसे की काया को छोड़ना नहीं चाहता, तो उसका बड़ा दुष्परिणाम होता है। यह तो वही बात है कि ख़ून हमारे बदन में दौड़ रहा है और एक महाशय कहने लगे कि तू कहां जाता है, यहीं मेरे पास रुकजा। फोड़े जो बदन में हो जाया करते हैं, सो क्यों? किसी ख़ास जगह ख़ून की गर्दिश ठीक नहीं होती, इसी वजह से तो। यह जुदा बात है कि फोड़े भी होते असल में शरीर के स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त हैं। ऐसे ही कौन जाने, समाज के शरीर में कंचन की काया के प्रेमी भी किसी अच्छाई के निमित्त बनते हों। पर फोड़ा फूटता है, और कंचन-प्रेम भी टूटता ही है। ऐसे, पैसा बीच में थक कर बेचारा सांस लेने को रुके, तो बात दूसरी; वैसे किसी के आलिंगन में गाढ़ी नींद सोने की उसे इजाज़त नहीं है। इस निरन्तर चक्कर से बेचारा पैसा घिस जाता है, सूरत और हरूफ़ उस पर नहीं दीखते, तब मुंह छिपा कर जहां से आया वहीं पहुंचता है कि फिर उसे पुनर्जन्म मिले।

अभी थोड़े दिन पहले रानी का रुपया खिंच गया। अब आपकी गद्दी के नीचे कोई रानी का सिक्का सोया मिल जाय, तो क्या आप समझते हैं कि उसे सोलह आने को कोई पूछेगा? अजी, राम का नाम लीजिए। सिक्के में क़ीमत थोड़े थी। जैसे डाली गई थी वैसे वह क़ीमत खींच ली गई। अब रानी के सिक्के क्या हैं, ठनठन गुपाल हैं। बस सूरत देखिए और मन भरिये।

इस पैसे की यात्रा का वर्णन कोई कर सके, तो बड़ा अच्छा हो। शास्त्रीय प्रतिपादन नहीं, वह तो वाहियात और निःसत्व वस्तु है। वर्णन, जैसे कि अपनी यात्रा का हम करते हैं। यानी शुद्ध कथानक के रूप में। मैं मानता हूं कि पैसे के तथ्य का किसी को अनुभव हो और उसके पास कल्पना भी हो, तो वह पैसे की असलियत पर एक अत्यन्त सुन्दर उपन्यास हमें दे सकता है। जैसे हिन्दुस्तान के घनश्यामदास बिड़ला हैं। पर, पैसे के साथ दुर्भाग्य लगा है। वह कमबख़्त है शक्ति। जिसने भी उस शक्ति को समझा, वही उस शक्ति को बटोरने में लग गया। अब आप समझिये कि इस जीवन में शक्ति का संग्रह भी न किया जाय तो आख़िर किया क्या जाय? कुछ कहेंगे, धर्म का संग्रह किया जाय। पर हाय हाय, धर्म का संग्रह ही किया जा सकता, तो क्या बात थी! वह तो सोने की जगह हवा के संग्रह के उपदेश जैसा है। अर्थात् अपने को लुटाओ, इसी में धर्म का संग्रह है। अब इस बात को कोई कैसे समझे और कैसे समझाये? पैसे लुटाये बिना रुपया कभी जुड़ता है? और जो रुपया लुटा सकता है, वही अशरफ़ी जोड़ सकता है। यह क्या हम रोज़ आँखों नहीं देखते हैं कि जिसकी जहां मुट्ठी बँधी कि वह मुट्ठी उतनी ही छोटी रह गयी। रुपये पर मुट्ठी बांधने के लिए, पैसे पर उसे नहीं बँधने देना होगा। अर्थात् लाखों की कमायी हज़ारों ख़र्च किए बिना न होगी। इसी तरह धर्म की कमायी धन उजाड़े बिना न होगी। बात यह है कि धर्म है प्रीति। प्रीति और शक्ति में शत्रुता है। शक्ति के ज़ोर से और सब हो जाय, प्रीति नहीं होती। इसलिए जो प्रीति कमाये, वह शक्ति खो दे।

पर लीजिए यह मैं क्या कह चला? कह रहा था कि पैसे का उपन्यासकार चाहिए। वह पैसे की

काया पर न रीके। न इस की शक्ति के मोह में फंसे। बल्कि उस शक्ति के सत्य में ही वह अपनी आंख रखे। पैसे की शक्ति दिखलाया तो भला क्या दिखलाया ? वह तो माया दिखलानी हुई। उस पैसे की असमर्थता दिखलाई जा सकेगी, तभी मानों उसकी सभ्यता प्रगट होगी। जैसे कि आदमी प्रेम में अपने को खोकर पाता है, वैसे ही निकम्मा दिखला कर पैसे के असली मूल्य को पहचाना और बताया जा सकेगा।

मेरे हाथ में मानिए कि रुपये का एक नया सिक्का आया। वह कहां से आया ? मैंने कुछ मिहनत की, उस मिहनत का किसी के अर्थ में उपयोग हुआ। उपयोग के रास्ते मेरी मिहनत में से अपना रुपया और उस पर कुछ और भी अतिरिक्त पाने की उन्हें उम्मीद है। इसलिए अपनी मिहनत का फल उन्हें देकर यह रुपया मैंने पा लिया। अब आता हूं घर। यहां श्रीमती जी बोलीं कि माथे की बिन्दी को कब से कह रही हूं, लाये ? यानी अगले दिन मेरे हाथ से वह सिक्का बिन्दी वाले के यहां पहुंच जाता है।... इसी तरह हम कल्पना कर सकते हैं कि कैसे वह आदमियों की आवश्यकताएं पूरी करता हुआ परस्पर के आदान-प्रदान का काम चलाता है।

अब परस्पर का आदान-प्रदान पैसे के माध्यम से होता है, पैसे के उद्देश्य से नहीं होता। प्रेम में व्यक्ति अपने सर्वस्व का दान कर देता है, और प्रेम वहीं है, जहां देने के जवाब में लेने की कोई भावना नहीं हो। अर्थात् मैं तो यहां चांदी के एक सिक्के की बात कर रहा हूं; पर प्रेम के क्षण में लाखों मुहरें निछावर हो गयी हैं। अर्थात् पैसा जो यहां से वहां घूमता फिर रहा है, वह अपनी ताक़त से नहीं, बल्कि हमारे मन की ताक़त से। यह नहीं कि धन में ताक़त नहीं है। हज़ार तो हज़ार, सौ की थैली में काफ़ी नशा हो सकता है। इसमें ताक़त तो है, पर रेल के इंजन में भी ताक़त है। लेकिन क्या आप समझते हैं कि इंजन अपने आप चलता-फिरता है ? यह कहना कि पटरी पर इंजन चलता है, ठीक है। पर हिन्दुस्तान की रेलों का इन्तज़ाम जिन सरकारी मेम्बर साहबान के ऊपर है, क्या वह इंजन के मुंह की तरफ़ देखते रहते हैं ? जी नहीं; सैकड़ों-हज़ारों इंजन और उनके चलाने वाले और उनके कल-पुर्ज़े समझने वाले उन मेम्बर महाशयों की ओर ही देखते रहते हैं। और वह मेम्बर महाशय इंजन पर नहीं, बल्कि कुछ और ही गहरी नब्ज़ पर निगाह रखते हैं। सवारी गाड़ियां और माल गाड़ियां जाने कितने हज़ार व लाख टन सामान और आदमियों के वज़न को जाने कितने हज़ार इंजनों की कै गुने ज़ुड़-ज़ोर से खींचती हुई इधर से उधर आ जा रही हैं। अपने दफ़्तर में बैठे मेम्बर महाशय भला क्या हस्ती रखते हैं ? उस रोज़ उनसे डबल वज़न का आदमी इंजन के नीचे आ गया था। उसका हाल अपनी आंखों क्या आपने देखा नहीं था ? अजी, आदमी और आदमियत का तो वहां पता-निशान बाक़ी नहीं रह गया था, यहां वहां बिखरा मांस ही दीखता था। यह है, पर दूसरी बात भी है। इंजन की ताक़त एक दम सच है, पर उन मेम्बर साहबों की ताक़त भी एक दम झूठ नहीं है। उन्हीं की कलम तो थी कि जिसमें पचास इंजन बेचारे बक्स में बन्द होकर विलायत से हिन्दुस्तान लदे चले आये और चालीस इंजन जो मानते थे कि हम में अभी सिसकने लायक़ कुछ जान है, उनकी एक न सुनी गयी और अंजर-पंजर तोड़कर उन्हें लोहे के ढेर पर फेंक दिया गया।

चाँदी का सिक्का जैसा सच है, लोहे का इंजन भी वैसा ही सच है। फ़र्क़ इतना ही है कि सिक्का छोटा और हलका होने से इंजन की निस्बत बड़ा और भारी है। इंजन इतना भारी है कि अपने भारीपन के कारण ही वह सचाई में हलका है। तभी तो चाँदी के रुपये और सोने के पौंड से काग़ज़ी नोट ज़्यादा क़ीमती होता है। क़ीमती इसीलिए कि वह चाँदी-सोने से कहीं हलकी और सस्ती वस्तु काग़ज़ का बना हुआ है। अर्थात् नोट में अपनी सचाई उतनी भी नहीं है, जितनी सिक्के में है। लगभग अपनी ओर से वह शून्य है। हम उसमें

डालते हैं, तभी क़ीमत की सचाई उसमें पड़ती है। इसीलिए जैसे जैसे उन्नति होगी, काग़ज़ी सिक्का बढ़ेगा, धातु का सिक्का बेकार होता जायगा। सिक्के में क़ीमती धातु की ज़रूरत अविश्वास के कारण ही है। यानी वह झूठी क़ीमत है। फिर भी वह क़ीमत इसलिए है कि सच्ची क़ीमतों का अभी निर्माण नहीं हो पाया है। उदाहरण लीजिये, दस्तावेज़। वचन झूठा है, तभी दस्तावेज़ की सचाई आती है; क़ौल सच्चा हो, तो दस्तावेज़ बेकार हो जाना चाहिये।

इस सब का मतलब यह कि पैसे की क़ीमत और शक्ति आदमी की भावना की क़ीमत और शक्ति से अलग नहीं है। अर्थ-शास्त्र के नियम जीवन-शास्त्र के नियम से भिन्न नहीं हैं और यदि वे भिन्न से लगते हैं, तो इस कारण कि मनुष्य ने अर्थ में अपनी स्वतंत्रता देखी है, जब कि वह स्वतंत्रता संयम में है। जो वह चाहता है और जिसको सुख का नाम देता है, प्रतीत होता है कि उसकी कुंजी 'स्वर्ण' है। जैसे कि प्यासे हरिन को रेगिस्तान पर की लू की झलझलाहट में पानी दिखलाई देता है। पर स्वर्ण में सुख होता, तो स्वर्णाधिपों के पास वह दिखाई देता। किन्तु, पूछ कर देखिये। मालूम होगा कि लाख के बाद करोड़ और करोड़ के बाद अरब पर आंख गड़ाये वे भागे जा रहे हैं; तो इसीलिए कि लाख में जो समझा था वह नहीं मिला और फिर करोड़ में जो समझा वह करोड़ में भी नहीं मिल रहा है।

पर हमने ऊपर देख लिया कि सिक्के में अपने आप में दम नहीं है। अगर एक में दम नहीं है, तो करोड़ में भी नहीं हो सकता। जिसमें अपना आन्तरिक कुछ है ही नहीं, उसके पहाड़ जैसे ढेर में भी वास्तविकता कहां से आ जायेगी? मृगमरीचिका में सचाई है तो यही है कि वह मृगतृष्णा को प्यासा का प्यासा ही रखती है। धन जमा होकर अपनी इस सचाई को उजागर कर देता है कि "मुझमें कुछ नहीं है। मेरी काया में तुम्हारी ही तृष्णा भरी है। तुम अपनी ओर से तृष्णा न डाल कर मुझ में कोई दूसरी भावना डालोगे, तो फिर वह भी मेरी सचाई हो सकेगी। पर तृष्णा की राह से लोगे, तो सिवाय इस तृष्णा के मैं तुम्हें और क्या लौटा सकूंगा? मुझसे तुम्हें सुख नहीं मिलता, इससे मुझे प्यार करके भी तुम मुझे कोसते हो। पर कोसो मत, क्योंकि मैं खोखला हूं। तुम जो भरते हो, उसी से मैं भर जाता हूं। इससे मैं इस योग्य नहीं हूं कि मुझसे तुम कुछ चाहो या मुझे ही चाहो। क्योंकि तुम्हारी ही भूखी चाह से मैं तुम्हारा सामना कर सकता हूं। इससे तुम्हें सुख नहीं होता, नहीं होगा। पर तुम मानते हो कि अभी मेरे परिमाण में कमी है, इससे मुझे और जोड़ते हो। मुझे ही जोड़ते, फिर भी मुझे ही कोसते हो। मैं बताता हूं कि मैं अन्दर से रीता हूं। मेरा सारा ढेर रीता है। जो तुम चाहते हो, वह मैं नहीं हूं। मैं उसका द्वार हो सकता हूं और चाहता हूं कि मुझे तुम द्वार ही समझो, अधिक न समझो। दरवाज़े को ही जो तुम मंज़िल समझोगे, तो दरवाज़ा इसमें क्या करेगा? मंज़िल की तरफ़ वह तुम्हें बढ़ा सकता है। पर तभी, जब तुम उसे छोड़ो।"

आज के ज़माने में बुद्धि इसी भूल में पड़ गयी है। लिफ़ाफ़े को उसने ख़त समझा है। इससे ख़त नहीं पढ़ती, लिफ़ाफ़े को ही देखती समझती रह जाती है। इसीसे शाखा-विज्ञान बहुत बन गये हैं, और बीच का मेरुदंड सूखते रहने को छोड़ दिया गया है। यानी विद्याएं बहुत हो गई हैं, पर जो इन सब विद्याओं का आधार होना चाहिए अर्थात् 'सर्व-भूतात्मरूप ब्रह्मन' वह उपेक्षा में रह गया है। परिणाम यह है कि अवयव सब पकड़ते हैं और हृदय को सब छोड़ते हैं। इस प्रकार की खंडित विद्या क्या अविद्या ही नहीं है? क्या उस अविद्या का ही परिणाम आज के युद्ध की भीषणता नहीं है?

पर हम दूर आ गये। बात कमाई और भिखाई से शुरू हुई थी। कमाई किसे कहते हैं? धन अपने चक्कर पर आ जा रहा है, जैसे नदी बहती है, कुछ उसमें नहाते हैं; कोई उससे खेत के लिए पानी लेते हैं, कुछ उसको देखकर ही आनन्द प्राप्त करते हैं। नदी अनेकों के अनेक प्रयोजन पूरा करती हुई,

समुद्र में गिरने के लिए बहती ही चली जाती है। ऐसे ही धन अपने बहाव में सब के प्रयोजनों को पूरा करता हुआ चलते चले जाने के लिए है। इस प्रक्रिया में कमाई क्या है? सच कहूं तो उस कमाई का मतलब मेरी समझ में नहीं आता। हरिद्वार की गंगा प्रयाग आई; जो पानी हफ़्ते पहिले हरिद्वार था, अब प्रयाग आ गया। क्या इस पर प्रयाग यह सोच सकता है कि हरिद्वार से हमने इस हफ़्ते गंगा के इतने पानी की कमाई कर ली? प्रयाग ऐसा नहीं सोच सकता।

पर हम ऐसा सोच सकते हैं। क्योंकि हम बुद्धिमान हैं। मेरी तिजोरी में आज दस हज़ार रुपये हैं। बाज़ार में बैठा था, तब गांठ में क्या था? यही सौ एक रुपल्ली होंगे। तीन साल में दस हज़ार रुपये की मैंने कमाई की! वाह, क्या बात है? मैं अपने से ख़ुश हूं कुनबे वाले ख़ुश हैं और सब मानते हैं कि मैं होनहार और कर्मण्य हूं। यह कमाई है।

अब चलिए, मैंने तो बाज़ार में तीन साल लगाये और घूमा फिरा और मिहनत की। पर वह देखिये। क्या भाग्य का सिकन्दर आदमी है? लड़ाई आई कि रंग में दो दिन में पन्द्रह हज़ार पैदा किये। हल्दी लगी न फिटकरी और देखते देखते मालामाल हो गये! लक्ष्मी की लीला तो है। अब सब उस भाग्य के बली और लक्ष्मी के वरद् पुत्र की ईर्षा करते हैं। यह कमाई है!

एक मज़दूर टोकरी ढो रहा है। जेठ आ रहा है; लू चल रही है; पसीना बह रहा है और वह टोकरी ढो रहा है। सूरज छिप चला; थक गया है; घर पर इन्तज़ारी होगी, पर वह टोकरी ढो रहा है। आख़िर लाला को दया आई। उन्होंने छः आने दिये। यह छः आने की कमाई है।

एक मित्र हैं। उनकी ख़ूबी है कि वह अपने पिता के पुत्र हैं। उनके पिता की ख़ूबी थी कि वह अपने पिता के पुत्र थे। और पीछे चलें तो पाँच पुश्त पहले वंश में एक पुरुषार्थी पुरुष हुआ था। उसने सामन्ती ज़माने में अपना गिरोह इकट्ठा करके एक नगर जीता और क़ाबू किया था। उसने अपने शत्रुओं पर विजय पाई, यानी उन्हें यमराज का घर दिखाया था। उस परम पुरुषार्थ के कारण उस पुरुष के पुत्र और उसके पुत्र और उसके पुत्र, इस तरह उस परम्परा के अन्तिम पुत्र होने की ख़ूबी से मेरे मित्र की कमाई आज तीस हज़ार रुपये साल की है। वह कहां से है? उनकी जायदाद और ज़मींदारी कहाँ-कहाँ है, आदि आदि मित्र को पूरी तरह पता नहीं है। पर कमाई उनकी तीस हज़ार है!

एक और भाई साहब हैं। अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, और उदार और ज्ञानी और सुशील। वह कलक्टर कहलाते हैं। उनकी कमाई है पच्चीस हज़ार रुपया साल। उनका काम है कलक्टरी।

और एक वायसराय हैं। वायसरायगिरी करते हैं। जो कि बेहद ज़िम्मेदारी का काम है। उनकी कमाई की मुझे कूत नहीं। वह भी ख़ासी होनी चाहिए, क्योंकि पसीने की वह नहीं है। पसीने की कमाई ही इतनी कम हो सकती है कि पेट न भरे। क्योंकि पेट भरेगा तो मेहनती मिहनत से जी चुरायेगा। इससे अक़्ल की ही कमाई को हक़ है कि वह लम्बी-चौड़ी हो। मिहनत की कमाई अधिक होगी, तो उसमें मिहनती का नुक़सान होगा।

ख़ैर, ऊपर तरह तरह की कमाइयां गिनाई हैं। इन सब में दो बात सामान्य हैं; जिसकी वजह से वे सभी कमाई कहलाती हैं। एक तो यह कि कमाई करने वाला जेल नहीं जाता, इस कारण उसको चुराई या ठगाई हम नहीं कह सकते; कमाई ही कह सकते हैं। दूसरा यह कि हर कमाई, जिसकी वह समझी जाती है, उसकी जेब (बैंक हिसाब) में आकर पड़ती है।

इस पर से दो मूल सिद्धान्त समझे जा सकते हैं:—

एक, कि कहीं से चलकर जो रुपया हमारी जेब या तिजोरी में आये वह हमारी कमाई है।

दो, शर्त्त यह कि उसमें हमें जेल न हो, यानी वह वैध हो।

अर्थात् वह सब रुपया हमारा कमाया हुआ है और उस सब रुपये पर ख़र्च करने का हमारा हक़ है। जो इस तरह से या उस तरह से; इस जेब से या उस जेब से, हमारी मुट्ठी तक आ गया है। सीमा यह कि इस तरह ख़र्च करने वाला खुले समाज में हो; बन्द जेल में न हो।

दूसरी शर्त बहुत ज़रूरी है। कमाई और ठगाई में वही भेद डालने वाली रेखा है। वह है, जेल। जेल पा गये, तो तुम्हारी कमाई कमाई नहीं मानी जायगी। जेल पाने से बचे रहे, तो बेशक तुम्हारी कमाई कमाई है। और तब अपने धन के परिमाण में ही तुम्हारी ऊँचाई की नाप होगी।

यह तो हुआ; पर भीख से पैसा पाने की विधि को यानी भिखाई को मैं कहां रखूं? उसमें भी पैसा आता है और जेल बची रहती है। भिखारी जेल पाया तो गया। पर जेल के बाहर भिखाई के पैसे को कमाई का पैसा कैसे न माना जाय, यह मेरी समझ में किसी तरह नहीं आता है।

आप कहेंगे मेरी भाषा में व्यंग है। पर मैं सच कहता हूं कि कमाई अगर सच्ची हो सकती है, तो वह भीख की ही कमाई है, नहीं तो कमाई शब्द ही एक दम झूठ है।

पैसा मेरी जेब में आना कमाई है। बेशक, उसमें यह सिफ़त होनी चाहिए कि जेल मुझे न मिले। अब सवाल है कि दूसरे की जेब से या मिहनत से मेरी जेब में पैसा आता कैसे है? इसके कई तरीक़े हैं।

पहला गुण लोभ कहा जा सकता है। इसलिए अपनी चीज़ के लिए दूसरों में लोभ पैदा करना कमाई बढ़ाने का पहला असूल है। विज्ञापन की और बिक्री की कला यही है। लोभ हुआ कि काम जागा। तब उस जेब से पैसा निकल कर आपकी जेब में आने से रुकेगा नहीं।

दूसरा है गरज़। अकाल है और लोग भूखे हैं। सबको अन्न चाहिए। अब जिसके पास अन्न है, उसने दाम चढ़ा दिये। इस तरह खिंच कर पैसा आ गया। या ज़ोर-ज़बरदस्ती है। लेकिन उसके पीछे कोई क़ानूनी बल चाहिए। जैसे ज़मींदारी, अफ़सरी इत्यादि।

एक तरीक़ा जो बारीक है, उसका नाम सट्टा है। वह खेल सम्भावनाओं पर चलता है। उसमें भी लोभ उकसा कर जेबों का पैसा निकाला जाता है। और वह गिनी चुनी जेबों में बह आता है।

एक आम तरीक़ा है, जिसको नौकरी कहते हैं। इसमें नौकर पैसा खींचता नहीं, पैसा पाता है। यानी उसके इस्तेमाल से पीठ पीछे बैठा हुआ दूसरा कोई आदमी, जो पैसा खींच रहा होता है, वह नौकर को ज़िन्दा और काम लायक़ रखने के लिए उसे खाने-पीने को कुछ देता रहता है।

इनके बाद करुणा के ज़ोर से भी किसी जेब से पैसा निकलवाया जा सकता है। दान और भिक्षा में अधिकतर यही वृत्ति रहती है।

रुपया फिर प्रीति के नाते भी हस्तान्तरित होता है। जैसे मित्र की सहायता, परिवार का पालन आदि। वहां रुपये के देन-लेन में किसी तरह के एवज़ का भाव नहीं रहता।

इन सब पद्धतियों में रुपये का आना-जाना जहां प्रेम के कारण होता है, उसको मैं सब से उचित समझता हूं। उसमें न देने वाले को देने का, न लेने वाले को ही अपने लेने का पता रहता है। मानों अपने सम्बन्धों के बीच पैसे की वहां किसी को सुध ही नहीं है। पैसे का यह आदान-प्रदान बन्धन नहीं पैदा करता, दोनों ओर आनन्द की ही सृष्टि करता और उनके बीच घनिष्ठता लाता है। पर, इस कोटि के आदान-प्रदान में कमाई शब्द काम में नहीं आ सकता। पिता ने पुत्र को सौ रुपये दिये, तो इसमें पिता को सौ का घाटा हुआ और पुत्र को सौ का लाभ हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। दूसरे की जेब से निकल कर अपनी जेब में आना कमाई है; पर वहां दो अलग अलग जेबें ही नहीं हैं।

सच पूछिए तो मैं वही स्थिति चाहता हूं, जहां कमाई ख़त्म हो चुकी है। जहां जीवन की आवश्य-

कलाएँ ही पूरी होती हैं। न आने वाले पैसे के प्रति लोभ है, न उसके आने में चतुराई का प्रयोग या अहसान का अनुभव है।

उससे हटकर कमाई की जो और कोटियां हैं, उनमें करुणा की प्रेरणा से जहां पैसा आता जाता है, वह श्रेष्ठतर मालूम होता है। वह है दान, भिक्षा। करुणा प्रेम से भिन्न है। करुणा में बंधन है और आत्मा पर दबाव है। उसमें दयावान और दया-पात्र में कक्षा-भेद हो जाता है। यानी उसमे दो व्यक्तियों के बीच समत्व-सम्बन्ध का भङ्ग होता है। इससे करुणा-प्रेरित दान आदि अन्त में सामाजिक विषमता और जड़ता उत्पन्न करने का कारण होते हैं। उसमें दोनों ओर आत्मा को प्रसार और विस्तार नहीं प्राप्त होता, बल्कि कुंठा और संकुचन होता है। मानों भिक्षा देने वाला भी भिखारी के सामने अपने को किंचित लज्जित अनुभव करता है। अर्थात् पैसे का इस प्रकार आदान-प्रदान भी इष्ट और उत्कृष्ट तो नहीं है। अर्थात् यह कोटि पहली से उतरती हुई है, पर तीसरी कोटि से अच्छी भी हो सकती है।

तीसरी है नौकरी और मज़दूरी की कमाई की कोटि। बिलकुल हो सकता है, और शायद है, कि नौकर जिसकी नौकरी और मज़दूर जिसकी मज़दूरी करता है, उसके प्रति अन्दर से वह एक दम अश्रद्धा के भाव रखता हो। तब जो उनके बीच मिहनत और तनख्वाह का आदान-प्रदान है; वह दोनों ओर हीनता और दूरी व द्वेष पैदा करने का कारण होता है।

चौथी कोटि जहाँ लोभ उकसा कर लाभ किया जाता है, सब से प्रचलित और सब से वैध है। पर मुझे वह निकृष्ट मालूम होती है।

पाँचवीं है लाचारी से लाभ उठाना। यह निन्द्य है और क़ानूनन उस पर रोक-थाम भी की जाती है।

मिहनत बिना अमुक के पुत्र और पौत्र होने के बलपर जो बड़ी बड़ी 'कमाइयों' की सुविधा मिल जाती है—उसका भी औचित्य विशेष समझ में नहीं आता। ज़रूरी नहीं है कि एक प्रतिभाशाली पिता के पुत्र को अपनी पैत्रिक प्रतिष्ठा से हीन रखा जाय। पर स्वयम् कर्म-हीन होकर वह अपने पिता की प्रतिभा के फलों को बैठा-बैठा खाया करे, यह उचित नहीं मालूम होता।

इन सब से परिणाम निकलता है कि उत्कृष्ट स्थिति वह है, जहाँ परस्पर में लेन-देन की भावना ही नहीं है, एक दूसरे के अर्थ जीने की भावना ही नहीं है। इन सम्बन्धों पर आश्रित परस्पर का व्यवहार ही सच्चा व्यवहार है। अपने को और समाज को हमें उसी तक उठाने का प्रयत्न करना होगा।

पर, उससे उतर कर आदमी आदमी के बीच करुणापूर्ण व्यवहार मुझे पसन्द है। अर्थात् कमाई की रोटी नहीं, दान और भीख की रोटी मुझे पसन्द है।

इस बात पर तनिक रुक कर मुझे अपने को साफ़ करना चाहिये।

मैंने पुस्तक लिखी और प्रकाशक से रुपये पाये। अब दो बात है, एक, कि मैं उसे अपनी कमाई कहूं; दो, कि मैं उस प्रकाशक की कृपा कहूं। मैं दूसरी बात पर क़ायम हूं। कमाई मायावी शब्द है। उस शब्द के सहारे माया जुड़ती है और भीतर की सच्चाई नहीं जागती। सचाई है प्रेम। लेकिन कमाई शब्द मुझमें ऐसा भाव भरता है कि प्रकाशक को प्रेम देने में मैं असमर्थ हो जाता हूं। मानो कि मैंने किताब लिखी, तुमने पैसा दिया। बस अब हम दोनों चुकता हैं। मानो कि एक दूसरे को समझने की आवश्यकता और एक दूसरे के लिए झुकने और काम आने की भावना से ही हम ऐसे चुकता हो जाते हैं। यानी हमारा आदान-प्रदान एक दूसरे को दो किनारों पर डाल देता है और वह रुपया ही आकर बीच में खाई बन जाता है। नहीं, मैं उस रुपये को अपनी कमाई नहीं, दूसरे की कृपा मानूंगा। आप कहोगे कि "तुम हो भोले। प्रकाशक बाज़ार में बैठता है और किसी को एक देता है तब, जब कि उसके दो वसूलता है। तुम्हारी किताब छाप कर तुम्हें जितने दिये हैं, उससे चौगुने दाम अपने खरे न करले तो प्रकाशक कैसा! तुम कृपा कहते हो, पर वह ठगी है। चार में तुम्हें

एक देकर तीन उसने अपनी जेब में डाले हैं। तुम्हारे आंखें हों तो तुम्हें कभी सन्तुष्ट न होना चाहिये। अभी एक मिलता है, तो ज़रूर ले लो; लेकिन बाक़ी तीनों पर अपनी निगाह जमाये रखनी चाहिये।" आपकी यह बात सही हो सकती है। पर, फिर भी मैं 'उनकी कृपा' की जगह 'अपने हक़' के शब्द को इस्तेमाल नहीं करना चाहता। क्योंकि मैं नहीं चाहता कि दो व्यक्ति अपनी सीमाओं पर काँटे के तार खड़े करके मिलें। ऐसे वे कभी एक दूसरे में घुल नहीं सकेंगे और न उनमें ऐक्य उत्पन्न होगा। वैसे आपस में वे सदा कतराते रहेंगे और फल उसका वैर होगा।

इस तरह मैं अपनी कमाई का खाता हूं—इस झूंठे गर्व से मैं मुक्त हो जाना चाहता हूं। अगर ईश्वर है, तो मेरा-तेरा झूंठ है। अगर ईश्वर की यह दुनिया है, तो उसकी अनुकम्पा पर ही हम जीते हैं। अगर ईश्वर सर्वव्यापी है, तो उसकी अनुकम्पा भी सब में है और उसी के बल पर हमें जीना चाहिये।

इस दृष्टि से जिसको बाक़ायदा कमाई कहा जाता है; उसको मैं अच्छा नहीं मानता। उससे अहंकार का चक्र कसता और बढ़ता है। इससे मैं-तू और मेरा-तेरा बढ़ता है।

मैं जानता हूं कि हमारे समाज में एक चीज़ है, इज़्ज़त। उसको बुरी मानकर हमारा सभ्य-जीवन चल रहा है। अरे, हरेक अपनी इज़्ज़त रखता है। कमाई नाम का शब्द उसकी इज़्ज़त को मज़बूत और क़ायम बनाता है। वह कमाता है, इसलिए उसकी नाक किसी से क्यों नीची हो? नवाब घर का नवाब हो, अपने घर में हम भी नवाब हैं। इस तरह कमाई पर टिक कर हम अपना आत्म-सम्मान सुरक्षित करते हैं। इस तरह हम इस लायक़ होते हैं कि किसी को चुनौती दे सकें।

इसमें भी तथ्य है। पर जो अतथ्य है, वही मैं दिखाना चाहता हूं। कमाई के बल पर हम सच्चे भाव में विनम्र बनने से बचते हैं। अपने इर्द-गिर्द इज़्ज़त का घेरा डालते हैं, जो हमारे विकास को रोकता है। हम उससे अहम् को केंद्रित करते हैं और फलतः सेवा-कर्म के लिए निकम्मे होते हैं।

संक्षेप में अपने लिए, मैं कमाई के धन को नहीं, भिक्षा के अन्न को अच्छा समझता हूं। कमाई में आगे की चिन्ता है। आगे का अन्त नहीं, इससे चिन्ता का भी अन्त नहीं। दस हज़ार हैं तो वह थोड़े; पचास हज़ार हैं, तो पांच बेटों में बँट कर भला वह क्या रह जायँगे? इस तरह भविष्य के अविश्वास के आधार पर चिन्ता का पहाड़ का पहाड़ हम अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं। तब चिड़िया जैसे सबेरा निकलते ही चह चहाती है, वैसे हम नहीं चह चहा पाते। कमर झुक जाती है, क्योंकि अनन्त चिन्ता का बोझ उस पर हम धर लेते हैं। मस्तक तब आकाश में नहीं उठ सकता। दूसरे का दुख देखने की फ़ुरसत नहीं रहती, क्योंकि हम अपने और अपनों से दब जाते हैं।

नहीं नहीं, विश्वास का रास्ता आस्तिक का रास्ता है। कल की शंका करके आज को मैं नष्ट कैसे करूँ। और यह सच है कि आज यदि नष्ट नहीं होगा, तो कल और पुष्ट ही होने वाला है। पर कल के दबाव में आज को हाथ से जाने देते हैं, तो फिर कल भी कोरा ही रह जाने वाला है।

मातृवाणी

मातुः श्री पांडीचेरी

(गतांक से आगे)

इन्साफ विश्व-प्रकृति की गतियों का कठोर युक्ति संगत विधि विधान है।

रोग हैं, स्थूल शरीर पर प्रयुक्त यही विधि विधान। चिकित्सा शास्त्रियों की मन-बुद्धि इस अपरिहार्य इन्साफ़ को अपना आधार बनाकर ऐसी अवस्थाओं को उत्पन्न करने की चेष्टा करती है, जो सिद्धान्ततः अच्छे स्वास्थ्य को देने वाली हों।

इसी प्रकार नैतिक चेतना समाज-शरीर पर कार्य करती है, और तपस्या आध्यात्मिक क्षेत्र में।

केवल भगवत् कृपा में ही यह शक्ति है कि वह इस विश्वव्यापी इन्साफ़ के कार्य में हस्तक्षेप कर सके और उसके क्रम को बदल सके। इस भगवत् कृपा को पृथ्वी पर अभिव्यक्त करना, यही है अवतार का महान् कार्य। अवतार का शिष्य होना इस भगवत् कृपा का एक उपकरण बनना है। माता—तादात्म्य द्वारा—इस भगवत् कृपा को बांटने वाली देवी हैं, जो इस विश्वव्यापी इन्साफ़ की नितांत यांत्रिकता—का—तादात्म्य द्वारा—पूर्ण ज्ञान रखती हैं।

और उनको बीच में रखकर की हुई भगवान् की ओर सच्ची और विश्वास पूर्ण अभीप्सा की प्रत्येक गति इस क्रिया को हस्तक्षेप करने के लिये यहां नीचे बुला लाती हैं।

ओ प्रभु! ऐसा कौन है, जो तेरे सामने खड़ा होकर पूरी सचाई के साथ यह कह सके कि "मैंने कोई ग़लती नहीं की!" प्रत्येक दिन न मालूम कितनी बार हम लोग तेरे कार्य के विरुद्ध आचरण कर अपराध करते हैं, और सदा तेरी कृपा आकर उन अपराधों को मिटा देती है!

तेरी कृपा के लगातार हस्तक्षेप के बिना ऐसा कौन था, जो इस विश्वव्यापी इन्साफ़ के छुरे की निर्दय धार के नीचे अक्सर न आया होता?

यहां का प्रत्येक व्यक्ति एक-एक ऐसी असंभवता का प्रतिनिधि है, जिसका समाधान करना है, पर यदि तेरी दिव्य कृपा की ओर देखें, तो उस कृपा से सब कुछ संभव है, यह तेरा कार्य होगा कि इन सब असंभवताओं को दिव्य सिद्धियों में रूपान्तरित करके, जहां समग्र रूप में वहां प्रत्येक ब्यौरे में भी, परिपूर्ण कर देना।

(४)

यह जगत् एक गड़बड़ झाला है, जिसमें अंधकार और प्रकाश, असत्य और सत्य मृत्यु और प्राण, कुरूपता और सौंदर्य, घृणा प्रेम इतने पास पास लिपट गये हैं कि इनका अलग-अलग भेद करना प्रायः असंभव है; इससे भी अधिक असंभव है इनको जुदा कर देना और इस जट का—जो एक निर्दय संघर्ष सूचक विभीषिका है—अंत कर देना। यह संघर्ष और भी भीषण इसलिये हो जाता है कि यह परदे की आड़ में छिपा हुआ है, विशेषतः मानव-चेतना में जहां यह ज्ञान के लिये, शक्ति के लिये, विजय के लिये होने वाली तीव्र मनोवेदना में परिवर्तित हो जाता है। यह मनोवेदना एक अज्ञानमय और दुःखदायी युद्ध है, एक वीभत्स युद्ध है, क्योंकि इसका ओर-छोर कहीं नज़र नहीं आता, किन्तु यह समस्या हल हो सकती है इंद्रियों, मायास्पर्शों और भावनाओं के, अर्थात् मन के क्षेत्र से परे की भूमिका में—भागवत चेतना में पहुंच कर।

अनुवादक—श्रीमदनगोपाल गाड़ोदिया

बेर्गसों का दर्शन

डाक्टर नारायण विष्णु जोशी, एम० ए०, डी० लिट्

(२)

यों तो बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का आरंभ काँट ही से होता है। 'शुद्ध-बुद्धि की मीमांसा' द्वारा जब काँट ने यह जान लिया कि ज्ञान से दार्शनिक तत्त्वों का साक्षात्कार संभव नहीं, तब इन तत्त्वों का साक्षात्कार करने के लिए उसने शुद्ध-बुद्धि को छोड़ कर कर्म-बुद्धि का आश्रय लिया। इस विचार से उसने 'कर्म-बुद्धि की मीमांसा' को लिखा। किन्तु यहां भी काँट निराश हुआ। 'कर्म-बुद्धि की मीमांसा' के अन्तिम अंश में काँट ने यह बतलाया कि आत्मा का स्वातंत्र्य, आत्मा की अमरता एवं ईश्वर, ये नीति की तीन अनिवार्य मान्यताएं हैं। इन्हें माने बिना नीति की कोई व्याख्या नहीं हो सकती। किसी उद्देश्य के बिना हम अपनी नैतिक प्रगति का किस प्रकार मान कर सकते हैं? उसी प्रकार यदि हम आत्मा को अपने उद्देश्य की ओर बढ़ने में स्वतंत्र तथा उसकी अपने उद्देश्य की ओर अविराम गति से बढ़ने की क्षमता को भी न मानें, तो नीति का मतलब ही कुछ नहीं रह जाता। अतः ईश्वर, आत्मा स्वातंत्र्य एवं अमरता नीति की अनिवार्य मान्यताएं हैं। किन्तु काँट ने उसी ग्रंथ में 'शुद्ध-बुद्धि की मीमांसा' की तरह, आगे चल कर यह बतलाया है कि उपर्युक्त मान्यताएं नीति के नियामक तत्त्व हैं, न कि विधायक तत्त्व। अर्थात्, जिन मान्यताओं के बिना नीति आगे बढ़ नहीं सकती, वे स्वयं नीति द्वारा प्राप्त नहीं हैं।

जब काँट ने 'कर्म-बुद्धि की मीमांसा' में भी दार्शनिक तत्त्वों के साक्षात्कार के विषय में अपनी निराशा व्यक्त की, तब उसने इष्टपूर्ति के लिए सौंदर्य-भावना का आश्रय लिया। अपने Critique of Judgment में उसने सौंदर्य-भावना की मीमांसा की है। किन्तु अन्त में इसका परिणाम भी वही निकला, जो अन्य मीमांसाओं का था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धिवाद से पराङ्मुख हो कर काँट ने जब कर्म-बुद्धि और भावना का आश्रय लिया, तब उसे उनसे दार्शनिक तत्त्वों के साक्षात्कार के विषय में किसी प्रकार की आशा की संभावना नहीं मिली। किन्तु जो लोग वैज्ञानिक और दार्शनिक बुद्धिवाद से उकता गये थे और अपने अनुभव के विरुद्ध अपनी आत्मा को अचल मानने के लिये तय्यार नहीं थे, उन्हें उस बुद्धिवाद से बचने के लिए काँट की 'कर्म-बुद्धि की मीमांसा' में एक गली मिल गई।

यहीं से एक नयी विचार धारा का आरंभ होता है, जो अभी तक प्रबल वेग से प्रवाहित है। इस दार्शनिक विचार धारा को Neo-Romanticism कहते हैं। हम हिन्दी में इसको अभिनव दार्शनिक स्वातंत्र्यवाद कहेंगे। क्योंकि इस नयी विचार धारा का सबसे प्रमुख परिचायक लक्षण यह है कि वह बुद्धि के स्थान पर कर्म और भावना की स्थापना करती है। अतः वह दर्शन को बुद्धितंत्र न

मानते हुये कर्म अथवा भावना तंत्र मानती है। और चूंकि कर्म और भावना का उद्गम आत्मा के स्वातंत्र्य से है, अतः कर्म और भावना-तंत्र विचार धारा को स्वातंत्र्यवाद में संक्षित किया गया है। इस नयी विचार धारा के अनुसार बुद्धि और बुद्धि का समस्त वैभव हमें केवल बाह्य जगत की वस्तुओं पर अधिकार देते हैं। जितने विज्ञान हैं और विज्ञान के जितने मात्र नियम हैं, वे हमें बाह्य जगत की वस्तुओं से व्यवहार करने में अति उपयोगी हैं। इस व्यवहारोपयोगिता (Pragmatism) के अतिरिक्त बुद्धि का हमारे जीवन के लिये कोई उपयोग नहीं। क्योंकि हमारा आंतरिक जीवन, जो स्वयं सत्य है, निरंतर प्रवहमान है, सृजनशील एवं विकस्वर है, उसके कोई दो क्षण एक से नहीं होते। जीवन की सतत प्रवहमान स्वतःस्फूर्त गति को समझना हमारी बुद्धि के सामर्थ के बाहर है। क्योंकि, बुद्धि गतिशील सत्य के केवल उन्हीं क्षणों को पकड़ती है, जो संपूर्णतया एक जैसे न होते हुए भी व्यावहारिकता के लिए एक जैसे माने जा सकते हैं। इन क्षणों की काल्पनिक समानता से बुद्धि वैज्ञानिक व्याप्तियों और नियमों का निर्माण करती है। विज्ञान के इन्हीं नियमों और व्याप्तियां द्वारा हम व्यावहारिक जगत् की वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाये रखते हैं। बुद्धिवाद इन्हीं अचल व्याप्तियों और नियमों को सत्य मानता है। किन्तु यह धारणा ग़लत है। क्योंकि, जैसा कि अभी बतलाया गया है, विज्ञान के नियम गतिशील सत्य के उन क्षणों से निर्मित हैं, जिन्हें अपने व्यवहार के लिए हम एक समान मान लेते हैं। वास्तव में वे तो उस गति के अंग होते हैं, जो गति स्वयं सत्य है और कभी भी एक जैसी नहीं रहती। यह चिर परिवर्तनशील सत्य बुद्धिगम्य नहीं है। उसे हम अपनी कर्म और भावना-शक्तियों द्वारा ही पहचान सकते हैं। इस प्रकार अभिनव स्वातंत्र्यवाद सत्य को प्रगमनशील, चिर परिवर्तनशील मानता है और उसे बुद्धि गम्य न मानते हुये कर्म अथवा भावना गम्य। मानता है।

हेगेल के दर्शन में पर्यवसित दार्शनिक बुद्धिवाद के विरुद्ध सर्व प्रथम शोपेनहार और हार्टमान ने प्रतिक्रिया की। चूंकि हेगेल बुद्धि का पुजारी था, इसलिए इन्होंने, प्रतिक्रिया के आवेश में, बुद्धि को दर्शन के क्षेत्र से एक दम अलग हटा दिया। यही कारण है कि शोपेनहार ने अपने दार्शनिक तत्त्व को अंध इच्छा (Blind will) कहा और हार्टमान ने अपने तत्त्व का नाम विचेतन (Unconcious) रखा। 'विचेतन' का अर्थ अचेतन अथवा जड़ नहीं है। यह शब्द केवल इसलिये प्रयुक्त किया गया है कि उसके द्वारा बौद्धिक चेतना को दर्शन में अवकाश न मिल सके।

इस बुद्धि विरोधी विचार धारा के प्रारंभ होते ही अनेक दार्शनिकों ने विज्ञान की आलोचना शुरू की। इनमें से प्रमुख के नाम हैं माख, राव्हेसौं, सेक्रेतां, बूत्रू। उदाहरणार्थ, बूत्रू ने अपनी पुस्तक Contingency of National laws में कहा है:—

"स्वयं विज्ञानों में संप्राप्त प्राकृतिक नियम की कल्पना का विश्लेषण करने पर मुझे मालूम हुआ कि ये नियम आदि तत्व नहीं, किन्तु एक परिणाम हैं, जीवन, भावना और स्वातंत्र्य ही सत्य और गंभीर वास्तविकताएं हैं, जब कि विज्ञान द्वारा आकलित इनके अपेक्षाकृत अचल और साधारण रूप इन्हीं वास्तविकताओं की अपर्याप्त अभिव्यक्ति मात्र हैं। (p. VI)

ड्यूवी, विल्यम जेम्स और शिलर ने तो अपने दर्शन का नामकरण उपयोगितावाद (Pragmatism) यह बतलाने के लिये किया कि उनके मतानुसार समस्त बौद्धिक ज्ञान उपयोगितामूलक है। उसी प्रकार, नव-स्वातंत्र्यवाद की सब से गम्भीर शाखा Philosophy of Values के उन्नायक म्युन्स्टरबर्ग, रिकर्ट आदि भी वस्तुवृत्त (Fact) और मूल्य (value) में अंतर करते हैं। वस्तुवृत्त वह है, जो सत्य को बाहर से देखने के फल स्वरूप प्राप्त होता है। किन्तु मूल्य यह है, जो हमारी आत्मा को संतुष्ट करता है। विज्ञान का सम्बन्ध वस्तुवृत्तों से है और दर्शन

का उन चिरंतन मूल्यों से है, जो मानवता की आध्यात्मिक प्रगति के आदि प्रेरक हैं।

सोचिये बेर्गसों के दर्शन में अभिनव स्वातंत्र्यवाद के तत्त्वों की बहुत ही उत्तमता और विस्तार के साथ अभिव्यक्ति हुई है। अभिनव स्वातन्त्र्यवाद के अभिभावकों की तरह बेर्गसों भी सत्य को प्रवहमान, सृजनशील, विकस्वर एवं परिवर्तनशील मानता है। साथ ही वह बुद्धि को व्यवहारोपयोगी एवं सत्य के साक्षात्कार के लिये सर्वथा अनुपयुक्त मानता है। यहां हमें बेर्गसों की इन तत्त्वों को प्रतिपादन करने की शैली से कुछ अधिक परिचय प्राप्त करना अनुचित न होगा।

बेर्गसों की कृतियों में उसका "L 'Evolution' Creatrice" मेरु-मणि है। इस ग्रंथ के प्रारम्भ ही में बेर्गसों ने अपनी सत्य की कल्पना की रूपरेखा दी है:—

"वह अस्तित्व, जिसका हमें पूरा पूरा विश्वास है और जिसे हम उत्तमता से जानते हैं, वह निस्संशय हमारा अपना ही है। कारण अन्य विषयों के सम्बन्ध में हमारे विचार ऊपरी और बहिरंगस्पर्शी माने जा सकते हैं, किन्तु अपने सम्बन्धी हमारा अनुभव आभ्यंतर एवं प्रगाढ़ होता है। तब हमें क्या मिलता है? इस विशिष्ट बात में "अस्तित्व" शब्द का ठीक ठीक अर्थ क्या है?"

"सर्व प्रथम मैं अपने आपको एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रमण करता हुआ पाता हूं। मुझे गरमी लगती है अथवा सर्दी, मैं प्रसन्न हूं अथवा व्यथित, मैं काम करता हूं अथवा कुछ नहीं करता, मैं अपने आस पास की बातों पर ध्यान देता हूं अथवा मैं किसी अन्य वस्तु पर विचार करता हूं। संवेदना, भावना, इच्छा, कल्पना—ये हैं वे परिवर्तन, जिनमें मेरा अस्तित्व विभक्त है और जो बारी बारी से उसे रंग देते हैं। अतः मैं अविराम बदलता जाता हूं।" (Cr. Evo. p. I)

कुछ आगे चल कर बेर्गसों कहता है।

"इस प्रकार हमारा व्यक्तित्व निरंतर अंकुरित होता है, बढ़ता है, और परिपक्व होता है। उसके क्षणों में से प्रत्येक में कुछ तो भी नावीन्य होता है, जो पहले जो कुछ था, उसकी अपेक्षा कुछ अधिक होता है; वह केवल नवीन ही नहीं होता, किन्तु अपूर्व दृश्य भी होता है। निस्संशय, मेरी वर्तमान स्थिति का स्पष्टीकरण मुझ में जो कुछ विद्यमान है, उससे एवं एक क्षण के पूर्व मुझ पर जिसकी प्रतिक्रिया हो रही थी, उससे हो सकता है। उसके विश्लेषण में मुझे कोई अन्य अवयव नहीं मिलने चाहिये। किन्तु अमानुषीय बुद्धि भी उस साधारण अविभाज्य रूप का पूर्व दर्शन नहीं कर सकती, जो कि इन शुद्ध पृथकृत अवयवों को सुगठित व्यवस्था प्रदान करती है। कारण, पूर्व दर्शन के लिये आवश्यक है कि भविष्य में उन वस्तुओं की कल्पना की जाय। किन्तु जो अननुभूत पूर्व है और साथ ही जो साधारण हैं, वह अवश्य अपूर्व दृश्य भी है। उत्क्रम्यमाण इतिहास में एक क्षण के समान मानी जाने वाली हमारी प्रत्येक स्थिति की भी यही बात है; वह साधारण है, और वह पूर्व दृष्ट नहीं हो सकती। अपनी अविभाज्यता में वह जो कुछ अनुभूत है, उसे तथा वर्तमान उसमें जो कुछ बढ़ा देता है, उस सब को केन्द्रित कर लेती है। वह एक मौलिक इतिहास का एक मौलिक क्षण है।" (Cr Evo.. pp 6-7)

ऊपर के उद्धरणों से हम समझ सकते हैं कि बेर्गसों आत्मा को प्रगमनशील, विकस्वर, और सृजनशील मानता है। आत्मा की गति स्वतः स्फूर्त है। उसका प्रत्येक क्षण नवीन है, अपूर्वदृष्ट है; इसलिये कि वह नवसृष्ट है। इसके अतिरिक्त, बेर्गसों आत्मा को पूर्णतया स्वतंत्र मानता है। क्योंकि यदि आत्मा की गति स्वतः स्फूर्त है, तो उस की गति की प्रेरणा भी उसी के अन्दर है। अर्थात् आत्मा सदैव अपनी इच्छा से निश्चित उद्देश्य का ही अनुकरण करती है। यहां बेर्गसों वैज्ञानिकों की बाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित विकास की एवं दार्शनिकों की किसी ध्येय की ओर प्रवर्तमान आध्यात्मिक विकास की कल्पनाओं का एक साथ यह कह कर खंडन करता है कि ये दोनों कल्पनाएं विकास की प्रेरणा को आत्मा से बाहर मानती हैं। किन्तु यदि आत्मा अपने से बाहर स्थित

किसी प्रेरक शक्ति से परिचालित हो, तो वह स्वतन्त्र नहीं अपितु परतन्त्र और विनिश्चित (determined) हो जायगी। डार्विन और स्पेंसर आदि द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक विकासवाद के सम्बन्ध में बेर्गसों ने लिखा है:—

"जड़वाद की व्याख्याओं का सार वस्तुतः यह है कि वे भूत और भविष्य को वर्तमान का परिगणनीय धर्म समझती हैं, और इस बात का दावा करती हैं कि अखिल प्रत्यक्ष है। इस कल्पना के अनुसार भूत, वर्तमान और भविष्य की परिगणना करने में समर्थ अमानुषी बुद्धि एकदम ही आकलन कर लेगी।" (Cr. Evo.)

उत्क्रांति की विज्ञान द्वारा दी गई जड़वादात्मक व्याख्या की तरह हेगेल आदि दार्शनिकों द्वारा पुरस्कृत आध्यात्मिक व्याख्या का भी बेर्गसों इन शब्दों में प्रत्याख्यान करता है :—

"किन्तु परमावधिक ध्येयवाद (Radical finalism) भी हमें अस्वीकार्य है और उसी कारण से। अपने परमावधिक स्वरूप में······ध्येयवाद के सिद्धान्त में यह अंतर्हित है कि जग का वस्तुजात पूर्व कल्पित योजना को ही कार्यान्वित करता है। किन्तु यदि संसार में कुछ भी,—न रचना, न सृजन—अपूर्वदृष्ट न हो, तो काल पुनः निरर्थक हो जाता है। जड़वाद की कल्पना के अनुसार यहां भी हम यही सोचते हैं कि 'अखिल प्रत्यक्ष' है। इस प्रकार समझा जाने पर ध्येयवाद केवल परिवर्तित जड़वाद ही है। वह उन्हीं मान्यताओं से उद्भूत है; भिन्नता केवल इतनी ही है कि हमारी परिमित बुद्धियों की उन क्रमागत वस्तुओं के साथ जाने वाली गति में, जिनकी परम्परा आभास मात्र होती है, वह अतीत के प्रचोदन के स्थान में भविष्य के आकर्षण को सन्निविष्ट करता है।" (Cr. Evo.)

उत्क्रान्ति की उपर्युक्त वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक कल्पनाओं के स्थान में, बेर्गसों हमें 'सृजनशील उत्क्रान्ति' की कल्पना देता है। आत्मा, अपनी स्वतः स्फूर्त शक्ति द्वारा, जिसे बेर्गसों जीवनोत्साह (elan vital) कहता है, स्वेच्छानुसार सृजन करती जाती है। उत्क्रान्ति की अन्य कल्पनाओं की तरह 'सृजनशील उत्क्रान्ति' आत्मा को एक रेखानुवर्तिनी (unilinear) नहीं मानती। क्योंकि आत्मा, स्वतन्त्र होने के कारण, किसी एक निश्चित ध्येय की ओर जाने को बाध्य नहीं है। वह स्वेच्छानुसार किसी भी दिशा में प्रवृत्त होती है। अतः 'सृजनशील उत्क्रान्ति' बहुरेखानुवर्तिनी है। कहते हैं कि बेर्गसों की इस कल्पना को कई प्राणि-शास्त्रज्ञों ने प्रामाणिक माना है।

अब बेर्गसों का कथन है कि विकस्वर और सृजनशील सत्य को जानने में बुद्धि सर्वथा असमर्थ है। सिनेमेटोग्राफ़ की तरह बुद्धि सत्य की साधारण एवं अविभाज्य गति के अनेक अचल चित्र लेती है; और उनकी अनुक्रम संख्या से तरतीब जमा कर वह समझती है कि उसने सत्य की गति को पा लिया। किन्तु बुद्धि की यह धारणा ग़लत है। किसी गति के अचल चित्रों को लेकर हम उस गति की गतिमानता को सर्वथा छोड़ देते हैं, उसकी अविभाज्यता को नष्ट करके उसको हम खंड खंड कर देते हैं; और इन अचल खंडों को एकत्रित रखकर हम यह समझते हैं कि हमने गति को पा लिया! यह भूल नहीं तो क्या है !

"अपने आपको वस्तुओं की आन्तरिक भूयमानता (Becoming) में अधिष्ठित न करते हुए, हम अपने आपको उनके बाहर रखते हैं, ताकि हम कृत्रिमता से उनकी भूयमानता का पुनर्निर्माण कर लें। हम मानों प्रवहमान वास्तविकता के चलचित्र लेते हैं, और चूंकि ये वास्तविकता के लक्षणों से उपहित हैं, इसलिये हमें उन्हें ज्ञान-यन्त्र के पीछे स्थित अमूर्त, एक रूप और अदृश्य भूयमानता पर पिरोना मात्र रह जाता है, ताकि इस व्यवस्था द्वारा हम इस भूयमानता की जो विशिष्टता है, उसका अनुकरण कर लें। अवलोकन, चिन्तन, भाषा ये साधारणतः इसी प्रकार अग्रसर होते हैं। हम चाहे भूयमानता का चिन्तन करें, अथवा उसे व्यक्त करें, अथवा उसका अवलोकन मात्र कर लें, हम इन सब क्रियाओं में अपने अन्दर एक प्रकार

के चल-चित्र-यन्त्र को जारी करने की अपेक्षा कचित् और कोई बात करते हों। अतः अन्त में जो कुछ हम कह रहे हैं, उसका सारांश यह है कि हमारे साधारण ज्ञान का ढांचा चल-चित्र-यन्त्र के जैसा है।" (Cr. Evo., pp. 322-323).

सत्य की अविभाज्य एवं चिर प्रवहमान गति को अचल खंडों में विभक्त करने में बुद्धि का उद्देश्य हमें सत्य का परिज्ञान कराना नहीं है। हम अपने दैनन्दिन व्यवहार में, जो गतिमान है, उसका सम्यक आकलन नहीं कर पाते। अतः बुद्धि जगत् की गतिमानता के उन क्षणों को पकड़ती है, जिन्हें हम अपने व्यवहार की सुविधा के लिये एक जैसे मान लेते हैं। सत्य के इन खंडों को एकत्रित कर हम उनसे साधारण कल्पनाएं एवं व्याप्तियां प्राप्त करते हैं। विज्ञान की सारी कल्पनाएं, व्याप्तियां तथा साधारण नियम इसी क्रिया का परिणाम हैं। किन्तु ये सब सत्य को अपनी वास्तविकता में व्यक्त नहीं करते। वे तो उस गति के प्रतीक मात्र हैं, जो अपनी चपलता के कारण बुद्धि की पकड़ के बाहर है। इन प्रतीकों द्वारा बुद्धि हमारे दैनन्दिन व्यवहार में सुविधा अवश्य पहुंचती है। किन्तु बुद्धि के इस कार्य से यह समझ लेना कि हम उसके द्वारा सत्य के सन्निकट पहुंचते हैं, ग़लत है।

"वस्तुतः साधारण कल्पनाएं दिक् में स्थित पदार्थों के समान एक दूसरे से बाह्य हैं और उनमें वही अचलता है, जो उन पदार्थों में होती है, जिनसे वे अनुकृत हैं। एक साथ लेने पर वे एक ऐसे "बुद्धिगम्य जगत्" का निर्माण करते हैं, जो जड़ जगत का उसके सारभूत लक्षणों में अनुहार करता है, किन्तु जिसके अवयव लघु, अधिक प्रसरणशील, बुद्धि के लिये मूर्त वस्तुओं की अपेक्षा व्यवहार में लाने के लिये अधिक सुलभ हैं; वे वस्तुतः वस्तुओं के स्वयं अवलोकन से प्राप्त नहीं हैं, किन्तु उस क्रिया के प्रतीक हैं, जिसके द्वारा बुद्धि उन पर स्थिर की जाती है। अतः वे कल्पना-चित्र नहीं अपितु प्रतीक मात्र हैं।" (Cr. Evo., p. 169).

बुद्धि का जड़ता से घनिष्ट संबंध है। बल्कि यों कहना चाहिये कि बुद्धि और जड़ता अन्योन्याश्रित हैं। अपनी आत्मस्थता में बुद्धि जड़ता से आक्रान्त रहती है और अपनी व्यवस्था में वही अचलता और निस्पंदता दिखाती है, जो जड़ता के मुख्य लक्षण हैं।

"जब हम गणित की आश्चर्यजनक व्यवस्था पर, उसके द्वारा व्यवहार में लाये गये पदार्थों की संपूर्ण संगति पर, अंकों और आकृतियों में अंतर्हित तर्क पर, एक ही विषय पर हमारी विचार-पद्धति कितनी ही भिन्न और सम्मिश्र होते हुए भी एक ही निष्कर्ष पर पहुंचने की हमारी निश्चितता पर विचार करते हैं, तब हम स्पष्ट रूप से इतने भावात्मक धर्मों में अभावों की व्यवस्था को, सत्य वास्तविकता की विद्यमानता की अपेक्षा उसके अभाव को, देखने में हिचकिचाते हैं। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारी बुद्धि,जो उस व्यवस्था को ढूंढ़ती है और उस पर आश्चर्य प्रकट करती है, गति की उसी दिशा में प्रवृत्त है, जो हमें अपने पदार्थ की जड़ता और दिगत्व की ओर ले जाती है।" (Cr. Evo. p. 220)

अब प्रश्न उठता है कि यदि सत्य चिर प्रवहमान, स्वतः स्फूर्त गति है, तो उससे अचल और निस्पन्द जड़ता का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ? इसका उत्तर बेर्गसों ने कटी-मंजी सुस्पष्ट भाषा में नहीं दिया है, अपितु सांकेतिक रूप से कई रूपकों द्वारा दिया है। कभी बेर्गसों कहता है कि जड़ता सत्य की प्रवहमान गति की शिथिलता के परिणाम स्वरूप उद्भूत होती है, कभी वह कहता है कि जड़ता आरुह्यमाण सत्य का अवरोह है। इस बात को बेर्गसों ने एक उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया है।

"एक पात्र की कल्पना कीजिये, जिसमें भाप पूरे दबाव पर भरी हुई हो और जिसकी बाजुओं में यत्र-तत्र दरारें हों, जो भाप को फ़व्वारों में निकलने देती हों। हवा में फेंकी गई भाप तो प्रायः सारी ऐसे बिन्दुओं में घनीभूत हो जाती है, जो वापिस गिरते हैं और यह घनीकरण और यह पतन केवल किसी बात की हानि, बाधा, अभाव बतलाते हैं। किन्तु भाप

के फव्वारे का एक छोटा-सा अंश कुछ क्षण घनीभूत न होते हुये वैसा ही क़ायम रहता है, वह उन बिन्दुओं को उठाने में प्रयत्नशील है, जो गिर रहे हैं, अधिक से अधिक वह उनके पतन को रोकने में सफल होता है। इसी प्रकार एक विशाल जीवनाशय से अविराम ऐसे फव्वारे उड़ते होने चाहियें, जिनमें से प्रत्येक, गिरने पर, एक जगत् हो जाता है...हम हाथ को ऊंचा उठाने जैसे कार्य के बारे में सोचें, फिर यह भी कल्पना करें कि हाथ ज्यों का त्यों छोड़ देने पर वापिस गिर पड़ता है; और तो भी उसमें उसे वापिस उठाने की कोशिश करने पर उसको अनुप्राणित करने वाली इच्छा का अंश क़ायम रहता है। विघटमान सृजनशील कार्य के इस चित्र में जड़ता की अत्यंत यथार्थ कल्पना हमें मिलती है। तब जीवन की गतिमानता में हमें परावर्तित गति में सरल गति का जो कुछ अंश स्थिर रहता है, वही दृष्टिगोचर होता है, एक ऐसी वास्तविकता मिलती है, जो विघटमान वास्तविकता में अपने आपको संघटित करती है।" (Cr. Evd. pp. 260-261)

उपर्युक्त उद्धरणों से हम समझ सकते हैं कि बेर्गसों के अनुसार जड़ता की उत्पत्ति जीवनोद्भव में रुकावट पैदा होने से, अथवा जो प्रवहमान सत्य अपने आपको स्वतः स्फूर्त रूप से निर्माण कर रहा है, उसमें आत्म-विद्रोही प्रतिगामी गति के अंतर्भाव से होती है। जड़ता की उत्पत्ति की यह कल्पना कहां तक ठीक है, इसकी चर्चा हम कुछ आगे चल कर करेंगे। यहां हम उसे ज्यों की त्यों मान कर आगे बढ़ते हैं।

हम ऊपर कह आये हैं कि बेर्गसों के अनुसार बुद्धि और जड़ता का परस्पर सम्बन्ध है। बुद्धि का वास्तविक सदन जड़ता ही है। बुद्धि प्रगमनशील सत्य को जानने में सर्वथा असमर्थ है। ऐसी अवस्था में हमारे लिये सत्य को जानने का कौन सा साधन है? इसके उत्तर में बेर्गसों कहता है कि स्वानुभूति (Intuition) द्वारा हम अपने आपको सत्य की विकस्वर, चिर प्रवहमान, उत्क्रम्यमाण गति में अधिष्ठित कर सकते हैं। इस स्वानुभव का उद्गम उन सहज वृत्तियों (Instincts) से है, जो प्राणिमात्र में जीवन की अभिव्यक्ति के मूल साधन हैं। मानव में बुद्धि के प्राबल्य के कारण सहज वृत्तियां बहुत कुछ दब गई हैं। क्योंकि सहज वृत्ति और बुद्धि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं, यदि एक हमें अन्तर्जगत् की अतल गहराइयों की ओर ले जाती है, तो दूसरी हमें बाह्य जगत् की सतह की ओर ले जाती है।

"सहज वृत्ति सहानुभूति है। यदि यह सहानुभूति अपने विषय का विस्तार कर सकती होती और अपने विषय पर मनन कर सकती होती, तो वह हमें जीवन की क्रियाओं की कुंजी दे देती—जिस प्रकार विकसित और अनुशासित बुद्धि हमें जड़ता की ओर ले जाती है। क्योंकि—हम इसे कई बार दुहरा चुके हैं—बुद्धि और सहज वृत्ति विरुद्ध दिशाओं में मुड़ी हैं, पहिली जड़ता की ओर और दूसरी जीवन की ओर। बुद्धि, उस विज्ञान के द्वारा जो उसका कार्य है, अधिकाधिक पूर्णता से हमारे सामने भौतिक क्रियाओं के रहस्य का उद्घाटन करेगी; जीवन का वह जड़ता की भाषा में अनुवाद देती है और केवल उसे देने का दावा करती है। वह जीवन के आस पास घूम कर बाहर से उसके यथासाध्य अधिक से अधिक दृश्य लेती है, उसके भीतर प्रवेश करने के बजाय वह उसे अपने अन्दर खींचती है। किन्तु स्वानुभव हमें जीवन की ठेठ आन्तरिकता तक ले जाता है,—स्वानुभव से मेरा मतलब उस सहज वृत्ति से है, जो अनासक्त, आत्म चेतन, अपने विषय पर मनन करने में और उसका अनिश्चित रूप से विस्तार करने में, समर्थ हो।" (Cr. Evo p. 186)

यदि हम निम्नकोटि के प्राणियों में दृष्टिगोचर सहज वृत्तियों का अध्ययन करें तो हम निर्बुद्ध प्राणियों की उस कुशलता को देख कर आश्चर्यान्वित हो जायंगे, जिसके द्वारा वे अपने विषयों से सामंजस्य प्राप्त करते हैं। उदाहरणार्थ, अमोफ़िला हिर्सुटा "अपने भक्ष्य (Cater pillar) के नौ ज्ञानतंतु केन्द्रों पर अनुक्रम के नौ डंक मारता है और फिर

उसका सिर अपनी भुजाओं में पकड़ कर इस प्रकार दबाता है ताकि उसका भक्ष्य बिना मरे ही संज्ञाहीन हो जाय।" (Cr. Evo., p. 182) इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हमें निम्न कोटि के प्राणियों में अनेकों मिल सकेंगे।

सारांश यह कि हमें बुद्धि के समकक्ष स्वानुभव को भी ज्ञान का एक साधन मानना होगा। क्योंकि जो प्राणि सर्वथा निर्बुद्धि होते हैं, वे भी स्वानुभव के बल पर अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों से आंतरिक और प्रगाढ़ सहानुभूति द्वारा सामंजस्य प्राप्त करते हैं। मानव के जीवन में बौद्धिकता का प्राबल्य होने के कारण, वह अपने आस पास के पदार्थों से इस आन्तरिक और प्रगाढ़ सहानुभूति का कम अनुभव करता है। किन्तु जीवन के विशेष क्षणों में, विशेषतः जब हम जीवन-मरण के किनारे पर अपने आप को संतुलित पाते हैं, एक स्वतः स्फूर्त आवेश से हम अतीव जटिल गुत्थियों में से अपना मार्ग निकाल लेते हैं। ऐसे क्षणों में हम अपनी परिस्थिति की उलझन को अपने अन्दर से सुलझाते हुए पाते हैं। अपनी परिस्थिति से यही आन्तरिक एवं प्रगाढ़ सहानुभूति का अनुभव दार्शनिक सत्यों को प्राप्त करने का साधन है।

यह है बेर्गसों के दर्शन की रूप रेखा। अगले खंड में हम बेर्गसों के दार्शनिक विचारों पर आलोचनात्मक प्रकाश डालेंगे।

बसवेश्वर के वचन

क्या मैं कहूँ कि शास्त्र बड़ा है? नहीं शास्त्र तो, कर्म कांड की प्रशंसा करता है। क्या मैं कहूँ कि वेद सबसे बड़ा है? किन्तु वेद तो पशुबलि का प्रचार करता है। क्या मैं कहूँ कि स्मृति का स्थान सबसे ऊंचा है? परन्तु स्मृति तो अभी नियमों की खोज ही में लगी है। प्रभु केवल कर्म, मन और वचन द्वारा निरन्तर हरिजनों की अर्थात् मनुष्यमात्र की सेवा करने से ही प्राप्त हो सकते हैं।

न गीता जानने वाला बुद्धिमान है और न अनेक शास्त्र पढ़ा हुआ। बुद्धिमान वही है जो परमात्मा पर अटूट श्रद्धा रखता है, जो परमात्मा के सेवकों की खिदमत करता है। वही बुद्धिमान गिना जा सकता है जो ईश्वर पर विश्वास रखकर मृत्यु की अवहेलना करता है।

मिस्टर अमेरी को जवाब

जनाब 'मद्दाह' लखनवी, (तनवीर)

ये सच है कि हिन्दोस्ता में अभी तक,
न इल्मो हुनर है, न अज़्मो[1] अमल है।
मगर ये भी सच है कि ये सब तबाही,
फ़क़त आपही की तवज्जो का फल है।

ये सच है कि अहले वतन के दिलों में,
न हुब्बे-वतन[2] है, न जोशे-वफ़ा[3] है।
मगर ये भी सच है कि ये सब नतीजा,
फ़क़त आप ही की इनायत का फल है।

ये सच है कि हिन्दी जवां की रगों में,
हमीयत[4] रही है न गैरत रही है।
मगर ये भी सच है कि अब तक ये सूरत,
फ़क़त आप ही की बदौलत रही है।

ये सच है कि आपस में हिन्दोस्तानी,
हर इक बात पर बे सबब लड़ रहे हैं।
मगर ये भी सच है कि ये पेंच सारे,
फ़क़त आप ही के सबब पड़ रहे हैं।

ये सच है कि बाहम-दिगर[5] मुल्क भर में,
रवादारियां[6] हैं न ग़मख़्वारियां हैं।
मगर ये भी सच है कि अस्ल इसका बायस,[7]
फ़क़त आप ही की फ़सूंकारियां[8] हैं।

ये सच है कि हर तर्फ़ हिन्दोस्ता में,
घटायें जेहालत की छाई हुई हैं
मगर ये भी सच है कि ये सब बलायें
फ़क़त आप ही की बुलाई हुई हैं

ये सच है कि अपनी हिमाकत के बायस
बहुत जल्द मिट जायंगे हिन्द वाले
मगर ये भी सच है कि मिटने से पहले
वो कर देंगे तुम को ख़ुदा के हवाले।

---

१ इरादा, २ देश की मुहब्बत, ३ आपसी वफ़ादारी, ४ स्वाभिमान, ५ आपसी, ६ सहनशीलता, ७ वजह, ८ जादूगरी।

दोस्ती ऐसी हो

कुमारी विद्यावती वर्मा, बी० ए०

आम की हरी कोपलों के बीच मंजरियां आईं, गुलाब क्यारियों में फूल उठे और डालों पर कोयल ने बसंत का संगीत सुनाया। लोगों के हृदय खिल उठे—बहार का नशा उनकी रग-रग में समाया—हृदय अनुराग से भर गया।

पर इसी बहार के मौसम में जब फूल हंसते हैं, जब कोयल गाती है, जब चाँद मुस्कराता है और जब वासन्ती समीर प्रत्येक जीवधारी को मस्त बनाती है, तो आंधी के झोंके भी आते हैं। कभी कभी गर्मी और तेज़ लू की लपटें इसके पीछे पीछे आती हैं। किन्तु वे सब उतने भयंकर नहीं होती, जितनी अनायास, ना समझी से होने वाली हिन्दू-मुसलिम तना-तनी। चारों ओर हल्ला मचा 'हिन्दू-मुसलिम दंगा हो गया।'

लाला परमेश्वरी लाल मुसलमानों के एक मुहल्ले में रहते थे। जब मेरठ से उनका तबादला बनारस को हुआ, तो उनके विद्यार्थी-जीवन के मित्र मुंशी सैय्यद हुसेन ने कहा "भाई साहब, अब हम इतने दिनों के बाद मिले हैं, तो पास-पास क्यों न रहें, हमारे मुहल्ले में एक मकान खाली है, वही आप ले लीजिये।"

मुंशी जी सकुचाये— पूछा "वह मुहल्ला कैसा है?"

"मुहल्ला तो मुसलमानों का है—पर सब शरीफ़ आदमी हैं। दो चार घर हिन्दुओं के भी हैं और वह मकान भी हिन्दू का है।"

परमेश्वरी लाल को डर तो लगा, पर सैय्यद हुसेन की बात उनसे टाली न गई। जिस दोस्त के साथ उन्होंने बचपन और जवानी के सब्ज़ बाग़ देखे थे, उसके साथ बुढ़ापे की शान्ति का मज़ा लेने को तबीयत मचल पड़ी। और वह बात मान गये। परमेश्वरी लाल शायर थे और सैय्यद हुसेन उनके कलाम पर जान देते थे—अपने तमाम दोस्तों में उनकी शोहरत का डंका पीटते थे। इस शहर में जब से वह आये थे, बहुत उदासी महसूस करते थे, क्योंकि यहां कोई उनका दिली दोस्त न था, अब लाला जी को पाया, तो फिर से उनका दिल हरा हो उठा; फिर से शायरों की मजलिस गुलज़ार हो गयी।

दोनों घरों की औरतों और बच्चों में भी निभ गई। ईद के दिन मुंशी जी के घर सब की दावत रही। उन्होंने हिन्दू नौकर से बाज़ार की चीज़ें मंगवा कर लाला जी की पत्नी की खातिर की। बाक़ी उनमें और लाला जी में तो कोई भेद कभी रहा ही न था, लड़के लड़कियों में भी कोई भेद न रहा।

जिस दिन यह झगड़ा हुआ, उस दिन संयोग से मुंशी जी के घर भर का निमन्त्रण था लाला जी के यहां। दोनों दोस्त पास पास बैठे हंसते हुये खा रहे थे और लाला जी की लड़की कमला परस रही थी। कमला ने हंस कर कहा "अच्छा चाचा जी यह क्या बात है कि जुबेदा बाबू जी से पर्दा करती है! मैं तो आप से या भाई वहीद से बिल्कुल पर्दा नहीं करती।"

"उसकी बेवकूफ़ी है बेटी" और फिर लड़की को आवाज़ दी "—बेटी जुबेदा कहीं चचा से भी पर्दा करते हैं—इधर आ।"

ज़ुबेदा सकुचाती हुई अन्दर से निकल सामने आ खड़ी हुई। उसने ज़रा शरमाते हुये- कमला जैसे सब को हाथ जोड़ा करती थी—वैसे ही जोड़कर लाला जी को प्रणाम किया। लाला जी आशीर्वाद भी न दे पाये थे कि बाहर से शोर मचा—'मारो काफ़िरों को आज एक भी हिन्दू लाला जीता न बचे।"

लाला जी चौंक पड़े। मुंशी जी वाक़या समझ गये, कमला और ज़ुबेदा कांपने लगीं। वहीद और लाला जी के दोनों लड़के उठ खड़े हुये। वहीद ने कहा—"आप घबराइये नहीं,हम अभी देखते हैं जाकर"

लाला जी—"कहां जाओगे बेटा, पता नहीं क्या बात है!"

"कुछ हर्ज नहीं जाने दीजिये।" मुंशी जी बोले; फिर प्रमोद और निरंजन को बुला कर कहा।

"तुम लोग अभी ठहरो।"

निरंजन बड़ा था—बोला "पर भाई साहब अकेले बाहर कैसे जायेंगे?"

उसके जाने में कोई हर्ज नहीं।

मुंशी जी मुहल्ले के असलियत से वाकिफ़ थे।

जब डर दिल से दूर हुआ, तो लाला जी ने मुंशी जी की ओर देखा—वह पूरियों पर एक हाथ रक्खे कुछ सोच रहे थे। लाला जी को ख़्याल आया ये दग़ा तो न करेंगे; धीरे धीरे मानो अपने आप से बोले "हम लोगों ने इस मुहल्ले में आकर अच्छा नहीं किया।"

मुंशी सैय्यद हुसेन ने सिर उठाया—बोले "भाई साहब, आप इतमीनान से खाना खाइये। आप मुसलमानों के मुहल्ले में ज़रूर हैं; पर मुसलमानों में भी इन्सानियत होती है। वे भी अपना फ़र्ज़ समझते हैं। अगर वे दुश्मन के गले पर छुरी चला सकते हैं, तो दोस्त के लिये अपनी जान भी लड़ा सकते हैं।'

"मेरा मतलब आपसे नहीं था—हां, आपको भी ज़िल्लत उठानी पड़ेगी। आख़िर आप कहां कहां देखेंगे।"

"आप को इससे कोई मतलब नहीं।"

लाला जी को इस परेशानी में भी मुस्कराहट आई। हमेशा ऐसा हुआ है कि उनकी परेशानी के मौक़े पर मुंशी जी ने यह वाक्य कहा था। यहां तक कि इम्तहान के दिनों में जब दोनों पढ़ते होते, तो वह घबराया करते; तब मुंशी जी कहते—"तुम ज़रूर पास होगे भाई। मैं शर्त लगाता हूं, तुम्हें पास कराने का जिम्मा मेरा है।"

और वह कहते "आख़िर इम्तहान तो मैं दूंगा—तुम क्या करोगे?"

तो मुंशी जी कहते—"आप को इससे कोई मतलब नहीं।" दिल विश्वास करने को तैयार था, पर मस्तिष्क ने तर्क आरम्भ किया; पर तब तो कोई क़ौमी झगड़ा न था।"

हिन्दुओं के मुहल्ले में मुसलमानों का और मुसलमानों के मुहल्ले में हिन्दुओं का आना-जाना बन्द हो रहा था। परमेश्वरी लाल बुरे फंसे थे। सभी हिन्दू मुहल्ला छोड़ चुके थे—वही अकेले वहां थे। बच्चों का पढ़ने जाना और स्वयं उनका आफ़िस जाना एक कठिन समस्या थी। दो दिन किस तरह गुज़रे, यह वही जानते थे। सैय्यद हुसेन उनके लिये बहुत कुछ करते, पर उनके मन में एक धकधकी-सी लगी रहती। इनका क्या ठीक! कौन-सी घटना इनके विचारों को पलट दे। वह डर के मारे सड़क पर न निकल सकते थे। शहर में क्या हो रहा है, इसका पता सिर्फ़ मुंशी जी से लगता। शहर में सख़्त पहरा था और शान्ति स्थापन की पूर्ण चेष्टा।

रात के क़रीब ग्यारह बज रहे थे। लाला जी गर्मी से परेशान थे। चारों ओर मौत का सा सन्नाटा छाया था। वह छत पर आकर टहलने लगे। उनकी छत मुंशी जी की छत से मिली थी। यहीं पर खड़े होकर दोनों मित्र घंटों बातें करते। सैय्यद हुसेन का मुसलमानों पर काफ़ी रोब था। वह इस चेष्टा में थे कि कम से कम उनके पड़ोसी तो शरीफ़ बने रहें। लाला जी को लेकर कई बार लोगों से बातें हो चुकी थीं; पर मुंशी जी देवता की तरह उन्हें बचाते ही रहे। किन्तु मुंशी जी की बातों का असर लोगों के दिलों

पर वैसा ही पड़ता, जैसे धधकती हुई भट्ठी में चुल्लू भर पानी डालने का क्षण भर को शान्ति छा जाती, पर बुझे कोयले फिर जल उठते हैं। और दोनों मित्र बहुधा इस सवाल को हल करने का उपाय सोचते।

लाला जी के कान में कुछ आवाज़ पड़ी। लगा, जैसे दो आदमी उन्हीं की बात कर रहे हैं। वह मुड़ेर से सट कर खड़े हो गये। कान में उनके वहीद की आवाज़ पड़ी—"तुम समझते नहीं अहमद, इसलाम दग़ा करना नहीं सिखाता। जो आदमी हमारी बात पर यक़ीन करता है, हम उसकी गरदन पर छुरी नहीं चला सकते। इसलाम तुम्हें किसी की इज़्ज़त व अस्मत लूटने की तालीम नहीं देता।"

"तुम हो अहमक़ वहीद। इसलाम यह चाहता है कि चाहे जैसे हो, इसके मानने वालों की तायदाद बढ़ाई जाय।"

"तुम इसलाम के असूलों को नहीं जानते। आह, जो कमला मुझे अपना भाई मानती है, जो लाला जी मुझे अपने बेटे की तरह प्यार करते हैं। उन्हीं के साथ मैं दग़ा करूँ ! यह नहीं हो सकता अहमद, हर्गिज़ नहीं हो सकता।"

लाला जी की नसों में ख़ून जम गया। वह भगवान को पुकारने लगे। वहीद युवक है, यदि अपने दोस्त की बातों में आही गया, तो क्या नतीजा होगा ! यहां उनकी मदद करने वाला कौन है। पत्नी कहती है - "और मुसलमानों से मुहब्बत करो", दुनिया में तुम्हें और कहीं रहने की जगह ही न मिली थी। यह बात सुनेगी, तो घर में भी एक महायुद्ध शुरू हो जायगा। कमला बेचारी सुने तो डर के मारे मर जाय।

दरवाज़ा खुलने की आवाज़ आई। मुंशी जी की छत पर कोई और आया। दोनों युवक चुप हो रहे। लाला जी ने आने वाले की आवाज़ पहिचानी। ये स्वयं मुंशी सैय्यद हुसेन थे—बोले "शाबाश बेटा ! वहीद तुम सचमुच मेरे बेटे हो। मैं ज़ाहिर नहीं कर सकता कि तुम्हारी बात सुन कर मुझे कितनी ख़ुशी हुई है।

"मेरे लायक़ बेटे अल्लाह तुम्हारा भला करेगा।"

लाला जी का दिल भर आया। उन्होंने भी मानो मुंशी जी की दुआ में अपनी दुआ मिलाई "अल्लाह तुम्हारा भला करेगा।"

किसी और की आवाज़ आई "पर भाई साहब आप वहीद को बुज़दिल बना रहे हैं। सच्चे मुसलमान को बुज़दिली से नफ़रत होनी चाहिये—"

"तुम बुज़दिली के माने नहीं समझते जमील, नहीं तो ऐसा न कहते। किसी औरत की अस्मत को बचाना, किसी दोस्त की जान अपनी जान देकर बचाना और किसी बेगुनाह को क़त्ल न करना, बुज़दिली नहीं बल्कि बहादुरी है; और इसलाम इस बहादुरी की दाद देता है। आज तुम मुझे सच्चा मुसलमान नहीं समझते !" गुस्से से सैय्यदहुसेन की आवाज़ कांपने लगी, "मैं नहीं चाहता तुम्हारे जैसा सच्चा मुसलमान होना। मैंने जिस दोस्त के साथ अपनी ज़िन्दगी के इतने दिन बिताये हैं, उससे तो मैं दग़ा नहीं ही कर सकता। पर उनकी जगह कोई और भी होता, तो मैं किसी बेगुनाह की जान न लेने देता। सबकी बहू-बेटियां मेरी बेटी की तरह हैं। अगर तुम मर्द हो, बहादुर हो, तो मर्दों से लड़ो, सच्चा मुसलमान औरतों और नन्हें बच्चों से लड़ाई नहीं करता।"

"पर तुम जानते हो वहीद।" अहमद कह रहा था—"मेरा एक दोस्त था मन्सूर। कितना रहम-दिल नौजवान था। उसे किसी ज़ालिम ने लाठियों से ऐसा घायल किया कि अस्पताल पहुँचते-पहुँचते वह चल बसा। मुझे लगता है कि जब तक बदला न लूंगा, मुझे चैन न आयेगा।"

"यह मैं भी समझता हूं।" मुंशी जी बोले—"पर बदला उस क़ातिल से लेना चाहिये, न कि मेरे इस बेगुनाह दोस्त की जान से !"

लाला जी की आंखें आंसुओं से तर हो उठीं। उन्होंने जो झूठा शक किया था, उसके लिये उनका

हृदय पश्चात्ताप करने लगा। जी में आया दौड़ कर सैय्यद हुसेन के गले से लिपट जांय, उनके क़दमों पर गिर पड़ें। उन्होंने इन्सान में ईश्वर का नूर देखा, ख़ौफ़ दिल से जाता रहा। और दिल ख़ुशी से भर उठा। पत्नी से आकर दोस्त की तारीफ़ें करने लगे। सोच लिया कि ख़ुदा न करे अगर कभी मुंशी जी पर कोई आफ़त आई, तो वह भी उनके पसीने की जगह अपना ख़ून बहा देंगे। जन्म भर उनका उपकार मानेंगे और उन्हें लाख-लाख दुआयें देंगे।

× × ×

दंगा लगभग बन्द हो रहा था। शहर के कार्यक्रम पूर्ववत् जारी हो चुके थे। लोग आफ़िस और स्कूल आने जाने लगे थे। जिस समय मुंशी जी और लाला जी हाथ में हाथ डाले मुसलमानी बस्ती को पार करते, तो लोग हसरत की निगाहों से उनकी ओर देखते। ऐसी दोस्ती कितनों को हासिल होती है!

उस दिन झुटपुटा हो रहा था। दोनों दोस्त चले आ रहे थे। एक पतली-सी गली पड़ी। वह हिन्दुओं का एक ख़ास मुहल्ला था। मन्दिरों की वहां बहुतायत थी। लाला जी को कोई भय था ही नहीं और वह बेख़ौफ़ चल रहे थे। मुंशी जी का ख़्याल था कि हिन्दू बहुत ही शरीफ़ होते हैं। ये कभी झगड़ा शुरू नहीं करते और उनके दिलों में बहुत रहम होता है। लाला जी भी साथ थे; इसलिये वह सोचते रहे कि उन्हें कोई डर नहीं है। पर दुनियाँ की हर जाति और हर देश में अच्छे-बुरे दोनों होते हैं। एक मन्दिर से दो तीन आदमी निकले। उनके सरों पर बड़ी-बड़ी पगड़ियां बंधी थीं और हाथों में लाठी थी। मुंशी जी को काटो तो ख़ून नहीं। प्राण नहों में समा गये। लाला जी ही तो इधर से लाये हैं—क्या उनके मन में कोई बदी है! पर ख़ुदा तो नेक आदमियों के साथ हमेशा नेक रहता है।

इतने में लाला जी की कड़कती आवाज़ उनके कान में पड़ी "ख़बरदार मैं हिन्दू हूं।"

मुंशी जी कांपे—अपने को ही बचाकर ये निकल जाना चाहते हैं!

पर लाला जी कह रहे थे "अगर मेरे दोस्त पर हाथ उठाया, तो समझ लेना।"

आक्रमणकारी लाला जी को देखकर ही जान गये थे कि यह हिन्दू हैं—लाठियां हवा में उठीं··· और इसके पहिले कि वह मुंशी जी के सर पर पड़ें, लाला जी बिजली की फ़ुरती से उनके शरीर से लिपट गये। मुंशी जी हक्का-बक्का हो रहे थे। लाला जी ने ज़ोर से आवाज़ लगाई। पर इतने में दोनों के ऊपर कई लाठियां पड़ गईं। हमलाई लाला जी की इस हरकत के लिये तैयार न थे। और वे रोकते रोकते भी अपना हाथ न रोक सकते थे। पुलिस को आते देख आक्रमणकारी भाग गये।

× × ×

सिविल हास्पिटल के एक कमरे में पास-पास दो चारपाइयां पड़ी थीं। दिन भर हिन्दू-मुसलमान की भीड़ इन दो मित्रों को देखने आती रही। उनकी चोट गहरी न थी। दोनों के मुख पर एक नैसर्गिक आनन्द खेल रहा था। लोगों ने यह भी देखा कि दोनों घरों की औरतें और बच्चे एक साथ ही उन्हें देखने आये।

———

क्या खांय क्या न खांय ?

श्री अत्रिदेव गुप्त

'विश्ववाणी' (मई सन् ४१) में पं० सुन्दरलाल जी का लेख 'सेगांव में भोजन और इलाज के प्रयोग' पढ़ा। चूंकि यह लेख सुन्दरलाल जी के क़लम से लिखा गया था, इसलिये मुझको इसमें दिलचस्पी हुई। साथ ही इस लेख का सम्बन्ध डाक्टर सतीश चन्द्र दास जी के साथ होने से इसको मेहनत से पढ़ना और भी आवश्यक हो गया।

इस लेख में डाक्टर साहब का जो परिचय दिया गया है, उसकी दृष्टि से मैं नितान्त तुच्छ हूं। परन्तु फिर भी मुझको इस बात का गौरव है कि मैंने स्वतंत्र वायुमण्डल में गङ्गा के किनारे पुरातन गुरुओं की गोद में बैठ कर गुरुकुल में शिक्षा पाई है। इसलिये मुझको अपनी पुरातन संस्कृति, साहित्य, विद्या और वेश से प्रेम है। मेरा मस्तिष्क स्वतन्त्र है और मैं उसी जीर्ण शीर्ण चोले में भी चमक की किरणें देखता हूं। उन्हीं किरणों के प्रकाश में मैं इतना कह सकता हूं कि आदरणीय डाक्टरजी ने भोजन के विषय में जो प्रयोग किये हैं, वे हम भारतीयों के लिये असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हैं।

मेरी यह धारणा लेख के पिछले हिस्से ने और भी मज़बूत बनादी। जहां सलाह के लिये पुस्तकें लिखी हैं—वे सब अंग्रेज़ी की हैं—और अंग्रेज़ों की ही लिखी हुई हैं। जिनकी भाषा, जिनका रहन सहन, जिनका खान पान, जिनका देश, जिनके यहां की ऋतु हम से सोलह आने भिन्न है।

इससे पहले कि मैं विवेचनीय विषय पर आऊं, मैं एक दो बातों का खुलासा कर देना चाहता हूं, वे बातें ये हैं—

(१) हमारी संस्कृति में किसी भी विषय को विस्तार से न कह कर सूत्र रूप में कहने की एक परिपाटी है। यह परिपाटी ग़लत है या ठीक, यह तो दूसरी बात है। परन्तु सूत्र रूप से ही शास्त्र का विषय कहा जाता है। इसीलिये सब विद्याओं के प्रायः सूत्र हैं।

इसी सिद्धान्त को लेकर सब भोजनों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

रस—छैः प्रकार के हैं, मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, उष्ण, और कटु,

वीर्य—दो प्रकार के हैं, शीत और उष्ण, गरम और ठण्डा,

विपाक—तीन प्रकार के हैं, मधुर, अम्ल, और कटु,

प्रभाव—दो प्रकार के हैं, चिन्त्य और अचिन्त्य,

इस वर्गीकरण का इतना लाभ है कि आप स्वयं ही किसी भी प्रकार के भोजन के विषय में सोच और समझ सकते हैं कि आपके शरीर के लिये कौन सा भोजन ठीक है, और कौन सा नहीं।

इतना ही नहीं, इस विभाग से विरुद्ध भोजन का भी निर्णय सुगमता से कर सकते हैं। जिन दो द्रव्यों का रस, या वीर्य, अथवा विपाक परस्पर नहीं मिलता, उनको एक साथ नहीं लेना चाहिये, और

जिनका आपस में कोई विरोध नहीं, उनको एक साथ लेने में कोई हानि नहीं। उदाहरण के लिये—

आपके लेख के अनुसार निम्बू और दूध या मन्तरे, मौसम्बी-दूध के साथ लेने में कोई हानि नहीं। परन्तु मेरी और आचार्य की दृष्टि में हानि है, चूंकि एक वस्तु मधुर रस है और दूसरी अम्ल रस है। इसलिये दोनों का विपाक भी परस्पर विरोधी होगा। परस्पर विरोधी होने से रक्त का दूषित होना स्वाभाविक है।

(२) इसी प्रकार आप लिखते हैं कि दूध के साथ खजूर नहीं खाना चाहिये। आप यहां फिर भूल कर गये। मेरी और आचार्य की दृष्टि में आपको ये दोनों चीज़ें नाश्ते के तौर पर रोज़ खानी चाहियें। और खानी चाहिये इकट्ठी। क्योंकि दोनों ही मधुर रस और दोनों ही मधुर विपाक हैं। हम निरामिष भोजियों के लिये तो खून बढ़ाने के लिये इससे उत्तम कुछ भी चीज़ नहीं। मुझको याद है कि अपने एक रोगी को केवल इन दो वस्तुओं से मैंने तन्दुरुस्त कर दिया था।

(३) आप लिखते हैं कि दूध के साथ वह सब चीज़ें खासकर वह सब्ज़ियां, जिनमें कारबोहाइड्रेट और प्रोटीन दोनों थोड़ी-थोड़ी मात्रा में मौजूद हैं, खा सकते हैं। ये चीज़ें, गोभी, करेला, बैंगन आदि हैं। परन्तु इन चीज़ों का विपाक और वीर्य एवं रस दूध के साथ विरुद्ध है: अतः ये हानिकारक हैं।

(४) "गेहूं, मक्का वग़ैरह की रोटी या चावल के साथ दाल हरगिज़ नहीं खानी चाहिये।" आपकी यह धारणा मेरी सम्मति में जहां अवैज्ञानिक है, वहां एक विचित्र भी है। विचित्र इसलिये कि आप भारतवर्ष के किसी भी प्रान्त में पहुंच जाइये; आपको दाल-चावल या दाल-रोटी ज़रूर मिलेगी। जिस वस्तु का इतना अधिक रिवाज हो, उसको केवल इसलिये कि वह आपके वर्गीकरण में विरुद्ध रहती है, खाना बन्द करना ठीक न होगा।

गेहूं; दाल और चावल दोनों में कार्बोहाइड्रेट हैं, ये वस्तुयें हमारे मांस को बनाती हैं। जिन चीज़ों में प्रोटीन या कार्बोहाइड्रेट हो, वे आपस में किसी कारण से विरुद्ध नहीं। चूंकि इन पर पाचक रस भली प्रकार कार्य करते हैं।

इनके विरुद्ध होने का अथवा हानि पहुंचाने का एक ही कारण है, वह "मात्रा" है। इन वस्तुओं की तादाद शरीर में हानि करती है। यदि ये वस्तुयें थोड़ी या उचित मात्रा में एक साथ ली जायें, तो शरीर में हानि नहीं कर सकतीं। और यदि आप इन वस्तुओं को पृथक् पृथक् भी लें, और लें बड़ी मात्रा में, तो ज़रूर नुक़सान देंगी।

यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने "मात्रा" पर विशेष ध्यान दिया है। इस मात्रा के कारण गुरू-भारी भोजन (कनसैनट्रेटेड-प्रोटीन) भी हल्का हो जाता है, और इसी मात्रा से हल्का लघु भोजन भी भारी बन जाता है। उदाहरण के लिये यदि आप खील (भुने हुये चावलों की लाजा) को पेट भर खायें, तो वह भी भारी है: और इसके विरुद्ध यदि आप उड़द थोड़ी मात्रा में खायें, तो वह भी लघु है।

इतना लिखने के बाद यदि मैं इनकम्पैटिबल के प्रश्न पर विचार नहीं करता, तो यह लेख अधूरा रह जाता है। खासकर जब आपने अपने महत्त्वपूर्ण लेख में इस बात का ज़िकर किया है।

आपने इतना माना है कि एसिड और एलकैलि, ये दो चीज़ें भिन्न हैं। और इनका एक साथ शरीर में जाना हानिकारक है। इनका शरीर में प्रवेश अलग अलग होना ठीक है।

मेरे विचार में आप थोड़ी-सी भूल कर रहे हैं। 'एसिड और एलकैली' ये दोनों वस्तुयें आधुनिक रसायन शास्त्र की दृष्टि से भले ही भिन्न भिन्न हों, परन्तु वास्तव में दोनों ही एक हैं। दोनों की प्रकृति-क्रिया एक है। यह ठीक है कि एक लिटमस को लाल करती है और दूसरी उसको नीला रङ्ग देती है। परन्तु केवल इतना स्थूल भेद इनकी एकता को दूर नहीं कर सकता।

एसिड और एलकैली, दोनों ही दाहक हैं; दोनों ही पित्त वर्धक हैं और दोनों ही पाचक

रसों को बढ़ाने वाले हैं। भले ही स्थूल दृष्टि से इनमें भेद हो, परन्तु शरीर में इनमें भेद नहीं रहता। यूं पूछिये तो तीव्र अम्ल या अम्ल की प्रचुरता अथवा क्षार की अधिकता शरीर के लिये हानिकारक है। यह प्रचुरता चाहे अम्ल की हो या क्षार की। यही तो कारण है कि आचार्य ने कहा है—

अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुञ्जीताधिकमन्येभ्यो द्रव्येभ्यः।
तद्यथा—क्षारं पिप्पली लवण मिति।"
क्षारः पुनः औसण्य तैक्ष्ण्य लाघवोपपन्नः क्लेदय त्यादौ पश्चात् विशोधयति। स पचन दहन भेदनार्थं उपयुज्यते। सोऽति प्रयुज्यमानः केशाक्षि हृदय पुंस्त्वोप घातकरः सम्पद्यते।

अर्थात—क्षार-पिप्पली और नमक का अधिक तादाद में सेवन नहीं करना चाहिये। चूंकि क्षार गरम, तीक्ष्ण और शरीर में लघुता पैदा करने वाला है। क्षार पहले तो गला कर पतला करता है और फिर पीछे से उसे बाहर करता है। क्षार के इस गुण के कारण उसे पाचन, दहन और भेदन (फाड़ने) के लिये प्रयोग करते हैं। यदि इसका अधिक उपयोग किया जायेगा तो आंख, बाल, हृदय और पुरुषत्व को हानि होती है।

यहां पर 'क्षार' शब्द एलकैलि और ऐसिड दोनों के लिये ही आया है। इसलिये इनमें वास्तविक कोई भेद नहीं। भेद न होने से दोनों को एक साथ लेने में ज़रा भी भय नहीं। यदि कोई भेद है और हानि है, तो आप किन्हीं दो पदार्थों का उदाहरण देकर स्पष्ट करने की कृपा करें। मेरी दृष्टि में ऐसे कोई भी दो प्राकृतिक पदार्थ आपको नहीं मिलेंगे जो कि क्षार और अम्ल क्रिया के कारण इनकम्पैटिबल हों। यह केवल थ्योरी मात्र है।

अब विरोधी भोजन क्या है और उनका निर्णय कैसे किया जाये, यह एक प्रश्न है इसका उत्तर चरक संहिता में बहुत साफ़ दिया है, जिसको मशाल लेकर सुगमता से ढूंढ़ सकते हैं—विरोधी भोजन निम्न प्रकार से होते हैं—

(१) कुछ पदार्थ परस्पर गुणों में भिन्न होने से विरोधी हैं—जैसे मछली और दूध। मछली गरम है और दूध ठण्डा है। इनके गुण परस्पर विरोधी हैं।

(२) कुछ पदार्थ संयोग होते हैं—जैसे कि पका हुआ लकुच या कटहल और दूध अथवा उड़द। ये दोनों वस्तुयें मिलकर बहुत ही भारी हो जाती हैं। विपाक में एक मधुर और दूसरी कटु होती है। अथवा दूध और निम्बू।

(३) कुछ पदार्थ संस्कार विरुद्ध हैं। यहां पर संस्कार का अर्थ—पकाने (या रांधने) से है। यथा सरसों के तेल में कबूतर को पका कर खाना।

(४) देश-विरुद्ध—यथा उत्तरी भारत में प्रसूता को बाजरी की लप्सी देना विरुद्ध है। परन्तु कच्छ में इसका रिवाज है।

(५) काल-विरुद्ध—बासी रक्खा हुआ मकोय का शाग या सरसों का शाग।

(६) शरीर-विरुद्ध—गरमी में बाहर से आकर एक दम ठण्डा शरबत या मधु का शरबत पीना।

(७) मात्रा विरुद्ध—एक परिमाण में घी और मधु का सेवन करना।

इस दृष्टि से यदि भोजन का वर्गी करण करके देखें, तो विरोधी बातों का स्पष्टीकरण अधिक हो जाता है। विरोधी पदार्थों का निर्णय करना सरल नहीं। यह तो सत्य है कि एक वस्तु का एक ही समय सेवन करना सब से अधिक श्रेयस्कर है, परन्तु साथ ही भोजन में रुचि, आकांक्षा, भी होनी आवश्यक है। आप किसी को केवल मधुर खीर ही खिलाइये, वह भी तंग आजायेगा। भोजन जीवन के लिये है, परन्तु साथ ही भोजन का रुचिकर होना भी आवश्यक है, इसीलिये आचार्य ने भोजन करने के विषय में मन की अनुकूलता और प्रसन्नता के लिये विशेष ध्यान दिया है। ख़ाली पेट भरना या शक्ति प्राप्त करना ही भोजन का उद्देश्य नहीं। जो भोजन मन को पसन्द न आये उसे खाना मैं तो युक्ति संगत

नहीं मानता। उदाहरण के लिये बहुत से आमिष भोजी यह सिद्ध करते हैं कि शरीर की तन्दुरुस्ती के लिये आमिष आवश्यक है, परन्तु एक निरामिष भोजी कभी भी उसका उपयोग नहीं करेगा। इसलिये तो भगवान ने गीता में कहा है—

आयु-सत्व बलारोग्य, सुख प्रीति विवर्धन:।
रस्या: स्निग्ध: स्थिरा हृद्या:आहार:सात्विक प्रिय:

भोजन हृदय के लिए प्रिय अवश्य होना चाहिये। एक पशु भी अकेला भूसा नहीं खा सकता। भूसा के साथ उसे भी खल, चोरा, दाना देना ही पड़ता है। फिर आप खाली रोटी क्यों तोड़ने की सोचते हैं। उसे रस से रसवती, दाल-घी से स्निग्ध करके सात्विक बना कर खाइये—यही भगवान का हम लोगों को उपदेश है ऐसी मेरी तुच्छ मान्यता है।

अब एक आखरी बात रह गई, वह आप के दिये हुये उदाहरण हैं। मैं जहां तक समझ सका हूं, आपका अभिप्राय इन उदाहरणों को देने का यह है कि आपके यहां का वर्गीकरण ठीक है और उसका परीक्षण सफल हुआ है, जिससे कि असाध्य रोगी भी स्वस्थ हो गए।

यदि यही बात है, तो मैं समझता हूं कि आप असली भूल तक शायद नहीं आये। उपवास इस सफलता का कारण है, न कि कुछ दूसरा। शरीर के अन्दर आय और व्यय के हिसाब का खाता है। जिस पुरुष का आय और व्यय समान है वह स्वस्थ है और वह योगी है। इसीलिए भगवान ने गीता में कहा है 'समत्वं योग उच्यते'। और जिसकी आय बहुत हो और व्यय कम हो उसका तो शरीर बढ़ ही जायेगा। श्री आदरणीय सेठ जी की धर्म पत्नी में यदि यही कारण हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके लिये आय को कम करके व्यय को बढ़ा देना ही एक उपाय था, जो कि श्री माननीय डाक्टर जी ने किया और उनको आराम हुआ।

मैं अपनी इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये डायबिटिज़ मिलिटस एक रोग को लेता हूं। इस रोग के लिये सुश्रुत में लिखा है कि रोगी को चाहिये, वह दिन भर एक गांव से दूसरे गांव में चला करे, और कहीं भी एक रात से अधिक न रहे, जो रूखा सूखा मिले, वह खाये, रात्रि को भूमि पर शयन करे। इस प्रकार करने से शरीर में आय कम होगी और व्यय बढ़ जायेगा और रोगी स्वस्थ हो जायेगा।

साथ ही यदि शरीर में आय कम हो और व्यय अधिक हो, तो भी शरीर का बैलेन्स बिगड़ जायेगा, तब भी शरीर में कृशता आ जायेगी। जिसको दिवाला-पन कहते हैं। इसके लिये शरीर मे आय बढ़ानी चाहिये। परन्तु बदक़िस्मती से यह अवस्था शरीर के विषय में कम ही आती है; आती है तो इसके लिये चरखे का रास्ता देखना होता है। इस प्रकार के लोगों के लिये ही भगवान ने कहा—

"कर्षयन्त: शरीरस्थं भूत ग्राम मचे तस:।
मां चैवान्त: शरीरस्थं तान् विद्‌यामुर निश्चयान्॥

जान बूझ कर जो शरीर को तकलीफ़ देते हैं, वे राक्षस हैं। इसलिये शरीर में व्यय को आय से अधिक नहीं बढ़ाना चाहिये। बुद्धिमानी यही है कि आय के अनुसार ही व्यय किया जाये। माननीय डाक्टर जी ने इस बुद्धिमानी से काम लिया और वे सफल हुवे, यह मेरी मान्यता है।

अन्त में मैं आपसे और श्री माननीय डाक्टर जी से माफ़ी चाहता हूं कि यदि कुछ भूल मुझसे हुई हो तो ज़रूर क्षमा करें।

सम्पादकीय-विचार

सर्व धर्म सम्मेलन

पहली जून सन् १९४१ को बारशी ज़िला शोलापुर में जो सर्व धर्म सम्मेलन पंडित सुन्दरलाल जी के सभापतित्व में हुआ था, उसका कुछ ज़िक्र हम पिछले अङ्क में कर चुके हैं। उस सम्मेलन ने केवल एक लम्बा प्रस्ताव पास किया। वह प्रस्ताव हम ज्यों का त्यों नीचे उद्धृत कर रहे हैं। आज कल के हिन्दू मुसलिम दङ्गों पर हम अपने कुछ ख़याल पिछले अङ्क में ज़ाहिर कर चुके हैं। इस प्रस्ताव को हम अपने देश वासियों के ध्यान के लिये उनके सामने रखते हैं। हमें विश्वास है कि इस पर अमल करने की कोशिश हमें कुछ न कुछ इन झगड़ों को शान्त करने और उनके ज़हरीले नतीजों से बचने में मदद देगी।

पाठकों का ध्यान ख़ास तौर पर इस समय हम इस प्रस्ताव के उस हिस्से की तरफ़ दिलाना चाहते हैं, जिसमें इस तरह की साम्प्रदायिक संस्थाओं जैसे हिन्दू अखाड़े और मुसलिम क्लब वग़ैरह को हानिकर कहा गया है। अलग अलग सम्प्रदायों और अलग अलग जातियों के अलग अलग स्कूल कालेज और विश्वविद्यालय भी हमारे दिलों में एक दूसरे के लिये प्रेम और आदर पैदा करने के बजाय एक तरह की संकीर्णता के भावों को ही मज़बूत करते हैं। ठीक दङ्गे के दिनों में हिन्दू रिलीफ़ कमेटी और मुसलिम रिलीफ़ कमेटियां भी हमें हमारे अन्दर प्रेम और विश्वास के बढ़ने में रुकावट ही डालती हैं। हमें इस देश में यदि एक राष्ट्र, या एक क़ौम बन कर रहना है, तो हमें ये सब काम मिल जुल कर करने की आदत डालनी चाहिये। हिन्दू मुसलमानों के मिले जुले अखाड़े तो कम से कम उत्तर भारत के सैकड़ों नगरों में आज से बीस बरस पहले तक एक मामूली चीज़ थे। कहीं कहीं इस तरह के अखाड़े अभी तक मौजूद हैं। उत्तर भारत के अधिकांश नगरों में हिन्दू मुसलमानों के अलग अलग अखाड़े इन्हीं बीस बरस के अन्दर की उपज हैं। हम एक थे और ठीक चल रहे थे। हम ग़लत रास्ते पर चले और फट गये। हमें फिर एक होना है। सर्व धर्म सम्मेलन के जिस प्रस्ताव का हमने ज़िक्र किया है वह यह है —

प्रस्ताव

यह सर्व धर्म सम्मेलन (सब धर्म मज़हबों की कान्फ्रेंस) अपना यह विश्वास प्रकट करता है कि दुनिया के सब बड़े बड़े मज़हब जैसे हिन्दू धर्म, यहूदी धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, ज़रथुस्त्री धर्म, ईसाई धर्म, इसलाम धर्म और सिख धर्म सब उसी एक ईश्वरीय स्रोत से निकले हैं। इस सारी ज़मीन पर अमन क़ायम करना और मनुष्यों में एक दूसरे से प्रेम पैदा करना इन सब मज़हबों का मक़सद है; और इनमें जो कुछ एक दूसरे से फ़र्क़ है वह सब इस तरह की गौण यानी ऊपरी चीज़ों में है, जैसे अपने अपने रस्म रिवाज और पूजा के तरीक़ों में।

यह कान्फ्रेंस इस देश में रहने वाले सब धर्मों के लोगों से अपील करती है कि वे एक दूसरे के साथ पूरे प्रेम से मिल जुल कर रहें और उनके सब अलग अलग धर्मों का यही असली मन्शा है।

इस कान्फ्रेंस को यह देख कर बड़ा दुःख हुआ है कि इस देश में साम्प्रदायिक दङ्गे दुर्भाग्य वश फिर

जगह जगह खड़े हो गये हैं जैसा कि हाल में ढाका, अहमदाबाद, बम्बई और दूसरे स्थानों में हो चुका है। अब कि यह कान्फ्रेंस किसी तरह के राजनैतिक वाद विवाद में पड़ना ठीक नहीं समझती, यह कान्फ्रेंस इस तरह की घटनाओं को ज़्यादहतर हिन्दुस्तान की इस समय की राजनैतिक हालत की उपज मानती है। इस कान्फ्रेंस को विश्वास है कि यद्यपि ये दंगे बड़े ही दुख की चीज़ हैं, फिर भी वे हिन्दुस्तान की क़ौमी ज़िन्दगी का एक अनस्थायी पहलू हैं और वह समय बहुत जल्द आ रहा है, जब कि एक दूसरे के अविश्वास के ये बादल छट जायंगे और हिन्दुस्तान के रहने वाले फिर एक बार उसी तरह के अमन, आमान, एकता और परस्पर प्रेम की ज़िन्दगी बसर करेंगे, जो कि केवल कुछ पीढ़ियों पहले तक वे सदियों बसर करते रहे।

इस तरह की दुर्घटनाओं के इलाज के लिये यह कान्फ्रेंस नम्रता के साथ नीचे लिखी बातें देशवासिओं के सामने रखती है—

(१) यह कि हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायों के पढ़े लिखे लोग और ख़ासकर नौजवान लोग इस बात का इरादा करलें कि वे एक दूसरे की धर्म पुस्तकों को और एक दूसरे के महापुरुषों की जीवनियों को हमदर्दी के साथ पढ़ेंगे।

(२) इस कान्फ्रेंस को विश्वास है कि इन दोनों महान सम्प्रदायों में ग़लतफ़हमी का एक बहुत ज़बर्दस्त कारण वह ग़लत ऐतिहासिक दृष्टि है, जो इतिहास की आजकल की पाठ्य पुस्तकों के अधिकतर लेखकों की रहती है।

इसलिये इस कान्फ्रेंस की राय है कि योग्य विद्वानों को हिन्दुस्तान का इतिहास और ख़ासकर मध्य कालीन हिन्दुस्तान का इतिहास फिर से लिखने का कार्य अपने हाथों में लेना चाहिये, जब कि सत्य को किसी सूरत में भी दबाना नहीं चाहिये। साथ ही जितना ज़ोर आपस के भेदों और आपस की लड़ाइयों पर देना चाहिये, उससे ज़्यादा ज़ोर एक दूसरे से मेल, प्रेम और एक दूसरे की सहायता और सहानुभूति के कार्यों पर देना चाहिये।

(३) इस कान्फ्रेंस को यह देखकर दुःख होता है कि वह मिला जुला सामाजिक जीवन और वह मिली जुली संस्कृति यानी कल्चर, जो बीच के ज़माने में इस देश में बढ़ती जा रही थी, अब उसके टुकड़े टुकड़े हो जाने और नष्ट हो जाने का ख़तरा है। इसलिये यह कान्फ्रेंस सब हिन्दुस्तानियों पर इस बात के लिये ज़ोर देती है कि वे उस मिली जुली संस्कृति और मिली जुली समाजी ज़िन्दगी को फिर से ज़िन्दा करें, जो कि हिन्दुस्तान के सब धर्मों के लोगों की एक सी बपौती है और जिसका कि उन सबको एक समान अभिमान हो सके।

(४) यह कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी और दूसरे सब लोगों को एक दूसरे के बड़े बड़े धार्मिक त्योहारों में शरीक होना चाहिये और ख़ासकर एक दूसरे के महापुरुषों जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, ज़रथुस्त्र, मोहम्मद, नानक आदि के जन्म दिनों को मिलकर मनाना चाहिये।

(५) इस तरह की साम्प्रदायिक संस्थायें जैसे हिन्दू, मुसलिम अखाड़े, व्यायाम शालाएं, शोसल क्लब वग़ैरह को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिये और हर जगह इस बात की कोशिशें होनी चाहियें कि दोनों के मिले जुले अखाड़े, मिली जुली व्यायाम शालाएं और मिले जुले क्लब क़ायम हों, ताकि मुख़्तलिफ़ धर्मों के लोगों और ख़ासकर उनके नौजवानों के बीच एक दूसरे से मेल जोल बढ़े। जहां तक मुमकिन हो शिक्षा संस्थाओं के विषय में भी इसी तरह की कोशिशें होनी चाहियें।

(६) यह कि जहां कहीं इस तरह के बदक़िस्मत झगड़े खड़े हो जावें, वहां दोनों की मिली जुली मोहल्ला कमेटियां, मिली जुली शहर कमेटियां और मिले जुले स्वयं सेवक दल क़ायम किये जावें और उन्हीं के ज़रिये फिर से दोनों सम्प्रदायों के लोगों में एक दूसरे से प्रेम पैदा करने और जिन लोगों को नुक़सान पहुँचता है, उन्हें बिना हिन्दू मुसलमान के ख़याल के मदद देने की कोशिशें की जावें। इस तरह के स्थानों में हिन्दुओं को चाहिये कि अपने मुसलमान भाइयों के जानमाल

की हिफ़ाज़त करना अपना पवित्र कर्तव्य समझें, और मुसलमानों को चाहिये कि वे इसी तरह अपने हिन्दू भाइयों की जान माल की रक्षा करना अपना पवित्र कर्तव्य समझें; चाहे ऐसा करने में उन दोनों को अपने लिये भी ख़तरे का सामना क्यों न करना पड़े।

(७) यह कान्फ़्रेंस नमूने के तौर पर नीचे लिखी कुछ किताबों के नाम सुझाती है कि इस तरह का साहित्य जहां तक हो सके ज़्यादह फैलाया जावे और पढ़ा जावे और दोनों बड़ी बड़ी सम्प्रदायों के लोग उन्हें पढ़ें और पढ़ावें ताकि एक दूसरे से प्रेम और एक दूसरे की इज़्ज़त दिलों में क़ायम हो।

१—The Essential Unity of All Religions
by Dr. Bhagwandas
(अङ्गरेज़ी और हिन्दी)

२—The Influence of Islam on Indian Culture
by Dr. Tarachand
(अङ्गरेज़ी और हिन्दी)

३—अरब और हिन्द के ताल्लुक़ात
लेखक, मौलाना सुलेमान नदवी
(हिन्दी और उर्दू में)

४—क़ुरान और धार्मिक मतभेद
लेखक, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

५—मुसलमानों का रोशन मुस्तक़बिल
लेखक, मौलवी तुफ़ैल अहमद
(उर्दू में)

६—हज़रत मोहम्मद
लेखक, पंडित सुन्दरलाल
(हिन्दी में)

७—हिन्दू मुसलिम मेल
लेखक, स्वामी सत्यभक्त
(हिन्दी और उर्दू में)

८—नग़मये ख़ुदावन्दी
यानी भगवत्गीता का उर्दू अनुवाद
लेखक, मौलवी मोहम्मद अजमल ख़ां

यह किताबें महज़ नमूने के तौर पर बताई गई हैं। यह कोई पूरी फ़ेहरिस्त नहीं है।

बम्बई का दंगा और मुसलिम व्यापारी

खंडवा से निकलने वाले साप्ताहिक "स्वराज्य" की ख़बर है—

'बम्बई में गत मंगलवार को अंजुमने इसलाम हाई स्कूल में मुसलिम व्यापारियों की एक सभा सेठ महम्मदअली अल्लाबक्श के सभापतित्व में हुई। इसमें नवाब जादा मुमताज अली ख़ां ने एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमें बम्बई के दंगे की तीव्र आलोचना की गई थी। प्रस्ताव पर भाषण देते हुये आपने कहा कि इस देश में हिन्दू और मुसलमान एक हज़ार वर्षों से एक साथ रहते आये हैं; परन्तु पहले कभी ऐसे दंगे नहीं हुये जैसे इन थोड़े वर्षों से हो रहे हैं। इसलाम एकता और प्रेम सिखाता है और ख़ून ख़राबी को वहां कोई स्थान नहीं है। हिन्दू धर्म भी एक शान्ति प्रिय धर्म है। तब फिर ये झगड़े होते क्यो हैं! मेरा तो विश्वास है कि हिन्दुस्तान के टुकड़े करने की, जो नीति कुछ लोगों ने अख़्तियार कर ली है, वही इन झगड़ों के लिये बहुत अंशों तक जवाबदार है—चाहे वह पाकिस्तान हो या सिक्खिस्तान।"

हिन्दू मुसलिम दंगे और 'अल मन्शूर'

मुसलिम लीग का एक उर्दू मुख पत्र 'अल मन्शूर' हिन्दू मुसलिम फ़िसादों के बारे में लिखता है—

"मुसलिम लीग हिन्दू मुसलिम फ़िसादों को ख़ाह वह किसी नवैयत (तरह) के हों बुरा समझती है। उसके नज़दीक यह मुसलमानों की शान के ख़िलाफ़ है कि उनके हमवतनों और पड़ोसियों के जान माल को उनके हाथ से किसी क़िस्म का गज़न्द (नुक़सान) पहुँचे। मुसलमान बरशरे इक़्तदार (शक्तिशाली) हों या इस हालत में मुब्तला (फंसे हुए) जो हिन्दुस्तान में हैं, वह अमन के सिपाही हैं। जहां कहीं फ़ितना फ़िसाद हो, रोकना उनका फ़र्ज़ है और कमज़ोरों की हिमायत उनका क़ौमी शआर (मर्यादा) है।"

हिन्दू मुसलिम दंगों पर 'अल बशीर'

इटावे से निकलने वाले उर्दू साप्ताहिक 'अल बशीर' के मशहूर सम्पादक खान बहादुर मोहम्मद बशीरुद्दीन एक ८४ वर्ष के बूढ़े प्रसिद्ध मुसलमान विचारक हैं, जिनके दिल में हिन्दू मुसलिम एकता के लिये सच्ची लगन है। १७ जून सन् ४१ के 'अल् बशीर' में अपने अग्रलेख में उन्होंने एकता के उन प्रयत्नों की तारीफ़ की है, जो पञ्जाब में कुछ ख़ास ख़ास हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों की तरफ़ से मिलकर किये जा रहे हैं। आख़ीर में उन्होंने इन झगड़ों की असली वजह और उनके इलाज का ज़िक्र करते हुए लिखा है—

"असली वजह वह लीडर हैं, जो अपने क़ौमी जलसों में तक़रीर करते वक़्त अपनी ज़बान पर क़ाबू नहीं रखते। और पब्लिक को जोश दिलाने की ग़रज़ से मुख़ालिफ़ मज़हब वालों और मुख़ालिफ़ क़ौम वालों के मुताल्लिक़ ऐसे अलफ़ाज़ इस्तेमाल कर जाते हैं, जो दूसरे फ़िरक़े के लिये दिलाज़ार होते हैं और इससे मुनाफ़िरत (नफ़रतें) बजाय कम होने के और ज़्यादा तरक़्क़ी कर जाती हैं।

"दूसरा सबब हिन्दू मुसलिम नाइत्तफ़ाक़ी को तरक़्क़ी देने का अख़बारात की नागवार और मुतास्सिबाना तहरीरें (साम्प्रदायिक लेख) होती हैं।

"तीसरा सब से बड़ा सबब यह है कि फ़साद हो जाने के बाद हिन्दू लीडर, हिन्दू अख़बार और हिन्दू नामा निगार (संवाद दाता) हिन्दुओं को बिलकुल बेक़सूर ठहराते हैं और तमामतर इलज़ामात मुसलमानों पर धरते हैं। इसी तरह मुसलिम लीडर, मुसलिम नामा निगार और मुसलिम अख़बार मुसलमानों को बिलकुल मासूम समझते हैं और सरासर क़ुसूरवार हिन्दुओं को ठहराते हैं।

"इस ख़राबी के रोक थाम के वास्ते ज़रूरत है कि पञ्जाब यूनिटी कान्फ्रेंस में एक ख़ास कमेटी इस ग़र्ज़ से मुक़र्रर की जाय कि वह लीडरों और अख़बारों के बयानों का ग़ौर से मुताला (अध्ययन) करती रहे, और अगर किसी लीडर या अख़बार की कोई तक़रीर या तहरीर एतराज़ के क़ाबिल हो, तो ज़रूरत है कि यह कमेटी पहले उन अख़बारों और लीडरों को मुतनब्बह (चेतावनी) करे कि वे अपना यह अमल का तरीक़ा बदलें और अगर इस पर भी वह बाज़ न आवें, तो सरकार से तहरीर की जाय कि उन मुफ़सिद (लड़ाई कराने वाले) लीडरों और अख़बारों पर मुक़दमे क़ायम करे।

"दूसरी ज़रूरत यह है कि बजाय इसके कि मुख़ालिफ़ फ़रीक़ पर इलज़ाम लगाया जाय, हिम्मत और जुरअत से काम लेकर ख़ुद अपनी क़ौम और फ़िरक़ा की ग़लतियां बताई जांय। तीसरे इस अम्र की ज़रूरत है कि जब कोई मज़हबी जुलूस निकलने वाला हो या कहीं हंगामी तरीक़े से फ़साद हो गया हो, तो मुख़्तलिफ़ क़ौमों के लीडर इस जुलूस के साथ हों या जहां हंगाम हो गया हो वहां ख़ुद पहुंचें और लोगों को उनकी नाशाइस्ता हरकतों से बाज़ रखें। हमको इटावे का तजरुबा है और ख़ुदा का शुक्र है कि इटावा हिन्दू मुसलिम फ़सादों के मौक़ों पर सख़्त से सख़्त आज़माइश के मौक़ों पर भी साफ़ बचकर निकल गया, जिसकी वजह यह है कि इटावा के ज़ीअसर और साहबे इख़्तदाल (प्रतिष्ठित पुरुष) साहबान ईमानदारी से कोशिश करते हैं कि इटावा में फ़साद और बलवा न होने पाये। हमको यक़ीन है कि अगर तमाम हिन्दुस्तान के शहरों और देहातों में अमल का यही तरीक़ा अख़्तियार किया जाय, तो हिन्दुस्तान में अव्वल तो हिन्दू मुसलिम फ़साद न होंगे और अगर इत्तफ़ाक़िया किसी जगह फ़साद हो गया, तो तूल न पकड़ने पायेगा, जितना कि आजकल के फ़साद पकड़ते हैं।

"इस बात की भी ज़रूरत है कि मज़हबी जुलूसों और मज़हबी त्योहारों के पहले हिन्दू मुसलिम लीडर इकट्ठा होकर हिन्दुओं और मुसलमानों को अमन और मोहब्बत के साथ रहने की प्रार्थना करें। और अगर कोई जायज़ शिकायत किसी दल की हो, तो उसे अपने असर से काम लेकर दूर करादें। अगर किसी दल या फ़रीक़ का बेजा हठ हो, तो ख़ुद उसके

लीडर अपने दल को अच्छी तरह यह समझादें कि फ़साद होने की हालत में हम से तुम किसी क़िस्म की उम्मीद न रखो।

"इस बात की भी ज़रूरत है कि फ़साद हो जाने की सूरत में मज़लूमों की मदद का चन्दा अलग-अलग होने के बजाय यकजा होना चाहिये और बिला किसी फ़िरक़ के ख़याल के सब की यकसां मदद करनी चाहिये।

"बहर हाल ज़रूरत इस बात की है कि हिन्दू मुसलिम लीडर पहले अपने दिल की खोट को दूर करें। जब तक कि ख़ुद लीडर अपने दिल की खोट दूर नहीं करेंगे,हिन्दू मुसलिम इत्तहाद की सब कोशिशें बिलकुल बेकार साबित होंगी।"

बम्बई के दंगे पर 'तनवीर'

बम्बई से मुसलिम स्त्रियों की एक मासिक पत्रिका 'तनवीर' उर्दू में निकलती है। 'तनवीर' के जून के अङ्क में बम्बई के दंगे पर हार्दिक दुःख प्रकट करते हुए इस पत्रिका ने लिखा है:—

"अङ्गरेज़ों की मुहज़्ज़ब और तजरुबेकार कहलाने वाली हुकूमत से पहले हिन्दुस्तान में कभी इस क़िस्म के हिन्दू मुसलिम झगड़े नहीं होते थे। हालांकि बक़रीद, मोहर्रम, होली, दिवाली और दशहरा के त्योहार उस वक़्त भी मनाये जाते थे। अज़ान भी होती थी और बाजा भी बजता था, न हिन्दू तहज़ीब को मिटने का डर था, न मुसलमानों के तमद्दुन को ख़तरा था। न फ़ारसी अरबी, संस्कृत और हिन्दी की रक़ीब थीं, न डाढ़ी चोटी में उलझी थी और न पाजामा धोती से होड़ बांधे था। हिन्दू और मुसलमान मिलकर शान्ति और इतमीनान से ज़िन्दगी गुज़ार रहे थे। अङ्गरेज़ों के ग़ुलाम होने के बाद तक वह आपस में इस क़दर एक थे कि इन्होंने वतन की आज़ादी के लिये बहुत से मौक़ों पर मिलकर अपना ख़ून बहाया। इस इत्तहाद को देखकर ही फूट और लड़ाई का बीज बोया गया, जो आहिस्ता आहिस्ता फलने फूलने लगा और ख़ासकर जब से आज़ादी के आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा, उसी ज़माने से इन त्योहारों के मौक़ों पर हिन्दू मुसलिम फ़िसाद होने लगा।"

इसके बाद इस समय के बम्बई के दंगे की कांग्रेस गवर्नमेंट के समय के दंगे से तुलना करते हुए यह पत्रिका लिखती है—

"कांग्रेस के दौराने हुकूमत में भी एक बार शरारती अनसर (लोगों) की कोशिशों से हिन्दू मुसलिम फ़िसाद शुरू हुआ था...लेकिन अपनी हुकूमत बहरहाल अपनी ही हुकूमत है। ख़ाह वह कितनी ही बुरी क्यों न हो। बम्बई वाले इस बात से बख़ूबी वाक़िफ़ हैं कि कांग्रेसी हुकूमत ने किस लियाक़त से इस फ़साद की आग को फैलने से रोका और बुझाया। बमुशकिल तमाम चार पांच दिन लगे होंगे कि फ़साद ख़तम हो गया। और मिस्टर मुन्शी ने बड़ी क़ाबलियत से इस पर क़ाबू पालिया। नतीजा के तौर पर शहर के हिन्दू मुसलमान सभी मामऊन और महफ़ूज़ हो गये। दोनों के कामकाज को कोई नुक़सान न पहुँचा। दोनों तरफ़ से आदमी कम मारे गये और कम गिरफ़्तार किये गये। शहर में अम्नो आमान से शहरियों को फ़ायदा है, ख़ाह वह किसी मज़हब से ताल्लुक़ रखते हों और शान्ति भङ्ग से दोनों का नुक़सान"

फिर अपनी मदद आप करो के शीर्षक से यह पत्रिका लिखती है—

इस तरह के हंगामों के दिनों में जिन्हें फ़िरक़ा वाराना कहा जाता है, बजाय अपनी-अपनी हिफ़ाज़त करने के बाहमी रवादारी से काम लेकर तहज़ीब व इन्सानियत, इख़लाक़ और मज़हब की शान बढ़ाने के लिये वे एक दूसरे की हिफ़ाज़त करें। यानी यह कि मुसलमानों के बाज़ार या मोहल्ले में हर हिन्दू की जान और माल की हिफ़ाज़त मुसलमान अपने ज़िम्मे-लेलें और इसी तरह हिन्दुओं के बाज़ार या मोहल्ले में मुसलमानों की जान व माल की हिफ़ाज़त करना हिन्दू अपना धर्म समझें। सच्चे हिन्दू धर्म और सही इसलाम का भी यही फ़रमान है। जो इससे मुंह मोड़ता है वह न मुसलमान है न हिन्दू। ऐसे ज़लील

फ़सादियों को फ़िलना परवाज़ी से हर तरीक़े पर रोकना शरीफ़ आदमियों का फ़र्ज़ है।

अलग-अलग हिन्दू और मुसलिम रिलीफ़ कमेटियों पर टीका करते हुए इस पत्रिका की सुयोग्य सम्पादिका ने बिलकुल सच कहा है कि—

"इन दिनों बम्बई में सड़कों पर हिन्दू एम्बुलेन्स कारें और मुसलिम एम्बुलेन्स कारें अपने-अपने नामों के बड़े-बड़े झण्डे और साइन बोर्ड (बम्बई की ज़बान में बावटे और पाटिये) लगाये इधर से उधर दौड़ती फिरती नज़र आती हैं। इन साइन बोर्डों पर लिखा होता है 'हिन्दू महासभा रिलीफ़ कमेटी,' 'मुसलिम रिलीफ़ कमेटी' वग़ैरह। यह तो हमें यक़ीन है कि यह रिलीफ़ कमेटियां बिला मज़हब या क़ौम के भेद-भाव के हिन्दू व मुसलिम ज़ख्मियों को मदद पहुँचाती होंगी। मगर उनको देखकर इनसान पर पहला असर यह पड़ता है हिन्दू एम्बुलेन्स हिन्दुओं की मदद करेगी और मुसलमानों की ऐम्बुलेंस सिर्फ़ मुसलमानों की मदद करेगी। ज़ख्मियों बेचारों की ख़िदमत करने के लिये अपने नाम की नुमाइश कोई ज़रूरी बात नहीं है। ख़ास कर ऐसी बिगड़ी हुई फ़िज़ा में इन्सानी ख़िदमत करने वालों को फ़िरक़ा वाराना बोर्ड और झण्डों को लगा कर फ़िज़ा को और न बिगाड़ना चाहिये।

"जब हिन्दू रिलीफ़ कमेटी को मुसलमान ज़ख्मियों की भी मदद करना है और मुसलमान रिलीफ़ कमेटी को भी हिन्दुओं की ख़िदमत करनी है, तो फिर इस बात की क्या ज़रूरत है कि वह यह ज़ाहिर करें कि हम सिर्फ़ अपने फ़िरक़े के ज़ख्मियों की ही मदद करने को निकले हैं। इन्सानियत और हमदर्दी के प्रचारों और ख़ादिमों को इस घरौंदेबाज़ी से ऊपर उठना चाहिये।"

युद्ध की प्रगति

रूस के ऊपर नाज़ी हमले के बाद युद्ध का परिणाम एक तरह से निश्चित-सा हो गया है। हिटलर का हमेशा इस बात पर विश्वास रहा है कि एक मरतबा में एक ही मोरचा लिया जाय। यूं तो पिछले एक बरस से रूस और जर्मनी का मनोमालिन्य बढ़ रहा था; लेकिन इसका किसी को गुमान तक न था कि ये छोटे मोटे कारण लड़ाई की वजह बना लिये जायंगे। हिटलर की मन्शा अब बिल्कुल साफ़ है। वह सारी दुनिया का एक क्षत्र डिक्टेटर बनने की आकांक्षा रखता है। युद्ध की घोषणा करते हुए हिटलर ने जो बयान दिया है, उसमें संसार को बोल्शेविज़्म के पाप से मुक्त करने का दावा पेश किया

है। किन्तु अमरीका या दुनिया के दूसरे मुल्क अब हिटलर के इस धोखे में नहीं आ सकते। जिसके ख़ूनी पंजों से नौ निर्दोष राष्ट्रों का ख़ून टपकता हो, वह भोले से भोले आदमी को भी अब मूर्ख नहीं बना सकता।

हमें नहीं मालूम युद्ध क्या शक्ल अख़्तियार करेगा। यह हम जानते हैं कि रूसी फ़ौजें तरोताज़ा और हिम्मत से भरी पूरी हैं। फ़िनलैण्ड की लड़ाई में जिन मुश्किल परिस्थितियों में रूस वाले लड़े हैं, वह संसार के सैनिक इतिहास में एक अपूर्व घटना है। ५६ हज़ार झीलों के देश में २४ फ़ुट बरफ़ के ऊपर लड़ाई चलाना आसान न था। फिर मैनरहीम लाइन जैसी दुर्गम क़िलेबन्दी को तोड़ लेना रूस के लिये

गौरव की बात थी। रायटर के भेजे हुए समाचारों से यह ज़ाहिर होता है कि रूसी सैनिक शक्ति जर्मनी से किसी तरह कम नहीं है। श्री चर्चिल ने रूस को हर तरह की मदद देने का वादा किया है। किन्तु रूस और इङ्गलिस्तान के बीच की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि इङ्गलिस्तान रूस को किसी तरह की मदद न दे सकेगा। हाँ, अमरीका और कनाडा रूस को हर तरह की मदद दे सकते हैं। यदि रूस को

मोशियो स्टालिन

काफ़ी मदद मिली और लाल सैनिक उतने ही हिम्मतवर साबित हुए, जितने जर्मन सैनिक, तो वे एक बार न केवल जर्मनी को ही पीछे खदेड़ देंगे, बल्कि तमाम पराजित राष्ट्रों को फिर से स्वाधीन बनाकर एक बार सारे यूरोप पर अपने प्रभाव को मज़बूत बना लेंगे। रूस के लिये यह दैवी अवसर है। यह उसकी जीवन की बाज़ी है। या तो रूस मिट जायगा या फिर सारे यूरोप में उसका बोलबाला होगा।

बक़ौल श्री चर्चिल के रूस की हार न सिर्फ़ रूस की ही हार होगी, बल्कि हिन्दुस्तान, चीन और दूसरे एशियाई मुल्कों को स्वस्तिका के झण्डाबरदार अपने बूटों से रौंद डालेंगे। चर्चिल इस ख़तरे को समझते हैं; मगर फिर भी वे हिन्दुस्तान को दुनिया की आज़ादी की लड़ाई में बराबरी का हिस्सेदार बनाने को तय्यार नहीं हैं। क्या हम आशा करें कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञता कुछ अक़्ल से काम लेगी, या हिन्दुस्तान की क़िस्मत में सिर्फ़ ग़ुलामी बदलौवल ही लिखी है?

डाक्टर भगवानदास शतायु हों

पिछले कई हफ़्तों से डाक्टर साहब की अस्वस्थता का समाचार समाचार पत्रों में निकल रहा है। उनकी अस्वस्थता ने हमें बेहद चिन्ता में डाल दिया है। जब देश में साम्प्रदायिकता के घने बादल छाये हुए हैं, डाक्टर साहब का व्यक्तित्व हमारे लिये प्रकाश-स्तम्भ का काम दे रहा है। आपसी झगड़े को हल करने में डाक्टर साहब की सलाहें अनिवार्य हैं। उन पर हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को भरोसा है। हमारी परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह डाक्टर साहब को शतायु करे, ताकि हमारे देश की इस सबसे बड़ी मुसीबत को हल करने में डाक्टर साहब हिस्सा ले सकें।

भूल-सुधार

जून की 'विश्ववाणी' में श्री 'विष्णु' की कहानी, '१९४१ का एक दिन' की पहली लाइन में पहला शब्द—'मई' की जगह 'मार्च' पढ़ें।

इसी महीने की 'विश्ववाणी' में पृष्ठ ७८ के दूसरे कालम की सातवीं लाइन में १००० ई० की जगह १०० पढ़िये।

समालोचना के लिये आई हुई पुस्तकें

जगह की कमी के सबब हम इस महीने समालोचनाएं देने में मजबूर हैं। अगले अङ्क में समालोचनाएं जायगी।

१ राष्ट्रवादी दयानन्द—
लेखक—श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक, गोता-विज्ञान कार्यालय, नई दिल्ली

२ दुनिया की शासन प्रणालियां (दो भागों में)
लेखक—श्री रामचन्द्र वर्मा, प्रकाशक, सस्ता सहित्य मण्डल, नई दिल्ली

३ डायरी के कुछ पन्ने—
लेखक—श्री घनश्यामदास बिड़ला, प्रकाशक, सस्ता साहित्य मण्डल

४ बिखरे विचार—
लेखक और प्रकाशक—उपर्युक्त,

५ सेवा धर्म और सेवा मार्ग
लेखक—श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, प्रकाशक उपर्युक्त,

६ प्रलय-वीणा (कविता संग्रह)
लेखक—श्री सुधीन्द्र, प्रकाशक उपर्युक्त,

७ यूरोपीय युद्ध और भारत—
(गांधीजी और पं० जवाहरलाल के वक्तव्यों का संग्रह) प्रकाशक उपर्युक्त

८ देशी राजाओं का दर्जा—
लेखक—श्री प्यारेलाल नायर, प्रकाशक उपर्युक्त,

९ सोने की माया—
लेखक—श्री किशोरलाल मशरूवाला, प्रकाशक उपर्युक्त,

१० एक सत्यवीर की कथा
लेखक—श्री गांधी जी, प्रकाशक, उपर्युक्त,

११ कथा कहानी और संस्मरण
लेखक—श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय, प्रकाशक—जैन संगठन सभा, पहाड़ी धीरज, दिल्ली

१२ ब्रह्माण्ड और पृथ्वी
लेखक—श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रकाशक—अभिनव भारती ग्रंथमाला कलकत्ता।

१३ प्रजामण्डल (उपन्यास)
लेखक—श्री श्रीनाथ सिंह, प्रकाशक, 'दीदी' कार्यालय, इलाहाबाद

१४ हिन्दी के कवि और काव्य (भाग तीसरा)
लेखक—श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

१५ उर्दू काव्य की एक नई धारा
संकलन कर्ता—श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' प्रकाशक उपर्युक्त

१६ अर्थ शास्त्र के मूल सिद्धान्त
लेखक—श्री भगवान दास अवस्थी, प्रकाशक उपर्युक्त

१७ देश दर्शन (बल्गेरिया)
सम्पादक—पंडित रामनारायण मिश्र, प्रकाशक 'भूगोल' कार्यालय, इलाहाबाद

१८ देश दर्शन (अलसेस लारेन)
सम्पादक और प्रकाशक उपर्युक्त

१९ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह
सम्पादक—श्री अगर चन्द नाहटा और श्री भंवरलाल नाहटा। प्रकाशक शङ्करदास शुभैराज नाहटा, ५-६, आरमीनियन स्ट्रीट, कलकत्ता

२० दादा श्री जिन कुशलसूरि
सम्पादक और प्रकाशक उपर्युक्त

२१ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि
सम्पादक और प्रकाशक उपर्युक्त

विश्ववाणी

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

जनवरी से जून १९४१

विश्ववाणी कार्यालय, साउथ मलाका, इलाहाबाद ।

वार्षिक मूल्य छै रुपये

लेखकवार विषय-सूची

मुद्रक तथा प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद।

इस अङ्क के प्रमुख लेख

इसके अतिरिक्त कई लेख, कविताएं, कहानी, एकांकी नाटक आदि

मैनेजर, विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद

वार्षिक मूल्य ६)　　Single Copy As. -10-　　एक अङ्क का ॥=)

GOVT. OF HIS HIGHNESS THE MAHARAJA OF MYSORE

General and Revenue Secretariat
Dated Bangalore
23rd June, 1941.

The Editor of "Vishwa Vani" is informed that the Registrar, Mysore University has reported that the Institutions under the control of the University have been requested to subscribe for the Journal.

It is reported by the Director of Public Instruction that the Magazine "Vishwa Vani" has been recommended to the Reading Rooms of High Schools where Hindi is taught.

OFFICE OF THE DIRECTOR OF EDUCATION SRINAGAR

The "Vishwa Vani" edited by Mr. Bishambhar Nath, 142, South Malaka, Allahabad, is a very valuable journal in Hindi It deals with important cultural problems and the articles are generally of a high standard It is approved for all High Schools and Colleges and the public libraries will do well to subscribe to it.

(Sd) K. G. Saiyadain
Director of Education
Jammu and Kashmir.

28-5-41.

DIRECTOR OF EDUCATION, BIKANER

I congratulate you for bringing out such an excellent Journal

(Sd) Jugal Singh
(M. A., Dip Ed., Bar-at-Law)

Khichy House
Bikaner.
10-5-41.

OFFICE OF THE DIRECTOR SCHOOL EDUCATION, HOLKAR STATE, INDORE

Dated Indore 21-3-41.

"Vishwa Vani" has been registered in the Text Book Committee Library.

(Sd) S C. Jain
For Director, School Education
Holkar State, Indore.

विषय-सूची

अगस्त १९४१

OFFICE OF THE DIRECTOR OF PUBLIC INSTRUCTION, U. P.

Dated July 28 1941.

No. B-419-XVIII - 7 (3)-41-42

Vishwa-Vani (Hindi Monthly Magazine) Edited by Bishambhar Nath, 142 South Malaka, Allahabad, Published by the editor, Annual Subscription Rupees Six is approved for—

I. Libraries and Teachers' use in
   (a) English High Schools.
   (b) English Intermediate Colleges.
   (c) Normal Schools and Training Classes.

II. For teachers' use only in English Middle Schools.

(Sd) Parmanand

Personal Assistant to the Director of Public Instruction, U. P.

हम आपका ध्यान देवी अहिल्याबाई की पुण्यतिथि की ओर आकर्षित करते हैं, वह २१ अगस्त १९४१ गुरुवार को मनाई जायगी।

अहिल्योत्सव कमेटी भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष, स्कूल-कॉलेज, संस्था और नेता से प्रार्थना करती है कि वह अपने यहां इस पर्व को अवश्य मनायें और कृपा करके इसकी सूचना हमें भेज दें। हम उनका नाम अपने वार्षिक विवरण में सहर्ष प्रकाशित करेंगे।

उदयभानु, मंत्री

विश्ववाणी पर लोकमत

सार्व-देशिक

देहली, ज्येष्ठ, १९९८

सार्व देशिक-आर्य-प्रतिनिधि सभा, देहली का मासिक मुख-पत्र अपने ज्येष्ठ १९९८ के अंक में लिखता है—

"हिन्दी की इस मासिक पत्रिका का प्रकाशन 'भारत में अंग्रेज़ी राज्य' के यशस्वी लेखक श्रीयुत पं० सुन्दरलाल जी के संरक्षण में गत जनवरी मास से प्रयाग से प्रारम्भ हुआ है। देश और विदेश की विविध प्रगतियों पर पठनीय सामग्री के अतिरिक्त प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों द्वारा राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक इत्यादि विषयों पर लिखे हुए मनन योग्य लेख, कवितायें और कहानियां पढ़ने को मिलती हैं। इसका सम्पादन भी बड़ी योग्यता पूर्वक हो रहा है। विज्ञापनों के सम्बन्ध में पत्रिका की नीति बड़ी उन्नत और विशुद्ध दीख पड़ती है। हमारे वर्तमान अधिकांश पत्रों और पत्रिकाओं ने अपने लेखों और विज्ञापनों के द्वारा हमारे साहित्य को अश्लील और कुरुचिपूर्ण बनाने में खेद जनक योग दिया है। हमें आशा है 'विश्ववाणी' अपने को इस साहित्यिक अमेवा से पृथक् रक्खेगी।"

जीवन-सखा

इलाहाबाद, जुलाई, १९४१

विश्ववाणी—देश की सबसे बड़ी समस्या, हिन्दू-मुसलिम एकता के हल में मदद पहुंचाने के लिये ही मुख्यतया 'विश्ववाणी' का जन्म हुआ है। इतिहास, धर्म, साहित्य आदि पर लिखे गए प्रायः सभी लेख इसी दृष्टिकोण को लेकर प्रस्तुत किये जाते हैं। पत्रिका को भारत के एवं विदेश के जिस ऊंची श्रेणी के लेखकों, विद्वानों एवं कलाकारों का सहयोग प्राप्त है, अभी तक हिन्दी की किसी भी पत्रिका को नहीं प्राप्त हुआ है। अब तक ६ अंक निकल चुके हैं, जिन्हें देखकर कहना पड़ता है कि 'विश्ववाणी' ने हिन्दी पत्रिकाओं का स्टैण्डर्ड बढ़ाने के लिए एक लम्बा क़दम रखा है।

पत्र के सम्पादक हैं श्री विश्वम्भरनाथ और संरक्षक लब्धप्रतिष्ठ पं० सुन्दरलाल। सुन्दर छपाई, अच्छे काग़ज़ और इतने चित्रों से विभूषित, विज्ञापन के आय की उपेक्षा करने वाली इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य ६) इस मंहगी के ज़माने में कुछ भी नहीं है।

सूचना

उर्दू इन्साइक्लोपीडिया

पाठकों को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि 'इदारा-अदबियात-उर्दू' के संचालकों ने यह निश्चय किया है कि 'उर्दू-इन्साइक्लोपीडिया प्रकाशित किया जाए। इस इन्साइक्लोपीडिया में भारतवर्ष के प्राचीन और अर्वाचीन धार्मिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आदि समस्त महत्व के विषयों को स्थान दिया जायगा। हम चाहते हैं कि हिन्दी के योग्य लेखक इस विशाल कार्य में सहयोग दें। हिन्दी के जो भी योग्य लेखक इस कार्य में सहयोग देना चाहते है, वे अपनी शर्तें हमारे साथ पत्र-व्यवहार करके निश्चित कर सकते हैं। इस कार्य को केवल ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से किया जा रहा है। जो भी लेखक इस विषय में पत्र-व्यवहार करना चाहें, वे या तो पं० वंशीधर जी विद्यालङ्कार, लेक्चरर-उस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद-दक्षिण से, या फ़िर सीधे हमारे दफ़्तर से कर सकते हैं।

मोहीउद्दीन क़ादिरी 'ज़ोर', संचालक, इदारा—अदबियात, उर्दू
रफ़अत-मंज़िल, खैरताबाद, हैदराबाद-दक्षिण

सोवियत् रूस के महान जन्म-दाता—स्वर्गीय लेनिन
आज दुनिया के करोड़ों कण्ठ जयगान कर रहे हैं—'सोवियत् रूस ज़िन्दाबाद'

मद्रास, बम्बई, होलकर राज्य, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और
कालेज लाइब्रेरियों के लिये स्वीकृत

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

वर्ष १, भाग २ | अगस्त, १९४१ | अङ्क २, पूर्ण अङ्क ८

पथ-प्रदर्शन

राष्ट्रपति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

उस पालनकर्त्ता परमात्मा ने जिस तरह सब प्राणियों को उपयुक्त शरीर और शक्तियाँ प्रदान की हैं उसी तरह उनके पथ-प्रदर्शन के लिए भी स्वाभाविक साधन पैदा कर दिये हैं। यही स्वाभाविक पथ-प्रदर्शन भूत-मात्र को जीवित रहने और अपने जीवन के आधार ढूंढ़ने के मार्ग पर लगाता है और उन्हें जीवन के आवश्यक साधनों की खोज में प्रवृत्त करता है। अगर यह स्वाभाविक पथ-प्रदर्शन मौजूद न होता तो असम्भव था कि कोई भी प्राणी जीवन और उसे क़ायम रखने का सामान इकट्ठा कर सकता। क़ुरान ने इसी सचाई की ओर बार बार ध्यान दिलाया है। वह कहता है कि भूत-मात्र के जन्म से लेकर उसके परिपक्व होने तक कई दरजे हैं, जिनमें आख़िरी दरजा पथ-प्रदर्शन (हिदायत) का है। क़ुरान के सूरा ८७ में क्रमानुसार चार दरजों का ज़िक्र आया है।

वह प्रतिपालक जिसने हर चीज़ पैदा की, फिर उसे दुरुस्त किया, फिर हर एक के लिये उसका क्षेत्र निश्चित कर दिया, और फिर उसके सामने (कर्म का) पथ खोल दिया। (सूरा ८७, आयत २)

अर्थात् प्रत्येक सम्भूत पदार्थ की चार अवस्थाएं हैं। सृष्टि (तख़लीक़), दुरुस्ती (तसवीफ्या), क्षेत्र-निर्देश (तक़दीर), और पथ-प्रदर्शन (हिदायत)।

सृष्टि का अर्थ है अव्यक्त से व्यक्त होना। दुरुस्ती का अर्थ है हर चीज़ को जिस तरह होना चाहिये ठीक उसी तरह उसे दुरुस्त करना या सजाना। तक़दीर का अर्थ क्षेत्र निश्चित करना है। हिदायत यानी पथ-प्रदर्शन का अर्थ है प्रत्येक प्राणी के लिए जीवन और उसके साधन के मार्गों का निर्देश करना। जैसे, पक्षी की योनि को ही लीजिये। पक्षी के अस्तित्व का व्यक्त होना उसकी सृष्टि है। उसकी भीतरी और बाहरी शक्तियों का इस प्रकार विकसित होना जिससे उसमें शारीरिक संगठन और सामंजस्य आ जाय दुरुस्ती है। उसकी भीतरी और बाहरी शक्तियों की क्रिया के लिये एक क्षेत्र या सीमा बांध देना, जिससे वह बाहर न जा सके, तक़दीर है। मसलन्, पक्षी हवा में ही उड़ेंगे; मछलियों की तरह पानी में तैरेंगे नहीं। और उनमें अन्तः-प्रवृत्ति (वुजदान) और इन्द्रियों (हवास) की रोशनी पैदा होना जिससे उनको अपना जीवन और अस्तित्व क़ायम रखने का ज्ञान प्राप्त होता है और जिससे वे जीवन के साधन ढूंढते और प्राप्त करते हैं, हिदायत यानी पथ-प्रदर्शन है।

क़ुरान कहता है कि ईश्वर की पालनशक्ति की सार्थकता इसी में थी कि जिस तरह उसने हर एक प्राणी को उसका स्थूल रूप प्रदान किया, भीतरी और बाहरी शक्तियाँ दीं, उसका कर्मक्षेत्र निश्चित कर दिया, उसी तरह उसके लिये हिदायत यानी पथ-प्रदर्शन के साधन भी प्रस्तुत कर दे।

हमारा प्रतिपालक वह है जिसने हर चीज़ को रूप देकर उसके सामने उसका कर्मक्षेत्र खोल दिया। (सू० २०, आ० ५२)

हज़रत इब्राहीम और उनकी क़ौम के लोगों में जो बात चीत हुई थी, क़ुरान में उसका स्थान स्थान पर उल्लेख है, उसमें इब्राहीम अपने विश्वास की घोषणा करते हुए कहते हैं—

और जब इब्राहीम ने अपने पिता और अपनी क़ौम के लोगों से कहा था कि (स्मरण रखो) तुम जिन (देवताओं) की उपासना करते हो, उनसे मुझे कोई सरोकार नहीं। मेरा सम्बन्ध तो सिर्फ़ उस प्रभु से है जिसने मुझे पैदा किया और वही मेरा पथ-प्रदर्शक होगा। (सू० ४३, आ० २५)

"अल्लज़ी फ़तरनी फ़इन्नहू सयहदीन," यानी, जिस सृष्टिकर्त्ता ने मुझे शरीर और अस्तित्व प्रदान किया, अवश्य ही उसने मेरे पथ-प्रदर्शन का सामान भी पैदा कर दिया होगा। सूरा २६ में यही बात अधिक विस्तार से बयान की गई है—

जिस प्रतिपालक ने मुझे पैदा किया है वही मुझे हिदायत करेगा, और वही है जो मुझे खिलाता और पिलाता है और जब बीमार हो जाता हूँ तो मुझे चंगा करता है। (सू० २६, आ० ७६)

यानी जिस प्रतिपालक की पालनशक्ति ने मेरे जीवन की सभी आवश्यकताओं का सामान कर दिया है, जो मुझे भूख मिटाने के लिए भोजन, प्यास बुझाने के लिये पानी, और अस्वस्थ हो जाने पर स्वास्थ्य प्रदान करता है, उसके लिये यह कैसे सम्भव है कि मुझे पैदा करके उसने मेरे पथ-प्रदर्शन का सामान न किया हो? अगर उसने मुझे पैदा किया है तो यह निश्चय है कि वही खोज और प्रयत्न में मेरा पथ-प्रदर्शन भी करेगा। सूरा ३७ में यही मतलब इन शब्दों में ज़ाहिर किया गया है—

मैं (सब ओर से हट कर) अपने परवरदिगार की ओर जाता हूँ, वही मेरी हिदायत करेगा। (सू० ३७, आ० ९७)

वह मेरा "रब्ब" यानी पालक है। और जब वह रब्ब है तो ज़रूरी है कि वही मेरे लिये कर्म का मार्ग भी खोल दे।

पथ-प्रदर्शन के पहले तीन दरजे

पथ-प्रदर्शन के भी कई दरजे हैं जिन्हें हम प्राणियों में अनुभव करते हैं। सबसे पहला दरजा अन्तःप्रवृत्ति का है। अन्तःप्रवृत्ति से तात्पर्य जीवों के अन्दर की स्वाभाविक और आन्तरिक प्रेरणा है।

हम देखते हैं कि बच्चा पैदा होते ही अपने आहार के लिये रोने लगता है और बिना किसी बाहरी प्रेरणा के माँ का स्तन मुंह में लेकर पीने लगता और अपना आहार ग्रहण करने लगता है।

अन्तःप्रवृत्ति के बाद इंद्रिय ज्ञान का दरजा है, और वह इससे ऊंचा है। इसमें हमको देखने, सुनने, चखने, छूने और सूंघने की शक्ति प्राप्त होती है, और इन्हीं के ज़रिये हम बाहर की चीज़ों का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

स्वाभाविक पथ-प्रदर्शन के यह दोनों दरजे मनुष्य और पशु सबके लिए हैं। परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य के लिये पथ-प्रदर्शन का एक तीसरा दरजा भी मौजूद है, और वह अक़्ल यानी बुद्धि की हिदायत है। इस तीसरी हिदायत ने ही मनुष्य के लिये अपरिमित उन्नति का द्वार खोल दिया है जिसके कारण उसने पृथ्वी के जीवों में सबसे अधिक उन्नत प्राणी का पद प्राप्त कर लिया है।

अन्तःप्रवृत्ति मनुष्य में खोज और प्रयत्न का उत्साह पैदा करती है। इन्द्रियां उसके लिये ज्ञान का संचार करती हैं, और बुद्धि परिणाम और व्यवस्था निश्चित करती है।

पशुओं को इस आख़िरी दरजे की आवश्यकता न थी; इसलिये वे पहले दोनों दरजे, अर्थात् अन्तः-प्रवृत्ति और इन्द्रिय-ज्ञान, तक ही रह गये। लेकिन मनुष्य को यह तीनों दरजे प्राप्त हुए।

बुद्धि का तत्त्व क्या है? वास्तव में यह उसी शक्ति कि उन्नत अवस्था है जिसने पशुओं में अन्तः-प्रवृत्ति और इन्द्रिय-ज्ञान का दीपक प्रज्वलित किया है। जिस तरह मानव-शरीर पार्थिव शरीरों में सबसे अधिक उन्नत है उसी तरह उसकी आन्तरिक शक्ति भी अन्य सभी आन्तरिक शक्तियों से बढ़ी चढ़ी है। जीव की वह चेतनशक्ति जो वनस्पति में अप्रकट और पशु की अन्तःप्रवृत्ति और उसके इंद्रियज्ञान में प्रकट थी, वही मनुष्य में पहुंचकर पूर्णता को प्राप्त हुई और बुद्धि-तत्त्व कहलाने लगी।

हम देखते हैं कि स्वाभाविक पथप्रदर्शन के इन तीनों दरजों में से हर एक की अपनी विशेष सामर्थ्य और उसका एक विशेष कार्यक्षेत्र है, जिससे वह आगे नहीं बढ़ सकता। अगर उस दरजे से ऊंचा दूसरा दरजा मौजूद न होता तो हमारी आन्तरिक शक्तियां उस सीमा तक उन्नत न हो सकतीं जिस सीमा तक कि अब हमारी ही आन्तरिक प्रेरणा से वे उन्नति कर रही हैं।

अन्तःप्रवृत्ति हम में खोज और प्रयत्नशीलता उत्पन्न कर हमें जीवन की आवश्यकताओं की प्राप्ति की ओर लगाती है, लेकिन हमारे भौतिक शरीर के बाहर जो कुछ मौजूद है उसका ज्ञान हमें नहीं कराती। यह काम इन्द्रियों का है। कान सुनता है, आँख देखती है, नाक सूंघती है, जिह्वा स्वाद लेती है, और हाथ स्पर्श करता है, और इस तरह हम अपने शरीर से बाहर के समस्त इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। परन्तु यह इन्द्रिय-ज्ञान एक ख़ास हद तक ही काम दे सकता है, उससे आगे नहीं बढ़ सकता। आँख देखती है, मगर सिर्फ़ उसी हालत में जब कि देखने की सब शर्तें मौजूद हों। अगर किसी एक भी शर्त का अभाव हो—जैसे, प्रकाश न हो, या फ़ासला अधिक हो—तो हम आँख रहते हुए भी किसी पदार्थ को साक्षात् नहीं देख सकते। इसके अतिरिक्त इन्द्रियां चीज़ों का सिर्फ़ आभास करा सकती हैं, पर केवल इसी से काम नहीं चलता। हमें आवश्यकता होती है नतीजे निकालने की, उन्हें परखने की, उनसे व्यवस्था स्थिर करने की, और सार्वभौमिक नियम प्रतिपादन करने की। यह सब काम बुद्धि का है। बुद्धि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान को तरतीब देती है और उनसे सार्वभौमिक नतीजे और व्यवस्थाएं स्थिर करती है।

जिस तरह अन्तःप्रवृत्ति के काम के पूरा करने के लिए इन्द्रियों और इन्द्रियग्राह्य पदार्थों की आवश्य-कता है उसी तरह इन्द्रियों के काम की दुरुस्ती और निगरानी के लिए बुद्धि की ज़रूरत है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान केवल अपूर्ण ही नहीं बरन प्रायः भ्रामक

और मिथ्या भी होता है। एक बड़ा भारी गुम्बद अथवा कोई विशाल पदार्थ दूर से देखने पर हमें छोटे से काले बिन्दु से अधिक नहीं दिखाई देता। हम बीमारी की हालत में शहद खाते हैं और वह हमारी ज़बान के बिगड़ जाने से हमको कड़वा मालूम पड़ता है। पानी में सीधी लकड़ी की परछाई हमें टेढ़ी देख पड़ती है। प्रायः बीमारी के कारण कान बजने लगते हैं और ऐसी आवाज़ें सुनाई देती हैं जिनका बाहर कोई अस्तित्व नहीं होता। अगर इन्द्रियों के ऊपर एक और शक्ति अर्थात् बुद्धि न होती तो इन्द्रियों की अपूर्णता के कारण सच्चाई को जान सकना हमारे लिए असम्भव हो जाता। परन्तु ऐसी अवस्थाओं में बुद्धि आ मौजूद होती है और इन्द्रियों की असमर्थता में हमारा पथप्रदर्शन करती है। इस बुद्धि के द्वारा ही हम जान लेते हैं कि सूर्य एक महान् और विशाल पिण्ड है, चाहे हमारी आँख उसे एक सुनहरी थाली के बराबर ही क्यों न देखे। इस बुद्धि से हम जान लेते हैं कि शहद वास्तव में मीठा है, चाहे हमारी स्वादेन्द्रिय के बिगड़ जाने से वह हमें कड़वा ही क्यों न मालूम पड़े। इसी तरह बुद्धि बतलाती है कि कभी कभी ख़ुश्की बढ़ जाने के कारण कान बजने लगते हैं और इस हालत में जो आवाज़ सुनाई देती है वह बाहर की नहीं बल्कि हमारे ही दिमाग़ की गूंज है।

पथ-प्रदर्शन का चौथा दरजा

जिस तरह अन्तःप्रवृत्ति के बाद हमें इन्द्रियों की ओर से हिदायत मिलती है—क्योंकि अन्तःप्रवृत्ति एक ख़ास हद से आगे नहीं बढ़ सकती—और जिस तरह इन्द्रियों के बाद बुद्धि प्रकट हुई, क्योंकि इन्द्रियाँ भी एक ख़ास हद से आगे नहीं बढ़ सकती थीं, ठीक उसी तरह हम अनुभव करते हैं कि बुद्धि के बाद भी उससे आगे हिदायत के लिए कोई उच्चतर शक्ति होनी चाहिये, क्योंकि बुद्धि भी एक ख़ास हद से आगे नहीं बढ़ सकती और बुद्धि के कार्यक्षेत्र के बाद भी एक विशाल क्षेत्र बाक़ी रह जाता है। बुद्धि का कार्य-क्षेत्र जैसा और जितना है वह सब इन्द्रियज्ञान की परिधि में सीमित है, यानी बुद्धि सिर्फ़ उसी हद तक काम दे सकती है जिस हद तक हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जानकारी करा सकें। परन्तु हमारे इन्द्रियज्ञान की सीमा के आगे क्या है? उस परदे के पीछे क्या है जिसके आगे हमारी इन्द्रियों की पहुंच नहीं है? यहां पहुंच कर बुद्धि असमर्थ और बेकार हो जाती है, बुद्धि की हिदायत आगे हमें कोई प्रकाश नहीं पहुँचा सकती।

जहां तक मनुष्य के क्रियात्मक जीवन का सम्बन्ध है बुद्धि उसके पथ प्रदर्शन के लिए न तो हर हाल में काफ़ी है और न हर हाल में प्रभावोत्पादक ही। मनुष्य का मन तरह-तरह की वासनाओं और तरह-तरह के भावों में इस तरह उलझा हुआ है कि जब कभी बुद्धि और वासनाओं के बीच संघर्ष होता है तो विजय प्रायः वासनाओं ही की होती है। बुद्धि हमें अनेक बार विश्वास दिलाती है कि अमुक कार्य हानिकर और घातक है, लेकिन वासनाएं हमें प्रेरित करती हैं और हम उस काम से अपने को रोक नहीं सकते। बुद्धि की बड़ी से बड़ी दलील भी ऐसा नहीं कर सकती कि हम क्रोध की हालत में बेक़ाबू न हो जांय और भूख की हालत में हानिकर भोजन की ओर हाथ न बढ़ाएं।

परमेश्वर की पालकता के लिए यदि यह आवश्यक था कि वह हमें अन्तःप्रवृत्ति के साथ साथ ज्ञानेन्द्रियां भी दे, क्योंकि हमारे पथ-प्रदर्शन में अन्तःप्रवृत्ति एक ख़ास हद से आगे नहीं बढ़ सकती, तो क्या यह आवश्यक न था कि बुद्धि के साथ वह हमें कुछ और भी दे, क्योंकि बुद्धि भी एक ख़ास हद से आगे नहीं बढ़ सकती और मानवबुद्धि हमारे कर्मों की दुरुस्ती और उनके नियंत्रण के लिए पर्याप्त नहीं है?

क़ुरान कहता है कि यह आवश्यक था और इसी कारण उस दयालु परमात्मा ने मनुष्य के लिए पथ प्रदर्शन के चौथे दरजे का भी सामान कर दिया। इसी को क़ुरान 'वही' और 'नबुव्वत' का नाम देता है। इसीलिए हम देखते हैं कि क़ुरान में जहां तहां

इन चारों दरजों की हिदायत का ज़िक्र किया गया है, और इन्हें ईश्वर की पालकता का सर्वोत्तम प्रसाद माना गया है।

हमने मनुष्य को रजवीर्य के मेल से पैदा किया (जिसे एक के बाद एक हम विविध अवस्थाओं में पलटते हैं), फिर हमने उसे सुननेवाला और देखनेवाला बना दिया। हमने उसके सामने कर्म करने का क्षेत्र खोल दिया है। अब यह उसका काम है कि चाहे वह कृतज्ञ हो चाहे कृतघ्न (अर्थात या तो वह ईश्वरप्रदत्त शक्तियों का सदुपयोग कर कल्याण और नेकी के मार्ग पर चले या इनसे कार्य न लेकर पथ-भ्रष्ट हो जाय)।—सू० ७६ आ० २

क्या हमने उसे एक छोड़ दो दो आँखें नहीं दी हैं (जिनसे वह देखता है), और क्या जीभ और होंठ नहीं दिये हैं (जो बोलने के साधन हैं)। सू० ९०, आ० ६।

ईश्वर ने तुम्हें सुनने और देखने के लिए इन्द्रियां दीं, और सोचने के लिए दिल दिये (यानी बुद्धि दी), * जिसमें तुम कृतज्ञ हो (यानी ईश्वर की दी हुई शक्तियों का सदुपयोग करो)।—सू० १६, आ० ८०।

इन आयतों में और इसी तरह की अन्य आयतों में जगह जगह कई तरह की हिदायत की ओर इशारे किये गये हैं, जैसे इन्द्रियों और इन्द्रियग्राह्य पदार्थों द्वारा हिदायत तथा बुद्धि और मनन द्वारा हिदायत। किन्तु जहां कहीं मनुष्य के आत्मिक कल्याण या अकल्याण का वर्णन किया है वहां 'वही' और 'नबुव्वत' द्वारा हिदायत से ही सम्बन्ध है। जैसे—

निस्सन्देह हमारा काम है कि हम पथ-प्रदर्शन करें और निश्चय यह दोनों लोक (यह लोक और परलोक) हमारे ही हैं (इसलिए जो सीधी राह चलेगा उसके दोनों लोक सुधरेंगे और जो भटकेगा उसके दोनों लोक बिगड़ेंगे)।—सू० ९२, आ० १३।

बाक़ी रही समूद क़ौम, उसे भी हमने (सच्ची) राह दिखा दी थी, परन्तु उसने अन्धापन अख़्तियार किया और वह हमारे प्रदर्शित पथ पर नहीं चली। (सू० ४१, आ० १६)

और जिन लोगों ने हमारी राह में प्रयत्न और परिश्रम किया उनके लिए आवश्यक है कि हम भी अपनी राहें खोल दें। निस्सन्देह परमात्मा उन लोगों का साथी और सहायक है जो सदाचारी हैं। (सू० २९, आ० ६९)

---

* अरबी में 'क़ल्ब' और 'फ़ुआद' के अर्थ केवल उस अङ्ग ही के नहीं हैं जिसे हम दिल कहते हैं, बल्कि इसका उपयोग 'अक़्ल' और 'फ़िक्र' के लिए भी होता है। क़ुरान में जहां कहीं कान, आंख इत्यादि के साथ 'क़ल्ब' और 'फ़ुआद' कहा गया है उससे मतलब बुद्धितत्त्व है।

गीता का यही सार है

पण्डित सुन्दरलालजी

(२)

पहला अध्याय

पहले अध्याय में अर्जुन ने अपनी जिन कठिनाइयों को श्री कृष्ण के सामने रखा उनका ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। वे ये थीं कि इस लड़ाई से हमारे ख़ानदान, ज़ात और बिरादरी के सब पुराने रस्म रिवाज मिट जावेंगे, वर्णसंकर हो जावेगा, पितरों को पिण्ड और जल न पहुँच सकेगा और इस सब 'धर्म' के मिट जाने से हमारा सारा कुल नरक में पड़ेगा। अर्जुन ने यह बात साफ़ कही है कि इन पुराने 'धर्मों' के मिट जाने से सब लोग नरक को जाते हैं, यह हम अपने पुरखों से सुनते आए हैं।

दूसरा अध्याय

श्री कृष्ण का जवाब दूसरे अध्याय से शुरू होता है। इन सब शकों को श्रीकृष्ण ने पहले अर्जुन का सिर्फ़ "मोह" (२-२), उसकी "शान के ख़िलाफ़" और उसके "दिल की कमज़ोरी" (२-३) कहकर टालना चाहा। जब इससे अर्जुन को तसल्ली न हुई तो श्रीकृष्ण ने "हंसते हुए" कहा—

हे अर्जुन! तू अक़लमन्दों की सी बातें करता है और उन चीज़ों की फ़िक्र करता है जिनकी कोई फ़िक्र नहीं करना चाहिये। "पंडित" यानी समझदार आदमी का यह काम नहीं है कि कौन और क्या मिट गया और क्या अभी नहीं मिटा इसकी चिन्ता करे (२-११)।

इस तरह गीता ने अर्जुन के इन सब शकों को "अशोच्य" यानी "जिनकी फ़िक्र ही नहीं करना चाहिये" कहकर ख़त्म कर दिया।

यह बात ध्यान देने के क़ाबिल है कि 'धर्म' शब्द का इस्तेमाल अर्जुन ने—"जाति धर्माः कुल धर्माश्च शाश्वताः"—कर्म काण्ड और रस्म रिवाज के माइनों में किया है। श्री कृष्ण ने शुरू से 'धर्म' शब्द का इस्तेमाल दूसरों की तरफ़ अपने 'कर्त्तव्य' या 'फ़र्ज़' (२-३३) के माइनों में किया है।

दूसरे अध्याय के ग्यारह से तीस तक के श्लोकों में श्रीकृष्ण ने ज़िन्दगी और मौत, सुख और दुःख का फ़लसफ़ा बयान किया है। और कहा है कि आत्मा यानी रूह नित्य और अमर है, और यह शरीर और दुनिया की सब चीज़ें, यहां के सब नाम रूप अनित्य, फ़ानी और चन्द रोज़ा हैं। गीता का कहना है—

ज़िन्दगी के इस सारे रहस्य यानी राज़ को कोई हैरान होकर देखता है, कोई हैरान होकर उसका ज़िक्र करता है, और कोई हैरान होकर सुनता है, लेकिन सुनकर भी जानता कोई नहीं (२-२९)।

जहाँ तक इस फ़लसफ़े का अमल के साथ सम्बन्ध है उसका निचोड़ गीता के ही शब्दों में यह है—

जो काम अपनी ख़ुदी को बिलकुल अलग रख कर, अपने निजी सुख दुःख, नफ़े नुक़सान और जीत हार का बिलकुल ख़याल न करते हुए केवल फ़र्ज़ समझ कर किया जावे, उससे करने वालों को पाप नहीं लगता (२-३८)।

यानी पाप की सारी जड़ ख़ुदी में है।

इसके बाद श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि अब तक मैं तुझे ज्ञान के रास्ते से समझा रहा था। अब यही बात मैं कर्म के रास्ते से समझाना चाहता हूं। इसे तू समझ लेगा तो अपने फ़र्ज़ को पूरी तरह जान जायगा। (२-३९)।

इसी जगह गीता में वेदों और उनकी उस ज़माने की सीख का वह बयान है जिसका ऊपर ज़िक्र आ चुका है। अर्जुन ने कहीं पर वेदों का हवाला नहीं दिया। श्री कृष्ण ने ख़ुद उस ज़माने की हालत को देखते हुए और अर्जुन के ऊपर क्या क्या असर पड़े हुए हैं यह जानकर वेदों और उनकी सीख का ज़िक्र किया है। अर्जुन को समझाने में श्री कृष्ण को सब से बड़ी दिक़्क़त यही महसूस हुई कि वेदों की उस ज़माने की सीख का अर्जुन पर गहरा असर था। उन्होंने अर्जुन से कहा—

वेदों की सीख से तेरी बुद्धि फिर गयी है। श्रुति विप्रति पन्ना ते...बुद्धिः)। जब तक तेरी यह बुद्धि फिर से स्थिर यानी क़ायम न होगी तब तक तू कर्म-योग के रास्ते को नहीं समझ सकता (२-५३)। जो लोग वेदों की सीख में ही मग्न हैं और कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ है ही नहीं वे बेसमझ (अविपश्चितः) हैं, वे अपनी दुनयावी ख़्वाहिशों के पीछे पड़े हुए हैं, वे स्वर्ग के ऐश भोगना चाहते हैं, वे भोग और ऐश्वर्य यानी ऐश आराम के लिए तरह तरह के करम काण्डों की मीठी मीठी बातें करते हैं जिनसे उन्हें दुनिया के भोग रूपी फल मिल सकें। इनका जी भोगों और ऐश्वर्य में ही फंसा हुआ है। इन्हीं ख़्वाहिशों ने उनकी बुद्धि को नष्ट कर रक्खा है। (तथापहृत चेतसाम्)। इसीलिए इनकी बुद्धि स्थिर और एक होकर एक तरफ़ नहीं लग सकती (२-४२,४३,४४)। इस तरह के लोगों की बुद्धि बजाय एक तरफ़ लगने के—यानी अपनी ख़ुद ग़रज़ी और ख़्वाहिश को अलग रखकर फ़र्ज़ को फ़र्ज़ समझ कर पूरा करने की तरफ़ लगने के—उन ख़्वाहिशों को पूरा करने की तरफ़ लगी हुई है जिनका कोई अन्त नहीं। इसीलिये उनकी बुद्धि बहकी रहती है (२-४१)। वेदों की सीख आदमी को सत्व, रजस, तमस इन्हीं तीनों गुणों में फंसाये रखती है। तू इन तीनों गुणों से ऊपर उठ जा। सुख, दुःख या अपने पराये के भावों से ऊपर हो जा। तू हमेशा सत्व में क़ायम रह। अपने लिए न किसी चीज़ को पाने की ख़्वाहिश कर और न किसी चीज़ को अपनाए रखने की। तू अपनी आत्मा के अन्दर क़ायम हो (२-४५)। जो "ब्राह्मण" यानी ज्ञानी आदमी हक़ीक़त को जान गया है उसके लिए तमाम वेद वैसे ही निकम्मे हैं, जैसे उस जगह जहां पानी ही पानी भरा हो, एक छोटा सा कुंवा (२-४६)।

वेदों से यहां मतलब वैदिक रूढ़ियों, यज्ञों, रस्म रिवाजों और कर्म काण्ड से हैं (९-२०,२१)।

इसके बाद श्री कृष्ण ने अर्जुन को फिर अपनी ख़ुदी को अलग रखकर, अपने लिए किसी तरह की इच्छा न करते हुए, कामयाबी और नाकामयाबी दोनों में अपने मन को एक रस रखते हुए, फ़र्ज़ को फ़र्ज़ समझकर पूरा करने का उपदेश दिया है, फ़र्ज़ से हट कर बैठ जाने को बुरा कहा है, और दूसरों की तरफ़ अपने फ़र्ज़ के इस तरह ठीक ठीक पूरा करने का ही नाम 'योग' बताया है (योगः कर्मसु कौशलम् (२-५०)।

श्री कृष्ण के यह कहने पर कि वेदों के कर्म काण्ड में भटकी हुई बुद्धि को एक जगह क़ायम यानी स्थिर करने की ज़रूरत है, अर्जुन ने पूछा कि 'स्थिर बुद्धि' या 'स्थित प्रज्ञ' आदमी की क्या पहिचान है। इसके जवाब में दूसरे अध्याय के आख़ीर के वे अठारह

श्लोक कहे गये हैं जो एक तरह गीता के उपदेशों का सार माने जाते हैं। श्री कृष्ण ने जवाब दिया कि

हे अर्जुन! जिसने अपने मन के अन्दर पैदा होने वाली तमाम ख़्वाहिशों को जीत लिया, जो न दुःख से डरता है और न सुख की इच्छा करता है, जिसे न किसी से राग या मोह है, न किसी से डर और न किसी पर क्रोध; जिसकी इन्द्रियें यानी नफ़्स उसके क़ाबू में हैं, उसी को 'स्थित प्रज्ञ' समझना चाहिये। इसलिये अपनी इन्द्रियों को इस तरह इन्द्रियों की ख़्वाहिश की चीज़ों से खींच कर अपने क़ाबू में रखना चाहिये, जिस तरह कछुआ अपने हाथ पैरों को अपने अन्दर खींच लेता है। फिर भी तबियत उधर को बहकती रहेगी। इसका इलाज धीरे धीरे ख़्याल को उधर से हटाना और ईश्वर की तरफ़ लगाना है। जिसे किसी से रागद्वेष यानी मोह या दुश्मनी नहीं है और जिसकी इन्द्रियां उसके क़ाबू में हैं, वह दुनिया के सब काम करता हुआ भी भीतर से शान्त रहता है। अपने नफ़्स पर क़ाबू रखने वाला आदमी दुनियां के सुख भोगों की तरफ़ से अपने को हटा कर अपने अन्दर की सफ़ाई और आत्मा की तरक़्क़ी की तरफ़ मन को लगाये रखता है। असली काम अपने 'अहंकार' यानी अपनी ख़ुदी को मिटाना है। यही सच्ची शान्ति और सच्चे सुख को हासिल करने का तरीक़ा है। यही ईश्वर को पाना और निजात हासिल करना है। (२-५५ से ७२)।

तीसरा अध्याय

अर्जुन के दिल में फिर यह सवाल पैदा हुआ कि अगर मुक्ति के लिए अपनी इन्द्रियों को जीतना और ख़ुदी को मारना ही ज़रूरी है तो फिर दुनिया के कामों में क्यों फंसा जावे। इसके जवाब में तीसरे अध्याय में बताया गया है कि—

इस तरह के "सन्यास" से जिसमें अपने दुनियावी फ़र्ज़ को छोड़ दिया जावे आदमी सिद्धि यानी कमाल को नहीं पहुँच सकता (३-४)। वे काम ही आदमी को बंधन में डालते हैं जो बजाय "यज्ञ" यानी दूसरों के लिए कुर्बानी के तौर पर करने के अपनी ख़ुद ग़रज़ी के लिए किए जावें। इसलिये बिना मोह के निस्वार्थ होकर काम करना चाहिये। (३-९)। "यज्ञ" का मतलब निस्वार्थ काम ही है। ऐसे कामों के सहारे ही शुरू से दुनिया संभली हुई है। जो आदमी "सिर्फ़ अपने लिए भोजन पकाता है" (ये पचंत्यात्म कारणात्) वह पापी है ("पाप" ही खाता है) जो दूसरों का ख़याल नहीं रखता वह चोर (स्तेन) है (३-१२, १३) यही "यज्ञ" का असली मतलब है। इसके ख़िलाफ़ जो अपनी इन्द्रियों के सुख में लगा रहता है उसका जीना निकम्मा और पाप है (३-१६)। आदमी को किसी भी दूसरे प्राणी से अपना स्वार्थ पूरा कराने की इच्छा नहीं रखनी चाहिये (३-१८)। "असक्त" यानी बेलाग और बेलोस काम करते हुए ही आदमी ईश्वर को पा सकता है (३-१९)। इसी तरह दूसरों की तरफ़ अपने फ़र्ज़ों को पूरा करते हुए ही जनक जैसों ने सिद्धि हासिल की थी। इसी में सब का भला (लोक संग्रह) है (३-२०) जिस तरह ना समझ आदमी अपने स्वार्थ के कामों में लगे रहते हैं, उसी तरह समझदार आदमी को निस्वार्थ भाव से दूसरों का यानी सबका भला चाहते हुए (चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्) अपना फ़र्ज़ पूरा करने में लगा रहना चाहिये (३-२५)। अध्यात्म यानी रूहानियत की तरफ़ दिल को लगाये हुये आशा और ममता से ऊपर उठ कर आदमी 'ईश्वर के लिए' दूसरों की तरफ़ अपने सब फ़र्ज़ों को पूरा करे (३-३०) किसी चीज़ के अन्दर निजी राग या द्वेष का होना यही आत्मा का दुश्मन है। इस दुश्मन के क़ाबू में नहीं आना चाहिये (३-३४)। हर मौक़े और हर हालत में अलग-अलग अपना जो फ़र्ज़ दिखाई दे उसी को "धर्म" समझ कर पूरा करना चाहिए, दूसरे किसी "धर्म" की तरफ़ नहीं जाना चाहिए। जैसा भी अपने से बन पड़े अपना कर्त्तव्य यानी फ़र्ज़ पूरा करते हुए मरना ही अच्छा है (३-३५)। आदमी से पाप कराने वाली दो ही चीज़ें हैं। ये दो ही इस दुनिया में उसके दुश्मन हैं— (१) "काम" यानी नफ़्सानियत और (२) "क्रोध" यानी

गुस्सा। जिस तरह धुआं आग को ढक लेता है और गर्द शीशे को अन्धा कर देती है इसी तरह ये दोनों आदमी की अक्ल पर पर्दा डाल देते हैं (३-३७,३८)। इसलिए पहले अपनी इन्द्रियों को क़ाबू में करके, ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इन दोनों दुश्मनों को मारना चाहिये (३-४१)। इन्द्रियां यानी नफ़्स खासी सूक्ष्म और लतीफ़ चीज़ हैं, इन्द्रियों से सूक्ष्म और लतीफ़ मन है, मन से सूक्ष्म और लतीफ़ बुद्धि है, बुद्धि से सूक्ष्म और लतीफ़ आत्मा यानी रूह है। वही वह है (३-४२)। इसे समझते हुये, अपने नफ़्स को जीतते हुए और अपनी ख्वाहिशों को मारते हुए उस ओर बढ़े चलो (३-४२,४३)। यही सच्चा धर्म है, यही "योग" है जो पुराने ज़माने से चला आता है और जिसे भूल जाने से आज लोग रूढ़ियों, रस्मों, और कर्म काण्डों में फंस गए हैं (४-१ से ३)।

चौथा अध्याय

चौथे अध्याय में कहा गया है कि जब जब दुनिया के लोग सच्चे धर्म को भूल कर ग़लत चीज़ों को धर्म समझने लगते हैं, और असली धर्म से फिर जाते हैं तब तब वह महान आत्माएं जन्म लेती हैं जो दुनिया को फिर से धर्म का रास्ता बताती हैं। (४-७,८)।

जिनके दिलों से मोह, क्रोध और डर बिल्कुल जाते रहे, जिन्होंने एक परमेश्वर का सहारा लिया और उसी से अपना मन लगाया, उन्हें सच्चा ज्ञान हासिल होता है और वे आख़ीर में उसी परमेश्वर में लीन हो जाते हैं (४-१०)। मुक्ति यानी निजात के लिए किसी कर्मकाण्ड की ज़रूरत नहीं, ज़रूरत अपने दिल से मोह, डर और क्रोध को निकाल कर उसे एक परमेश्वर की तरफ़ लगाने की है।

जहां तक धर्म के उस ऊपरी हिस्से का ताल्लुक़ है जिसे कर्म काण्ड कहते हैं, और जिससे अलग अलग धर्मों या मज़हबों में फ़र्क़ दिखाई देता है, भगवद्गीता सब धर्मों को एक निगाह से देखती है और कहती है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः (४-११)

अर्थात् परमेश्वर कहता है कि जो जिस रास्ते से चलकर मेरे पास आते हैं मैं उसी रास्ते से उन्हें मिलता हूं। जिस तरह किसी गोल चक्र पर चारों तरफ़ खड़े हुए लोग उसके बीच यानी केन्द्र तक पहुँचने के लिए अलग अलग दिशाओं में चलकर एक ही जगह पहुंचते हैं, इसी तरह लोग अलग अलग पन्थों और रास्तों से चलकर भी उसी एक परमेश्वर तक पहुंचते हैं।

इसी लिए गीता की राय में—

समझदार आदमी को चाहिये कि जो कम समझ लोग किसी भी 'रास्ते' पर रहकर नेक कामों में लगे हुए हैं, उनकी बुद्धि को डांवा डोल न करे बल्कि उन्हें इसी तरह नेक कामों की तरफ़ लगाये रक्खे (३-२६,२९)।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के लिए गीता का कहना है कि न आदमी इस तरह का कोई भेद बना सकता है और न जन्म से इसका कोई ताल्लुक़ है। परमेश्वर ने सारे मनुष्य समाज के अन्दर चार तरह के गुणों वाले और चार तरह के काम करने वाले आदमी बनाये हैं। यह फ़र्क़ एक क़ुदरती फ़रक़ है और गुणों और कामों के मुताबिक़ (गुण कर्म विभागशः) ही हर आदमी को ब्राह्मण, क्षत्रिय वग़ैरह मानना चाहिये (४-१३)।

आगे जाकर अठारवें अध्याय में चारों वर्णों के अलग अलग गुण और काम बयान कर दिये गये हैं (१८-४१ से ४४); यानी यह कि किन गुणों वाला और किस तरह के काम करने वाला आदमी ब्राह्मण समझना चाहिये, किस तरह वाला क्षत्रिय, किस तरह वाला वैश्य और किस तरह वाला शूद्र और कहा है कि हर आदमी खुद अपने 'स्वभाव' को देखकर वह काम करे जो उसके स्वभाव के मुताबिक़ (स्वभावज) हो यानी जिसकी उसमें रुचि और क़ाबलियत हो। इस तरह अपने अपने स्वभाव के

मुताबिक़ (स्वभाव नियतं कर्म) सच्चे दिल से और ईश्वर के लिए (ईश्वरार्पण) काम करता हुआ हर आदमी अपने ही रास्ते से सिद्धि या कमाल हासिल कर सकता है। यही हर आदमी का "स्वधर्म" है (१८-४५,४६,४७)।

जो आदमी अपने कामों से ख़ुद अपने लिये सुख हासिल करने का इरादा नहीं रखता वही "पंडित" है। जिसका मन उसके बस में है, जो दुई से ऊपर है (द्वंद्वातीतो), जो किसी से ईर्षा या डाह नहीं करता (विमत्सरः), जो हर काम क़ुर्बानी (यज्ञ) के तौर पर यानी दूसरों के भले के लिए और ईश्वर के लिए करता है, वह अपने कामों मे बंधन में नहीं फंसता (४-१९ से २३)। आदमी को यह समझ कर सब काम करने चाहियें कि जो कुछ वह देख रहा है सब ईश्वर का ही ज़हूर है। ईश्वर सत्य यानी हक़ और नित्य यानी लाज़वाल है और यह सब असत्य और अनित्य यानी बातिल और फ़ानी है, और आख़ीर में सब को ईश्वर ही की तरफ़ जाना और उसी में लीन होना है। यह समझते हुए अपने सब फ़र्ज़ों को पूरा करना ही असली "यज्ञ" है (४-२३,२४) लोग और भी तरह तरह के यज्ञ (तप, प्राणायाम वग़ैरह) करते हैं जिनका वेदों में ज़िक्र है लेकिन इन सब से बढ़कर असली यज्ञ "ज्ञान" ही है, यानी वह ज्ञान जिसे एक बार हासिल करने के बाद फिर आदमी इस तरह के धोखे में नहीं पड़ सकता। वह ज्ञान यही है कि आदमी तमाम प्राणियों को अपने अन्दर और सब को ईश्वर के अन्दर यानी सब के अन्दर ईश्वर को देखे (येन भूतान्य शेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि) (४-२५ से ३५)।

सब प्राणियों को अपनी तरह समझना और सब के अन्दर एक ईश्वर के दर्शन करना, यही गीता के अन्दर बार बार ज्ञान की आख़िरी हद बतायी गई है।

इस ज्ञान से बढ़कर आदमी को पाक करने वाली दूसरी चीज़ इस दुनिया में नहीं है। योगी धीरे धीरे ख़ुद अपने अन्दर इसे साफ़ साफ़ देख लेता है (४-३८)। इसके लिये महज़ श्रद्धा यानी यक़ीन की और अपनी इन्द्रियों यानी नफ़्स को क़ाबू में रखने की ज़रूरत है (४-३९)।

पांचवा अध्याय

पांचवें अध्याय में अर्जुन ने फिर वही सवाल पेश किया कि 'सांख्य मार्ग' और 'कर्म मार्ग' इन दोनों में कौन अच्छा है, यानी सब कामों को छोड़ कर 'सन्यास' और 'ज्ञान' का सहारा लेना या दुनिया में रहते हुए दुनिया के सब काम करते हुए आत्मा की भलाई की इच्छा करना। इस जवाब में गीता ने इन दोनों रास्तों को असलीयत में एक बताते हुए दोनों का एक सुन्दर मेल या समन्वय करने की कोशिश की है। श्री कृष्ण ने जवाब दिया।

जो लोग यह कहते हैं कि सांख्य मार्ग और कर्म मार्ग दोनों दो अलग अलग रास्ते हैं, वे बच्चे हैं। पंडित यानी समझदार लोग इन्हें अलग अलग नहीं मानते। हर आदमी इन दोनों में से किसी एक रास्ते पर भी ठीक ठीक चलकर दोनों का फल पा सकता है। सांख्य मार्ग से चल कर लोग जिस मुक़ाम तक पहुंचते हैं, कर्म योग के रास्ते से चलकर भी उसी मुक़ाम तक पहुंचते हैं। जो आदमी सांख्य मार्ग और कर्म मार्ग दोनों को एक समझता है वही ठीक ठीक समझता है। (५—४,५)

इसके बाद कहा है—

वही आदमी सच्चा सन्यासी है जो न किसी से नफ़रत करता है और न कुछ चाहता है, जो दुई से ऊपर है, जो अपने फ़र्ज़ के पूरा करने में लगा रहता है, जिसका दिल साफ़ है, जिसने अपने ऊपर क़ाबू हासिल कर लिया है, जिसकी इन्द्रियां उसके बस में हैं, जो सब किसी की आत्मा को अपनी ही आत्मा की तरह समझता है (सर्व भूतात्म भूतात्म), और जो सब कामों को मोह छोड़ कर ईश्वर के लिए (ब्रह्मण्याधाय), करता है।

इस तरह वह अपनी आत्मा को शुद्ध करता है। (५—३ से ११)।

जो लोग इस तरह समझ कर अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं उनके अन्दर ख़ुद बख़ुद सूरज की तरह उस ज्ञान की रोशनी होती है जिसमें उन्हें अपने अन्दर ही परमेश्वर के दर्शन होते हैं। फिर उसी से लौ लगाये हुए वे मुक्ति को हासिल करते हैं। उनके सब पाप धुल जाते हैं (५—१५ से १७)

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाकेच पण्डिताः सम दर्शिनः॥

सच्चा पंडित वही है जो विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण को, गाय को और हाथी को, कुत्ते को और चांडाल को सबको एक निगाह से देखता है। (५—१८)।

जिन्होंने इस तरह की समता में अपने मन को क़ायम कर लिया उन्होंने इसी दुनिया में सब कुछ जीत लिया, क्योंकि परमेश्वर सब में यकसां है और समता ही परमेश्वर है (५—१९)।

दुनिया के सब भोग केवल दुःख का सरचश्मा हैं। समझदार आदमी उनमें नहीं फंसता। जो मरने से पहले इसी ज़िन्दगी में काम और क्रोध के ज़ोर को रोक सकता है वही योगी है, वही सुखी है। जो अपनी आत्मा के अन्दर ही सुख, आनन्द और रोशनी पाता है वह परमेश्वर में लीन होकर मुक्ति हासिल करता है। यह रुतबा उन्हीं को हासिल होगा जिनकी दुई मिट गई, जिन्होंने अपने आप को जीत लिया और जो सब की भलाई के कामों में लगे रहते हैं (सर्व भूत हितेरताः)। मुक्ति सिर्फ़ ऐसों ही के लिए है, (५—२२ से २६)।

इसके बाद आख़िरी तीन श्लोकों में आत्मा की आगे की तरक़्क़ी (योगाभ्यास यानी सलूक) के रास्ते की तरफ़ इशारा किया गया है। और लिखा है कि—

आदमी अपने बाहर के तमाम विषयों को बाहर करके दोनों आंखों को भवों के बीच में लाकर अन्दर जाने वाले और बाहर आने वाले सांसों को बराबर करके, अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि को इधर उधर जाने से रोक कर इच्छा, डर, और क्रोध को दूर करके, और परमेश्वर को यह जान कर कि वह सब दुनियाओं का मालिक, सब के पूजा पाठ को स्वीकार करने वाला और सब प्राणियों का भला चाहने वाला (सुहृद सर्व भूतानां) है, उसका ध्यान करे। उसे ऐसा जान कर ही आदमी असली शान्ति हासिल कर सकता है।

छठा अध्याय

फिर सांख्य और कर्म मार्ग दोनों को एक बताते हुए कहा गया है—

जो आदमी नतीजे की परवाह न कर जिसे अपना फ़र्ज़ समझता है, उसे पूरा करता है, वही सन्यासी है, और वही योगी है। सन्यास के ऊपरी नियमों का पालन करने वाला जैसे आग को न छूने वाला या यह काम और वह काम न करने वाला सन्यासी नहीं है (६—१,२)। यानी सन्यास दिल की एक ख़ास हालत का नाम है किसी ऊपरी नियमों या लिबास वग़ैरह का नहीं।

जो आदमी योग को हासिल करना चाहता है उसके लिए अपने दुनियावी कर्त्तव्यों को पूरा करना ही योग का ज़रिया है, और योग हासिल हो जाने के बाद भीतर की शान्ति और समता ही ख़ुद बख़ुद उससे उसके सारे फ़र्ज़ पूरे कराती रहती है (६—३)।

आदमी ख़ुद ही अपना दोस्त है और ख़ुद ही अपना दुश्मन। जिसने अपनी ख़ुदी को जीत लिया वह अपना दोस्त है और जिसकी ख़ुदी उस पर हावी है वह ख़ुद अपना दुश्मन है (६—५,६)।

जिसने अपनी ख़ुदी को जीत लिया, जो शांत है और जो सरदी गरमी, सुख दुःख, और मान अपमान में यकसां रहता है उसकी आत्मा ही परमात्मा है (६—७)। जो दोस्त और दुश्मन, अपने और पराये, साधु और पापी सबको एक निगाह से देखता है वही ठीक है (६—९)।

इसके बाद फिर भीतर की साधना की तरफ़ इशारा किया गया है और कहा गया है—

इस तरह का आदमी किसी एकान्त और साफ़ जगह में बैठ कर, वग़ैरह वग़ैरह अपने मन को एक तरफ़ लगा कर......सिर, गर्दन और जिस्म को बिल्कुल सीधा और अडोल रख कर, अपनी नाक के सिरे को देखता हुआ और इधर उधर निगाह न डालता हुआ ..परमेश्वर का ध्यान करे, तो धीरे धीरे उसे परम शान्ति हासिल होगी और...वह हालत हासिल होगी कि जिससे फिर बड़े से बड़ा दुःख भी उसे डिगा नहीं सकता, वग़ैरह...(६—१० से १५ और २२)।

फिर चेताया गया है कि यह अभ्यास न दुनियां में फंसे हुए लोगों के लिए है और न दुनियां के फ़र्ज़ों से भाग कर दुनिया से अलग बैठने वालों के लिए है—

यह उसी के दुःखों को नाश कर सकता है जो अपने आहार और विहार में, यानी खाने पीने और रहन सहन में न ज़्यादती करता है और जो न बिल्कुल कमी, जो ठीक बीच के दर्जे पर क़ायम रहता है, जो अपने सब कर्त्तव्यों को पूरा करने में एक बीच का रास्ता पकड़ता है, ठीक सोता भी है और ठीक जागता भी है (६—१६)।

अठारवें से अट्ठाईसवें श्लोक तक इस रास्ते को कुछ और खोल कर बयान किया गया है। और इसका आख़िरी नतीजा आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना (ब्रह्म भूत) बताया गया है। फिर कहा गया है—

जिस आदमी का दिल योग में लग गया है वह सब प्राणियों के अन्दर अपने को और अपने अन्दर सब प्राणियों को देखता है। वह सब को एक निगाह से देखता है। जो सब के अन्दर परमेश्वर को और परमेश्वर के अन्दर सब प्राणियों को देखता है उसका फिर परमेश्वर से नाता नहीं टूटता। जो दुई से ऊपर उठ कर सब प्राणियों के अन्दर परमेश्वर का भजन करता है, वह कहीं भी रहे उसका नाता परमेश्वर से जुड़ा हुआ है। जो सब के सुख दुःख को अपना ही सुख दुःख समझता है और अपनी ही तरह सब को एक समान देखता है वही परमेश्वर का सब से ज़्यादा प्यारा है (६—२९ से ३२)।

अर्जुन ने सवाल किया कि इस तरह मन को क़ाबू में करना बहुत मुश्किल है। जवाब मिला कि—

इसके लिए 'अभ्यास' यानी मश्क़ की और 'वैराग्य' यानी दुनिया के भोगों की तरफ़ से तबियत को फेरने की ज़रूरत है (६—३५)। जिसे अपने ऊपर क़ाबू नहीं है वह इस योग को हासिल नहीं कर सकता (६—३६)। रूढ़ियां और कर्म काण्ड इसमें मदद नहीं दे सकते, क्योंकि इस योग की ख़्वाहिश भी जिसके अन्दर पैदा हो गई है, उसे वेदों और उनके तमाम कर्म काण्ड की कोई ज़रूरत नहीं। वह उनसे ऊपर उठ जाता है।

(जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते)।

और जो इस तरफ़ थोड़ी सी भी सच्ची कोशिश कर लेता है, फिर चाहे उसका मन डिग जाय और उसे कामयाबी न मिल सके, तब भी उसकी कोशिश फ़ज़ूल नहीं जाती और न उसकी आगे की गति ख़राब होती है। आगे की ज़िन्दगी में उसकी तरक़्क़ी जारी रहती है। तप, ज्ञान और कर्म काण्ड सब से यह रास्ता कहीं बढ़ कर है। (६—३७ से ४६)।

सातवां अध्याय

जो लोग परमेश्वर को जानना चाहते हैं उनके लिए सातवें अध्याय में परमेश्वर के व्यापक रूप को बयान करने की कोशिश की गई है, एक परमेश्वर और उनके देवताओं का फ़रक़ बताया गया है, और केवल एक परमेश्वर की पूजा पर ज़ोर दिया गया है—

परमेश्वर की प्रकृति यानी क़ुदरत के दो पहलू हैं। इन्हीं दोनों से सारी दुनियां और सब प्राणी पैदा हुए हैं। मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश (ईथर), मन, बुद्धि और अहंकार ये आठों परमेश्वर की "अपरा" यानी स्थूल प्रकृति हैं और जो चीज़ ज़िन्दगी की शक्ल में इस सारी दुनिया को संभाले हुए है और इसे चला रही है वह ईश्वर की "परा" यानी सूक्ष्म प्रकृति है। ईश्वर ही सारी दुनिया का

पैदा करने वाला और उसे ख़त्म करने वाला है। उसके अन्दर यह सब दुनिया इस तरह पिरोई हुई है जिस तरह एक डोरे के अन्दर माला के दाने। वही पानी के अन्दर रस, चांद सूरज के अन्दर रोशनी, वेदों में ओ३म् आकाश में आवाज़, आदमियों में मर्दानगी, मिट्टी में ख़ुशबू, आग में तेज, तपस्वियों में तप, और सब प्राणियों में जान है। वही सब प्राणियों का असली बीज है। वही बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज है। वही काम और मोह से आज़ाद बलवानों का बल है, वही प्राणियों के अन्दर की जायज़ ख़्वाहिश है। सत्व, रजस और तमस सब हालतें ईश्वर से ही पैदा हुई हैं, लेकिन वह ख़ुद इन तीनों से परे है। इन तीनों के जाल में पड़ कर ही दुनिया उसे नहीं पहचानती। वह नित्य (ग़ैरफानी) और सब से अलग है। (७—४ से १३)

कुछ लोग अपनी छोटी छोटी ख़्वाहिशों में पड़ कर दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं। जो जिसकी पूजा श्रद्धा से करना चाहता है परमेश्वर उसे उसी में श्रद्धा देते हैं। जो फल उन लोगों को हासिल होते हैं वह परमेश्वर के ही ठहराए हुए हैं। लेकिन उनके यह फल नाशवान यानी फ़ानी होते हैं। देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को पहुंचते हैं और एक परमेश्वर की उपासना करने वाले परमेश्वर को। वजह यह है कि कम समझ लोग परमेश्वर के असली अव्यक्त रूप को नहीं समझ पाते। वे उसकी व्यक्त शक्ल में ही पूजा करना चाहते हैं। सब देवताओं के रूप परमेश्वर के ही व्यक्त रूप हैं। लेकिन परमेश्वर अव्यक्त यानी निर्गुण, अज कभी पैदा न होने वाला और अव्यय यानी लाज़वाल और सबसे ऊपर है। जो आदमी राग और द्वेष से हटकर, दुई से ऊपर उठकर, पाप से बचता हुआ, और नेक काम करता हुआ एक परमेश्वर की पूजा करता है, वही हकीक़त को जान सकता है और वही निजात हासिल कर सकता है। (७—२० से ३०)।

आठवाँ अध्याय

आठवें अध्याय में फिर कहा गया कि—

आदमी को मरने के वक्त एक परमेश्वर को ही याद करते हुए शरीर छोड़ना चाहिए। जो लोग दूसरे देवताओं या भावों का ध्यान करते हैं वह अपने उन्हीं छोटे छोटे भावों में फंसे रहते हैं। दुनियां में अपने सब कर्तव्यों का पालन करते हुए भी सदा एक परमेश्वर की ही याद करते रहना चाहिए। वह परमेश्वर सर्वज्ञानी, सबको जानने वाला, अनादि, सबका चलाने वाला, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सबका पालने वाला, अचिंत्य यानी ख़्याल की गति से परे, अन्धकार से दूर और ज्योति ही ज्योति यानी नूर ही नूर है। वेदों में उसी को अक्षर कहा गया है। वह नित्य और अनन्त है। यह सब प्राणी उसी के अन्दर हैं। वह इन सब में रमा हुआ है। इसी रूप में उसकी पूजा करनी चाहिये। वेदों के मार्ग से यानी यज्ञ, तप, दान वग़ैरह तमाम कर्मकाण्ड से यह रास्ता कहीं अच्छा और कहीं ऊंचा है। (८-५, ६, ७, ९, १०, ११, २१, २८)।

बीच बीच के श्लोकों में यह बताया गया है कि मौत के वक्त आदमी को किस तरह परमेश्वर में ध्यान लगाना चाहिए और दिल में क्या क्या भाव रखना चाहिये। कुछ श्लोकों में बताया गया है कि कब कब और किन किन हालतों में मरने से आदमी अंधेरे रास्तों से जाकर स्वर्ग, नरक वग़ैरह में फंसता है और कब कब और किन किन हालतों में मर कर रोशनी के रास्तों से होकर मुक्ति की तरफ़ बढ़ता है। गीता के ये श्लोक (इस अध्याय के २४ वें से २७ वें तक) इस पुस्तक के सबसे मुश्किल श्लोक माने जाते हैं। टीका करने वालों ने इन पर तरह तरह अपनी बुद्धि और विद्वत्ता को आज़माया है। लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' (पृष्ठ २९५-२९८) में कुछ और पहले के टीकाकारों की राय का समर्थन करते हुए इन श्लोकों का यह मतलब बताया है कि जो आदमी आख़ीर तक रूढ़ियों रस्मरिवाजों और कर्मकाण्ड में फंसा रहता है वह मरने के बाद अन्धकार के रास्ते जाकर स्वर्ग नरक के चक्कर में पड़ता है, और जो इन सबसे ऊपर उठकर

सब प्राणियों को एक निगाह से देखता हुआ दुनिया की बेलौस, निष्काम और निस्वार्थ सेवा में लगा हुआ शरीर छोड़ता है वह रोशनी के रास्ते चलकर मुक्ति की तरफ़ क़दम बढ़ाता है।

नवां अध्याय

नवें अध्याय के शुरू में कहा गया है कि हक़ीक़त का राज़ या रहस्य वही आदमी समझ सकता है जो किसी से ईर्षा या बुग़ज़ न रखता हो (अनसूयवे)। केवल वही सच्चे धर्म का पालन कर सकता है। इसके बाद—

परमेश्वर स्वयं अव्यक्त (अलख़फ़ी) है। लेकिन यह सारा जगत उसी से रमा हुआ (व्याप्त) है। सब प्राणी उसी के अन्दर हैं (मत्स्थानि सर्व भूतानि)। जिस तरह सब जगह जाने वाली हवा सदा आकाश के अन्दर रहती है उसी तरह सब प्राणी परमेश्वर के अन्दर रहते हैं (९-४, ६)।

जो लोग ज्ञान के साथ परमेश्वर की उपासना करते हैं वे एक में अनेक और अनेक में एक को देखते हैं। वह जिधर देखते हैं उधर ही उन्हें ईश्वर का मुंह दिखाई देता है (विश्वतो मुखं)। सब धर्मों और सम्प्रदायों में, सब तरह के यज्ञों और कर्मकाण्ड में वही परमेश्वर है। यज्ञों में वही यज्ञ है, वही सामग्री, वही अग्नि और वही मन्त्र है। वही इस जगत का पिता है, वही माता है, वही धारण करने वाला और वही पितामह है। वही ओंकार है। वही ऋग्वेद, सामवेद और वही यजुर्वेद है। वही गति, वही पालनहार, वही मालिक, वही देखने वाला, वही सबके रहने की जगह, वही सबका सहारा, वही सबका भला चाहने वाला, सबका पैदा करने वाला, सबका नाश करने वाला, सबका आधार, सबका अन्त और सबका अविनाशी बीज है। वही सूरज के रूप में तपता है। वही बारिश को रोकता और फिर बारिश करता है। (९-१५ से १९)।

वेदों के मानने वाले यज्ञों और कर्मकाण्ड के ज़रिये स्वर्ग वग़ैरह के सुख भोगने की लालसा करते हैं। लेकिन उनमें इन कामों के नतीजे नाशवान यानी फ़ानी होते हैं। (९-२०, २१)।

जो लोग श्रद्धा के साथ दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी एक परमेश्वर ही की पूजा करते हैं। क्योंकि सब यज्ञों और कर्मकाण्डों का स्वीकार करने वाला एक परमेश्वर ही है। सब रूप उसी के रूप हैं। लेकिन उनका तरीक़ा ठीक नहीं (अविधिपूर्वक) यह लोग परमेश्वर को ठीक ठीक नहीं समझते, जो जिस रूप की पूजा करता है वह उसी रूप को पाता है। देवताओं की पूजा करने वाले देवताओं को, पितरों की पूजा करने वाले पितरों को, आदमियों की पूजा करने वाले आदमियों को और एक परमेश्वर की पूजा करने वाले परमेश्वर को पाते हैं। फूल पत्ती जो चीज़ भी कोई परमेश्वर को भक्ति के साथ चढ़ाता है, परमेश्वर उसे प्रेम के साथ स्वीकार करते हैं। इसलिये, हे अर्जुन!—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (२७)

—खाना पीना, करना धरना जो कुछ भी तू करे सब उसी एक परमेश्वर के अर्पण करके कर, अपने लिए नहीं। यही परमेश्वर को पाने का तरीक़ा है। उस परमेश्वर को जो सब प्राणियों में एक समान मौजूद है (समोऽहं सर्वभूतेषु), और जिसे न किसी से द्वेष है, न किसी से मोह। जो आदमी इस तरह अपने दिल को परमेश्वर में लगाता है वह उसी को पहुँचता है (९-२३ से २९, ३४)।

यानी तरह तरह के सम्प्रदाय, कर्मकाण्ड और रूढ़ियां सब उसी ईश्वर से हैं। मनुष्य जाति के सब इष्टदेव यानी माबूद उसी के रूप हैं। इस निगाह से यह सब रास्ते सच्चे हैं। लेकिन यह सब अधूरे हैं। समझदार आदमी को चाहिये कि इन सबको छोड़कर उसी एक परमेश्वर की उपासना करे जो सब प्राणियों में है और जो सबकी जान है, अपने अन्दर से दुई और ग़ैरियत के भावों को मिटा कर किसी से ईर्षा न रखते हुए, अपनी आत्मा को शुद्ध करे और फिर सबके साथ अपने फ़र्ज़ को पूरा करते हुए अपनी आत्मा के अन्दर परमात्मा की आराधना करे।

हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई कैसे बढ़ी ?

डाक्टर सय्यद महमूद, एम० ए०, पी-एच० डी०, बार-एट-ला
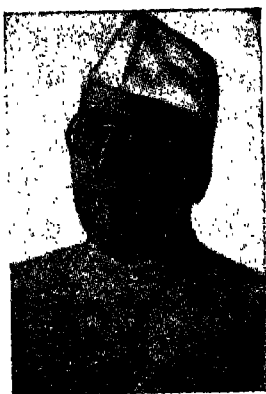
डाक्टर सय्यद महमूद

हमने अपने पिछले लेखों में इस मुल्क के राजनैतिक विकास पर ग़ौर किया है। इससे एक बात साफ़ हो जाती है कि हमारे दुश्मनों को हिन्दुस्तान के हिन्दू और मुसलमानों को आपस में लड़ा देना कितना आसान रहा है। पूरे पच्चीस वर्ष तक मुसलिम राजनीति की बागडोर अलीगढ़ कालेज के अंग्रेज़ प्रिंसिपलों के हाथों में रही, और सन् १९२३ के बाद से मुसलिम क़ौम की रहनुमाई धीरे धीरे पूरी तरह घोर से घोर साम्प्रदायिक नेता करने लगे। 'विश्ववाणी' के पाठक सवाल करेंगे कि आख़िर इसकी वजह क्या है!

यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि साम्प्रदायिकता की बुनियाद में डर और सन्देह है। साम्प्रदायिक नेताओं ने अपनी अपनी सम्प्रदाय में इन्हीं दोनों चीज़ों को उभार कर साम्प्रदायिक नेतृत्व पाया है। इसकी बहुत साफ़ साफ़ मिसालें ये हैं—

सर सय्यद अमीर अली का कहना है—"मौजूदा वक्त में मेल मिलाप की कोशिश का मतलब यह होगा कि एक ऐसी अल्प संख्या, जो न संगठित है, न शिक्षित और न सन्नद्ध ऐसी बहु संख्यक जाति के मातहत होजायगी जो तादाद में बहुत ज़्यादा है और कहीं बेहतर संगठित है। जो शख़्श मुसलमानों की सामाजिक, धार्मिक और नैतिक स्थिति से वाक़िफ़ है वह इस मेल को ख़तरे और ख़दशे से भरा हुआ देखेगा।"

सर गोकुल चन्द नारङ्ग कहते हैं—"हिन्दू भी इस बात को समझते हैं कि मुसलमानों को बाक़ी आबादी के साथ बराबरी का रुतबा देने का मतलब यह होगा कि मुसलमान पूरी तरह हावी हो जांयगे। क्योंकि मुसलमानों में आपस में एकता है या कम से कम ग़ैर मुसलमानों के मुक़ाबले में वे अपनी सम्प्रदाय की रक्षा और उन्नति के लिये एक होने की क्षमता रखते हैं। जबकि बाक़ी ग़ैर मुसलिम आबादी कई गिरोहों और दलों में बंटी हुई है और एक होकर वह हमलावर मुसलमानों का मुक़ाबला नहीं कर सकती।"

ये दोनों उद्धरण दो सम्प्रदायों के दो सम्माननीय और योग्य नेताओं के हैं। उनमें जो डर और सन्देह भरा हुआ है वह १९ वीं सदी में दोनों क़ौमों के आपसी मन मुटाव का स्वाभाविक नतीजा है। १८ वीं सदी के अन्त तक इस तरह का कोई डर और सन्देह दोनों जातियों के दिलों में न था। उस समय के मुसलमान मौलवी हिन्दू हुकूमत से भी अपनापा महसूस करते थे। मिस्टर डब्लू० डब्लू० हण्टर ने अपनी

किताब "इण्डियन मुसलमान्स" में जौनपुर के क़ाज़ी का फ़तवा उद्धृत किया है जिसमें लिखा है कि मुसलमान मराठों की हुकूमत को दार-उल-इसलाम समझें क्योंकि मराठा हुक्मरां मुसलमानों को ईद और जुमे की नमाज़ पढ़ने की आज़ादी देते हैं, इसलामी शरअ को मानते हैं, हालांकि मुसलमानों को मराठों से अपने क़ाज़ी और सूबेदार मुक़र्रर करवाने पड़ते हैं।

दो अलग अलग धर्मों के होते हुए भी दोनों जातियों में कोई गहरे सांस्कृतिक भेद नहीं थे। दोनों मिलकर हिन्दी और उर्दू को तरक़्क़ी देने में हिस्सा लेते थे और एक दूसरे के धर्म, दर्शन और विज्ञान के अध्ययन में ख़ुशी ज़ाहिर करते थे। दोनों मिलकर एक दूसरे के तीज त्योहार मनाते थे और दोनों मिल कर एक ही कला की उन्नति में हिस्सा लेते थे। वे एक सी ज़बान बोलते थे, एकसा लिबास पहनते थे और एक ही तर्ज़ से अपने मकान सजाते थे। यदि परलोक की ज़िन्दगी को नहीं तो इस लोक की ज़िन्दगी को एक ही तरह से देखते थे। उनके उद्योग, उनका व्यापार, उनके शहरी और देहाती धन्धे सब एक ही आर्थिक प्रणाली के अङ्ग थे।

बदक़िस्मती से इस मुल्क में एक तीसरी ताक़त का आगमन हुआ। इस तीसरी ताक़त की मौजूदगी ने हमारी सांस्कृतिक एकता को नष्ट कर दिया। इसके राजनैतिक हथकण्डों ने हिन्दू और मुसलमानों को फाड़कर अलग अलग दलों में बांट दिया। पच्छिमी शिक्षा और ख़ास कर अङ्गरेज़ी पढ़ने पर ज़ोर देने का नतीजा यह हुआ कि लोगों ने एक दूसरे की ज़बान, साहित्य, विज्ञान और दर्शन पढ़ने में रुचि कम कर दी। हिन्दू नौजवानों को थोड़ी सी हिन्दी और संस्कृत के बाद और मुसलमान नौजवानों को उर्दू, फ़ारसी और अरबी की थोड़ी तालीम के बाद यूरोपीय कला और विज्ञान पढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया जाने लगा। ऐसे हिन्दू और मुसलमानों की तादाद घटने लगी जो एक दूसरे की भाषाओं और साहित्य को पढ़ते। आपस का भाईचारा घटने लगा और दोनों के बीच में खाई बढ़ने लगी।

मध्यकालीन भारत में जब मुसलमानों की हुकूमत थी हिन्दू और मुसलिम सुधारकों ने दोनों सम्प्रदायों के धार्मिक और नैतिक सुधारों का आन्दोलन चलाया था। कबीर, नानक, दादू, मलूकदास, शाह क़लन्दर आदि किसी एक जाति या सम्प्रदाय के सुधारक न थे। उनकी नज़रों में हिन्दू और मुसलमान यकसां थे। उन्होंने दोनों ही के सुधार के प्रयत्न किये। लेकिन १९ वीं सदी के सुधारकों का कुछ दूसरा ही अन्दाज़ था। सर सय्यद, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द के सुधारों के प्रयत्न एक ही सम्प्रदाय तक सीमित थे। मध्य युग के सुधारक सन्त धर्मों की मौलिक एकता और उसके तत्व पर अधिक ज़ोर देतेथे। वे कर्मकाण्ड और रूढ़ियों को गौण समझते थे। उन पर ज़ोर देना बुरा समझते थे। दूसरी तरफ़ मौजूदा सुधारक धर्म के बाह्य रूपों और आचार विचार पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं। उन्हें धर्म-भावना और धर्म-तत्व की उतनी चिन्ता नहीं। मध्य युग के सन्त धर्म पुस्तकों के वाक्यों को हौआ न समझते थे। उनका दिल हर नई और अच्छी बात का स्वागत करने के लिये तय्यार रहता था। मौजूदा सुधारकों ने धर्म ग्रन्थों के संकुचित दायरों में अपने को बन्द कर लिया और उन्हीं के अर्थ लगाने में और उन्हीं की रोशनी में अपने कर्तव्य को ठीक करने में लग गये।

एक की अलहदगी की प्रतिक्रिया क़ुदरती तौर पर दूसरे पर पड़ी।

साम्प्रदायिक वृत्ति के पैदा होने के तीन मुख्य कारण हैं। भारत की सांस्कृतिक एकता का पहला और ज़बरदस्त कारण देश का वह राजनैतिक और सामाजिक एकीकरण था जो मुग़ल साम्राज्य ने पैदा किया था। मुग़ल साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े होने के साथ साथ एकता की सब में बड़ी प्रेरक शक्ति भी नष्ट हो गई। इस एकता के टूटने का दूसरा कारण अङ्गरेज़ों की वह नीति थी जिससे वे हिन्दू और मुसलमानों के आपसी मतभेद को बढ़ाते रहते थे। अङ्गरेज़ बहुत दिनों तक मुसलमानों से नफ़रत और हिन्दुओं का तिरस्कार करते रहे। इसके बाद उन्होंने

एक को कुचल कर दूसरे के सर पर हाथ रखना शुरू किया। इस नीति को वे बारी बारी से बदलते रहे और अपने मनचीते नतीजे निकालते रहे। तीसरा कारण यह हुआ कि ईसाई पादरी और उनके हमदर्द अङ्गरेज़ अफ़सरों ने इस बात की ज़बरदस्त कोशिश की कि हिन्दुस्तानियों को ईसाई बना लिया जाय; क्योंकि ईसाई बनकर ये लोग भारत में अपने ईसाई साम्राज्य के समर्थक रहेंगे। विलबर फ़ोर्स, चार्ल्स ग्राएट, मार्शमैन, डफ़ आदि अङ्गरेज़ राजनीतिज्ञों के बयान और व्याख्यान इस बात के काफ़ी सुबूत हैं। मैकॉले ने सन् १८३६ में अपने पिता को एक पत्र में लिखा—

"हिन्दुओं पर इस शिक्षा का असर हमारे उद्देश्यानुकूल होता है। जो हिन्दू अङ्गरेज़ी शिक्षा पा लेता है फिर उसका अपने मज़हब पर सच्चा विश्वास नहीं रह जाता। कुछ लोग दिखाने के लिये ऊपर से हिन्दू धर्म से चिपटे रहते हैं और कुछ ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते हैं। यह मेरा पक्का विश्वास है कि यदि शिक्षा सम्बन्धी हमारी नीति पर अमल किया गया तो अब से तीस बरस के बाद बङ्गाल के भद्र लोगों में एक भी मूर्ति पूजक बाक़ी न रह जायगा।"

सर चार्ल्स ट्रेवेलयान जो मैकॉले का बहनोई था पार्लिमेण्टरी कमेटी के नाम अपने एक पत्र में भारत वर्ष के उन हिस्सों में जहां अङ्गरेज़ी शिक्षा का प्रचार नहीं हुआ और बङ्गाल में अपने निजी अनुभवों की बिना पर लिखता है कि भारत के दूसरे हिस्सों में "ऊंच और नीच, अमीर और ग़रीब सब के सामने केवल अपनी राजनैतिक हालत सुधारने की चिन्ता दिखाई दी। उच्च श्रेणी के लोगों के दिलों में यह आशा बनी हुई थी कि हम फिर से अपने प्राचीन प्रभुत्व को प्राप्त कर लें, और निम्न श्रेणी के लोगों में यह आशा बनी हुई थी कि यदि देशी राज फिर से स्थापित हो गया तो धन और वैभव प्राप्त करने के मार्ग हमारे लिये फिर से खुल जायंगे। इसके बाद मैं कुछ वर्ष बङ्गाल में रहा। वहां मैंने शिक्षित भारतवासियों में बिलकुल दूसरी ही तरह के विचार देखे। अङ्गरेज़ों के गले काटने का विचार करने के स्थान पर, वे लोग अङ्गरेज़ों के साथ जूरी बनकर अदालतों में बैठने या बेंच मजिस्ट्रेट बनने की आकांक्षाएं कर रहे थे।"

हिन्दुओं में अङ्गरेज़ी शिक्षा के प्रचार के सम्बन्ध में ट्रेवेलयान लिखता है—

"जो भारतीय युवक हमारे साहित्य द्वारा हमसे भली भांति परिचित हो जाते हैं वे प्रायः हमें विदेशी समझना बन्द कर देते हैं। वे हमारे महापुरुषों का ज़िक्र उसी उत्साह के साथ करते हैं जिस उत्साह के साथ हम करते हैं। हमारी ही सी शिक्षा, हमारी ही सी रुचि और हमारे ही से रहन सहन के कारण इन लोगों में हिन्दोस्तानियत कम हो जाती है और अङ्गरेज़ियत अधिक आ जाती है। फिर बजाय इसके कि वे हमारे तीव्र विरोधी हों, और या यदि हमारे अनुयायी भी हों तो उनके हृदय में हमारी ओर क्रोध भरा रहे, वे हमारे होशियार और उत्साही मददगार बन जाते हैं। फिर वे हमें अपने देश से बाहर निकालने के प्रचण्ड उपाय सोचना बन्द कर देते हैं।"

अङ्गरेज़ों ने सरकारी और ग़ैर सरकारी तौर पर जो दूसरे सांस्कृतिक कार्यक्रम चलाये उनकी भी यही मन्शा थी। सर विलियम जोन्स, होरेस हेमैन विलसन, प्रिन्सेप और दूसरे ओरिएण्टल विद्वानों ने 'एशियाटिक सोसायटी' क़ायम करके प्राचीन भाषाओं की छान बीन का काम शुरू किया। उन्होंने भावुक हिन्दू युवकों के सामने प्राचीन हिन्दू समाज के गौरव पूर्ण अतीत की तसवीर रखी जो उनके उस वक़्त के दुख, दारिद्र्य और पतन से भरे हुए जीवन के मुक़ाबले में एक स्वर्ण युग दिखाई दिया। सर हेनरी इलिएट जैसे इतिहासकार ने इस बात को दावे के साथ पेश किया कि भारतीय इतिहास के हिन्दू युग के बाद का ज़माना बेशुमार अत्याचारों, ज़ुल्मों और धर्मान्धता का ज़माना था कि जिससे परोपकारशील अङ्गरेज़ों ने हिन्दुओं का उद्धार किया। हिन्दू युवकों ने उनकी उन्नति और फ़ायदे के लिये क़ायम किये हुए कालेजों

में इन 'ऐतिहासिक सत्यों' को हृदयंगम करके मुसलमानों से घोर नफ़रत करना शुरू कर दिया और अङ्गरेज़ी राज को दैवी वरदान समझने लगे।

कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज में हिन्दुस्तानी भाषाओं को ख़ास प्रोत्साहन दिया जाने लगा। ना समझ अङ्गरेज़ लड़के जो विलायत से इस मुल्क की हुकूमत करने भेजे जाते थे हमारे ख़र्च पर इस कालेज में भारतीय भाषाओं की तालीम पाते थे। कालेज के अधिकारी चाहते थे कि इन अफ़सरों के फ़ायदे के लिये देशी भाषाओं की किताबें तय्यार की जांय। उस समय अदालत की ज़बान फ़ारसी थी। लेकिन फ़ारसी समझने वाले बहुत थोड़े से लोग थे। उत्तर भारत के आम लोगों में उर्दू का ही चलन था। शाइस्ता हिन्दू और मुसलमान दोनों उर्दू बोलते थे और इस उर्दू में गद्य और पद्य दोनों लिखे जाते थे जब कि ब्रज भाषा में केवल पद्य की चीज़ें लिखी जाती थीं। फ़ोर्ट विलियम कालेज के प्रिन्सिपल गिलक्राइस्ट ने १९ वीं सदी के शुरू के वर्षों में उर्दू के विद्वानों को बुला कर पाठ्य पुस्तकें लिखवाईं। प्रिन्सिपल की हिदायत के अनुसार उर्दू की अनेक पाठ्य पुस्तकें तय्यार हो गईं।

किन्तु फिर यकायक अधिकारियों को ख़याल हुआ कि यह काफ़ी नहीं है। मिस्टर एफ़० ई० केए के शब्दों में "उर्दू ज़्यादहतर फ़ारसी और अरबी शब्दों को लेकर बनी है, जिन भाषाओं का ख़ास ताल्लुक़ इसलाम से है। हिन्दी बोलने वाले हिन्दुओं के लिये एक साहित्यिक भाषा की बेहद ज़रूरत थी जो हिन्दुओं को ज़्यादह पसन्द आती। इसके लिये यह किया गया कि उर्दू से फ़ारसी और अरबी के शब्दों को निकाल कर उनकी जगह संस्कृत और हिन्दी शब्द रख दिये गये।" बस यहीं से हिन्दी उर्दू झगड़े की दाग़बेल पड़ी।

ईसाई पादरियों ने भाषा के झगड़े को और अधिक बढ़ाया। सर जार्ज ग्रियर्सन जो हिन्दुस्तान की भाषाओं के सब में बड़े प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं, लिखते हैं—"दुर्भाग्य से इस समय अङ्गरेज़ों का ज़बरदस्त प्रभाव हिन्दी को संस्कृत से भरने वालों की तरफ़ था। बाइबिल के तर्जुमों में पादरियों ने यह संस्कृत से भरी हुई हिन्दी ही ज़्यादह इस्तेमाल की। कुछ हिन्दुस्तानी लेखकों ने पुरानी सरल हिन्दी में ही लिखने पर ज़ोर दिया किन्तु इस ज़बरदस्त गुमराह कोशिश के सामने उन्हें कोई कामयाबी नहीं मिली।"

किन्तु इस तरह से शुरू की हुई हिन्दी को सन् १८५७ के विप्लव तक कोई सफलता नहीं मिली। विप्लव के बाद अङ्गरेज़ों को मुसलमानों से और मुसलिम संस्कृति से बेहद नफ़रत हो गई। सन् १८३७ में फ़ारसी का इस्तेमाल अदालतों से बन्द कर दिया गया था किन्तु उर्दू उस वक़्त तक भी प्रान्तों प्रान्तों के बीच बोलचाल की आम ज़बान थी। दिल्ली कालेज हिन्दुस्तानी ज़बानों में पश्चिमी शिक्षा देने के लिये सन् १८२९ में क़ायम हुआ था। इसी कालेज के संरक्षण में अङ्गरेज़ी के अनेक वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रन्थों का उर्दू में तर्जुमा हुआ। किन्तु यह कालेज सन् ५७ के ख़ौफ़नाक दिनों में बन्द कर दिया गया।

इसके बाद से अनेक अङ्गरेज़ हाकिमों ने हिन्दी को बढ़ाना शुरू किया। अङ्गरेज़ी अख़बारों में हिन्दी की वकालत की जाने लगी। हिन्दी के व्याकरण और स्कूलों की पाठ्य पुस्तकें तय्यार कराई गईं। इस बात की मांग पेश की जाने लगी कि हिन्दी को अदालत की ज़बान माना जाय। हिन्दी के लिये ज़ोर शोर का आन्दोलन शुरू हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे योग्य लेखक और विद्वान ने सन् १८७१ में यह स्वीकार किया कि "अगरवाल स्त्री और पुरुष इन सबकी भाषा खड़ी बोली अर्थात् उर्दू है।" सर जार्ज कैम्पबेल ने, जो बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा के लेफ़्टेनेण्ट गवर्नर थे, सन् १८७२ में बिहार की अदालतों से उर्दू के इस्तेमाल को बन्द करने का फ़ैसला किया और यह भी ऐलान किया कि प्रान्त भर के स्कूलों में उर्दू की पढ़ाई रोक दी जाय। सन् १८८२ में हिन्दुओं ने एजूकेशन कमीशन के सामने हिन्दी का मुतालबा पेश किया लेकिन कमेटी के चेयरमैन

डाक्टर हण्टर ने, जो मुसलमानों से अधिक प्रेम रखते थे, हिन्दुओं की मांग को मानने से इनकार कर दिया। सन् १९०० में युक्तप्रान्त की सरकार ने अदालतों में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के इस्तेमाल के हक़ को स्वीकार कर लिया। ये सारी बातें इस तरह से की गईं कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई बढ़ती ही गई।

सन् १९०० के बाद से आधुनिक हिन्दी ने बेहद तरक़्क़ी की है। उसके अन्दर उच्चकोटि का साहित्य हो गया है किन्तु यह सारी तरक़्क़ी मुसलिम विरोध के साथ जुड़ गई। आधुनिक हिन्दी की तरक़्क़ी के साथ ज़रा मध्यकालीन भारत में मुग़लों के ज़माने में हिन्दी ने जो तरक़्क़ी की थी उससे तुलना कीजिये। मुसलमानों के सहयोग से हिन्दी ने उस ज़माने में इस वक़्त के मुक़ाबले में बहुत ज़्यादह उन्नति की थी। मुसलमानों ने स्वयं हिन्दी को बढ़ाया और उसके प्रचार में हर तरह की मदद दी।

सारांश में हिन्दू मुसलिम खाई इन तीन बातों से बढ़ी—

(१) भारतीय साम्राज्य का पतन,

(२) अङ्गरेज़ हाकिमों की बन्दर बांट की नीति, और

(३) सरकार का अलग अलग सांस्कृतिक आन्दोलनों को प्रोत्साहन देना।

किन्तु इन सबसे अधिक जिस चीज़ ने इस खाई को बढ़ाया है वह है अपनी अलग अलग पुरानी बातों को अपनाने की ओर दोनों सम्प्रदायों की रुचि। हालांकि पुराने ज़माने को फिर से वापस लाना असम्भव है मगर फिर भी क़ौमों के इतिहास में एक न एक वक़्त ऐसा आता है जब पुरानी बातों पर फिर से अमल करने का आन्दोलन शुरू होता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों इस आन्दोलन के शिकार हुए। बहे हुए दरिया के पानी को वापस लाने के नामुमकिन काम को वे मुमकिन समझने लगे। हज़ारों वर्ष पुराने रस्मो रिवाज और संस्थाओं को पुनरुज्जीवित करना नामुमकिन था। हिन्दुओं ने इस आन्दोलन में पेश क़दमी की। पश्चिम के विजयोन्माद के सामने वे अपने को अति हीन समझने लगे। पश्चिम के ओरिएण्टल विद्वानों ने उन्हें बताया कि तुम्हारा वर्तमान इतना हीन है तो क्या हुआ तुम्हारा अतीत कितना गौरव पूर्ण था। हिन्दुओं की तबीयत पर इस चीज़ ने जादू का सा काम किया। उनके सामने फिर से अधिक पुराना ज़माना वापस लाने की कल्पना जाग उठी। वे यह सोचने लगे कि वे अपनी पुनर्जाग्रति भारत की अन्य सम्प्रदायों से अलग रह कर ही कर सकते हैं।

इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक, नैतिक और धार्मिक सुधार की लहरें बजाय मध्य युग के सन्तों कबीर और नानक के दिखाये हुए मार्ग से बढ़तीं वे अति प्राचीन काल में जाकर अपने आदर्श ढूंढ़ने लगीं। राजा राममोहन राय इन सुधारकों में सब में पहले थे। वे विद्वत्ता के आगार थे, संस्कृत, फ़ारसी और अरबी के प्रकाण्ड पण्डित। उन्होंने अङ्गरेज़ों की मदद से हिन्दू समाज में सुधार करना चाहा। उपनिषद और वेदों से उन्होंने अपने आदर्श निकाले। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर को सुयोग्य हिन्दू नौजवानों को ईसाई बनते देखकर हार्दिक दुख था। उन्होंने उस समय के समाज की पतित अवस्था की जगह पुराने ऋषियों के आदर्शों का प्रचार शुरू किया। केशवचन्द्र सेन बेहद उदार थे किन्तु उन्होंने भी हिन्दू वैष्णव वाद को ईसाई एकेश्वरवाद के साथ जोड़ा। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी आत्मा की पूरी शक्ति के साथ 'वेदों की ओर वापसी' का नारा बुलन्द किया। कर्नल अलकाट, मैडम ब्लावाट्स्की और मिसेज़ बेसेण्ट के नेतृत्व में थिआसाफ़िकल सोसायटी ने पश्चिमी विज्ञान को भारतीय आचार के साथ जोड़कर उनकी जड़ें पुराणों और दूसरी धार्मिक पुस्तकों में खोज निकालीं। श्री रामकृष्ण परमहंस ने निस्सन्देह मुसलिम फ़क़ीरों और ईसाई पादरियों के साथ धार्मिक भाईचारा पैदा करने के लिये मसजिद और गिरजों में वर्षों खर्च किये। किन्तु उनके महान शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने

दर्शन और वेदान्त के सिद्धान्तों को ही जीवन का आधार स्तम्भ बनाया।

इस तरह क़रीब क़रीब हर महान नेता ने सत्य की तलाश में मुसलिम काल के पूर्व के भारत में अपने आदर्श खोजे और अपनी भावुक कल्पना के सहारे प्राचीन काल के आदर्शों को हरा भरा किया।

दूसरी ओर हिन्दुओं की पुनर्जागृति के आन्दोलन और ईसाइयों के विरोध ने मुसलमानों के अन्दर भी इसी तरह के नतीजे पैदा किये। १८२५ के बाद का वहाबी आन्दोलन इसलाम की बाद की व्यवस्थाओं (फ़िक़ा और हदीस) से ऊपर उठकर सीधा क़ुरान पर अमल करने का उपदेश देने लगा। सर सैयद अहमद ने क़ुरान की विद्वत्ता पूर्ण टीकाओं का उपहास उड़ाकर उसके स्वाभाविक और तर्क सिद्ध अर्थों पर ज़ोर दिया। दूसरे सुधारकों ने भी पैग़म्बर के सब से पहले पैरोकारों की कठोर तपस्या की ज़िन्दगी की ओर मुसलमानों का ध्यान दिलाया और बाद के मुसलमानों की ऐशो इशरत की ज़िन्दगी को बुरा बताया।

१९ वीं सदी के ख़त्म होते होते दोनों सम्प्रदायों के दिमाग़ शानदार भूत काल की महान कल्पनाओं से भर गये। हिन्दू उस युग की कल्पना करने लगे जब ऋषि और मुनियों ने तपोवनों में धर्म और अध्यात्म पर अपने विचार प्रकट किये थे, और मुसलमानों के सामने वह नज़ारा आ गया जब पहले चार ख़लीफ़ाओं ने इसलाम की कीर्ति ध्वजा फहराई थी।

पुराने धार्मिक जीवन की पवित्रता के फिर से प्रचार में स्वभावतः कोई हदबन्दी न की जा सकती थी। धर्म के क्षेत्र में पीछे जाने के साथ साथ समूचे जीवन में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि हर क्षेत्र में फिर से पुराने आचार विचारों के पालन की ख़्वाहिश जाग उठी। लोग फिर से उसी ज़माने को लाने के ख़्वाब देखने लगे जब लोग धर्म और सदाचार को मानते थे और ईश्वर से डर कर जीवन बिताते थे।

सन् १९०५ की ज़बर्दस्त राष्ट्रीय जागृति में हिन्दुस्तान ने बाल गंगाधर तिलक, लाजपतराय और अरविन्द घोष जैसे नेता पैदा किये। इनमें से हर एक किसी न किसी शक्ल में भूतकाल की तरफ़ जाने का ज़बर्दस्त हामी था। लोकमान्य तिलक ने मराठा विजयों से प्रोत्साहन लिया। उन्होंने गीता पर टीका लिखी, और गणपति उत्सव शुरू किया और शिवाजी का आदर्श फिर से सामने रखा। लाला लाजपतराय ने आर्य समाज के सिद्धान्तों को ज़ोरों से फैलाया और श्री अरविन्द घोष ने बङ्गाल के क्रान्तिकारी युवकों का हौसला बढ़ाने के लिए उनके हाथ में गीता दे दी। श्री अरविन्द घोष के अनुसार हिन्दू विचारों के सब से बड़े प्रचारक व्यास, वाल्मीकि और कालिदास थे और उन्हीं के काव्यों में भारतीय सभ्यता का पूरा पूरा और ठीक ठीक इतिहास भरा हुआ था।

बहुत से नौजवान मुसलमान भी इस राष्ट्रीय आन्दोलन में आ गये। इनमें एक डा० मुहम्मद इक़बाल थे। इक़बाल के उपदेशों का हिन्दुस्तान के मुसलमानों पर इतना गहरा असर पड़ा है कि उनके विचारों की प्रगति पर ध्यान देना बेजा न होगा। शुरू में इक़बाल के विचार शुद्ध राष्ट्रीय विचार थे। सारे भारतीय राष्ट्र की तरक़्क़ी के लिये उनके दिल में ज़बरदस्त जोश और लगन थी। उन्होंने उर्दू के आकर्षक सांचों में अपने देश भक्ति पूर्ण हृदय के जोशीले उद्गारों को भर दिया। उनकी "नया शिवाला", "हिन्दुस्तान हमारा" और "राम" जैसी कविताओं ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों के दिलों पर गहरा असर किया। उनके गीत घर घर और गांव गांव में फैलते गये। यहां तक कि उत्तर भारत में लाखों की ज़बान पर चढ़ गये।

फिर उनमें तब्दीली हुई। राष्ट्रीयता के जोश का पहला उबाल निकल गया। इसके बाद ज़रा गहरा सोचने का समय आया। उन्हें अपने विचारों के लिये दो सोतों से मसाला मिला। इनमें से एक सोता इसलामी दुनिया से सम्बन्ध रखने वाले विचारों से था। अबु सीना, इब्न रुश्द और ग़ज़ाली जैसे महान विचारकों के दर्शन और जमालुद्दीन अफ़ग़ानी, शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला और तुर्की क्रान्ति के उन नेताओं की तरफ़ उनका ध्यान गया जिन्होंने

सारी दुनिया के मुसलमानों पर इस बात के लिये ज़ोर दिया कि यूरोप की हुकूमत को अपने ऊपर से उखाड़ कर फेंक दें और उस ज़माने की शान और शौकत को फिर से पैदा करें जब कि इसलाम की फ़तह की बाढ़ सारे एशिया और यूरोप पर फैल गई थी। दूसरी तरफ़ हिन्दुस्तान से उन्हें दूसरी तरह का सबक़ मिला। बङ्ग भङ्ग के ज़माने की राष्ट्रीयता इस बात पर ज़ोर देती थी कि पढ़े लिखे बङ्गालियों की एकता को भङ्ग करना जुल्म है। इन पढ़े लिखे बङ्गालियों में ज़्यादहतर हिन्दू ही थे। इसलिये इस राष्ट्रीयता में हिन्दू पुनरुद्धार का रङ्ग गहरा था। जो नतीजा हुआ उसे श्री बिपिनचन्द्र पाल ने अपने शब्दों में इस तरह बयान किया है--

"अगर मुसलिम नेता सिख्यों और मराठों की याद को धो डालने की कोशिश करते थे तो हिन्दू राष्ट्रीय नेता इन यादों को फिर से ताज़ा करने की कोशिश करते थे। निस्सन्देह सच्ची राष्ट्रीयता के प्रचार की उस समय बड़ी गहरी ज़रूरत थी। जहां तक सिखों और मराठों की इन यादों को ताज़ा करने का यह मतलब था, कि नैराश्य और अकर्मण्यता में डूबे हुए लोगों में फिर से आत्म विश्वास पैदा किया जावे, इनसे फ़ायदा ही हुआ नुक़सान नहीं।...लेकिन आहिस्ता आहिस्ता कम से कम कुछ राष्ट्रीय पक्ष वालों में इन स्मृतियों से यह मूर्खता पूर्ण और आत्म घातक आकांक्षा पैदा हो गई कि फिर एक बार या तो सारे भारत पर एक हिन्दू राज्य हो या बहुत से हिन्दू राज्यों का एक समूह क़ायम किया जावे। इस तरह पर कुछ लोग गुप्त ढङ्ग से स्वराज्य का मतलब हिन्दू राज्य बताते थे।"

ऊपर के दोनों स्रोतों में से पहले यानी पुराने मुसलिम गौरव की तरफ़ जाने की इच्छा ने इक़बाल को अपनी तरफ़ खींचा और इस दूसरे हिन्दू राज्य की फिर से स्थापना के विचारों ने इक़बाल को अपने से दूर हटाया। नतीजा यह हुआ कि इक़बाल की सारी कविता शक्ति और उनके सब दार्शनिक विचार इसलामी पुनरुद्धार की तरफ़ लग गये। २५ साल से ऊपर तक उनकी जादू भरी कविताओं और जोशीली बातों का मुसलमानों के विचारों पर ज़ोरदार असर पड़ा। इससे एक महत्व की बात तो यह हुई कि मुसलमान अपनी नींद से जागे और उनमें अपने निकृष्ट होने की भावना जाती रही। लेकिन नुक़सान यह हुआ कि मुसलमानों के सामने सारी दुनिया में एक इस तरह की सोसायटी क़ायम करने का आदर्श आ गया जो सोसायटी कि अपने अपने देशों की अलग अलग देश भक्ति से आज़ाद होकर मज़हबी उसूलों और धार्मिक रूढ़ियों में बंधी हुई हो। बङ्गाल की जागृति में जो पुराने हिन्दुत्व की तरफ़ लौटने की प्रवृत्ति थी उसका क़ुदरती नतीजा मुसलमानों में यह पुराने इसलाम की तरफ़ लौटने की प्रवृत्ति हुई। दोनों धर्म वालों में अलहदगी ज़ोरों के साथ बढ़ती चली गई।

डाक्टर मोहम्मद इक़बाल के मामले में उनके जीवन के अन्त के दिनों में जबकि मौत का साया उन पर फैलता गया और पुराने इसलाम की तरफ़ लौटने का जोश कम होता गया तो भारत राष्ट्रीयता की वह चिनगारियां जो जवानी के समय से उनके अन्दर दबी हुई सी पड़ी थीं एक बार फिर से चमकती और ज़िन्दा होती हुई दिखाई दीं।

मौत से पहले उन्होंने बड़े दर्द के साथ अपने हिन्दू देश बन्धुओं से यह अपील की कि अगर वे इस मुल्क की गुलामी को ख़त्म करना चाहते हैं तो 'अपने' और 'पराये' के भेदों को मिटा दें क्योंकि आज़ादी का रहस्य मोहब्बत ही में छिपा हुआ है—

यह इस्तग़ना[1] है पानी में नगूं[2] रखता है साग़र[3] को,
मुझे भी चाहिये मिस्ले हबाबे[4] आबेजू[5] रहना।
बनाएं क्या समझकर शाखे गुल पे आशियां अपना,
वतन में आह क्या रहना जो हो बे आबरू रहना।

---

१ बेपरवाही २ झुकाकर ३ प्याला ४ बुलबुला
५ दरिया का पानी

जो तू समझे तो आज़ादी है पोशीदा मोहब्बत में,
ग़ुलामी है असीरे इम्तियाज़े६ मावतू७ रहना।

न हो अपनों से बेगाना इसी में ख़ैर है तेरी,
अगर मंज़ूर दुनियां में है ओ बेगाना-ख़ू८ रहना।

किन्तु इक़बाल की इससे पहले की ज़ोरदार कविताओं ने साम्प्रदायिकता की आग को ख़ासा सुलगा दिया था। आज इस आग की भयङ्कर लपटें एक चोटी से दूसरी चोटी तक उठ रही हैं और हमारे राष्ट्रीय जीवन को ख़तरे में डाल रही हैं। एक तरफ़ करवीर पीठ के शंकराचार्य डाक्टर कुर्तकोटि का हिन्दू महासभा के सदर की हैसियत से दावा था कि "हिन्दुस्तान के अन्दर राष्ट्र, धर्म और भाषा सब हिन्दुओं ही की होनी चाहिये," तो दूसरी तरफ़ मुसलिम लीग ग़ुस्से में भरकर जवाब देती है कि वह हिन्दुस्तान के टुकड़े टुकड़े कर देगी और उन टुकड़ों में से एक ऐसा पाकिस्तान बनावेगी जो हमेशा के लिये हिन्दू राष्ट्र, हिन्दू धर्म और हिन्दू भाषा की छूत से पाक रहेगा।

ऊपर एक दूसरे के बाद जिन घटनाओं का हमने ज़िक्र किया है उनसे हमारी वह राष्ट्रीय मीरास, हमारा वह मिला जुला जीवन जो ५०० बरस से अधिक के अन्दर एक दूसरे के आदान प्रदान द्वारा हम निर्माण कर पाये थे, पिछली एक सदी से कम के अन्दर क़रीब क़रीब बर्बाद हो चुका। कम से कम दोनों तरफ़ के साम्प्रदायिक नेताओं के उदगारों से यही नतीजा निकलता है। निस्सन्देह इससे ज़्यादा दुःख की चीज़ क्या हो सकती है कि इन दोनों सम्प्रदायों के इतने दिनों साथ रहने का नतीजा यह हो कि अन्त में भारत के शरीर के इस बेदर्दी से टुकड़े किये जायं क्योंकि हिन्दुओं और मुसलमानों के अलग अलग क़ौमें होने के सिद्धान्त को अगर आख़ीर तक ठीक मान लिया गया तो उसका कोई दूसरा नतीजा नहीं हो सकता। इससे पहले कि यह पृथकता का ख़याल आइन्दा की नसलों के दिमाग़ों में जड़ पकड़ जावे और इस देश के लोगों को सदा के लिये विपत्ति के सागर में डुबा दे हमें सावधान हो जाना चाहिये।

६ भेदभाव ७ अपना पराया ८ जिसे अपना पराया देखने की आदत हो।
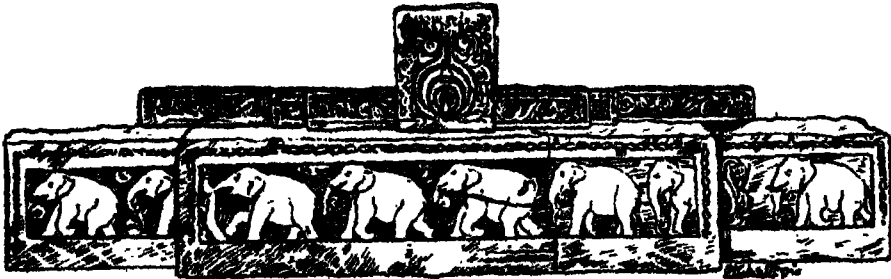
साम्प्रदायिकता का यह विष !

श्री रामनाथ 'सुमन'

जब दिलों में ज़हर भरा होता है दुनिया उलटी दिखाई देती है। अच्छी बात ग़लत मालूम पड़ती है; आग लगाने वाली बातों में मज़ा आता है। आदमी बेहोश और पागल-सा प्रतिहिंसा की देवी को जगाता और अपने अन्दर सोई हुई पाशविक प्रवृत्तियों को ललकारता फिरता है। न सुनता है, न सुनने देता है। आंखों में धुंध और दिलों पर परदा, अकड़ और गुंडई को वीरता के नाम पर पूजने वाला, लनतरानियों का प्रेमी—ऐसा मनुष्य समाज और संस्कृति के लिए एक भयानक ख़तरा है। और चिंता की बात है कि आज हिन्दुस्तान में यह गुंडा राजपथ पर जहाँ देखो, अकड़ कर चलता दिखाई पड़ता है।

मुसलमान है कि कहता है—तुमने हमें धोखा दिया, हम कम तादाद में थे, तुमने इसका अनुचित लाभ उठाया। कल तक इस मुल्क पर हमारा शासन था, हमें विशेषाधिकार मिलने चाहिएं। हमारी अपनी सभ्यता है, अपनी ज़बान है, अपनी परम्परा है। तुम क्यों चाहते हो कि हम उन्हें छोड़ दें। तुम हमें चकमा देना चाहते हो ! नहीं, हम तुम्हारी चालाकी समझते हैं। हम तुम्हारे फन्दे में न आयेंगे। तुम हमारा हिस्सा अलग कर दो। तुम बहुमत के अधिकार के नाम पर हमें ग़ुलाम बनाकर रखोगे। ज़रूर तुम्हारी यही नीयत है। नहीं, मुल्क के दो टुकड़े कर दो। तुम अपने घर ख़ुश रहो; हम अपने घर राज करें।

हिन्दू कहता है—तुमने धौंस और ज़बर्दस्ती से हमारे अधिकार में भी हिस्सा बटाया; हम तरह देते गये और तुम बढ़ते गये। तुमने हमें बार-बार अपमानित किया। यह मुल्क हमारा; यहाँ की सभ्यता हमारी। तुमने ज़बर्दस्ती, कमज़ोरी की घड़ियों में, सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा कर लिया। युगों से इस देश में हम रहते आये। हमारी सम्पूर्ण सभ्यता यहीं पनपी और पल्लवित हुई है। तुम रहना चाहो, रहो पर तुमको यहीं की सभ्यता और यहीं के भाव-जगत् में रहना पड़ेगा। अब हम तुम्हारी धौंस बर्दाश्त नहीं कर सकते।

और जनता की भीड़, जो बेचारे सीधे-सादे आदमियों की बनी हुई है, एक आश्चर्य जनक विवशता के साथ, इनकी ज़बाँदराज़ी, इनके वाग्जाल की ओर देखती है।

× × ×

ऐसा क्यों हो गया ? क्या हिन्दू मुसलमान कट्टर धर्मोपदेशकों का यह कथन सत्य है कि हम सदा ही विरोधी रहे हैं और सदा रहेंगे ? क्या साम्प्रदायिक ऐक्य का सपना देखने वाले सचमुच पागल हैं और क्या मध्य भारतीय इतिहास का जो पाठ हमें पढ़ाया जाता है वह सर्वथा विशुद्ध है ?

मैं मानता हूं, जो ज़हर आज है उसे फैलाने में इतिहास के पन्नों से कुछ कम सहायता नहीं मिली है। बात यह है कि इतिहास पढ़ाने की एक बिल्कुल ही ग़लत परिपाटी हमारे यहाँ चल पड़ी है। हमें इतिहास नहीं पढ़ाया जाता, घटनाएँ रटाई जाती हैं। मध्य कालिक इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी को यह तो

मालूम है कि पानीपत की लड़ाइयाँ कब कब और किन के बीच हुईं पर उसे उन आन्दोलनों और विचार धाराओं का ज्ञान प्रायः नहीं सा है जो मध्य युगीन सन्तों के द्वारा देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गये थे या फैल गई थीं। मुसलिम शासन काल के आरम्भ से ही हमें ऐसे अनेक मुसलमान और हिन्दू सन्तों के समान रूप से दर्शन होते हैं जिन्होंने भारतीय उदारता की परम्परा को न सिर्फ़ बनाये रखा बल्कि एक समन्वयात्मक संस्कृति के निर्माण की चेष्टा भी की। इन्होंने हिन्दू मुसलमान दोनों को समान भाव से अपनाया; दोनों जातियों के आदमियों को शिष्य बनाया, दोनों धर्मों के तात्त्विक सत्यों को ग्रहण किया। चिश्ती, कबीर, नानक, दादू, रसखान, बुल्लेशाह इत्यादि के ऊपर एक-एक ग्रंथ लिखे जा सकते हैं।

यही नहीं कि सन्तों तक ही यह चीज़ रह गई हो। उनका प्रभाव शासकों पर भी काफ़ी था। मुसलमान बादशाह हिन्दू योगियों और साधुओं का सम्मान करते थे, उनके चरणों में मस्तक नवाते थे। बाबर से लेकर औरङ्गज़ेब और हैदरअली टीपू तक सबने जहाँ राजनीतिक कारणों से इस देश पर कुछ ज़्यादती की वहाँ हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता के दृष्टान्त भी उन्होंने अपने जीवन में पेश किये। सैकड़ों मन्दिरों में इनकी जागीरें लगी थीं; कई की ओर से पूजा होती थी। दरबार में हिन्दू विद्वानों और पण्डितों को प्रतिष्ठा थी। चौदहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक (और बाद के भी) भारतीय इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं।

कावेल-द्वारा सम्पादित एलफ़िन्स्टन के भारतीय इतिहास में इसकी पर्याप्त सामग्री है। मुबारिक ख़िलजी के समय में दीवानी दफ़्तरों में तथा मालगुज़ारी और अर्थ-विभाग में काम करने वालों में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। एलफ़िन्स्टन लिखता है—"न्यायालय की आत्मा और शासन-चक्र का स्वरूप यदि था तो हिन्दू था।" शेरशाह की सेना में हिन्दू-मुसलमान दोनों को समान सुविधाएँ प्राप्त थीं। ब्रह्मजीत गौड़ उसका एक प्रसिद्ध सेनानी था और शेरशाह का उस पर इतना विश्वास था कि चौसा और बिलग्राम की लड़ाइयों के बाद उसे ही हुमायूँ का पीछा करने को भेजा जाता था। आदिलशाह और हेमू की कथा तो प्रसिद्ध ही है। बङ्गाल में औरङ्गज़ेब के प्रतिनिधि नवाब मुर्शिद कुली खाँ के शासन में सभी शासकीय और मुख्य नौकरियाँ हिन्दुओं को मिलती थीं।

इसी प्रकार हिन्दुओं ने भी मुसलमानों के प्रति बराबर सहायता और उदारता का व्यवहार किया। अनेक अवसरों पर उन्होंने अपने जाति भाइयों का विरोध सह कर उनकी रक्षा की।

पांच-मास पहले श्री एन० सी० मेहता को भूपाल के वर्तमान नवाब ने बाबर का एक फ़र्मान दिखाया था जिसे श्री मेहता ने उस समय प्रकाशित भी किया था। यह एक छोटा फ़र्मान है जिसके आरंभिक अंश का अनुवाद इस प्रकार है—

"शाहज़ादा नसीर उद्दीन मुहम्मद हुमायूँ को ग़ाज़ी बादशाह ज़हीर उद्दीन बाबर का गुप्त धर्मोपदेश। परमात्मा उसे चिरंजीवि रक्खे।

"सल्तनत की नींव को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से यह लिखा गया है। हे पुत्र! यह हिन्दुस्तान कई तरह के मज़हबी उसूलों से भरा हुआ है। उस पाक परवरदिगार ख़ुदा का शुक्र है कि जिसने तुझ पर इसकी हुकूमत बख़्शी है। तेरे लिये यही उचित है कि अपने हृदय को प्रत्येक प्रकार की धार्मिक कट्टरता से स्वच्छ करके हर एक जाति को उसकी योग्यतानुसार न्याय प्रदान करे। और ख़ासतौर से गोकुशी से तो अलग ही रहना, क्योंकि हिन्दुस्तानियों के हृदय को जीतने का यही एक मात्र तरीक़ा है।... मन्दिरों और हर एक क़ौम के पूजा के स्थानों को तुम कभी नुक़सान न पहुँचाना। हमेशा न्याय करना।" इसके साथ ही वह अपने सहधर्मियों को कभी न भूलने योग्य यह संदेश देता है—

"तरक़्क़ी-ए-इस्लाम अज़ तेग़-ए-एहसान बिहतर अस्त, न अज़ तेग़-ए-ज़ुल्म।"

अर्थात् "इस्लाम की उन्नति अहसान से, न कि अत्याचार की तलवार से, भली भांति हो सकती है।"

× × ×

अपने जीवन में मैंने अनेक दृश्य ऐसे देखे हैं जिनमें मुसलमान ने हिन्दू और हिन्दू ने मुसलमान के प्रति अद्भुत वफ़ादारी का परिचय दिया है। अपने एक परिचित धनिक सज्जन को मैं जानता हूं। यह ब्राह्मण हैं। लाखों की ज़मींदारी है। इनके पिता जब मरने लगे तो पड़ोसी और लँगोटिया मित्र एक मुसलमान सज्जन को बेटे का हाथ पकड़ा गये यद्यपि उनके दूसरे निकट संबंधी मौजूद थे। मेरे मित्र मुसलमान सज्जन को चचा कहते थे और उनको पिता तुल्य मानते थे। जब तक 'चचा जीवित रहे उन्होंने इतनी सचाई से अपने विश्वास की क़ीमत चुकाई, जिसकी मिसाल नहीं। वे मेरे मित्र को अपने बच्चों से बढ़कर मानते थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा, विवाह सबका उन्होंने उचित प्रबन्ध किया और मज़ा यह कि कट्टर हिन्दू आचारों को बदलने या प्रभावित करने की उन्होंने ज़रा भी चेष्टा न की।

कुछ दिन पहले दिल्ली में मुझे एक मुसलमान सज्जन मिले। हम लोग एक ही 'बस' में कहीं जा रहे थे। यूं ही चर्चा चल पड़ी। इस सिलसिले में उन्होंने अपनी जो कहानी सुनाई, वह ऊपर के उदाहरण से बिल्कुल मिलती-जुलती है। इनके पिता के एक गहरे दोस्त पं० राजनाथ थे। मामूली आमदनी के आदमी; बड़ा कुटुम्ब। पण्डित राजनाथ कट्टर ब्राह्मण और पुराने ख़्याल के आदमी थे। किसी ज़माने में मुसलमान सज्जन के पिता बड़े धनवान और प्रभाव शाली थे, पर समय के फेर में पड़कर बेहाल हो गये। जब मरे तब उनका एक ही लड़का ८ वर्ष का था और घर में एक लड़की और विधवा पत्नी छोड़ गये थे। बेचारे राजनाथ की ४०-५० की तो आमदनी ही थी पर उन्होंने अपने मित्र के बाल-बच्चों की देख-रेख ऐसी वफ़ादारी और सचाई के साथ की कि क्या कहने। इन लोगों को पहले खिलाकर तब अपने बच्चों को खिलाते। उन्हीं ने पढ़ाया-लिखाया, खुद क़र्ज़ ले लेकर सब कुछ किया। अब ये सज्जन भारत-सरकार के किसी आफ़िस में १५०) पर नौकर हैं। जब ये समर्थ हुए, इन्होंने पं० राजनाथ के उन क़र्ज़ों को अदा करना चाहा, जो उन्होंने इनकी ही शिक्षा-दीक्षा के लिये लिये थे और अपनी बुढ़ौती और छोटी-सी आमदनी के बावजूद थोड़ा-थोड़ा भर रहे थे। पर पं० राजनाथ ने इसे स्वीकार न किया। इन सज्जन ने आख़िर में कहा कि सब से सदाशयता की बात तो यह कि उन्होंने कभी हमारी अनाथावस्था में ज़रा भी दबाव डालने की कोशिश न की। वे चाहते तो हमें अपने घर लाकर रखते और धीरे धीरे हिन्दू बना लेते, पर नहीं उन्होंने न सिर्फ़ हमारे व्यक्तित्व और सामाजिकता की रक्षा की बल्कि मौलवी रखकर हमें मुसलिम धर्म की शिक्षा भी दिलाई। बस से उतरते उतरते उन्होंने कहा—'पं० राजनाथ पर सैकड़ों जिन्ना को मैं निछावर कर सकता हूं।'

कलकत्ता, कानपुर और बनारस के दंगों में जहां भयानक क्रूरताएं हुई तहां ऐसे कितने ही उदाहरण भी देखने को मिले, जिनसे मानवता के दिव्य संस्कारों का पता चलता है। अनेक हिन्दुओं-मुसलमानों ने अपने को ख़तरे में डालकर संकट के समय अपने मुहल्ले में रहने वाले परधर्मावलम्बियों की रक्षा की। भ्रातृत्व और पड़ोसी-धर्म-पालन के ऐसे सुन्दर दृष्टान्त मिले कि हृदय आज भी मनुष्य के गौरव के भाव से भर जाता है। और ये दृष्टान्त एकाकी नहीं हैं। गांवों में, शहरों में खोजने पर लाखों ऐसी बातें आज, इस ज़हर के दिलों में फैल जाने के युग में भी, मिल सकती हैं और मिलती हैं।

हमें अपने बचपन के दिन याद हैं जब हमारे यहां के सामाजिक उत्सवों में, शादी-ब्याह में, मुसलमान मित्र उसी उमंग से शामिल होते थे, जिस उमंग से हमारे घर के लोग। हम उनके यहां जाते थे, वे हमारे यहां आते थे। रात-दिन का उठना-बैठना था और कभी धर्म का कोई सवाल ही नहीं उठता था। अच्छे-अच्छे शरीफ़ मुसलमान होली खेलते थे और

हिन्दू उनके त्योहारों पर शर्बत वग़ैरह से उनकी ख़ातिर करते थे।

इस मेल का आख़री सामूहिक दृश्य १९२०-२१ के आन्दोलन में दिखाई पड़ा था। हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे को यों गले लगाते थे, मानों बहुत दिनों के बिछुड़े हुए भाई मिल रहे हों। वही उमंग, वही हौंस, वही ख़ुशी, वही दिलों की उठान। कैसे दिन थे वे! हमारी निराशाभरी राजनीति के उजड़ते उपवन में एकाएक बहार का एक झोंका आया; जैसे जादू हो गया हो। जैसे एक झटके में सैकड़ों सालों की कालिमा बह गई।

पर एक हलकी, दिलों में हरियाली पैदा करने वाली सिहरन-भर हुई और फिर ख़िज़ां का वह लम्बा दौर आया जिसने सारी हंसती वाटिका के चांदनी-से खिले मुंह पर स्याही पोत दी और जिसका आज तक अन्त नहीं हुआ, बल्कि जो दिन-दिन अधिकाधिक भयानक और दुस्सह होता जाता है और जिसने मुल्क के शैदा बुलबुलों को बे घर बार कर रखा है।

ढाका, बिहार शरीफ़, बम्बई और अहमदाबाद कोढ़ के उन धब्बों के समान लगते हैं, जिनका न केवल दर्शन भयानक है, बल्कि जो मानस की एक गहरी बीमारी के सबूत हैं। सबसे अधिक आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि दिन पर दिन, हफ़्ते पर हफ़्ते और महीने पर महीने बीतते जाते हैं और बम्बई जैसे सभ्य नगर में दंगा ख़त्म नहीं हो पा रहा है। ये दंगे इस बात के प्रमाण हैं कि हम कितने गिर गये हैं। साम्प्रदायिकता का विष हमारी नाड़ियों में तेज़ी से फैल रहा है और भाई भाई का ख़ून इसलिए पी जाना चाहता है कि रामप्रसाद क्यों ख़ुदाबख़्श नहीं है। आदमी दोनों जगह एक है पर नामों के इस भेद को लेकर मनुष्य मौत का जो सौदा कर रहा है, उसे देखकर मनुष्यता सिहर उठती है।

कल तक जहां दोनों भाई एक जगह मिलते थे, हंसते थे, व्यापार करते थे और उनमें कोई प्राकृतिक अन्तर या भेद न दिखाई देता था, दो घण्टे के अन्दर अपनी मनुष्यता भुलाकर कहां से कहां पहुंच जाते हैं। जो इन्सान शान्ति और नम्रता का पुतला था, अब ख़ूंख़ार जानवर बना हुआ घूमता है। यह एक क्षण में क्या जादू हो जाता है?

इसका कारण यह है कि हमारे अन्दर तो अंधकार और पाप भरा पड़ा है; हम क्षुद्र स्वार्थों की ओर देखने के अभ्यस्त हो गये हैं और हमारा पतन यहां तक हो गया है कि ईश्वर भी हमारी व्यापारिकता का साधन बन गया है; वह भी हमारे स्वार्थ-क्षेत्र में छा गया है। हम उसके साथ भी दिल्लगी करते हैं।

यदि ऐसा न होता तो संसार में धर्म के नाम पर इतना रक्त कभी न बहाया जाता। जो व्यक्ति व्यभिचार और विलास में लिप्त है और बहनों का सतीत्व जिसकी कामना का खाद्य है; जो शराब पीता है, झूठ बोलता है, सदाचारियों की हंसी उड़ाता है; जो अपने साथियों को धोखा देकर अपना काम बनाने की ताक में रहता है और जिसका जीवन ठीक ईश्वर-विरोधी आचरण में व्यतीत हो रहा है, उसमें एकाएक मन्दिर और मस्जिद का इतना प्रेम कैसे जाग्रत हो जाता है कि प्राणों का बलिदान उसके लिये तुच्छ जान पड़ता है!

पर दरअस्ल यह धर्म या धर्मस्थान का प्रेम नहीं है, जो इस भयानकता के साथ प्रकट होता है। यह मन के अन्दर दबी हुई प्रतिहिंसा है, जो अभी तक चिनगारी की तरह पड़ी हुई थी, पर दूषित प्रचार से जगते जगते आज आंधी के समय अट्टहास करके आकाश को लाल कर देने वाली आग के रूप में प्रकट हो पड़ी है। यह धर्म नहीं है; धर्म का आभास है, व्यंग है। यह उस दूषित और गलित धार्मिक दृष्टिकोण का परिणाम है, जो भाई-भाई में विभेद-बुद्धि जाग्रत करता है; जो उनके टुकड़े ही नहीं करता बल्कि एक टुकड़े को दूसरे के प्रति शत्रुता रखने पर विवश करता है। यह धर्म का अमृत नहीं, साम्प्रदायिकता का विष है। इस विष ने हमारी आत्मा को विक्षिप्त, हमारे हृदय को प्रतिहिंसक और हमारे मस्तिष्क को दुर्बल बना दिया है। इसने हमें यह नहीं सिखाया

कि इन्सान का इन्सान को प्यार करना धर्म का मूल है और वह बात जो इन्सान को इन्सान से दूर हटाती है, जो उनमें आत्म-दृष्टि नहीं पैदा होने देती, कभी धर्म नहीं हो सकती; हां, अधर्म अवश्य हो सकती है और है। धर्म तो सदा संयोजन करता है, मिलाता है, बढ़ाता और विकसित करता है। इसमें अभेद एवं समन्वय वृत्तियों की प्रधानता है। जो चीज़ विच्छेद करती है, संकुचित असंस्कृत करती है, वह धर्म नहीं हो सकती।

पर आज जब हम प्रत्येक क्षेत्र में दुर्बल एवं शिथिल, आत्म-विस्मृत एवं अनात्मिक हो रहे हैं तब हमारे मानसिक पतन के इस युग में, स्वभावतः, बाज़ार अधर्म से पटा पड़ा है, और धर्म के नाम पर अधर्म बिकने लगा है; कुत्सित आचरणों की पीठ ठोंकी जाने लगी है। यह धर्म की कैसी विडम्बना है!

सच्ची बात तो यह है कि धर्म को पेशे का रूप देने के कारण ही ये कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। जहाँ धर्म आत्मा की प्रेरणा की जगह, लोक-कल्याण की जगह, श्रेय की जगह, व्यापारिकता का, सौदे का, लेन-देन और भाव-ताव का रूप धारण कर लेता है, तहाँ यह होना स्वाभाविक है। यह जो स्वार्थियों द्वारा अपने नेतृत्व के लिए, हज़ारों मनुष्यों को पागल बना देने का प्रयोग चल रहा है. यह जब तक चलता है, तब तक पृथ्वी पर ख़ुदा का राज्य स्थापित नहीं हो सकता। जब तक हमारे दिलों में शैतान नाच रहा है और हमारे जेहन में, हमारे मस्तिष्क में उसका विष है, तब तक उसकी दुष्प्रवृत्तियों एवं दुराचरण से भरे हुए व्यक्तियों के मानस में प्रभु का वास होगा, यह पागल और अनात्मवादी ही कह सकता है। हम धर्म की आत्मा को भूल गये हैं। जब प्राण देह से अलग हो गया है, हम निष्प्राण देह को, ममता में, चिपटाये हुए हैं। वह सड़ रहा है और हमारे अन्तःकरण कीटाणुओं से भर गये हैं। इसलिए आज मनुष्य मनुष्य का भाई, रक्षक और मित्र नहीं रहा, भक्षक और शत्रु बन गया है। जब तक ऐसा रहेगा, कोई धर्म फूल नहीं सकता, कोई सभ्यता पनप नहीं सकती और मनुष्यता पथ-भ्रष्ट सी जंगलों में भटकती रहेगी।

आधुनिक भारतीय इतिहास में हिन्दू-मुसलिम समस्या एक अजीब समस्या है। यह परछाइयों के लिए लड़ने की लड़ाई देखकर दुनिया दङ्ग है। यह विष हमारे अन्दर प्रचार की विष-कन्याओं द्वारा 'इंजेक्ट' कर दिया गया है और हमारे प्राणों में समा रहा है। हम इतना नहीं देख पाते हैं कि यह सब बनावटी समस्याएँ हैं और भड़काने वाले हमारे प्रसुप्त कुसंस्कारों को जगा-जगा कर अपना मतलब निकाल रहे हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ऐसे लोगों से सावधान रहें, जो समाज में बुरी, पाशविक, प्रवृत्तियों को जाग्रत करते हैं; जो सहयोग की जगह होड़ और प्रेम की जगह बदले की भावना समाज में फैलाते हैं। जब तक प्रत्येक भारत-वासी यह नहीं समझता कि हमारी मातृभूमि एक है; हमारी समस्या एक है, हमारा उद्देश्य एक है और हम सब से पहले इन्सान हैं, तब तक हमारे पावों में दासता की बेड़ियां झनझनाती रहेंगी। जब तक हिन्दू का दिल मुसलमान के लिए बिलकुल खुला न होगा, और मुसलमान हिन्दू पर विश्वास और भरोसा रखना न सीखेगा, तब तक दिलों का कांटा दूर न होगा; तब तक यह ज़हर हमें बेदम और मूर्च्छित किये रहेगा। काश आज वह इक़बाल होता, जिसके एक मुर्दा और गुमराह संस्करण की समाधि लाहौर में बनी हुई है, जिसने हमारे प्राणों को पुकारते हुए एक दिन कहा था—

मज़हब नहीं सिखाता,
आपस में बैर रखना।
हिन्दी हैं हम, वतन है,
हिन्दोस्तां हमारा॥

इक़बाल

श्री शोभाचन्द्र जोशी

वह मेरा अन्तरंग मित्र था। मैं और वह अक्सर अल्मोड़ा शहर से बाहर निर्जन पहाड़ों पर टहलने जाया करते थे। सायंकालीन सूर्य की तिरछी किरणें जिस समय 'पिंडरी ग्लेशियर' की बरफ़ीली चोटियों पर पड़तीं, उस समय उसकी छवि देखकर इक़बाल का कवियों सा हृदय नाच उठता। वह पागलों की भांति बहुधा मुझसे कहा करता था—"देखो, मनोहर! इस पहाड़ को आज भी सूरज की किरणें—सुबह और शाम—सोने का ताज क्यों पहनाया करती हैं? जानते हो? नहीं? सुनो, मैं बतलाता हूं। इस पहाड़ की चोटी पर अभी तक क़ुदरत की ख़ुदाई सल्तनत क़ायम है। इन्सान के नापाक क़दम अभी तक वहां नहीं पहुँच पाये हैं। इसीलिये उसका सिर ग़ैबी नूर से चमक रहा है। हमारी दुनिया का सा कालापन वहां नहीं है और जिस दिन बदनसीब दुनियावी आदमी वहां पहुँच जायगा, उस दिन यह चमक दमक जाती रहेगी। चांदी का बर्फ़ पिघल कर समुन्दर में जा मिलेगा। रह जायेगा सिर्फ़ चट्टानों का कोरा ढांचा। उस पर इन्सान अपनी गुनाहों से भरी काली दुनिया बसा लेगा।"

इक़बाल की शायरी सुनकर मैं मुस्करा देता और चिढ़ाने के लिये कह देता—"वाह रे मेरे शायर। कहां से रट लाये हो यह लेक्चर?"

तब वह झल्ला उठता और कहने लगता—'तुम हंसते हो? बेवक़ूफ़ हो न! इसीलिये। अरे भाई तुम हिन्दू हो। तुम्हारे मज़हब में लिखा है कि इन पहाड़ों पर देवता रहा करते हैं। लेकिन मैं पूछता हूं - तुम्हारे देवता तुम्हारी दुनिया में ही क्यों नहीं रहते? इसी लिये कि उन्हें इन्सान की हवा से भी नफ़रत है। यही सबब है कि वे ऐसी जगह रहने लगे हैं जहां तुम लोगों का पर भी न फटक सके। मेरे दोस्त, हम लोगों में और इन देवताओं में कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था। यह तो हमारे ही कामों का नतीजा है, जो हम इतने नीचे गिर चुके हैं कि हमसे जानवर कहीं अच्छे कहे जा सकते हैं। यह फ़रेब, ऐसे गुनाह, एक इन्सान की दूसरे से दुश्मनी, आपसी नफ़रत, फूट—यह सब उनमें नहीं है। तभी तो वे देवता हैं। और हम?... ख़ैर जाने दो। तुम नहीं समझोगे।"

इसके बाद वह ऐसी चुप्पी साध लेता कि मुझे कुछ बोलने का साहस ही न होता। अंधेरा होने पर हम लोग वापिस चले आते। रास्ते में पहिले उसी का मकान पड़ता था। वहां हम दोनों रात के दस ग्यारह बजे तक गप्पें लड़ाया करते—बार बार चाय पीते रहते थे। रात होने पर मैं अपने घर चला आता था। इसी तरह हमारे दिन बीत रहे थे।

इक़बाल मेरा मित्र तो था। परन्तु मैं किसी भी तरह उसके व्यक्तित्व को नहीं पहिचान सका था। उसकी बातें मुझे निरर्थक प्रलाप सी जान पड़ती थीं। उसके विचारों को मैं 'पागलपन' कह कर उपेक्षा किया करता था। उसके हृदय की थाह मुझे नहीं मिली थी। और मिलती भी कैसे? मेरी आंखें बन्द थीं। मेरी दुनिया ही दूसरी थी। मेरे आस पास का वातावरण ही कुछ और था। किन्तु एक दिन इन्द्र-जाल की भांति अज्ञान का परदा सामने से हट गया।

उसी दिन मैं इक़बाल को सच्चे रूप में देख सका। लेकिन बहुत देर बाद।

२

मई महीने के आख़िरी दिन थे। इन दिनों एक ऐसी विचित्र उदासी सी छा जाती है कि किसी भी काम से जी नहीं बहलता। अल्मोड़े जैसे शीतप्रधान प्रान्त में भी इस समय कोई पन्द्रह दिन तक ऐसी गर्मी पड़ती है कि तबियत घबरा जाती है। उस पर मैं ठहरा बेकार। कुछ काम धंधा नहीं। घर बैठे ही बैठे जी उकता चला था। सोचा—चलूं इक़बाल के यहां।

गाड़ी की सड़क के छठे मोड़ पर उसका मकान था। गवर्नमेंट स्कूल के पास से होकर मैं ज्यों ही मुड़ा तो वहां का दृश्य देखकर अचकचा गया। कोई दो सौ आदमियों की भीड़ मकान के आगे खड़ी थी। सबके सब उत्तेजित से जान पड़ते थे। इक़बाल जीने की ऊपरी सीढ़ी पर खड़ा होकर उन लोगों से कुछ कह रहा था। आगे बढ़ा। मुझे देखकर इक़बाल और भी ज़ोर ज़ोर से बोलने लगा। वह कह रहा था—

"भाइयो, इन्सान का फ़र्ज़ एक दूसरे से हमदर्दी रखने का है। अगर मैं ने किसी मुसीबत के मारे को मदद दे दी तो क्या मुझसे कोई क़सूर हो गया? आप लोग नाहक़ यहां खड़े होकर गुल गपाड़ा मचा रहे हैं।" मैं तब तक सीढ़ियों के पास पहुँच गया था मुझे पास बुलाकर उसने कहा—"भाई, मनोहर। तुम्हीं इन लोगों को समझा दो न।"

मैं उससे कुछ पूछना ही चाहता था कि इतने में एक बड़ा सा पत्थर कहीं से आकर उसके सिर में लगा। वह माथा पकड़ कर बैठ गया। लोगों का रुख़ और भी ख़तरनाक होते देख मुझसे कुछ सोचते ही न बन पड़ा। बड़ी कठिनता से जो कुछ मैंने उन लोगों से कहा उसका तात्पर्य यही था कि यदि वे फ़ौरन वहां से चले न जायेंगे, तो लाचार होकर मुझे पुलिस बुलानी पड़ेगी। झगड़े का ठीक ठीक कारण मुझे तब भी मालूम न हो सका। लेकिन मेरी युक्ति ठीक बैठी। मैंने देखा पुलिस के नाम से भीड़ धीरे धीरे हटने लगी है। पन्द्रह मिनट बाद लगभग सभी लोग वहां से चल दिये। केवल एक व्यक्ति, जो सूरत से पक्का बदमाश और उन लोगों का सरग़ना मालूम होता था, पीछे रह गया। वह मेरे पास आया और कहने लगा—"इसका फल अच्छा नहीं होगा—बाबू जी। बहुत से सिर फूटेंगे इसमें।"

यह कह कर वह चला गया। विस्मय और घबराहट से बुरा हाल था। इक़बाल के सिर में भारी घाव हो गया था। ख़ून से उसका मुंह और कपड़े सब लाल हो गये थे।

अपने कमरे में जाकर उसने कपड़े उतारे और घाव धोकर नौकर से पट्टी बंधवा ली। इसके बाद वह मेरे पास आया और कहने लगा—"ज़रा मेरे साथ ऊपर के कमरे में चलो। तुम्हें कुछ दिखाना चाहता हूं। वहीं आज का सारा क़िस्सा भी बयान करूंगा।"

कमरे में चारपाई पर एक लड़का सोया हुआ था। उम्र कोई १०–११ वर्ष की होगी। पिछले एक महीने से हम लोग उसे गाड़ी की सड़क पर भीख मांगते हुए देखते थे। सुना था उसके मां बाप मर गये थे। भीख मांग कर बेचारा गुज़र किया करता था।

"टायफ़ायड हो गया है इसे," इक़बाल ने कहा—"सीरियस केस है। डाक्टर ने कहा है कि शायद ही कल तक ज़िन्दा रह सके।"

"यह यहां कैसे आया"—मैं ने पूछा।

"यही तो सारा क़िस्सा है। सामने सड़क के किनारे बेहोश पड़ा हुआ था। मुंह पर मक्खियां भिनभिना रही थीं। लोग आते थे और दूर से ही कन्नियां काट कर चले जाते थे। किसी भले आदमी को यह नहीं सूझा कि उसे उठवा कर अस्पताल पहुंचा देता। मैं खाना खाने के लिये दुकान से लौट रहा था कि मेरी निगाह इस पर पड़ी। भाई मनोहर, तुम मेरी कमज़ोरी तो जानते ही हो। इसकी हालत

देखकर मैं खाना पीना भूल गया। फ़ौरन नौकरों से उठवा कर इसे यहां ले आया।"

"और यह गोलमाल क्यों हुआ?"—मैंने बाहर की ओर संकेत करते हुए पूछा।"

"वह भी इसी के सबब। ये सब लोग हिन्दू थे। मेरे पास यह कहने के लिये आये थे कि मैंने एक हिन्दू लड़के को अपने घर में रखकर उसका मज़हब बिगाड़ दिया है। उनका कहना था कि मैं इसे वहीं सड़क पर पड़े पड़े मरने देता। लेकिन वहां से उठवा कर यहां न लाता।"

मैं सारी घटना समझ गया था। मैंने इक़बाल से कहा—"तुमने मुफ़्त में यह आफ़त अपने सिर ली। जब इतने लोगों को इस लड़के की परवा न थी, तो तुम्हें क्या पड़ी थी कि तुम उसकी सेवा करने लगे?"

इक़बाल आंखें फाड़ कर मेरी ओर देखने लगा। जैसे मेरी बात उसे समझ ही में न आई हो। फिर एकाएक उठकर वह खड़ा हो गया और मेरे कंधे पर हाथ रखकर यह कहने लगा—

"तुम भी यही कहते हो? लेकिन मुझसे पूछो कि मैंने अच्छा किया था बुरा। ये लोग जो मुझसे झगड़ने आये थे—इन्सान नहीं थे। वे थे जानवरों से भी कमीने। शैतान के बन्दे। उनके कहने से क्या मैं अपने फ़र्ज़ से हट जाता? ओफ़! मज़हब-मज़हब। खाली ढकोसला। वह मज़हब किस काम का, जिसमें आदमी आदमी से हमदर्दी रखना न सीखे? इसको देखो बेचारे को"—रोगी बालक की ओर दिखाते हुए उसने कहा—"दुनियां में इसके न मां हैं, न बाप। भीख मांग मांग कर पेट भरता था। आज बीमार हो गया है। न मालूम कल तक बचेगा या मर जायेगा। किसी दिन यह भी रहा होगा—अपने मां बाप का दुलारा। उनकी आंखों का नूर। दुनिया में बेशुमार 'इन्सान' कहलाने वाले जानवर भरे पड़े हैं। मगर आता है कोई इसकी तरफ़ एक निगाह डालने को? इसके मज़हब की उन्हें फ़िक्र है। मौत के मुंह में फंसी हुई इसकी नन्ही सी जान की उन्हें कोई परवा नहीं। मेरे भाई, ऐसे न जाने कितने मासूम बच्चे तुम्हारे मुल्क में रोज़ाना मरते हैं। उनकी तरफ़ देखने वाला कोई नहीं। उन्हें क़फ़न देने वाला कोई नहीं। मैंने अगर ख़ुदा के नाते इस नाचीज़ बच्चे की तीमारदारी की, तो तुम मुझे बेवक़ूफ़ समझते हो! क्यों?" यह कहते कहते वह रो ही पड़ा। मेरा कंधा छोड़कर वह खुली खिड़की के पास चला गया और बाहर की ओर देखने लगा।

उसी दिन—केवल उसी दिन, पहिले पहल मुझे यह संदेह हुआ कि यह व्यक्ति, जिसे मैं अपनी ही तरह एक दुनियावी आदमी समझा करता था—कहीं देवता तो नहीं है? मेरे निकट अत्यन्त परिचित इस आदमी के मामूलीपन को भेदकर आज जो इसके हृदय में दया, ममता, और प्रेम का अगाध सागर लहराता हुआ देखता हूं तो आश्चर्य से स्तंभित रह जाता हूँ। इसकी आंखों से करुणा का जो अविरल स्रोत फूट पड़ा है—उसका उद्गम मानव हृदय में होना क्योंकर संभव हो सकता है?

कुछ देर और वहां ठहर कर मैं घर लौट आया। उस दिन टहलना नहीं हो सका। बहुत रात तक मैं इक़बाल के विषय में सोचता रहा। फिर न जाने कब सो गया।

(३)

इक़बाल का डर और मेरी आशंका दोनों सही निकले। दूसरे दिन प्रातःकाल के समय रोगी बालक—बचा खुचा कष्ट भोग कर मर ही गया। और शहर के उपद्रवी व्यक्तियों ने इस घटना को तूल देकर दूसरा ही रंग दे दिया। ज़रा सी बात ने बढ़कर हिन्दू मुसलिम दंगे का रूप धारण कर लिया।

दोपहर को मैं इक़बाल के यहां गया। बाहर पुलिस के सिपाही खड़े थे। पूछने पर मालूम हुआ कि वे लोग उसकी शरीर रक्षा के लिये तैनात किये गये थे। मैं सीढ़ियां चढ़कर इक़बाल के कमरे में पहुंचा। वह पागलों की तरह इधर उधर चहल क़दमी कर रहा था। मेरे पहुँचते ही वह और भी उत्तेजित हो उठा। भर्राये गले से उसने कहा—

"क़िस्सा ख़त्म हो चुका, मनोहर। तुम्हारा ही कहना ठीक निकला। मेरी भूल थी—दोस्त। वह छोकरा मर गया। आज सुबह जब उसे जलाने को कोई हिन्दू नहीं मिला तो मैं खुद ही उसे ज़मीदोज़ कर आया। क़िस्सा ख़त्म हो गया। मगर मेरी बेवक़ूफ़ी का नतीज़ा बड़े ही ख़ौफ़नाक तौर से सामने आ रहा है। तुमने सुना है? वे लोग मुझे लेकर एक दूसरे का गला काटने पर उतारू हो गये हैं।"

मैंने उसे शान्त करते हुए कहा—"इक़बाल, इतना घबरा जाने से काम नहीं चलता है—भाई। जो कुछ हो रहा है उसकी रोक थाम करने का उपाय सोचना चाहिये। तुम तो ज़रा सी बात में घबरा जाते हो—रो पड़ते हो—झल्ला बैठते हो। यह बच्चों की सी आदतें छोड़ दो। ऐसे मौक़ों पर ठंडे विचारों की ज़रूरत होती है। उतावले पन की नहीं।"

मेरी बातें अनसुनी करके वह कहता ही गया—"और इन पुलिस वालों ने एक नया अड़ंगा लगा दिया है। आये हैं मेरी जान की रखवाली करने। मैं बाहर जाना चाहता हूं। लेकिन ये लोग मुझे घर से निकलने ही नहीं देते। हिन्दू मेरी जान लेने पर तुले हैं। और मेरी क़ौम के लोग इसी बात पर उनसे लड़ मरने को तैयार हैं। कहीं दंगा फ़िसाद हो गया तो सिर्फ़ मेरी ही सबब से सैकड़ों इन्सान कट मरेंगे। मैं क्या करूं? क्या न करूं? मैं चाहता हूं कि ख़ुद जाकर उन लोगों से कह दूं—अगर मेरी जान ले कर भी वे लोग किसी तरह मान जायें तो मैं ख़ुशी से करने को राज़ी हूं। लेकिन मुझे घर से निकलना दूभर हो गया है।"

इक़बाल अधीर हो उठा था। मैंने कई प्रकार से उसे शान्त करने का प्रयत्न किया। किन्तु सब व्यर्थ; मैं उसके दुःख से भली भांति परिचित था। मैं जानता था कि उसका कोमल हृदय, जिसे मैं ऊंचे आदर्श और मानव प्रेम के अतिरिक्त और कुछ न था, आज एकाएक इस धर्म सङ्कट को देखकर विचलित हो उठा है। बच्चों सा उसका हृदय था। और बच्चों की सी उसकी भावनायें। परन्तु इनसे उसकी आकांक्षाओं की थाह मिल सकती थी। आज जब उसने देखा कि जिनको वह एकता का गीत गाते हुए सुनना चाहता था—वे ही लोग एक दूसरे के विनाश की भेरी बजा रहे हैं—और भाग्य के विधान से वह स्वयं ही उस विनाश का बीज बन गया है; तो उसकी भीतरी शान्ति लुप्त हो गई। इसीलिये उसकी अधीरता पर मुझे अधिक आश्चर्य न हुआ।

उस दिन सायंकाल तक मैं वहीं बैठा रहा। किसी तरह इक़बाल का उद्विग्न मन बहलाना ही था। शाम होने तक उसकी अधीरता कुछ कुछ दूर हो चली थी। यह देखकर मुझे सन्तोष हुआ और मैं वहां से चला आया।

तनातनी बहुत ज़्यादा हो चली थी। शहर में सभी दुकानें बन्द हो गईं। भीषण शान्ति व्याप्त थी—ठीक वैसी ही जैसी तूफ़ान आने से पहिले हुआ करती है। मैंने मन ही मन पूछा—'कितने बलिदान लेकर यह विरोध शान्त हो सकेगा, न मालूम?' किन्तु होनहार कुछ और ही था और वही होकर रहा।

(४)

आज का अमङ्गल प्रभात। सूर्य की किरणें सामने पहाड़ की चोटी पारकर संसार में बिखरने का उपक्रम कर रही थीं। आज सुबह से ही न जाने क्यों एक प्रकार की अस्थिरता सी हृदय में समा गई थी। मैं अपने मकान के सामने नासपाती के पेड़ के नीचे बैठा हुआ था। दूर पर पहाड़ की जड़ें धोती हुई कोसी नदी टेढ़ा मेढ़ा मार्ग तय करती हुई, अबाध गति से बही जा रही थी। धुंवे की काली सी लकीर उठकर ऊपर आकाश के नीलेपन में जाकर विलीन हो गई थी। शायद किसी की चिता थी। आज इतनी सुबह कौन मरा होगा? मैंने सोचा। फिर अपने विचार पर मुझे स्वयं ही हंसी आ गई। मरने का भी क्या कोई नियम होता है? इतने में मकान की ओर से कुत्ते के भूंकने की आवाज़ आई। ध्यान भङ्ग हुआ। मैंने मुड़कर देखा, इक़बाल का नौकर ढेले मार कर मेरे कुत्ते को भगा रहा था। मुझे देखते ही वह दौड़कर मेरे पास आया। बहुत ही घबराया

हुआ जान पड़ता था। उसने हांफते हुए मुझसे कहा—"हुज़ूर, मालिक अभी अभी सख़्त घायल हो गये हैं। अस्पताल में पड़े हैं। ज़िन्दा रहने की उम्मीद कम है।"

मेरे शरीर का सारा रक्त जमकर मानों बर्फ़ बन गया। इस आकस्मिक समाचार को सुनकर मेरे हृदय की धड़कन क्यों न बन्द हो गई, मुझे यही आश्चर्य है। मैंने उससे पूछा—"क्यों कैसे घायल हुआ इक़बाल?"

उसने कहा—"कल शाम को जिस वक़्त आप वहां से लौटकर आये थे, उसके बाद ही उन्होंने आप के लिये एक ख़त लिखा और मुझे बुलाकर कहा कि आज सुबह इसे आपके पास पहुंचा दूं"। यह कहते हुए उसने एक लिफ़ाफ़ा मेरे हाथ में दिया और कहने लगा, "आज सुबह, न जाने किस तरह, वे सब की आंखें बचाकर घर से निकले। लोग उनके ख़ून के प्यासे होकर घात लगाये बैठे थे। ऐसी हालत में उनका मकान से बाहर जाना ख़तरे से ख़ाली न था। वे न जाने क्या सोच कर जलती आग में कूद पड़े। हम तमाम शहर में उन्हें ढूंढ़ते फिरे। आख़िर उनका पता लगा। वे घायल हो गये थे। लोग उन्हें अस्पताल लिये जा रहे थे।"

इक़बाल के घायल होने का कारण पूछने से पहिले मैंने उसका पत्र पढ़ लेना चाहा। उसने अपने हृदय की दशा का मार्मिक विवेचन किया था। उसने लिखा था—"प्यारे मनोहर, मेरे दोस्त,

"मुझे जान पड़ता है जैसे मेरी ज़िन्दगी के दिन क़रीब ख़त्म होने को हैं। कोई ग़ैबी आवाज़ बार बार यही बात मेरे कानों में कह रही है। हो सकता है कि मैं मर जाऊं। इसलिये मरने से पहिले दो सतरें तुम्हें लिखना चाहता हूं।

"बचपन में मैंने एक सबक़ पढ़ा था—'हर एक इन्सान से मोहब्बत कर। दुनियां के किसी आदमी को अपने से बदतर न समझ। अल्लाह के किसी बन्दे का जी न दुखा। ताकि वह तुझ पर हमेशा ख़ुश रहे।

"न जाने क्यों, यह इबारत मेरे दिल में इस तरह बैठ गई जैसे किसी पत्थर पर खुदी लकीर। मेरा बचपन गुज़र गया। मैं बड़ा हुआ। दुनियांदारी के फंदे एक एक करके मुझे अपने शिकंजे में जकड़ने लगे। एक एक करके अपने-पराये सभी मुझे छोड़कर चल बसे। मां मरी। बाप गुज़रे। भाई बहिन चल दिये। अकेला रह गया मैं। दुनियां का सब्ज़ बाग़ मेरे सामने खुला पड़ा था। मैं उस पर टहलने लगा। क़ब्र से उठी हुई किसी नापाक रूह की तरह। मैं फला। मैं फूला। मैंने पैसा कमाया। तुम्हारे देखते ही देखते बड़ा आदमी बन गया। मगर मेरे दिल से वह सबक़ न उतरा।

"और मेरे अरमानों के हवाई महल मंज़िल ब-मंज़िल ऊपर उठते गये। मैं ख़्वाब देखने लगा उस दुनियां का जहां ख़ुदा का नूर दिन रात एकसां बरसता रहता है। जहां तमाम इन्सान आपस में भाई चारा और प्रेम रखते हैं। जहां कोई मज़हब नहीं कि जिसकी जड़ से फूट, दुश्मनी और नफ़रत के कांटे पैदा हों। मैं ख़्वाब देखता था ऐसे एक देश का।

"मैं एक क़दम और आगे बढ़ा। मैंने सोचा कि दुनिया के सामने कुछ मिसालें रखदूं। जिससे वह भी मेरे विचार जान जाय। और इसी लिये मैंने उस यतीम बच्चे को अपनी पनाह दी। उसकी सेवा की।

"लेकिन मैंने ज़बरदस्त ग़लती की मनोहर। बस मेरे तमाम हवाई महल एक ही दिन में नेस्त-नाबूद हो गए। मैंने उनके खंडहरों पर खड़े होकर देखा, कि जिस दुनिया को मैं अपने रङ्ग में रंगना चाहता था, वह तो मेरे ही ख़िलाफ़ उठ खड़ी हुई है। उसमें दो तरह के फ़िरक़े पैदा हो गये। जो मुझे सामने रखकर एक दूसरे को तबाह करना चाहते थे।

"मेरा असूल मिट्टी में मिल चुका था। मेरे ख़यालात, जिन्हें मैं अमृत समझकर अपने दिल में बहा रहा था ज़हर साबित हुए। मैंने देखा कि यह ज़हर या तो दुनिया को ग़ारत कर देगा या मुझे

ही ले मरेगा। मगर मैंने अपने आप को दुनियां के आगे बहुत ही हलका पाया। सोचा कि मेरा यह ज़हर मुझे ही मार डाले तो कहीं बेहतर होगा।

"अभी अभी मेरे पास ख़बर आई है कि इसी झगड़े के सिलसिले में एक ग़रीब इन्सान का ख़ून हो गया है। यह ख़बर सुनकर मेरे रहे सहे होश हवास भी गुम हो गये हैं। मेरा दिल बार बार यही मुझसे कह रहा है कि—'ये सारे गुनाह तेरे सिर पर हैं।'

"मेरा इरादा है कि कल किसी तरह पुलिस वालों की निगाह बचा कर हिन्दुओं के पास जाऊं। अपनी ग़लती के लिये उनसे मुआफ़ी मांगूं। इस तरह वे मान गए तो ठीक है। वरना वे लोग मुझे मार डालना चाहते ही हैं। सो अपने आपको उन्हें सौंप दूंगा, जिससे यह फ़िसाद ही ख़त्म हो जाय।

"इसलिये यह सब लिख रहा हूं, ताकि कल मुझे कुछ हो गया तो इसे पढ़कर तुम्हें मेरे बारे में किसी तरह की ग़लतफ़हमी न होगी। ख़त काफ़ी बड़ा हो गया है। अब इसे बन्द करता हूं।

तुम्हारा ही—

इक़बाल।"

पत्र पढ़कर मैंने इक़बाल के नौकर से पूछा—"तुमने यह तो बतलाया ही नहीं कि वह घायल कैसे हुआ था।"

उसने कहा—"मकान से वे सीधे उस जगह पर पहुंचे, जहां दंगा होने का ज़्यादा अंदेशा था। उसी वक्त कुछ मुसलमानों ने एक हिन्दू को घेर रक्खा था। वे उसे लाठी पत्थरों से मार रहे थे। मालिक यह देखकर उसे बचाने के लिये दौड़े और घायल हिन्दू के जिस्म से लिपट गये। ठीक उसी वक्त किसी ने छुरा भोंका और वे बेहोश होकर वहीं गिर पड़े।"

× × ×

तीसरे दिन इक़बाल की बेहोशी दूर हुई। मैंने दिन रात सजग होकर उसकी सुश्रूषा की थी। किन्तु अपने परिश्रम का विकृत परिणाम देखकर मैं भौंचक्का सा हो गया। इक़बाल मृत्यु के मुंह से जीता जागता लौट आया; किन्तु उसका दिमाग़ फिर गया। वह पागल हो गया।

(५)

आज भी कभी कभी दुनियादारी के झंझटों से छुटकारा पाकर मैं अल्मोड़ा चला जाता हूं। इक़बाल से मेरी भेंट होती है तो मुझे जान पड़ता है जैसे किसी ने मन भर का पत्थर मेरी छाती पर रख दिया हो। उसका मस्तिष्क विकृत हो गया है। बड़ी कठिनता से वह मुझे पहचान पाता है।

शहर से दूर, निर्जन स्थान में वह रहता है। जब कभी मैं उसके पास जाता हूं, तो वह मिनटों तक मेरी ओर देखता रहता है। फिर एकाएक प्रसन्नता से उसका चेहरा खिल उठता है और वह उछलकर मुझसे लिपट जाता है। तरह तरह से उसको पुरानी स्मृति याद दिलाने का प्रयत्न करता हूं। किन्तु सब व्यर्थ। वह कुछ भी नहीं समझ पाता। केवल शून्य आंखों से मेरी ओर देखता रहता है।

हां—कभी कभी एक विचित्र आकस्मिक जागृति के चिन्ह उसके मुख पर झलक पड़ते हैं। तब वह मेरा कंधा पकड़ कर कह उठता है—"वह देखो—मनोहर।"

मैं देखता हूं सामने 'पिंडरी ग्लेशियर' का रजत शिखर। आकाश से बातें करता हुआ देवताओं का वह शुभ्र निवास। उसी समय एकाएक इक़बाल बड़े ज़ोरों से खिलखिला कर हंस पड़ता है और मेरी आंखों में आंसू छलछला उठते हैं।

—

इन्सपेक्टर जेनरल

श्री भुवनेश्वर प्रसाद

[ज़ारशाही रूस में एक छोटा सा नगर]

पात्र—

गवर्नर

गवर्नर की पत्नी

गवर्नर की पुत्री

पोस्ट मास्टर

जज

आन्सकी } साधारण नागरिक
नीगोल }

चेचीविस्की—सेन्टपीटर्सवर्ग का एक शरीफ़ खान्दानी युवक।

ओसिप उसका नौकर

[नगर के सब अफ़सर गवर्नर के दफ़्तर में जमा हैं]

गवर्नर—भाइयो, मुझे बड़ा दुख है कि आप लोग यहां एक बड़ी मनहूस ख़बर सुनने के लिये जमा हुये हैं—

इस छोटे नगर के छोटे से इतिहास में ऐसी घटना, मुझे उसे दुर्घटना ही कहना चाहिये, आज तक नहीं हुई। मैं कहता हूं (जोश में—कि सेन्ट पीटर्सबर्ग में कोई बहुत बड़ी क्रान्ति हो रही है कि ऐसी घटनायें संभव हो सकती हैं। मैं कहता हूं कि हम लोगों की चिन्ता की हद नहीं होनी चाहिये। (रुंधे हुये गले से) मैं पूछता हूं कि क्या हम सुख चैन से जी सकते हैं अगर हमारे (१) नन्हे पिता अपने अधिकारों से हटा दिये गये या हमारी प्यारी ज़राइना दर्द और बेकसी के आंसू रोने पर मजबूर कर दी गईं और सरकार ऐसे (व्यंग से) भलेमानसों के हाथ में पहुंच गई है, जो कमबख़्त यहूदियों के कर्ज़दार हैं, जो खाने के साथ कच्चा प्याज़ खाते हैं।

भाइयो। मुझे ख़तरा है कि मैंने आप को ज़रूरत से ज़्यादा डरा दिया है। असल में डरने की कोई बात नहीं है। मैंने अभी सेन्टपीटर्सबर्ग से एक ख़त पाया है (ख़त के लिये जेबें टटोलता है) कि यहां मुआइने के लिये इन्सपेक्टर जेनरल साहिब तशरीफ़ ला रहे हैं—

(लोगों में सनसनी फैल जाती है) हां, मैं अपने होशो हवास में यह बात कह रहा हूं। और जो बातें मैंने अपने प्यारे नन्हे पिता के बारे में कही हैं, वह भी इसी असर में कही हैं, वरना मैं रात दिन अपने प्यारे सेन्ट निकोलाई से प्रार्थना करता रहता हूं कि अपने नन्हे पिता* के बारे में दुष्कामना का एक लफ़्ज़ कहने से पहले मेरी ज़बान जल कर राख हो जाये।

(गवर्नर और सारी जनता सिसकने लगती) है। कुछ देर बाद;—

भाइयो—हमें हिम्मत और इस्तक़लाल से ज़िन्दगी की सारी मुसीबतों का सामना करना चाहिये। अगर भाग्य की यही मन्शा है कि वह हमारे साथ इस क़िस्म का कमीनापन करे, तो हमें सच्चे बहादुरों की तरह उसके सामने सर झुका देना चाहिये।

(सब सर झुका कर क्रास का निशान बनाते हैं)

आप लोग एक मिनट में नगर को मुआइने के योग्य बना दीजिये। सड़कों के सब गड्ढे पटवा दीजिये। तमाम भौंकने वाले कुत्तों को मरवा दीजिये। तमाम रोने वाले बच्चों की माताओं से हिदायत कर दीजिये कि वह उनके मुंह में रुई भर कर चुप रक्खें।

---

*रूस की राजभक्त जनता ज़ार को इसी नाम से याद करती थी।

मैं तजवीज़ करता हूं कि ग़रीब माताओं को रुई सरकार की तरफ़ से दी जाय।

(पोस्ट मास्टर की तरफ़ देख कर) आप बराय मेहरबानी उन तमाम ख़तों को, जो डेलीवर नहीं हुये हैं, जलवा दीजिये और उस लूले डाकिये को, निकाल कर किसी भले चंगे को एक थोड़े ही अरसे के लिये रख लीजिये। मैं जानता हूं कि आपका दयालु हृदय और उस लूले की सुन्दर लड़की आप को ऐसा करने में बाधा डालेगी, पर इसके सिवा चारा नहीं है।

(पोस्ट मास्टर कुछ कहना चाहता है, पर गवर्नर उस ओर कुछ ध्यान न देकर डाक्टर की तरफ़ तवज्जह कर लेता है)

अस्पताल के तमाम कमरे साफ़ हो जाने चाहियें यानी मेरा मतलब है कि आपके सम्बन्धी नातेदारों को चाहिये कि वह कुछ रोज़ के लिये अपना और टिकाना कर लें। अगर हो सके तो दो चार मरीज़ भी खोज कर उसमें भरती कर लिये जांय। लेकिन मैं नहीं चाहता कि ऐसा करने में उनके साथ कुछ ज़बरदस्ती की जाय। आप लोगों को कान खोलकर सुन लेना चाहिये कि वह ज़माना जब सरकार जब्र कर सकती थी, चाहे वह मरीज़ों पर ही क्यों न हो, लद गया है।

(डाक्टर कुछ कहना चाहता है, पर गवर्नर उस ओर कुछ ध्यान न दे कर जज की तरफ़ तवज्जह कर लेता है)

मैं बहुत ख़ुश हूंगा अगर जज साहिब अपने कारख़ाने और कारोबार को अपने किसी विश्वस्त आदमी पर छोड़ कर दो चार रोज़ को कचहरी कर लेंगे। मुक़दमा क़ायम करने का ज़िम्मा मैं लेता हूं। मेरे पास सेन्टपीटर्सबर्ग के विद्यार्थियों का एक परचा है और उसकी बिना पर एक ख़ासा लम्बा मुक़दमा चल सकता है........

[ब्रान्स्की और निगोल का दाख़िल होना। वह लोग काफ़ी उत्तेजित होकर बातें कर रहे हैं]

ब्रा०—प्रभू यीशू के घाव ! ऐसी बात कभी किसी ने नहीं सुनी

नि०—प्रभू ! तू मेरे ऊपर गाज क्यों नहीं गिरा देता—

गवर्नर०—(क्रोध में) मैं पूछता हूं कि क्या तुम शोर मचाते ही जाओगे। मैं जानना चाहता हूं कि तुम को यहां आ कर जहां ज़रूरी राज कार्य हो रहा है, इस तरह वावैला मचाने का क्या हक़ है

ब्रान्सकी—हक़। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह बदबख़्त क्रान्तिकारियों का शब्द, 'हक़,' आप को शोभा नहीं देता।

निगोल—हक़ हम को है क्योंकि हमने कुछ देखा है।

सब एक साथ—क्या देखा है।

[इसके बाद की स्पीच ब्रान्सकी और निगोल अजब तरीक़े से आपस में बांट कर अदा करते हैं]

हम लोग अभी सराय में बंद भर वोडका पी रहे थे। मैं आप लोगों को शपथ खा कर यक़ीन दिलाता हूं कि हम ज़्यादा पिये हुये नहीं थे और न हैं, और उस वक़्त हम ने वहां पीटर्सबर्ग के अफ़सर के ढांचे के एक आदमी को देखा, जो अजब ग़रूर और बेतकल्लुफ़ी से नगर की लड़कियों पर आंखें बना रहा था। उसके साथ एक नौकर भी था, जो हमेशा उसके साथ रहता था और आप लोगों से ज़्यादा क़ाबिल और चतुर मालूम होता था......

[सब लोग ग़ुस्से से उनकी तरफ़ देखते हैं]

हमें यक़ीन है, यह सेन्टपीटर्सबर्ग का कोई ऊंचा अफ़सर है।

सब लोग एक साथ—तुम झूठे हो, तुम्हें कैसे मालूम हुआ ? तुम्हारे पास क्या सबूत है ? प्रभू यीशू के पवित्र घाव !

ब्रान्सकी—हम जानते हैं

गवर्नर—(जज से) इसको ज़ार के विरुद्ध साज़िश करने के अपराध में गिरफ़्तार कर लो।

निगोल—बेवक़ूफ़ो काश तुमने उसे देखा होता...

जज—किसे ?

आन्सकी—इन्सपेक्टर जेनरल को

गवर्नर (घबड़ाकर) क्या वह वाक़ई इन्सपेक्टर जेनरल है।

निगोल—इतना ही जितना मैं निगोल इसानावाविच हूं। जनाब उसने सराय के मालिक को एक पैसा देने से इन्कार कर दिया और वह ज़ोर की डांट दिखाई कि सबों का भेजा फट गया

गवर्नर (कांपते हुये) ऐं। पैसा देने से इन्कार कर दिया! सराय वाले को। सराय वाले को!

सब एक साथ—वह ज़रूर इन्सपेक्टर जेनरल है।

[सराय का एक कमरा—चेपविन्सकी और उसका नौकर ओसिप दिन चढ़े]

चेपविन्सकी—(बिस्तरे पर जम्हाई ले कर)

ओसिप, भेड़िये की औलाद, मैं भूखा हूं।

ओसिप—सत्यानास

चे०—क्या ? क्या बकता है ?

ओ०—सराय का मालिक आज दोपहर तक हम लोगों को पुलिस के सिपुर्द कर देगा

चे० (हड़बड़ा कर उठते हुये) क्या बकता है ? पुलिस ! मेरे बाप !!

ओ०—उसने मुझसे ख़ुद आज सुबह कहा है। मैंने उसकी बहुतेरी आरज़ू विनती की लेकिन वह किसी तरह राज़ी नहीं हुआ। वह कहता है कि मुझे यक़ीन हो गया कि हिज़ एक्सीलेन्सी का रुपया अब नहीं आयगा और वह १०० रूबल का नुक़सान नहीं उठा सकता।

चे०—फिर तुमने क्या कहा ? मैं जानता हूं तू कांप कर वहां गिर पड़ा होगा।

ओ०—नहीं, मैंने उसे डांटा, मैंने कहा तेरी शामत तो नहीं आई है; पर वह किसी तरह भी नहीं राज़ी होता और हर घड़ी पुलिस की रट लगाये रहता है, और उसकी चुड़ैल बीबी कलछी लिये मंडराया करती है। मेरे प्रभू, मेरे पिता !

चे० (गहरी चिन्ता में डूब जाता है) ओसिप क्या तू समझता है मेरिया प्रेटिशोना २०० रूबल नहीं भेजेगी

ओ०—नहीं !

चे०—और न ऐन्द्रूशा ?

ओ०—नहीं

चे०—और न क्लिमबोना ?

ओ०—नहीं

चे०—मेरे बाप !

[सराय का नौकर अदब से गवर्नर के आने की सूचना देता है]

चे०—ओसिप मेरे ख़ुदा मुझे बचा ले। उस सुअर ने ज़रूर ख़बर की है।

[इतने में गवर्नर दाख़िल होता है और आदाब करता है]

चे०—(तेज़ी से) तुम्हारा क्या मतलब है ? क्या तुम समझते हो कि तुम और तुम्हारा कुत्ता यह सराय का मालिक मेरे साथ कुछ भी चाहे कर सकता है ? तुम भूल जाते हो कि मैं ज़ार की सरकार का एक अफ़सर हूं......

गवर्नर—क्या हज़ूर की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ कोई बात हो गई ?

चे०—(अपने आपको भूल कर) चुप रहो, ऐसी मीठी मीठी बातें रहने दो। जो तुम्हारे जी में आये वह बदमाशियां तुम करो।

गवर्नर—हज़ूर आप से जो कहा गया वह सब झूठ है। वह सब मेरे दुश्मनों की कही हुई बातें हैं। यक़ीन कीजिये उसमें रत्ती भर भी सचाई नहीं है। मैं शपथ खाकर कहता हूं, मैंने औरतों को कोड़े नहीं लगवाये।

चे०—तुम ने औरतों को कोड़े लगवाये या नहीं लगवाये इससे मुझे क्या मतलब, जब तक तुम मेरे···

गवर्नर—(गद्‌गद् होकर) तो आप नन्हे पिता ! इस गन्दी बात का विश्वास नहीं करते। ओह मैं कितना अनुगृहीत हूं, मैं सदैव सदैव के लिये आपका तुच्छ सेवक हूं······

ओ०—यह सब क्या हो रहा है (गवर्नर उसको भी झुककर आदाब करता है और वह हकबका रह जाता है)।

चे०—(बात समझ कर) इधर देखो अचानक एक भद्दी भूल से मेरा सब रुपया ख़त्म हो गया है, और सेन्टपीटर्सबर्ग से रुपया आने में अभी दो-चार रोज़ की देर है। क्या तुम मुझे २०० रूबल क़र्ज़ दे सकते हो ?

ग०—कितना ?

चे०—(गरजते हुये) ४०० रूबल।

ग०—(हांफते हुये) हाज़िर है हज़ूर।

[रुपये निकाल कर गिन देता है]

[गवर्नर का मकान : दो तीन रोज़ बाद]

चेपविन्स्की—मैं बहुत ख़ुश हूं। बहुत ख़ुश। किसी जगह मुझे इतनी सब चीज़ें नहीं दिखाई गईं।

(गवर्नर झुक कर आदाब करता है। वह बेहद ख़ुश और सन्तुष्ट है)

चे०—लेकिन मुझे बहुत सी चीज़ों पर बेहद ताज्जुब है।

ग०—किन चीज़ों पर।

चे०—(नोटबुक निकाल कर) यहां अस्पताल में एक भी मरीज़ नहीं।

ग०—हज़ूर वह सब भले चंगे होकर अपने अपने काम धन्धों पर चले गये।

चे०—अच्छा !

ग०—(खींसें काढ़ते हुए) और हज़ूर वह डाक्टर की कोशिश से नहीं, बल्कि मुझ नाचीज़ के बन्दोबस्त से, मक्खियों की तरह अच्छे होकर अपने काम धन्धों में लग गये।

(कुछ रुक कर) और कोई बात हज़ूर।

चे०—(सोच कर) और और कोई बात नहीं, सिर्फ़ यह कि मेरी नोटबुक अब भी ख़ाली है।

[गवर्नर आंख बचाकर चमकाता है।]

चे०—लेकिन तुम लोग कितने काहिल हो। तुम जानते हो कि मुझे आज ही शाम को यहां से दूर बोल्गा देश को ख़ास ज़राइना के काम से जाना है। और अभी तक कोई अपनी रिपोर्ट तैयार करके नहीं आया है।

[गवर्नर इधर उधर करता है और फिर तेज़ी से बाहर निकल जाता है।]

ग०—(जाते हुये) मैं अभी उनको हाज़िर करता हूं। मुड़कर भोंडी हंसी हंसते हुए) अब रिपोर्टों की क्या ज़रूरत है।

[गवर्नर के जाने के बाद ओसिप धीरे धीरे चलकर चेपिविन्सकी के पास तक आता है।]

ओसिप०—मालिक अब हम लोगों को भाग चलना चाहिये। मेरी समझ में वह आपको कोई दूसरा आदमी समझ रहे हैं। मेरा ख़्याल है कि किसी मिनट उनकी यह ग़लती दूर हो सकती है।

[चेपिविन्सकी कुछ देर तक तो उसकी बात सुनता रहता है फिर लापरवाही से टहलने लगता है।]

चेपिविन्सकी—ओसिप मैं तुम से एक सलाह पूछता हूं। ऐ ! मैं तुमसे पूछता हूं कि क्या मेरा गवर्नर और दूसरों के साथ ताश में बेईमानी करना ठीक होगा ?

ओ०—नहीं।

चे०—और गवर्नर की लड़की से शादी का प्रस्ताव करना ?

ओ०—ओह, हज़ूर बचा लिया।

चे०—और जज की बीवी से मआशक़ा लड़ाना।

ओ०—ओह हज़ूर, आपको बहुत जल्द यहां से भाग चलना चाहिये।

चे०—मैं आज शाम तक ज़रूर यहां से चल दूंगा (रुक रुक कर) भेड़िये की औलाद, तू अपना पर्स दिखला।

[कांपते हुए पर्स निकालता है। चे० उसे छीन कर रुपये गिनता है।]

चे०—पूरे १५५ रूबल !······

ओ०—मैं आपके पिता और चचा का ख़ादिम रह चुका हूं, मैं शपथ खाता हूं। यह रुपये उन्होंने

अपनी मरज़ी से मुझे दिये हैं और मेरे मना करने पर भी वह नहीं माने।

चे०—(नरम पड़कर) क्यों दिये हैं?

ओ०—इसलिए कि मैं आपको ज़रूरत से ज़्यादा शराब पिला कर बदमस्त कर दूं।

[चे० ज़ोर का क़हक़हा लगाता है। वह इसी तरह हंस रहा है कि डाक्टर, जज और पोस्टमास्टर दाख़िल होते हैं। वे अपनी रिपोर्टों के बजाय कुछ रुपये उसे देते हैं और चेपिचिन्सकी वैसे ही हंसता रहता है।]

[दूसरे दिन गवर्नर का आफ़िस। पहले सीन की तरह सब अफ़सर जमा हुये हैं, सिर्फ़ पोस्ट-मास्टर नहीं है। गवर्नर बोल रहा है।]

गवर्नर—······प्रभू यीशू और हमारे मालिक सेन्ट निकोलाई का हज़ार शुक्र कि यह आपत्ति आसानी से टल गई। फिर भी इतनी आसानी नहीं हुई क्योंकि इन्सपेक्टर जेनरल के आने से हमारी सब की जेबें कुछ हल्की हो गई हैं। भाइयो, आपके अफ़सोस करने की कोई बात नहीं है क्योंकि सबसे ज़्यादा रुपया मुझी को देना पड़ा, क्योंकि रात को उन्होंने ताश में क़रीब १००० रूबल मुझसे जीत लिये। लेकिन चूंकि कोई भी मुसीबत अपनी अच्छाई से ख़ाली नहीं होती, मुझे यह बतलाकर भी बेहद ख़ुशी और संतोष हो रहा है कि मेरी लड़की की सगाई हुज़ूर के साथ क़रीब क़रीब पक्की हो चुकी है। और मुझे और मेरी बीवी को हिज़ एक्सिलेन्सी ने सेन्टपीटर्सबर्ग में आने और अपने साथ ठहरने की दावत दी है।

अब कहां हैं वह लोग जिन्होंने झूठी शिकायतें की थीं जिन्होंने बदइन्तज़ामी के लिये दरख़ास्तें दी थीं। मैं आज निजनी का सब से ताक़तवर आदमी हूं—(ज़ोर से हंसता है। पोस्ट मास्टर का हांफते हुये आना)

पोस्ट मास्टर—बहुत बुरी ख़बर है बहुत बुरी।

क्या है?

सब—कुछ कहो तो भी?

ओफ़!

ओफ़!!

पोस्ट मास्टर—यह आदमी बिल्कुल इन्सपेक्टर जेनरल नहीं था।

सब—हुह?

कैसे मालूम हुआ?

क्या घास खा गये हो?

पोस्ट मास्टर—कल चलने से पहले उसने सेन्ट पीटर्सबर्ग को एक ख़त लिखा था। यह जानने के लिये कि उसने मेरी या और किसी की कोई शिकायत तो नहीं की है, मैंने वह ख़त खोल लिया; और उसमें ख़ुद उसने लिखा है वह इन्सपेक्टर जेनरल नहीं है। और हम सब धोका खा रहे हैं।

(जेब में से ख़त निकालता है और सब उस पर टूट पड़ते हैं। सिर्फ़ एक गवर्नर बौखलाया सा दीवारें घूरता रहता है, ख़त पढ़ कर और सब भी माथा पकड़ कर अलग बैठ जाते हैं। एक सिपाही का प्रवेश)

सिपाही—इन्सपेक्टर जेनरल साहिब अभी अभी तशरीफ़ लाये हैं और सराय में आप सब का इन्तज़ार कर रहे हैं।

[गोगोल से]

प्राचीन बलूचिस्तान

डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त, ए० एम०, डी० फिल०

देश के उस भाग का, जिसे आज हम बलूचिस्तान कहते हैं, प्राचीन इतिहास अन्धकार १ में छिपा है। हो सकता है यह (प्राचीन ईरानी हखामनीषी साम्राज्य का एक अंग रहा हो। सिकन्दर की विजय-यात्रा में इस देश के इतिहास पर कुछ रोशनी पड़ी थी। यूनानी इसके दक्षिणी भाग को गैद्रोसिया (आधुनिक मकरान) कहते थे।

यहां के आदि वासियों के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ भी पता नहीं चलता। यहां की आधुनिक जातियों को यूनानियों द्वारा वर्णित जातियों से मिलाने की बहुत कोशिशें की गयी हैं। लेकिन वह सब केवल कपोल कल्पना है।

अरब के भौगोलिकों ने आधुनिक बलूचिस्तान को चार भागों में बांटा है—दक्षिणी अफ़गानिस्तान, नध या बुध (Nudha or Budha), तूरान या मकरान। इब्न हौकल ने यहां के निवासियों को नधा और मन्द कहा है। लेकिन यह साबित हो चुका है कि वे जाट थे। २

इब्न हौकल मन्सुरा और मकरान के बीच में बसने वाले दूसरे क़बीलों और जातियों को हिन्दुस्तान की जाट जाति कहता है जो निश्चित रूप से जाट ही हैं। पहले ये सिन्ध के उत्तरी किनारे पर जंगली जातियों की तरह झोपड़ियों में रहा करते थे, और यहां की दूसरी जाति, ख़ुर्द, किनारे से दूर पर बसती थी ३। ह्युबुलर का कहना है "बिखरी हुई ब्राहुई जाति में बहुत से ख़ुर्द पाये जाते हैं, जब कि सिन्ध में ख़ुर्द शब्द एक जाति विशेष के लिये व्यवहार किया जाता है और लास बेला (Las Bela) ब्राहुई जाति के लिये" ४ एन० एल० डेम्स महोदय का कहना है—"ब्राहुई जाति में अब भी ख़ुर्द या ख़िर्द नामक एक शक्तिशाली गिरोह है और बलोच मफ़ारी में इनका एक वंश अब भी मौजूद है ५।" हमें एक काबुली अफ़गान से मालूम हुआ कि काबुल और हिन्दुस्तान की सरहद के बीच में ख़ुर्दिश नामक एक जाति बसती है। अब प्रश्न उठता है कि क्या इन लोगों का, जो अपने को ख़ुर्द कहते हैं, ख़ुर्दिस्तान की ख़ुर्द जाति से किसी प्रकार का सम्बन्ध है या यह किसी तरह का पेशेवाराना नाम है?

---

(१) बेहिस्तून शिलालेख के अनुसार इस देश का प्राचीन और वंशानुगत नाम मोका (Moka) है। हेरोदत ने इसको मेकिया या माइकर का देश कहा है, जो कि हखामनीषी साम्राज्य के १४ वें क्षत्रपी के अधीन था। (Ency. D. Islam P. 653.)।
शायद मकरान शब्द की उत्पत्ति मोका शब्द से हुई है।

(2) Elliot—"History of India" BK. I. P 38.

(3) इब्न हौकल—किताबुल मसालिक-वा-मुमालिक।

(४) Hughes Buller—"Census Report" BK. II. P. 84.

(५) N. L. Dames—"The Baloch Ra."

प्राचीन भूगोल शास्त्रियों ने जाटों के अलावा मादा (Meds) जाति का भी ज़िक्र किया है। मुजमद्-उल-तवारीख़ में लिखा है कि जाट और मादा नोआ के पुत्र हम के वशंज हैं, जिसने सिन्ध के किनारों पर क़ब्ज़ा कर लिया था।

अरब के भूगोल शास्त्रियों का कहना है कि जाट, मादा, अफ़ग़ान और ख़ुर्द बलूचिस्तान निवासी हैं। अरबों के आक्रमण के कारण ये जातियां बलूचिस्तान में आकर बसने लगीं। इनमें बलूची सब से पीछे आये।

ब्राहुई जाति

ब्राहुई जाति का ज़िक्र न तो प्राचीन लेखकों ने किया है और न अरब के इतिहासकारों ने ही। फिर भी भाषा विज्ञान के आधार पर यह आम ख़्याल है कि यह जाति बलूचिस्तान की आदि निवासी है। भाषा विज्ञान के पंडितों का मत है कि ब्राहुई भाषा द्राविड़ भाषा-समूह से निकली है। इस विश्वास अथवा कल्पना को मानकर अब यह कहा जा सकता है कि ब्राहुई जाति बलूचिस्तान की सब से पहली आदि जाति है। इसलिये अब हम मानव-विज्ञान के आधार पर सब से पहले इसी की विवेचना करेंगे।

ब्राहुई जाति का ज़िक्र पहले-पहल सत्रहवीं सदी के आख़ीर में आता है। इस शब्द की उत्पत्ति कहां से हुई अथवा यह किस धातु से निकला है, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं मालूम। बा-रोही (Ba-Rohi) शब्द से इसकी उत्पत्ति का पता लगाने का प्रयत्न किया गया है। बा-रोही का अर्थ है पहाड़ी जाति, जैसे हैलमन्द (Helmand), और ना-रोही (Na Rohi) अर्थात् समतल भूमि के निवासी। कुछ लोग ब्रहो या इब्राहीम से भी इस शब्द (ब्राहुई) की उत्पत्ति का पता लगाने की कोशिश करते हैं। लेकिन वे सब दलीलें अधिक सन्तोष जनक नहीं हैं। स्वयं ब्राहुई लोगों का कहना है कि वे अलेप्पो से आये हैं १।

ब्राहुई जाति में स्वतंत्र तथा भिन्न भिन्न जातिओं का मिश्रण है। ये जातियां बाहरी शत्रुओं से बचने के लिये तो संगठित हो जाती हैं। पर ख़तरा दूर होते ही इनका संगठन भी टूट जाता है। इनके राजनैतिक संगठन के नेता कलात के भूतपूर्व ख़ान ने मर्दुमशुमारी के समय जो बयान दिया है, उससे इन जातियों की अन्दरूनी पृथकता और विरोध का साफ़ पता लगता है २। इस बयान में कहा गया है कि कमब्रानी (Kambrani) जाति की मिरवानी, गुर्गनानी, सुमलानी क़ौलब्रानी या क़लन्द्रानी, दो शाखायें अहमदज़ाई इलमाज़ाई ही अलेप्पो की असली ब्राहुई जातियां हैं। बन गुलज़ाई लैंगू और लेहरी जातियों का रिन्द या बलोच जातियों से सम्बन्धित बताया गया है। इनख़ान के अनुसार बलोच ब्राहुइयों से पहले बलूचिस्तान में आकर बसे। रैसानी सरपरी और शाहवज़ी जातियां अफ़ग़ान हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ख़ुर्द और महम्मद हसनी या मवासनी क़बीले ईरान से आये हैं। बिज़ञ्जु, मेंगल, सोजदी और जेहरी जातियां जदगल या जगद्दल यानी जाट हैं। इनख़ान के अनुसार जेहरी क़बीले का सरदार अफ़ग़ान है। महम्मद शाही और निशारी को इस देश की बहुत प्राचीन जातियां कहा गया है। ये रिन्दों के आने से पहले यहां आकर बसी थीं।

---

(१) Denys de S. Bray—"The Brahui Language" P. 3.

(२) "Census Report" P. 102.

ब्राहुई भाषा का दक्षिण की द्राविड़ भाषाओं से थोड़ा सम्बन्ध है। काल्डवेल महोदय लिखते हैं,--"ब्राहुई भाषा का भी वही स्रोत है जो पंजाबी और सिन्धी भाषाओं का है। लेकिन जाहिरा तौर पर इसमें द्राविड़ भाषा की मिलावट है" १। लास्सेन साहब का भी कहना है—"ब्राहुई दक्षिणी भाषाओं से मिलती जुलती है" २। ट्रम्प ने भी इस विचार की पुष्टि की है ३। स्टेङ्कोनोव का मत है कि ब्राहुई निश्चित रूप से द्राविड़ भाषा है ४। हां यह जरूर है कि पड़ोस के देशों की भाषाओं, जैसे फ़ारसी, बलूची, पंजाबी आदि के शब्द इसमें शामिल कर लिये गये हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि ब्राहुई जाति भिन्न भिन्न मिली जुली जातियों का एक समूह है ५। ब्राहुई भाषा बोलने वाली निम्न लिखित जातियां हैं—लम्बे तड़ंगे और लम्बी नाक वाली (Polichoid-Leptorrhins), चौड़े मस्तक और लम्बी नाक वाली (Brachyceppal-Leptorrhins), लम्बे मस्तक और मामूली क़द वाली (Dolicho-Mesorrhins) तथा भारी खोपड़ी और साधारण नाक वाली। इनमें भारी खोपड़ी और लम्बी नाक वाली (Brachyceppal-Leptorrhins) जाति की संख्या सब से अधिक है। इसके बाद लम्बी तड़ंगी और लम्बी नाक वाली जाति का स्थान है। लम्बे तड़ंगे और साधारण नाक वालों की संख्या बहुत थोड़ी है। हम भाषातत्व के पंडितों के मत पर ग़ौर करें, तो हमें यह याद रखना चाहिये कि ब्राहुई जाति द्राविड़ भाषा बोलती है। भाषा की समानता के आधार पर बहुतों का ऐसा मत है कि ब्राहुई और दक्षिण भारत के लम्बे मस्तक और मामूली क़द वाले (Dolicho-mesorrhins) द्राविड़ों में समानता है।

जाट जाति

बलूचिस्तान में जितनी भी जातियां पायी जाती हैं, उन सब में शायद सब से प्राचीन और आदि जाति जाट है। इन्हें हिन्दुस्तानी कहा जाता है। ये सिन्ध प्रदेश, सिन्धु नदी की उपत्यका, पंजाब और राजपूताने में पाये जाते हैं। बलूचिस्तान के गर्म हिस्सों में भी जाट बसते हैं। अरब इतिहासकार मसूदी ने भी उन जाटों का जो करमान (Kerman) के पड़ोस में रहते थे, ज़िक्र किया है ६। बलूचिस्तान की १६०१ ई० की मर्दुमशुमारी में जिन जाटों की गणना की गयी है, वे असली जाट नहीं हैं। मर्दुमशुमारी-रिपोर्ट के प्रकाशक ह्यूज बुलर साहब लिखते हैं, "मर्दुम शुमारी में जिन की गणना जाटों में की गयी है, उनको मुसलमानों के मिले जुले समूहों का रूप कहा जा सकता है, जो न तो अफ़ग़ान हैं, न बलोच, न ब्राहुई और न ये उन जातियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो सामाजिक व्यवस्था के चक्कर में पड़ कर अपनी राष्ट्रीयता खो चुकी हैं। इसलिये

(१) Caldwell—"A Comparative Grammar of the Dravidian or South Indian Family of Languages", 1856.

(२) Lassen—"unter suchung iiberdie ethnographiscte stellung dervolkerim Western Indiens in der Z. F. K. M. B. BK. V, pp. 377, 409, 1344.

(३) Trumpp.

(४) Stenkonow-Linguistic Survey of India, BK. IV.

(५) ब्राहुई जाति में एक लासी नामक जाति है जिसे कुछ लोग आदि भारतीय कहते हैं।

(६) Masudi—French translation, III P, 254.

इस शब्द का प्रयोग उन्हीं लोगों के लिये किया गया है, जिनका खास तौर पर ज़िक्र नहीं आता १।" और फिर जाट जाति संगठित भी नहीं है जैसा कि जातियों (Tribes) के लिये आवश्यक है। बल्कि यह जाति छोटे छोटे गिरोहों में बिखरी हुई है २।

लासी जाति

लास बेला की तराई की समतल भूमि पर बहुत सी भिन्न भिन्न जातियां बसती हैं। इनमें से अधिकतर हिन्दुस्तान से सम्बन्धित हैं। अर्ध भारतीय (of Indian descent) जातियों के समान यह भी बलूचिस्तान की आदि वासी हैं। इनकी भाषा लासी कही जाती है। ग्रीअरसन ने साबित किया है कि यह सिन्धी भाषा से निकली है। आम तौर पर इसको जटगाली या जगदाली कहते हैं; यानी जाटों की भाषा। चट्टा (Chutta) जाति की दोनों शाखाएं—बन्दिज (Bandijas) और संघर (Sanghar) यहीं रहती हैं। चट्टा जाति की उत्पत्ति सूत्रों से बतायी जाती है, जो पहले हिन्दू राजपूत थे।

लासी गिरोह में जैसा देखा गया है, लम्बे मस्तक वाले नहीं हैं। इन जातियों को आदि भारतीय मानने पर भी नृतत्व के माप दंड से यह पता चलता है कि इनमें चौड़े मस्तक और लम्बी नाक वालों की संख्या अधिक है ३।

इस देश के इतिहास में सर्व प्रथम जो हिन्दुस्तानी जाति मिलती है, और जिस को यहां की आदि वासी भी माना गया है, वह भिन्न भिन्न जातियों के मिश्रण से बनी हुयी है। जाटों की एक शाखा में लम्बे तड़ङ्गे और लम्बी नाक वालों की संख्या बहुत अधिक है और दूसरी शाखा में चौड़े मस्तक और लम्बी नाक वालों की। जब कि लासी जाति में चौड़े मस्तक और लम्बी नाक वालों की अधिकता है।

इस विवेचना से यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि भाषा तथा वंश की समानता के बावजूद और आदि निवासस्थान की बग़ैर अहमियत के यहां की मौजूदा जातियां भिन्न भिन्न जातियों के मिश्रण से बनी हैं। ब्राहुई जाति के बारे में भी, जिसकी भाषा का सम्बन्ध द्राविड़ भाषा से माना गया है, यही बात है। इसकी भाषा का सम्बन्ध तो द्राविड़ भाषा से माना गया है; लेकिन इस जाति के लोग चौड़े मस्तक और लम्बी नाक वाले होते हैं।

अफ़ग़ान जाति

बलूचिस्तान की अफ़ग़ान जाति भी मिश्रित है। इसमें लम्बे सिर वाले अधिक संख्या में हैं। इनका अफ़ग़ानिस्तान तथा सरहद के अफ़ग़ानों और हिन्दुकुश के लम्बे तड़ंगे लोगों से काफ़ी मेल है। अब तक जितना भी पता लगा है, उसके अनुसार सब अफ़ग़ान जातियां पतली नाक वाली हैं। जहां तक पतली नाक का ताल्लुक़ है, वहां भी अफ़ग़ानों और हिन्दुकुश की जातियों में समानता है।

---

(१) Hugh-Buller-Baluchistan Census Report of 1901. P. 106.

(२) Ditto. Ditto P. 10 F.

(३) मोहंजो-दड़ो में पुरातत्व की खोजों से पता चलता है कि सिन्ध में लम्बे मस्तक और लम्बी नाक वाले भाग ऐतिहासिक काल में भी रहते थे, देखिये:—Marshall—"Mahenjodaro and Indus Valley Civilization", P. 92.

लम्बे लड़के अशकजाई (Aehokzai) और तारिन (Terin) को छोड़ कर बाक़ी सब औसत उंचाई के हैं।

देहवार

बलूचिस्तान की देहवार जाति न तो बलूची है और न ब्राहुई। यद्यपि यह उन्हीं जातियों में मिलकर रहती है। इसकी भाषा फारसी है। इसमें अधिकतर लोग गोल मस्तक और लम्बी नाक वाले होते हैं।

बलूची जाति

इतिहास के पण्डितों का एक मत से कहना है कि बलूची जाति बलूचिस्तान में सबसे पीछे आकर बसी। यद्यपि बलूचिस्तान में इसका बहुमत नहीं है, फिर भी इस देश का नाम इसी जाति के नाम पर रखा गया है। सबसे पहले हमें इस जाति का पता दसवीं सदी के इतिहास में मिलता है। उसमें लिखा है कि बलूची जाति करमान (Kerman) और दक्षिणी ईरान में रहती थी। इस्ताखरी अपने सीस्तान के वर्णन में लिखता है कि ईरान के इस हिस्से के बाहर के प्रान्तों को, जिनका नम्बर १६ वां और २२ वां है और जो खिलाफत के अन्तर्गत थे, बलूचियों का देश कहा गया है १। याक़ूत का कहना है कि बलूची कुर्दों से शक्ल-सूरत में मिलते जुलते हैं, और ये फारस तथा करमान के मध्यवर्ती प्रदेश में रहने भी हैं। दसवीं सदी में इब्न हौकल लिखते हैं कि बलूची "ईरान की ज़मीन में, जो हिन्द और सिन्ध के बीच में है, बसते थे।*" बाद में ये मकरान की ओर बढ़ गये और अन्त में सिन्धु की तराई में घुसने में सफल हुए। डेम्स का मत है कि सम्भवत: बलूचियों की तीन शाखायें हिन्दुस्तान के सरहद की ओर आयी थीं२।

बलूची जाति की उत्पत्ति (Origin) के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं। इनको तुर्कोमान, अरब, राजपूत, ईरानी और तुर्कोईरानी कहा गया है। परन्तु बलूचियों का कहना है कि वे अपनी वंश परम्परा से अलेप्पो के निवासी हैं, जहां से वे दूसरे ओमय्या खलीफा यजीद द्वारा खदेड़ दिये गये३। और फिर ये करमान होते हुये बलूचिस्तान में आकर बस गये। भाषा-तत्व के पण्डितों का मत है कि इनकी भाषा ईरानी है४; जिसका आधुनिक फारसी भाषा से सम्बन्ध है। प्राचीन फारसी की अपेक्षा जेंद से इसकी अधिक समानता है। डेम्स ने बलूचियों को ईरान के ताजिक और गलचा का वंशज कहा है ५। लासेन, स्पीगेल, बारटन और ट्रम्प का भी यही विचार है।

बलूचियों की संख्या उसी प्रकार कम है, जैसे ब्राहुई जाति की। दोदई के प्रमुख बलूची अपरिचित व्यक्तियों को भी अपने गिरोह में शामिल कर लेते हैं। इनका ज़िक्र बलूची जाति की

---

(१) इस्ताखरी—Mordtmann द्वारा अनूदित पृ० ११५।

* अरब इतिहासज्ञों ने आधुनिक अफगानिस्तान और हिन्दुस्तान को हिन्द और सिन्ध की भूमि कहा है।

(२) एन० एल० डेम्स—"A (An) Historical and Ethnological Sketch on the Balooch Race" PP. 33-34.

(३) Imp. Gazetteer of India, BK. VI.

(४) W. Geiger—"Grundriss der Iranischen Philologic, Diesprache dir Behutschen, BK. VI.

(५) Dames—P. 10

अनुक्रमणिका में नहीं पाया जाता। फिर भी बलूची जाति से इनका सम्बन्ध है। पर अब हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इनकी उत्पत्ति हिन्दुस्तानियों से हुई है१। इनके अलावा चार निम्न श्रेणी की जातियां भी बलूचियों से सम्बन्धित हैं। यही बात मकरान की गिशकी जाति, जो बलूची भाषा बोलती है और जिसको अपनी आदि हिन्दुस्तानी उत्पत्ति भी याद है, के विषय में भी सच है। वहां के आदि वासी मादे (Med) भी, जो आजकल मकरान में बसते हैं और जिनका पेशा मछली पकड़ना है, बलूचियों के साथ हिलमिल गये हैं। यद्यपि यहां मादा शब्द घृणास्पद है।

अब इससे पता चलता है कि बलूची मिश्रित उत्पत्ति के हैं। इस जाति में राजनैतिक एकता तो है; लेकिन शारीरिक और मानसिक एकता नहीं है। इसकी आदि उत्पत्ति में समानता हो सकती है। लेकिन बाद में इसमें भिन्न भिन्न जातियों का मिश्रण हो गया है। रिन्द भी, जो इज्जत की निगाह से देखे जाते हैं और जिनसे हर एक बलोच गिरोह मिलने के लिये इच्छुक रहता है, इसी प्रकार के मिश्रण से बने हैं।

पंजाब तथा अन्य स्थानों के बलूची

रिज़ले ने नापकर पता लगाया है कि पञ्जाब के बलूचियों में लम्बे तड़कों की संख्या अधिक है। और जहां तक नाक का ताल्लुक़ है, वहां भी लम्बी नाक वालों की संख्या इनमें अधिक है और अन्त में यही कहा जा सकता है कि इस गिरोह में लम्बे तड़के और लम्बी नाक वालों की संख्या अधिक है।

रिज़ले ने मुरी और बग्ती की पहाड़ियों के बलूचियों का भी माप लिया है। ये औसतन साधारण मस्तक और साधारण नाक वाले होते हैं और इनकी उंचाई औसत ऊंचाई से अधिक होती है२। मे साहब ने (Coronation contingent) के कुछ बलूचियों का, जो कारोनेशन में लन्दन लाये गये थे, माप लिया है। इनकी उंचाई इसी बात से प्रमाणित होती है कि लन्दन में होने वाले सैनिक प्रदर्शन की नुमाइश में ये चुनकर लाये गये थे३। इनके मस्तक लम्बे थे।

मादा जाति

रिज़ले ने मादा जाति को मकरान का बलूची कहा है। परन्तु हमने जैसा प्रमाणित किया है, उसके अनुसार इनको मकरान का आदि वासी कहना चाहिये। मादा जाति के सम्बन्ध में मनु-संहिता में लिखा है कि यह निम्न श्रेणी की मिश्रित जाति है। इसका निवास स्थान गावों से बाहर है (१०.३६)। अन्य मिश्रित जातियों के साथ इसका वर्णन शिकारी के रूप में किया गया है (१०.४८)। यम संहिता में कैवर्त, भिल्ल और मादा का वर्णन नीच जातियों में किया गया है (५४)। १७ वीं शताब्दी में सिन्ध पर अरबों के आक्रमण के समय मुल्तान के जाटों और मादों ने बेन कासिम का स्वागत किया था। उनका कहना था कि पहले ब्राह्मण राजा उन पर ज़ुल्म करते थे४। इससे पता चलता है कि आधुनिक मादा जाति का सम्बन्ध प्राचीन मादा से अवश्य रहा होगा। इस्लाम क़बूल करने के बावजूद भी उनकी वर्तमान स्थिति से पता चलता है कि उनका सम्बन्ध

(१) Dames—P. 3 F.

(२) H. H. Risley—"Peoples of India."

(३) „ „ —"Anthrohome toric data from Baluchistan."

(४) S. Lane-Poole—"Medieval India."

प्राचीन मादा से रहा है। जे० हॉसकिन के अनुसार माश, मेर, मेद या मन्द, और गूजर थे, जो पांचवीं शताब्दी में मीडिया या जार्जिया (गुर्जिस्तान) से आये थे१। लेकिन इनकी अधूरी कल्पना नामों की समानता पर स्थित है। इसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। मनु की उपरोक्त व्याख्या का काल गुर्जरों के आगमन से बहुत पहले का माना गया है२। इसके पहले लिखा जा चुका है कि मन्दों को जाट प्रमाणित किया गया है। और खोज से यह पता लगा है कि इनमें अधिक संख्या लम्बे मस्तक और लम्बी नाक वालों की है।

परिणाम

इस तरह खोज से पता चलता है कि बलूची एक मिश्रित जाति है। इसीलिये बलूचियों में भिन्न भिन्न जातियों के निशान पाये जाते हैं। पञ्जाब, मरी और बग्ती की पहाड़ियों के बलूची वहां के स्थानीय लोगों से काफ़ी मिलते जुलते हैं। इन पर पञ्जाबी भाषा का प्रभाव पड़ा है। ये पश्छिमी पञ्जाब की भाषा का प्रयोग भी करते हैं।

यहां संक्षेप में हमने अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान और हिन्दुकुश की जातियों के सम्बन्ध में लिखा है। इससे पता चलता है कि इनको अपनी वंशावली पर गर्व है, फिर भी ये पूरी तरह मिश्रित उत्पत्ति के हैं। एशिया का यह भाग, जिसका जिक्र किया गया है, भिन्न भिन्न जातियों का निवास स्थान है। हम देखते हैं कि न तो धर्म, न भाषा, न परम्परा और न वंश के अभिमान से ही इन भिन्न भिन्न जातियों की सामाजिक समस्या का पता चलता है और न इनसे इनकी उत्पत्ति का ही पता मिलता है। इसके अलावा हम यह भी देखते हैं कि ये तथाकथित जातियाँ, क़बीले, वंश और कट्टर धार्मिक समुदाय अपनी अपनी अलहदगी की नीति को रखते हुये भी मिश्रित हैं।

अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान और हिन्दुकुश के भागों में बसने वाली जातियों के सम्बन्ध में हमारी विवेचना खतम हो गयी। हमने देखा कि यहां एक के बाद दूसरी जातियां आकर बसती गयी हैं और यहां जितनी भी जातियां हैं, वे सब मिश्रित हैं। जाति अथवा वंश की एकता यहां नहीं मिलती। बल्कि यहां सामाजिक और राजनैतिक आधार पर भिन्न भिन्न जाति और वर्ग के लोग एक वर्ग में सम्मिलित होकर एक जाति के बन गये हैं।*

अफ़ग़ानों को उनके जातीय संगठन के आधार पर बिल्कुल अछूता और अलग माना गया है। ये अपने रक्त को पवित्र समझते हैं। इनका यह भी कहना है कि इनके वंश की लम्बी शृङ्खला टूटी नहीं है। परन्तु छान बीन से यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि इनमें भी भिन्न भिन्न जातियों और वर्गों का मिश्रण हुआ है।

अफ़ग़ानिस्तान के मौजूदा अफ़ग़ान शायद प्राचीन पख्तो से निकले हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि पहले अफ़ग़ान परपामिसाद, हिन्दुस्तानी और इनसे मिलती जुलती जातियों में से थे, जिन्होंने बाद में अर्मानियों को भी अपने अन्दर मिला लिया। इसलाम के पहले सक, और यू एन्ची और हूणों के हमले हुये थे। इन लोगों ने हिन्दुस्तानी धर्म (हिन्दू धर्म) को स्वीकार कर लिया और

---

(१) J. Hoskyn—"The Origin and Early History of the Mers of Merwara...

(२) Kane—"History of Dharmasastras."

*—विस्तृत जानकारी के लिये देखिये 'Man in India', क्रमशः १९३९-४०, रांची से प्रकाशित के vol. XIX, XX में दिये गये लेखकों के मत।

देश की तत्कालीन जातियों में मिल जुल गये थे १। कुछ अफ़ग़ानों की लम्बी नाक की बनावट सक और यू एची जैसी है। अफ़ग़ानों (पठानों), दर्दों और काफ़िरों की नाक शिकारी पक्षियों की चोंच जैसी झुकी हुई, लम्बी और उल्लू की चोंच जैसी होती है। इस प्रकार नाक की शक्ल वाले अफ़ग़ानिस्तान, दर्दिस्तान और पामिर की पहाड़ियों पर पाये जाते हैं। ये काशमीर और उपरले हिन्द की भिन्न भिन्न हिन्दू जातियों में भी मिलते हैं। कुछ अफ़ग़ानों की नाक झुकी हुई या आर्मनों की तरह है, जिससे यह ख्याल होता है कि ये यहूदी वंश के हैं। लेकिन मानव-विज्ञान के पंडितों का कहना है कि यह (इस प्रकार की नाक) आर्मीनों या आल्पों की खासियत है। प्राग् ऐतिहासिक काल में एशिया माइनर के हत्तियों के द्वारा यहूदियों ने उनके रक्त को अपना लिया था३। यहीं ग़लती होती है। आधुनिक भारतीय मानव-विज्ञान वेत्ताओं का कहना है कि मौजूदा कुछ हिन्दुओं में भी आर्मन विशेषताएं पायी जाती हैं। प्राग् ऐतिहासिक युग के मोहंजो-दड़ो और हड़प्पा में भी (Arminoid skulls) आर्मन खोपड़ी मिली हैं। हिन्दुओं के प्राचीन कला-विज्ञान के नियमों के अन्दर इस प्रकार की भिन्न भिन्न नाकों की आकृति पायी गयी है।

अफ़ग़ानों की यहूदी और बनूदी तथा ब्राहुई की अरब उत्पत्ति की कहानी मनगढ़न्त है। हमने खोज से देखा है कि अफ़ग़ान जाति के निर्माण में हिन्दुस्तानी, ताजिक, पार्थी, मध्य एशिया की जातियों तथा और अन्य जातियों ने हिस्सा लिया है। मौजूदा अफ़ग़ान जाति में इन भिन्न भिन्न जातियों का मिश्रण है। राजनैतिक कारणों से ये एक दूसरे से गुंथ गये हैं। पश्तो भाषा ने इनको एक सूत्र में बांध दिया है। और इसलाम ने इन्हें जातीय एकता दी है। बलूचिस्तान की जातियों और वंशों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू है।

अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह जाति-चिह्न काले रङ्ग, काली आंखें और भूरे रङ्ग के जाट और राजपूतों के आदि पुरुषों के नहीं हैं। जाति शास्त्र के जर्मन विद्वान स्वर्गीय प्रो० लेकाक जो तर्फ़ान यात्रा में गये थे, का कहना है कि काले रङ्ग वाले जाट गोरे वर्ण के यू एचियों के वंशज नहीं हो सकते। यहां यह याद रखना चाहिये कि पूर्वीय विद्वानों ने यह पता लगाया है कि ये ईरानी भाषा बोलते थे। ये ख़ालिस ईरानी थे। और यू एची जाति इण्डो यूरोपियन भाषाओं से मिलती जुलती भाषा का प्रयोग करती थी। इनकी भाषा उसी समूह की थी जिस समूह की लैटिन, ग्रीक, केल्ट और ट्यूटानिक हैं ४।

---

(१) सक सिक्कों से पता चला है कि कुजाला कद पिज़िओं (Kujala Kadpises) और अफ़ग़ानों की शक्ल में काफ़ी समानता है। इस विषय की पुष्टि के लिये तर्फ़ान में मिली हुई तसवीरें, जो बर्लिन के जाति विज्ञानशास्त्र के अजायब घर में रखी हुई हैं, देखी जा सकती हैं। इन तसवीरों में कनिष्क की यू एची जाति की तसवीर है। ये तगड़े बदन, लम्बी और झुकी हुई नाक, भूरी आँखें और लाल दाढ़ी वाले चित्रित किये गये हैं। इनको देखकर गर्गसंहिता (गोलक खण्ड) के लाल दाढ़ी वाले कालयवनों की याद आ जाती है।

(२) बलूचिस्तान का एक मुसलिम कबीला 'काफ़िर' कहलाता है।

(३) F. Lusihan—"Sprachen Rassen and Voelker."

(४) देखिये Viou-Feist Indo-Germanen and Germanen"

जीवन जिसने भी देखा है

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध, बी० ए०

(१)

जीवन जिसने भी देखा है
क्या पाया है, क्या लेखा है ?
क्या अपने में तृप्त हो चला ?
क्या संघर्षण-कोलाहल के
जीवन में वह शक्ति खो चला ?

उतरी सांझ शान्त-कानन में
घर की याद दुलार-भरी सी,
किन्तु सतत आलोड़ित उरकी
बुझने वाली प्यास न ऐसी।

प्रथम किरण रवि की जो तैरे
वन-सरिता की मृदु लहरी पर
सुन्दर है, पर कैसे ठहरे
मन उद्विग्न, अग्निमय उस पर।

उलझन भरे जगत् के नाना
बन्धन तोड़ बांधने वाला,
अपने प्यासे अन्तर से जो
जग को प्यासा करने वाला,

कहीं न रुक सकता वह मानव !
स्निग्ध निशा के ज्योत्स्नाचल में

(२)

बाल वयस की मधुर प्यास जो
नारी-रूप पान करती है,
तृषित नवल आंखों को रमणी
मधुर - रहस्य - दान करती है,

व्यथित प्रणय की रातों में—
जिसने अपना ही सुख देखा है
चन्द्रोज्ज्वला नदी में तन्मय—
—उज्वल मधुर स्वप्न-रेखा है
जिसने अपनी नीलिम आशा
मोह-मिलन-मधु ही लेखा है

जीवन के अपमान अनेकों—
कई पराजय-नरक व्यथा से
वे मुंह मोड़ें, तो क्या पाया
विविध कला से स्नेह कथा से !

प्यार किया औ किया पाप भी,
फिर भी चिर उन्मुक्त रहे जो,
अपनी आत्मा की मदिरा से
पथ के कांटे सिक्त करे जो,

उनसे रक्त बहे तो बहलें,
रुक न सकेंगे चलने वाले !
एक दिव्य आभा के घेरे
चले शक्ति-भर स्वप्न सुनहले !!

(३)

जीवन की प्रत्येक परिस्थिति
धूप छाँह-सी, स्वर्ग-नरक सी,
जिसके लिये बनी है सुन्दर
काव्य-कथा-सी, एक व्यथा-सी,

वह निरपेक्षित कलाकार सा,
सब पर अंकन करता चलता।
अपने ही गुण दोषों पर हो
मुग्ध, सदा जो बढ़ता चलता।

उसके उर की आग न ऐसी
जो बुझ सके स्निग्ध-वक्षों पर !
वह है ऐसी प्यास अनोखी
छोड़ चली जाती अपना घर !!

वर्षा के बिखरे श्यामल
मेघों पर रक्त किरण-धारा-सी !
जीवन आलोकित करती है
निश्चित भव्य सतत ज्वाला-सी—

कोटि कोटि नारी-वक्षों की
जिनमें मधुमय रूपज्ज्वाला;
उससे कहीं अधिक सम्मोहक
रवि की सान्ध्य सुनहली माला

उसके अन्तर में जलती है,
एक सुदूर स्वप्न सी सन्तत।
जीवन एक मधुर ज्वाला है
चिर-स्वतंत्र, व्योमोन्मुख, उन्नत ?

(४)

जीवन में चलते चलते क्या
देखा है, क्या क्या पाया है ?
तुम्हें पूछना हो तो राही
पूछ चलो स्वाधीन प्रश्न कुछ,
उसका मर्म समझना हो तो,
अन्तर की पहचान करो कुछ।

क्या वह निजमें तृप्त हो चला ?
क्या संघर्षण - कोलाहल के
जीवन में वह शक्ति खो चला ?

यदि उत्तर मिल जाय कि निश्चय
द्विगुणित हो जिससे निःसंशय,
तो उस सन्त-चरण-रज में तुम
लोट पड़ो पुलकित श्रद्धा मय !
पावन-रेणु चढ़ा कर सिर पर !
नाच चलो, ले लोचन जल मय !

स्नान करो इस रेणु-तीर्थ में !
उर-पवित्र, गद्गद् तव स्वर हो !!
जीवन के मधुमय अमृत से
तेरा स्वप्न-यथार्थ अमर हो !

रूसी क्रान्ति का अग्रदूत : पुश्किन

श्री महादेव प्रसाद साहा

"आरीलव अथवा पेस्टल के क्रान्तिकारी दिमाग रूस को उतना ही प्यार कर सकते हैं,जितना कि एक लेखक अपनी भाषा को प्यार करता है। इसी रूस और इसी रूसी भाषा में प्रत्येक वस्तु का निर्माण होना चाहिये।" —पुश्किन

पुश्किन के महत्व का अनुभव करने के लिये हमें एक दृष्टि उस समय के ऊपर डालनी पड़ेगी, जबकि पुश्किन जीवित था और अपनी साहित्यिक रचनाओं का निर्माण कर रहा था! उन दिनों यूरोप में घोर प्रतिक्रिया का ज़माना था। सामन्तवाद और गुलामी प्रथा अपने गन्दे से गन्दे रूप में जनता के सामने आ रही थी। पुश्किन की मृत्यु के दस वर्ष बाद मार्क्स और ऐन्जिल्स ने पोप, ज़ार मेटरनिख़ और गुईज़ो के बारे में कहा था कि वे कम्युनिज़्म के विरुद्ध जिहाद छेड़े हुये हैं। पुश्किन जब जीवित था, उसी समय ज़ार ऐलेकज़ेण्डर पहला और निख़ोलास्क पहला मेटरनिख़ के साथी हो चुके थे। उस समय एकतन्त्रवाद के बोझ से रूस की आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति दब गई थी। उस समय समझदार लोग यह अनुभव करने लगे थे कि एकतन्त्रवाद अपना ऐतिहासिक कार्य समाप्त कर चुका, और अब रूस को एकतन्त्रवाद के स्थान पर किसी अधिक उदारतावादी शासन सत्ता की आवश्यकता है। उन्होंने यह भी अनुभव किया था कि श्रेणी सम्बन्धों में भी काफ़ी परिवर्तन की आवश्यकता है। उस समय रूस की सरकार सामन्तवाद की दूसरी सीढ़ी से होकर गुज़र रही थी। वह सीढ़ी घोर प्रतिक्रियावादी एकतन्त्रवाद की थी। लोगों का विश्वास ख़िताबों, सनदों और सम्मान के पदों परसे उठ गया था।

पाल पहला, ऐलेक्ज़ेण्डर पहला और निकोलस पहला सभी अपनी मातृ भाषा पर कम ही अधिकार रखते थे। इनके विचार में साहित्य का काम सिर्फ़ शासकों की प्रशंसा करना ही था। शासक वर्ग की तारीफ़ करना, उनकी जड़ों को मज़बूत करना, जनता के दिमाग़ों को इस बात से भर देना कि एकतन्त्रवाद बहुत अच्छा है, इन तथाकथित साहित्यिकों का यही सेवा कार्य रह गया था। ये लोग शासकों के इर्द गिर्द केवल चापलूसी करने के लिये ही रहा करते थे। वे लुई १४ के ज़माने के कवियों की तरह अपने बादशाह की तारीफ़ के पुल बाँधा करते थे।

पुश्किन ने अपने बारे में स्वयं लिखा है— "मेरी मां अफ्रीका की थी। मेरे नाना अब्राहम हेनीबाल को अफ्रीका से लोग ज़बरदस्ती पकड़ लाये थे। जिस समय वह कुस्तुन्तुनिया लाये गये, उनकी उम्र ८ बरस की थी। उस समय के रूसी मन्त्री ने उनको पीटर महान के पास तोहफ़े की शक्ल में भेज दिया। पीटर ने बिलुआ में उन्हें ईसाई बनाया। मेरे पिता ग़रीब लेकिन प्रसिद्ध और सम्माननीय घराने के थे।"

जिस समय पुश्किन ३७ बरस का हुआ,सभी लोग उसकी क़ाबलियत के क़ायल हो चुके थे; पुश्किन स्वतन्त्र विचारों वाला, भौतिकवादी कवि था। वह रूस की जनता के जीवन के गीत गाया करता था। वह 'फ़ारोसीज़' का दुश्मन था। वह दिसम्बरिस्ट लोगों का दोस्त था। वह ज़ार की तारीफ़ करके अपनी लेखनी को कलुषित नहीं करना चाहता था। स्वतन्त्रता का यह गायक ज़ार निकोलस की आंखों में खटकता था। ज़ार धन से इस महाकवि को न ख़रीद सका। अन्त में उसको मरवा डालने का षड्यन्त्र करके उसने

पुश्किन के नश्वर शरीर को ख़त्म करा दिया। उसी के इशारे से पुश्किन और डांतेस से द्वन्द हुआ और पुश्किन मारा गया। इस समय पुश्किन अपनी क्रियात्मक शक्ति की चरम सीमा तक पहुंच चुका था।

पुश्किन की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वह कवि, गद्य लेखक, नाटककार समालोचक, इतिहासकार सभी कुछ था। उसने अपने ज़माने के रूसी जीवन से ही अपने विषय चुने थे।

बुनियादी तौर से पुश्किन रूसी तथ्यवाद का संस्थापक था। उसने अठारहवीं सदी के प्राचीनता वादी लेखकों की परम्परा से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखा। उसमें जुकोवस्की तथा करामज़ीन की कोरी भावुकता भी नहीं मिलेगी। बल्कि उसने रूसी जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर रोशनी डाली, उसकी असंगतियों पर प्रकाश डाला। उसने रूसी जीवन के बहुरंगी चित्र को सामने रख दिया। "युजीन ओनेजीन" उसका प्रसिद्ध उपन्यास है; जिसके बारे में प्रसिद्ध रूसी समालोचक वेलिंस्की ने कहा है कि "वह रूसी जीवन का कोष है।" "टेल्स आफ़ बेलकिन" उसकी प्रसिद्ध कहानियों का संग्रह है। "दुब्रोवस्की" में रूसी सामन्तवर्ग की कड़ी आलोचना की गई है। इसमें कहीं कहीं आशा की झलक भी दिखाई पड़ती है। साथ ही ज़मींदारों के अत्याचारों, तथा सेंटपीटर्सबर्ग के अमीरों के समाज की अच्छी तरह से ख़बर ली गई है। 'युजीन-ओनेजीन' में गांव के ज़मींदारों के घृणित जीवन की खिल्ली उड़ाई गई है। 'दी स्टेशन मास्टर' में छोटे अफ़सरों को भी अच्छी तरह से डांट बताई गई है। पुश्किन इसमें विश्वास करता था कि जनता के अन्दर स्वस्थ क्रियात्मक शक्ति है। उसने ऐसे चरित्र नायकों का निर्माण किया है, जो अपनी मौलिकता रखते हैं; जिनमें चरित्र बल है।

पुश्किन की इन कृतियों में पूरी तथ्यवादिता मिलेगी। इतिहास ही इनका मूल स्रोत है। पुश्किन ने इतिहास में व्यक्तियों के महत्व से इन्कार नहीं किया है। उसने पीटर पहले के प्रगतिशील कार्यों को स्थान दिया है, परन्तु साथ ही उसने जनता को ही अपनी कृतियों का असली नायक बनाया है। रूसी जनता की दुर्दशा, उनकी गुलामी, उनका पीसा जाना, ज़ार और सामन्तवादियों द्वारा उनका शोषण, आदि उसकी प्रसिद्ध दुःखान्त कृति 'बोरिस गुदोनाव' की विशेष समस्याएं हैं। बहुत दिनों तक पुश्किन बुकाशेव के व्यक्तित्व से आकर्षित रहा। यह बुकाशेव, कैथरीन द्वितीय के शासन काल में, युराल में होने वाले किसान विद्रोह का नेता था। किसान-विद्रोह के इस ज़ोरदार नेता को उसने अपने 'दी कैप्टेन्स डाटर' के द्वारा अमर कर दिया है। इसमें स्त्री चरित्रों के जो नाम रखे गये हैं, उसके बारे में एक मशहूर क़िस्सा है।

पुश्किन एक दफ़ा त्रिगोरस्कोइ गया। सेमीवस्की ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है, "अच्छा, तो पुश्किन आया। हर चीज़ उलट पुलट गई। सारा घर हँसी, मज़ाक़ और गप्पों से भर गया। वहां एक बूढ़ी मकान मालिकिन थी। वह हमेशा बड़बड़ाया करती थी। उसका नाम था आकुलिना पैम्फ़ीलोवना। पुश्किन ने सोचा चलो उससे सन्तरे मांगें। हम उसके पास जाते और कहते ज़रा सन्तरे दे दो। वह बड़-बड़ाने लगती। एक दफ़ा पुश्किन ने उससे मज़ाक़ में कहा, "अच्छी बात है आकुलिना पैम्फ़ीलोवना, नाराज़ मत हो, मैं तुम्हारी शादी कल एक महन्त से कराऊंगा। "सचमुच", उसने अपने "कैप्टेन्स डाटर" (उपन्यास) में आकुलिना नाम की औरत की शादी एक महन्त से करादी।

पुश्किन की क्रियात्मक उन्नति में शेक्सपियर का सबसे अधिक हाथ था। शेक्सपियर ने ही उसको एक कलाकार और तथ्यवादी बनाया। पुश्किन ने लिखा है—"मुझे विश्वास हो गया कि हमें अपनी पुरानी नाट्यशालाओं को नया रूप देना चाहिये, इसीलिये मैंने अपने नाटकों को अपने पिता शेक्सपियर के ही ढङ्ग पर लिखा है।" पुश्किन ने यह बात अपने नाटक 'बोरिस गुदोनाव' के बारे में कही है। लेकिन शेक्सपियर के इन गुणों का समावेश हम पुश्किन के केवल नाटकों में ही नहीं पाते। उसकी तमाम कृतियों

में शेक्सपियर की छाया मिलती है। पुश्किन ने तमाम कलाकारों से अनुरोध किया है कि शेक्सपियर का अध्ययन करें। इसके बारे में उसने लिखा है—"शेक्सपियर के नायक मोलिरी की तरह एक ही गुण अथवा दोष वाले नहीं हैं। बल्कि वे जीवित प्राणी हैं, जिनके भीतर नाना प्रकार के गुण और दोष वर्तमान हैं। परिस्थितियां आंखों के सामने ही बनती जाती हैं। साथ ही उनका बहुरंगी चरित्र भी बनता जाता है। मोलिरी का कन्जूस आदमी 'आवोर' केवल कन्जूस है और कुछ नहीं। शेक्सपियर का शाइलाक कन्जूस तो है, परन्तु साथ ही वह बहुत चघड़, कमीना और चालाक आदमी है। उसके भीतर पिता की भावुकता भी है।

मोलिरी का धूर्त अपने उपकार करने वाले की स्त्री के साथ ढोंग भरा सद्व्यवहार करता है. शेक्सपियर का धूर्त शान और सख्ती के साथ सज़ा सुनाता है, उस सज़ा में बेईमानी नहीं है। वह अपनी सख़्ती को एक राजनीतिज्ञ की भांति उचित साबित करता है, वह मीठे शब्दों में अपने भोलेपन को ज़ाहिर करता है। वह अपनी दया भावना और बहादुरी भी दिखलाता है। एंजेलो इसलिये धूर्त है कि उसके खुले कामों की आड़ में उसकी दुर्भावनायें भली भांति छिप जाती हैं। उसके चरित्र में कितनी गहराई है!"

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं; पुश्किन शेक्सपियर का एक तथ्यवादी अनुगामी था। उससे ही पुश्किन ने भावात्मक तथ्यवाद सीखा था। शेक्सपियर के इसी गुण ने कार्ल मार्क्स को बेहद आकर्षित किया था। अपने एक पत्र में मार्क्स ने लासेल को इसीलिये फटकारा था कि उसने 'फ्रैंगोन ज़िशेन्हीन' को आदर्श बनाकर उसको 'शिलर' का रंग दे दिया था। मार्क्स चाहता था कि वह अपने चरित नायक को शेक्सपियर के अनुरूप तथ्यवादी नायक बनाए। मार्क्स और एंजिल्स को कम से कम एक दर्जन यूरोपीय और ऐशियाई भाषाओं का ज्ञान था। उन्होंने रूसी भाषा का भी अध्ययन किया, जिससे वे रूसी अर्थ शास्त्र का विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकें। रूसी भाषा का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उन्होंने पुश्किन को पूरा पढ़ डाला। मार्क्स और एंजिल्स अक्सर पुश्किन में से उद्धरण दिया करते थे। ऐडम स्मिथ के अनुरूप जो कुछ आर्थिक बातें इसने कहीं हैं, उसको 'युजीन ओनीजीन' में से लेकर कई बार मार्क्स और एंजिल्स ने इस्तेमाल किया है।

पुश्किन ने रूसी भाषा के निर्माण में भी काफ़ी बड़ा हिस्सा लिया है। बेलिंस्की ने इसका ज़िक्र किया है। वह कहता है, "पुश्किन के आने से ही रूसी भाषा में नया जोश आ गया, उसमें रोचकता आ गई। उसमें लोच आ गया, उसमें समृद्धि आ गई। सबसे बड़ी बात यह हुई कि उसमें स्वाभाविकता और मिठास आ गई।" पुश्किन ने रूसी भाषा में से वे शब्द और मुहावरे निकाल फेंके, जो विदेशी होने के साथ साथ कड़वे और कड़े थे। इन शब्दों और मुहावरों को शासकों ने रूसी भाषा में शरण दिया था। उसने उन गुलामी के शब्दों को भी हटाया, जिनको रूस के प्रतिक्रियावादी लेखकों ने जबरन् रूसी भाषा में शामिल कर रखा था। उसने किसानों के क़िस्से कहानियों, उनके गीतों, आदि को रूसी भाषा में शामिल किया। रूसी भाषा के कोष को उसने इन मणियों से भर दिया। इस प्रकार उसने रूसी भाषा में, सादगी, सफ़ाई और स्वाभाविकता पैदा कर दी।

"थोड़े में और स्पष्ट लिखना, यह पद्य लेखक का पहिला गुण है" पुश्किन की भाषा रूस वालों की रोज़ाना की ज़बान हो गई। आज तक रूस के लोग इसी ज़बान में बोलते हैं। वहां के रूसी साहित्यिकों ने भी इसी भाषा का प्रयोग किया है। बाद के रूसी साहित्य पर पुश्किन की छाप साफ़ दिखाई पड़ती है। उन्नीसवीं सदी के महान कलाकारों ने उन तमाम अंगों में उन्नति की है, जिनको पुश्किन ने आरम्भ किया था। उसके गद्यों में जो स्पष्टता है, उसके चरित्रों में जो तथ्यवादिता रहती है, उसका अनुसरण तुर्गनेव और टाल्सटाय ने अपने उपन्यासों में किया है। तुर्गनेव ने प्रो० स्तासलोव को एक

पत्र लिखा। उसमें उसने पुश्किन के लिये यह लिखा था—"मैं उनकी पूजा करता हूं, वह मेरे देवता हैं, मेरे गुरू हैं; वे एक ऐसे आदर्श हैं, जहां तक मैं पहुंच सकता हूं। और जैसा कि स्टेटियस ने वर्जिल के लिये कहा था, उसी प्रकार मैं अपनी तमाम कृतियों के बारे में कह सकता हूं कि Vestigia Semper adora." टालस्टाय ने कहा है कि 'पुश्किन मेरा गुरु है।" गोगोल और दोस्तोवस्की ने भी पुश्किन से ही ग़रीब, दबे हुये 'छोटे आदमियों' के साथ में सहानुभूति करना सीखा। 'दी स्टेशन मास्टर' ने उनको काफ़ी प्रभावित किया। गोगोल कहता है "बिना यह समझे हुये कि वह मेरे सामने मौजूद हैं, मैंने एक पंक्ति भी नहीं लिखी।" शेड्रीन ने भी उसके "History of the Village of Goryakhin" से ही व्यंगात्मक ढङ्ग पर ग़ुलामी प्रथा के विरोध में अपनी रचनायें लिखीं। पुश्किन से ही नेक्रासाव ने राजनैतिक और करुणरस प्रधान कवितायें सीखी थीं।

मैक्सिम गोर्की साम्यवादी साहित्य का पिता माना जाता है, और उसने रूसी साहित्य के इस महान कलाकार से बहुत कुछ सीखा था। गोर्की पुश्किन को रूसी साहित्य का पिता कहा करता था। गोर्की पहिला साम्यवादी—मानवतावादी—कलाकार था, जिसने मृतःप्राय रूसी ज़ारशाही के मुंह पर कहा था कि मानव के भीतर एक शक्ति है। मानव के सामने संसार की पाशविक शक्तियां नहीं टिक सकतीं।

रूसी इतिहास और रूसी संस्कृति में पहिले पहल पुश्किन ने 'मानव' शब्द का महत्वपूर्ण प्रयोग किया है। उसने मानवता, आज़ादी, वैयक्तिक स्वाधीनता, प्रत्येक मनुष्य को आराम से रहने के हक़ के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। अपनी राजनैतिक कविताओं में उसने एकतन्त्रवाद, ग़ुलामीप्रथा और नौकरशाही को ज़ोरदार चुनौती दी। उसने अपनी टु शादाईव (To chadayev), दी मेसेज़ टु साइबीरिया (The message to Siberia), दी वालेज (The vollage) में खुले आम दिसम्बरीस्टों के साथ सहानुभूति दिखलाई और सामन्तवादी ज़ुल्मों के ख़िलाफ़ अफ़सोस और ग़ुस्से का इज़हार किया। अपनी जवानी की उमंगों से भरी हुई पुरजोश कविता "आज़ादी" में उसने ऐलान किया कि, "मैं संसार के सामने आज़ादी के गीत गाना चाहता हूं। मैं शाही तख्तों को चकनाचूर कर देना चाहता हूं।"

(Message to Siberia) 'मेसेज़ टु साइबीरिया' नामक कविता का एक ऐतिहासिक महत्व है। सन् १९०० में लेनिन के देश निकाले का समय ख़त्म हो गया। वह विदेशों में गया और अपने (Iskra) 'इस्क्रा' नामक पत्र को प्रकाशित किया। इसका 'चिनगारी' को कहते हैं। इस पत्र का आदर्श यह था,

"The spark shall burst in burning flames"

"यह चिनगारी बढ़कर होगी,
धू धू करने वाली ज्वाला।"

पुश्किन की अति सुन्दर कृतियों में से यह कविता भी एक है। इस प्रसिद्ध कविता की कुछ पंक्तियां तो सुन ही लीजिये—

"Deep in the Siberian mine,
Keep your patience proud;
The bitter toil shall not be lost
The rebel thought un-bowed"

साइबीरिया के अन्तर में
रक्खो निज सन्तोष गुरुवत्
कठिन परिश्रम विफल न होगा,
विद्रोही – विचार चिरउन्नत !

इसका अन्त यों है:

The heavy hanging chains will fall,
The walls will crumble at the word;
And freedom greet you with the light,
And brothers give you back the sword"

"विश्रृङ्खल हो, क्षत विक्षत हो,
गिर जायेंगी ये जंजीरें,

एक नाद में टूट फूट कर,
बह जायेंगी ये प्राचीरें;
और करेगी स्वागत तेरा, वह
स्वतन्त्रता चिर ज्योतिर्मय,
और करेंगे सभी बन्धु मिल,
आज शक्ति संचय दृढ़ निश्चय।"

इसका बहुत ही हृदयग्राही उत्तर प्रिंस ओडोएवस्की ने अपनी कविता A reply to Pushkin में दिया है। वह कविता यों है,

"Our bitter toil shall not be lost,
The spark shall burst in burning flame:
Our chains we shall forge into swords:
Again to blaze with freedom's fire,
Shall storm with them the Tsar's Cohorts,
With Joy the people shall respire."

"कठिन परिश्रम व्यर्थ न होगा,
चिनगारी बढ़ होगी ज्वाला।
ये जंजीरें खड्ग बनेंगी,
स्वतन्त्रता की ज्योति जलेगी,
होगी ध्वंस जारशाही जब,
तब जनता को शान्ति मिलेगी।"

मानव और मानव प्रेम ही पुश्किन की कृतियों का सार है। जवानी की कविताओं से लेकर, जिसमें बग़ावत की ख़ुशी, जवानी और प्रेम आदि का वर्णन उसने किया है; उसकी प्रौढ़ से प्रौढ़ कृतियों तक में, जिसमें बड़े बड़े व्यक्तित्व, बड़े बड़े अनुभव और बड़ी से बड़ी भावनाओं का चित्रण है, सब जगह आप देखेंगे कि, "मैंने (पुश्किन ने) अपनी वीणा के स्वर से मानव हृदय की उच्चतम भावनाओं को जाग्रत करने का प्रयत्न किया है'।" पुश्किन समझता था कि यही 'उच्चतम भावनायें' हैं, जो मनुष्यों को, बुराइयों, प्रतिक्रियाओं और सख़्तियों के विरुद्ध लड़ने के लिये उत्तेजित कर सकती हैं।

पुश्किन रूसी जन समाज से प्रेम करता था। जैसे ही वह रूस की चौहद्दी के बाहर रहने वाले मानव समाज से भी उतना ही प्रेम करता था। उसने रूसी जनता को पाश्चात्य संस्कृति में मिला देने का अथक परिश्रम किया था। उसकी कविताओं और नाटकों में स्पेन, इङ्गलैण्ड और जर्मनी का ज़िक्र भी मिलता है। विश्व इतिहास के अङ्ग प्रत्यङ्ग की प्रतिच्छाया पुश्किन की कृतियों में मिलती है।

पुश्किन ने यूरोप की तमाम विचार धाराओं का अध्ययन किया। पच्छिमी यूरोप में स्वाधीनता के जो भी आन्दोलन चल रहे थे, उनसे पुश्किन की गहरी सहानुभूति थी। उसकी लाइब्रेरी में युरोपियन साम्यवादी सेंट साइमन की सारी कृतियां थीं। फ्रांस के शब्द सागर (French Encyclopaedia) के ३५ भाग उसके पास थे। उसके पास वालटेयर, रूसो, दिदरा, हालबाख़ की सारी कृतियां थीं। फ्रेंच और इंगलिश क्रान्तियों के इतिहास भी उसके पास थे। उन दिनों ग्रीस के लोग तुर्कों से अपनी आज़ादी के लिये लड़ रहे थे। वह इस युद्ध का सहानुभूति पूर्ण अध्ययन कर रहा था। सन् १८२० में स्पेन का क्रान्तिकारी नेता रीगों मरा। उस पर पुश्किन ने एक सुन्दर कविता लिखी। पुश्किन की सुन्दरतम रचनाओं में से एक यह कविता भी मानी जाती है।

पुश्किन अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि कोण रखने वाला व्यक्ति था। इसका प्रमाण हमें उसकी उन कृतियों से मिलता है, जिनमें उसने पच्छिमी यूरोप के लोगों का ज़िक्र किया है। इतना ही नहीं। वह स्वयं रूस से सम्बन्धित उन छोटी क़ौमों का सच्चा साथी था, जिनको ज़बरदस्ती रूस के गले शासकों ने मढ़ दिया था। उनको वह विदेशी नहीं मानता था और न उनको धोखे में रखता था। बल्कि उसकी कविताओं तथा अन्य कृतियों में इन अल्प संख्यकों के प्रति गहरी सहानुभूति मिलती है। शार्कीज़, जिप्सी, तातारी, फ़िन, काल्मुकस युक्रेनियन, जार्जियन; सभी लोगों का ज़िक्र उसकी कृतियों और रचनाओं में मिलता है। अपनी कविता में उसने यह भविष्य वाणी की थी—

"रूस की इस विशाल भूमि में मेरा नाम फैलेगा। रूसी बोलने वाले मेरा नाम लेंगे। स्लेवस के गर्वीले

परन्तु पतनोन्मुख लोग, फ़िनलथ तुर्ग और स्टेपीज़ के प्यारे सीधे सादे परन्तु अपरिष्कृत लोग, सभी को मेरी याद आयेगी।"

ऐसा ही हुआ भी। आज रूस के सभी लोग, पुश्किन की याद करते हैं। वे पुश्किन से प्रेम करते हैं। संसार भर के प्रगतिशील पढ़े लिखे लोग पुश्किन को जानते और मानते हैं। इस महान् कलाकार की स्मृति में मास्को में बहुत बड़ा उत्सव हुआ था। उस समय ऊपर कही हुई पुश्किन की बात तुर्गुस कालमक, युक्रेन तथा उज़बेक के लियोरों में दोहराई गई थी। लगभग सभी भाषाओं में उसके इस कथन को दोहराया गया था।

रूस के लोग पुश्किन को अच्छी तरह जानते हैं। रूस के लोग पुश्किन को उतना ही मानते हैं, जितना कि उनको आज़ाद कराने वाला लेनिन उसको मानता था? क्रुप्सकाया—लेनिन की धर्म पत्नी,—ने लेनिन की स्मृतियाँ लिखी हैं। जिसमें एक स्थान पर क्रुप्सकाया ने यह लिखा है—

"मैं साइबीरिया जाते समय अपने साथ पुश्किन, लरमानोटाव, नेक्रासाव आदि की सारी कृतियां लेती गई थी। उनको ब्लैडीमीर इलिच (लेनिन) ने अपने बिस्तर पर हैगेल की कृतियों के साथ रखा। रोज़ शाम को बराबार वह इनको पढ़ा करता था। वह इनमें सबसे ज़्यादा पुश्किन को प्यार करता था।"

यह तो हम सभी जानते हैं कि आज के साम्यवादी रूस में पुश्किन की जितनी क़द्र हो रही है, उतनी क़द्र उसकी ज़ार के ज़माने में कभी भी न थी। शासकों ने पुश्किन को इतना सताया कि वह परेशान होकर कह उठा कि मैं नाहक इस क़ाबलीयत के साथ इस रूस देश में पैदा हुआ। ज़ारशाही ने उसका अन्त तो कर ही दिया साथ ही बाद के आलोचकों और लेखकों ने उसको जनता से दूर रखने के लिये उसके क्रान्तिकारी लेखों और कविताओं को छिपा दिया और यह दिखलाने की कोशिश की कि वह एक राजभक्त ईसाई कवि था।

ग्रेजुएट होने के समय पुश्किन की माली हालत बहुत ख़राब थी। वह अपनी रचनाओं को पत्रिकाओं में प्रकाशित कराके अपनी रोज़ी चलाता था। इसी से उसकी ख्याति भी बढ़ गई थी। पुश्किन ने अपने भाई को एक ख़त लिखा था, जिसमें उसने इस बात का ज़िक्र किया है कि किस प्रकार ठंढ के मारे रास्ते भर वह दौड़ा करता था, जिससे उसके बदन में कुछ गर्मी आ जाय। इसी समय पुश्किन ने (Ode to Liberty) लिखा। ऐसा कहा जाता है कि जिस मकान में बैठ कर यह कविता लिखी गई थी, उससे ज़ार का महल दिखाई पड़ता था। यह कविता साफ़ साफ़ ऐलेक्ज़ेण्डर के विरोध में लिखी गई थी। साथ ही इसमें यह भी लिखा गया था कि जो हालत पाल की हुई वही ऐलेक्ज़ेण्डर की भी होने वाली है। शायद यह कविता १८१९ ई० में लिखी गई थी। बाद में पुश्किन को सोलोविकी या साइबीरिया भेजने की बात सोची गई। उसके दोस्तों ने उसकी मदद करनी चाही। परन्तु जेनरल इनज़ाव ने उसको पकड़ लिया। इसी दिन से उसके क़ैद की लम्बी कथा शुरू होती है। वह कई देशों में मारा मारा फिरा। उसने अपने निर्वासन के दिन बाख़सराय, काकेशस, क्रीमिया, ख़ीसीव, ओडेसा आदि स्थानों में बिताए। इन दिनों पुश्किन की हालत ख़राब थी। सन् १८२६ ई० में उसे मास्को बुलाया गया और ज़ार के सामने पेश किया गया।

इस मुलाक़ात में ज़ार ने पुश्किन से कहा, "आप चाहे जहां भी रहें, चाहे जितना भी लिखें और लगातार लिखते रहें, मैं नहीं रोकता, मैं स्वयं आपका सेन्सर बनूंगा।"

अपने इस अवकाश काल में पुश्किन ने जितनी सुन्दर रचनाएं की थीं, उतनी सुन्दर रचनाएं उसकी पहिले कभी भी नहीं हुई थीं। लेकिन फिर भी बेलन ओमी रूसी आलोचकों ने उसकी इसी ज़माने की रचनाओं की कड़ी से कड़ी आलोचना की। बेलिंसकी ने लिखा है कि इस समय तक पुश्किन आने वाली पीढ़ियों का गुरू बन चुका था। लेकिन बीडिंग

तो एक दिन में बनती नहीं। पीढ़ियों के बनने में लम्बे लम्बे साल लगते हैं। इसीलिये पुश्किन अपने जीवन काल में उन लोगों को नहीं देख सका जो उसकी रचनाओं को समझने और उनकी सहानुभूति पूर्ण आलोचना करते। इसका नतीजा यह हुआ कि उसकी सुन्दर से सुन्दर कृतियों की भद्दी से भद्दी और कड़ी आलोचना की गई। पुश्किन के किसी आलोचक ने यह कविता लिखी है :—

"हम पुश्किन से ऊब गये हैं,
हम पुश्किन से परेशान हैं,
उसके छन्द निरे तुकबन्दी,
उसमें कविता है न गान है,

क्षीण हुई उसकी कुशाग्रता,
उसको प्यार न करती जनता।"

इन्हीं दिनों एक बड़ी मज़ेदार घटना हुई, जिससे साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि पुश्किन कितना बाअसर कलाकार था। सन् १८५५ ई० के 'मास्कोवाइट' में एम० आई पोगोदिन ने इसका ज़िक्र किया है। एक दफ़े पुश्किन ओडेसा शहर के बाहर टहल रहा था। वहीं पर फ़ौज ठहरी हुई थी और मैदान में तोपें लगा दी गईं थीं। पुश्किन उन तोपों के पास गया और एक एक करके उनका निरीक्षण करने लगा। किसी अफ़सर ने उसका नाम पूछा। उसने जवाब दिया 'पुश्किन'। "पुश्किन!" वह अफ़सर चिल्ला पड़ा, उसने फ़ौज को सलामी देने का हुक्म दिया। इससे सारे ख़ेमे में सनसनी फैल गई। तमाम अफ़सर तोपों की आवाज़ सुनकर दौड़ आये और उसकी वजह पूछने लगे। अफ़सर ने जवाब दिया कि यह सलामी एक बहुत ही प्रसिद्ध मेहमान के सम्मान में दी गई है। उसने कहा—"भाइयो यही पुश्किन हैं।" नौजवान सिपाहियों ने पुश्किन को उठा लिया और उत्सव मनाने के लिये उसे अपने ख़ेमे में ले गये।

पुश्किन की क़द्र तो सचमुच रूस वाले ही कर सकते हैं। वे लोग ही, जो कि नृशंस पूंजीवाद के चंगुल से छूट चुके हैं, जो साम्यवादी और स्वतन्त्र हैं, अच्छी तरह समझ सकते हैं कि पुश्किन क्या था। सन् १७ की महान् रूसी क्रान्ति ने रूस के सारे साहित्यिक ख़ज़ाने को जनता के लिये, किसानों और मज़दूरों के लिये उपलब्ध कर दिया। आज वहाँ की सांस्कृतिक उन्नति इस हद को पहुँच गई है कि रूस की जनता अब विश्व साहित्य का अध्ययन करने लगी है। ज़ार के ज़माने की अविद्या और मूर्खता अब बीते युग की याद रह गई है।

सोवियत् रूस के लोग पुश्किन को हृदय से प्यार करते हैं। पुश्किन की जीवनप्रद शैली, उच्च भावनायें, उसका मानव प्रेम, शोषित और पीड़ित जनता के प्रति उसकी सच्ची सहानुभूति आदि ने ही उसे रूस का सच्चा कवि बना दिया है। पुश्किन के नाम से ही एक नवीन संस्कृति, एक नई समाजवादी सभ्यता का आभास मिलने लगता है। ज़ार ने पुश्किन के साथ जो दुर्व्यवहार किया था, उसकी याद करके ही आज वे लोग, वर्तमान फ़ैसिस्टवाद के ख़िलाफ़, जिसने कि महान से महान व्यक्ति को ख़त्म कर दिया, फांसी दे दी, देश निकाला दे दिया, हर तरह से प्रयत्न करते हैं। वर्तमान फ़ैसिस्टवाद की बर्बरतापूर्ण नीति को देखकर हमें वे दिन स्मरण हो आते हैं, जबकि महाकवि पुश्किन को ज़ारशाही ने दर दर ठोकर खिलवाई थी।

अब से सौ बरस पहिले पुश्किन ने जो पंक्तियां लिखी थीं, वे पुश्किन की मृत्युशताब्दी के दिन रूस की गली गली में दोहराई गईं। आज भी वे शब्द क्रान्तिकारी नारों का काम कर रहे हैं। मानो वे पुकार पुकार कर बर्बरता और नृशंसता के विरुद्ध जेहाद छेड़ने के लिये मानव समाज को बुलाते हैं—

Hail to muses, hail to Reason,
Hail to sunshine and away with darkness!"

भारत माता

श्री सोहनलाल द्विवेदी, एम० ए०

मुक्ति की दात्री तुम्हीं हो, मुक्ति की ही याचिनी !

अन्नपूर्णे ! तुम क्षुधित हो ?
फिर न क्यों अंतस व्यथित हो ?
देवि ! यह दुर्दैव कैसा ? आज तुम रज वासिनी !

केश रूखे, धूलि लुंठित,
बनी क्षीणा वाणि कुंठित,
राज राजेश्वरि ! बनी तुम आज मार्ग-भिखारिणी !

अंग पर है गलित कंथा,
चल रही तुम विषम पंथा,
रत्न आभरणे ! बनी हो आज तुम कंगालिनी !

है फटा अंचल लहरता,
बन दरिद्र ध्वजा फहरता,
ज्योतिमयि कमलासने, तुम मलिन गन्ध विकासिनी !

स्तन्य पयमय, अमृत स्राविनि,
जननि ! उठ ! ओ जन्म दायिनि,
कोटि कोटि सपूत तेरे, बन न आज उदासिनी !

जाग मा ! ओ जगद्धात्री,
अब दया की बन न पात्री !
ले त्रिशूल सतेज कर में, ओ त्रिशूल विनाशिनी !

हिटलर की विजय यात्रा

[यह व्यंग-चित्र प्रसिद्ध अङ्गरेज़ कार्टूनिस्ट श्री डेविड लो ने सन् १९३६में अंकित किया था]

संसार के उद्योग धन्धों पर युद्ध का असर

श्रीमती कैथलीन बार्न्स

इस लेख में हमारी विदुषी अमरीकन मित्र श्रीमती कैथलीन बार्न्स ने यह दिखाया है कि युद्ध का उद्योग धन्धों पर, और खासकर कपड़े के उद्योग धन्धे पर कितना जबर्दस्त असर पड़ता है। उन्होंने पिछले महायुद्ध और इस महायुद्ध की रोचक तुलना भी की है। हम श्रीमती बार्न्स के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने 'विश्ववाणी' के पाठकों के लिये एक बहुत महत्वपूर्ण विषय पर रोशनी डाली है।

इस लेख में हम यह बताने की कोशिश करेंगे कि इस युद्ध का असर उत्पादन के केन्द्रों पर क्या पड़ा! जहां कपड़े इत्यादि बनाये जाते हैं, वहां इस युद्ध का बड़ा गहरा असर पड़ा है। बहुत से केन्द्र तो नष्ट ही हो गये। जो बचे वहां पर उत्पादन बहुत कम हो गया है। इतना अवश्य है कि कुछ स्थानों पर जैसे भारत, चीन, दक्षिण अफ्रीका और जापान में उत्पादन बढ़ा है। आज अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर युग परिवर्तनकारी खेल खेले जा रहे हैं। हमारे सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन पर इसका गहरा असर पड़ रहा है। इस लेख में विस्तार पूर्वक यह बताने की चेष्टा की गई है कि यूरोपीय देशों, अमरीका और एशिया के देशों, जहाँ तक उत्पादन के केन्द्रों का सम्बन्ध है, सभी पर क्या असर पड़ा है।

युद्ध के ज़माने में बहुत से उद्योग धन्धे नष्ट हो जाते हैं। साथ ही ऐसे भी उद्योग धन्धे हैं, जो फलते फूलते हैं। एक भयावह आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। युद्ध समाप्त हो जाने पर भी यही बात होती है। लेकिन इस ज़माने में जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, वे युद्ध के ज़माने से बिल्कुल भिन्न होती हैं। संसार में जितनी भी उत्पादन की जगहें हैं, उन सब की जड़ें हिल जाती हैं। उनका सम्हालना आसान नहीं होता। यही नहीं कि केवल भिन्न भिन्न प्रकार के उत्पादन केन्द्रों को उस महान संकट का सामना करना पड़ता हो, बल्कि एक ही प्रकार के उत्पादन केन्द्रों में भी विषमता पैदा हो जाती है। फलतः उनका जीवन संकट में पड़ जाता है।

किसी भी उत्पादन पर युद्ध के कारण चार तरह का असर पड़ता है।

(१) आयात-निर्यात के साधन नष्ट हो जाते हैं। रेल, तार, डाक, जहाज़, हवाई जहाज़ सभी का ठीक तौर से काम करना बन्द हो जाता है। व्यापार के रास्ते में युद्ध रोड़े अटकाता है। उसके प्रशस्त मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। व्यापार ठीक से नहीं होने पाता।

(२) कच्चे माल का दाम बहुत चढ़ जाता है। इससे तय्यार माल, जो बाज़ार में भेजा जाता है, काफ़ी मंहगा हो जाता है। नतीजा यह होता है कि बहुत से बाज़ार छूट जाते हैं और दूसरों के अधिकार में चले जाते हैं।

(३) राष्ट्रीय चौहद्दियों के बदलते रहने के कारण माल पहुंचाने में बड़ी मुश्किल पड़ती है। साथ ही मालों की मांग में काफ़ी उतार-चढ़ाव होता रहता है। इसलिये कभी भी स्थिरता नहीं आती। पूंजी हमेशा घटा-बढ़ा करती है। जब तक स्थिरता न आजाय, आपस के व्यापारिक सम्बन्धों में भी स्थिरता नहीं आती। नतीजा यह होता है कि आयात और निर्यात का सन्तुलन हमेशा डांवा डोल रहता है। राजनैतिक चौहद्दियों में हमेशा परिवर्तन होते रहने के कारण आर्थिक सामञ्जस्य नहीं हो पाता।

(४) युद्ध के ज़माने में फैक्टरियां और मिलें सभी नष्ट कर दी जाती हैं। फलतः उत्पादन नहीं हो पाता। जो कुछ पैदा होता है वह भी पूरा नहीं पड़ता। फिर यह भी निश्चय नहीं रहता कि कब इन पर फिर हमला हो जाय; कारखाने, मशीनें, आदि नष्ट हो जांय और पूरी अस्तव्यस्तता आ जाय। उत्पादन कार्य अबाध गति से चले, इसके लिये आवश्यक है कि फैक्टरियों और मिलों के चलने में किसी प्रकार की भी रुकावट न पैदा हो। युद्ध के ज़माने में ऐसा होना असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है। इसी अस्थिरता के कारण मज़दूरी की दर भी चढ़ जाती है। आदमी कम मिलते हैं। लड़ाई के सामान तय्यार करने के लिये जब अधिकतर मज़दूर चले जाते हैं, तब बड़ी मुश्किल से काम चलने पाता है। इसका भी नतीजा यही होता है कि चीज़ों की पैदावार रुकती है। जो कुछ चीज़ें बन कर तय्यार भी होती हैं, उनका दाम चढ़ जाता है।

इन सब का नतीजा क्या होता है ? उत्पादन की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में भी खराबी आजाती है। प्रत्येक राष्ट्र स्वयंपूरक बनने का प्रयत्न करने लगता है। विनिमय में बाधा पड़ती है। आयात-निर्यात रुक जाता है। अपने देश के अन्दर जो पिछड़े हुये धन्धे होते हैं, उन्हें प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु देश का औद्योगीकरण भी बन्द हो जाता है। वैज्ञानिक ढङ्ग से जो उद्योग धन्धे उन्नति करते आते हैं, उनका बढ़ना रुक जाता है। उनकी गति में स्थिरता आ जाती है। उत्पादन का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं रह जाता। उसमें विशृंखलता आ जाती है। अस्तव्यस्तता बढ़ जाती है। संसार में अबाध गति से उन्नति का होना असम्भव हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन और व्यापार पर गहरा धक्का लगता है। इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हद तक जनता भी इस स्थिति से फ़ायदा उठा लेती है, परन्तु परिणाम अच्छा नहीं होता। अन्त में निर्यात रुक जाने के कारण उत्पादन में कमी आ जाती है। उत्पादन में कमी हो जाने के कारण राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देश की औद्योगिक उन्नति रुक ही नहीं जाती, बल्कि उसकी कुञ्जी पीछे की ओर घूमने लगती है।

अब हमें ज़रा तुलना के लिये यह देखना है कि पिछले महायुद्ध में इन व्यवसायों के ऊपर क्या असर पड़ा ?

सुदूर पूर्व और ब्रिटिश साम्राज्य

जापान—महायुद्ध आरम्भ होने के बहुत पहले ही हिन्दुस्तान और जापान में कपड़ों का व्यवसाय तरक़्क़ी कर रहा था। लेकिन युद्ध के कारण उसको उन्नति करने का और भी मौक़ा मिला। लंकाशायर की कठिनाइयों से जापान ने फ़ायदा उठाया। उसके लिए मैदान साफ़ था; क्योंकि अब उसका प्रतियोगी कोई भी नहीं रह गया था। जापान ने देशी खपत पर रोक लगा दी, जिससे वह अधिक से अधिक माल बाहर भेज सके। सन् १९१३-१९१८ के बीच में निर्यात में ७५ फ़ीसदी तरक़्क़ी हो गई। खुर्दा माल में सब से अधिक उन्नति हुई। जापान ने इतनी उन्नति कर ली कि वह अपना माल सभी स्थानों पर भेजने लगा। जिन जिन देशों में पहले लंकाशायर का माल जाता था, वहां वहां जापान का माल जाने लगा। लेकिन साथ ही जापान में कमज़ोरियां भी थीं। जापान में होशियार मिस्त्रियों की कमी थी। इसकी वजह से बहुत महीन कपड़े तैय्यार नहीं होते थे। हां मोटे कपड़े अधिक मात्रा में तैय्यार होने लगे। लड़ाई के बाद सन् १९१९-२० में ब्रिटेन के खुर्दा कपड़ों के निर्यात में (वे कपड़े, जो हिन्दुस्तान और चीन में आते थे) १५२ फ़ीसदी की उन्नति हुई। परन्तु यह निर्यात युद्ध के पहले की निर्यात का केवल ४८ फ़ी सदी था। इनमें जितना माल हिन्दुस्तान में आया, उसका आधे के लगभग ३१ और ४० नम्बर के सूत का था। बाक़ी ४० नम्बर के ऊपर था। जापान ने युद्ध के बाद ३१ से ४० नम्बर सूत तक का माल ज़्यादा तय्यार किया और साथ ही उसी समय में हिन्दुस्तान ने लगभग ३० नम्बर सूत का

माल तैय्यार किया। ४० नम्बर के ऊपर का माल अब भी लंकाशायर से ही आता था। कारण यह था कि लंकाशायर के मेहनत करने वाले मज़दूर योग्य थे। लेकिन इसी के साथ साथ यह भी मानना पड़ेगा कि लंकाशायर के व्यवसाय को अगर किसी ने अधिक से अधिक धक्का पहुँचाया है, तो जापान ने। जापान की प्रतियोगिता, ख़ासतौर से मोटे कपड़ों में, लंकाशायर नहीं कर सका। इसका नतीजा यह हुआ कि लंकाशायर ने धीरे धीरे बाज़ार खोना शुरू कर दिया। जापान के मोटे और सस्ते कपड़ों से सारे बाज़ार भर गये।

चीन के सूती उद्योग धन्धे में सन् १४ की लड़ाई ने एक क्रान्ति पैदा कर दी थी। युद्ध के ऐलान ने चीन के औद्योगिक जीवन में एक नये युग का निर्माण कर दिया। जब विदेशों से आयात बन्द हो गया और फल स्वरूप उनसे प्रतियोगिता भी बन्द हो गई, तब चीन के देशी कारख़ाने वालों की चांदी हो गई। लड़ाई के ज़माने में ८७ मिलें चीन में खुलीं। इनमें से ५३ चीनी, ३३ जापानी और १ ब्रिटिश मिल थी। चीन में सीधे सादे मज़दूरों की कमी न थी। साथ ही देश में कपास भी काफ़ी पैदा होता था। बाज़ार भी ख़ाली पड़े थे। इसलिये चीन का सूती व्यापार बढ़ा और ख़ूब बढ़ा। लेकिन एक कमज़ोरी भी थी। चीन वालों के पास न तो काफ़ी पूंजी थी और न वे बिलकुल वैज्ञानिक ढंग से उत्पादन ही करते थे। इसलिये जापान के मुक़ाबले में वे कभी पूरी तरह सफल नहीं हुये। इसीलिये चीन के आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि वही मिलें अधिक से अधिक उन्नति कर सकी हैं, जिनमें जापानियों का इन्तज़ाम था या उनकी पूंजी लगी हुई थी।

हिन्दुस्तान—जापान की तरह हिन्दुस्तान मेंभी, युद्ध ने इस व्यवसाय को काफ़ी तरक़्क़ी दी। १९१४ तक हिन्दुस्तान कपड़ों के व्यापार में इतना बढ़ गया था कि उसकी गिनती संसार में होने लगी थी। उसका नम्बर संसार के सूती मिल वाले देशों में चौथा था। उस समय यहां ६०,५०,००० स्पिंडिल और १,००,००० कर्घे काम कर रहे थे। लड़ाई शुरू होने से कुछ गड़बड़ी ज़रूर पैदा हुई। जर्मनी से रंग का आना बन्द हो गया। तुर्की, डच-हिन्द और इटली से भी सम्बन्ध टूट गया। इससे कुछ दिनों तक तो लंकाशायर का रंग जमा रहा। परन्तु दिन बीतने लगे और उसके साथ ही साथ लंकाशायर का रंग भी उड़ने लगा। अमरीका और जापान के विशेषज्ञों ने स्थिति समझ कर इस बात की जी तोड़ कोशिश की कि लंकाशायर को मैदान से भगा दें और काफ़ी हद तक वे सफल भी हुये। हिन्दुस्तानियों ने लंकाशायर की मुसीबत से फ़ायदा उठाया। ब्रिटेन का आयात ३,७०,००,००० गज़ से घट कर १०,५०,००० गज़ हो गया। उधर जापान का निर्यात ४,००,००० पौंड से बढ़कर २१,००,००० पौंड हो गया। हालांकि यह तरक़्क़ी मोटे कपड़ों में ही हुई। हिन्दुस्तानी मिलों में ४० नम्बर सूत के ऊपर के कपड़े काफ़ी बिने गये। इस ज़माने में हिन्दुस्तानी व्यापार तिगुना आगे बढ़ गया। लंकाशायर का हिस्सा बाज़ारों से ख़त्म होने लगा। जापान से प्रतियोगिता होने के कारण उसको पीछे हटना पड़ा। मैदान में केवल जापान रह गया। लंकाशायर का आयात युद्ध के पहले ८७ फ़ीसदी था; जो सन् ३१-३२ में घट कर ३८ फ़ीसदी हो गया। खुर्दा माल भी इसी प्रकार ९७ फ़ीसदी से घट कर ५० फ़ीसदी रह गया। सरकार ने हिन्दुस्तानी उद्योग धन्धों को संरक्षण दिया था; इसके कारण भी उसकी उन्नति में काफ़ी सहायता मिली। लड़ाई के ज़माने में जापानी और हिन्दुस्तानी मालों से सारा बाज़ार पट गया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि हिन्दुस्तानी मिलों में कोई कमी नहीं रह गई। जापान की तरह इनके पास भी काफ़ी योग्य मिस्त्री नहीं थे। इनके पास सुसंगठित पूंजी की कमी थी। जापान ही की तरह इनको भी मशीनें मंगाने में बड़ी मुश्किल पड़ी और काफ़ी मशीनें नहीं मिल सकीं।

दूसरी जगहें

इस युद्ध ने अमरीका, कनाडा और दक्षिण अमरीका को भी उन्नति करने का मौक़ा दिया। लड़ाई के पहले अमरीका के तन्तु-उत्पादकों ने विदेशी बाज़ारों पर अधिकार नहीं किया था। जब यूरोप से सामान आना बन्द हो गया, तो मजबूर होकर कनाडा और दक्षिण अमरीका के लोगों को अमरीका का मुंह जोहना पड़ा। सन् २९ के संकट काल तक अमरीका इन देशों को बराबर कपड़े देता रहा। बाद में विदेशी प्रतियोगिता और आर्थिक संकट ने उसके निर्यात को घटा दिया।

पिछले युद्ध के बाद से तमाम छोटे देशों ने अपने यहां मिलें खोल लीं और इन जगहों में इतना काफ़ी माल होने लगा कि विदेशी मालों की इन्हें ज़रूरत ही नहीं रह गई। ब्रिटेन सन् १३ के पहिले तक बालकन और मध्य पूर्व में कुल ४,७७,६०,००० गज़ कपड़े भेजा करता था। सन् २७ में घट कर यह २,७७,३०,००० गज़ ही रह गया। इसी प्रकार सन् ३६ से ३८ के बीच में निर्यात इस प्रकार हुआ—

वर्ष	दस लाख लम्बाई की नाप गज़ों में	पौंड
१९३६	८०·९	१,७५४
१९३७	७०·६	१,५००
१९३८	५३·५	१,१०५

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस लड़ाई ने बालकन और मध्य पूर्व के देशों में औद्योगीकरण कर दिया। वे इस क़ाबिल हो गये कि उन्हें विदेशों से सारा माल न लेना पड़े। अब तक यहां के बाज़ार ब्रिटेन तथा साम्राज्य के मालों से पटे रहते थे; अब वे स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने लगे। उनके अन्दर आत्मनिर्भरता आ गई। पिछली लड़ाई ने इस प्रकार इन देशों को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखा दिया। युद्ध के बाद भी यहां के उद्योग-धन्धे बढ़ते ही रहे।

युद्ध और कच्चे माल

लड़ाई का असर कच्चे मालों पर भी पड़ता है, क्योंकि जब कच्चे मालों की कमी पड़ती है, तो उसकी जगह पर दूसरे कच्चे माल इस्तेमाल किये जाते हैं। उत्पादन के तरीक़ों और इन कच्चे मालों के प्रयोग में काफ़ी अन्तर आ जाता है और जो चीज़ें पैदा होती हैं, उनकी रूप रेखा बदल जाती है। उनका दर घट या बढ़ जाता है। शान्ति के ज़माने में इस प्रकार के उत्पादनों का जो महत्व नहीं रहता, वह महत्व लड़ाई के ज़माने में आ जाता है। साथ ही अगर लड़ाई के ज़माने में इन धन्धों ने काफ़ी तरक़्क़ी कर ली, तो लड़ाई के बाद मजबूर हो कर इन्हें नये बाज़ार भी तलाश करने पड़ते हैं, नहीं तो एक भयानक आर्थिक संकट उपस्थित हो जाता है।

इस प्रकार अब दो मसले सामने आते हैं।

(१) भिन्न भिन्न उत्पादन के केन्द्रों के सापेक्षिक महत्व में क्या परिवर्तन उपस्थित हुये?

(२) भिन्न भिन्न उत्पादन के केन्द्रों के (वे उत्पादन के केन्द्र, जो अब दूसरे कच्चे माल को इस्तेमाल करके, नये प्रकार से, नये तरह के कपड़े तैय्यार करते हैं) सापेक्षिक महत्व में, जो एक ही तरह के पैदा करने वाले हैं, क्या क्या परिवर्तन हुये?

पहला सवाल यह है कि लड़ाई का क्या असर उन धन्धों पर पड़ा, जो पहले की तरह सूत इस्तेमाल करके कपड़े तैय्यार करते रहे? दूसरा सवाल यह है कि जिन जिन धन्धों ने भिन्न भिन्न प्रकार के सूत प्रयोग किये, उनके ऊपर लड़ाई का क्या असर पड़ा?

उस लड़ाई के कारण संसार भर के कुल सूत उत्पादन में काफ़ी कमी आ गई थी। यह बात नीचे लिखे आंकड़े से साबित हो जाती है।

१९१२—२,५०,४३,००० गांठ
१९१३—२,६२,५९,००० „
१९१४—२,८६,८७,००० „
१९१५—२,०६,८९,००० „
१९१६—१,९८,४५,००० „

१९१७—१,९६,७५,००० ,,
१९१८—२,०६,१३,००० ,,
१९१९—२,१३,८४,००० ,,

नोट :—एक गांठ का वज़न ४७८ पौंड होता था।

फ्रेंच, ब्रिटिश तथा बेलजियम के उपनिवेशों के उत्पादन को भी देखिये—

४७८ पौंड की गांठ

स्थान	१९०९-१९१०	१९२०-२१	१९२९ ३०	१९३७-३८
फ्रेंच उपनिवेश				
फ्रेंच अफ्रीका	*	१,०२९	३,६९०	३९,१५७
,, हिन्द चीन	९,४५१	१४,९२१	७,४७२	५,५३५
,, तोगो	२,१४२	३,३२७	८,८०५	८,४७२
आइवरी कोस्ट	*	२८२	९,६८५	११,६९२
ब्रिटिश उपनिवेश				
नाइजीरिया	१०,५२९	२६,३६०	३६,७५७	३७,८१९
युगाण्डा	११,१९५	६८,०८८	१,०८,०५२	३,४९,०००
टांगानिका	२,८६६	२,४०२	२३,२५१	५०,७३३
ऐंग्लो इजिप्शियन सूडान ...	१२,५५२	२५,५३९	१,३९,१९८	२,६३,७१८
केनिया	३३५	४१८	१,२७०	१७,५२६
बेलजियन उपनिवेश				
बेलजियम कांगो	*	२,५४६	३३,९०६	१,७५,२६१

नोट—*यहां के आंकड़े नहीं मिले—

रंगों का महत्व

कपड़े के व्यवसाय में रंगों की आवश्यकता बहुत पड़ती है, जब लड़ाई छिड़ गई तब जर्मनी से रंग आना रुक गया। जर्मनी उस ज़माने में संसार भर को रंग दे रहा था। रंगों के एकाएक रुक जाने से जहाँ कहीं भी सूत का धन्धा होता था, वहां एक महान संकट आ गया। ब्रिटेन और अमरीका की सरकारों ने फ़ौरन इसका इन्तज़ाम किया। लड़ाई के ज़माने में और उसके बाद भी रंगों की कमी पूरी की गई। और आज ये दोनों देश काफ़ी रंग पैदा कर लेते हैं।

राजनैतिक हदों में परिवर्तन और उसका असर

लड़ाई के बाद पुराने यूरोप का सारा नक़्शा बदल गया। बहुत से देश काट-छांट कर छोटे कर दिये गये। बहुत से नये देश बनाकर तय्यार किये गये। इसका असर सूत के व्यवसाय पर भी पड़ा। एलेसेस लोरेन, जो एक प्रधान उत्पादन केन्द्र था, फ्रांस के हाथ में चला गया। बहुत से देश, जो अपने कपड़ों के लिये रूस पर निर्भर करते थे, उनसे अलग कर दिये गये। कारण यह था कि पश्चिम के

व्यापारी और उत्पादक यह नापसन्द करते थे कि रूस की व्यवसायिक उन्नति हो। उन्होंने इस बात का सफलता पूर्वक प्रयत्न किया कि कोई देश रूस पर निर्भर न करे।

पोलैण्ड

लाज (Lodz) पोलैण्ड का मुख्य उत्पादन केन्द्र है। पिछले युद्ध में रूस की भागती हुई सेना ने इसको नष्ट कर दिया। लड़ाई के बाद भी पूंजी की कमी के कारण इस धन्धे में काफ़ी उन्नति नहीं हो सकी। लेकिन मांगों के अनुरूप ही धन्धों में वृद्धि हुई। सन् २४ तक यह उन्नति अबाध गति से होती रही। लेकिन उसके बाद फिर संकट आया। खेती की हालत ख़राब हुई। लोगों की क्रय-शक्ति कम हो गई, जिसके कारण माल का बिकना रुक गया। इसीलिये उत्पादन में भी कमी हुई।

चेकोस्लोवेकिया

आस्ट्रो हंगेरियन साम्राज्य को छिन्न भिन्न करके चेकोस्लोवेकिया को जन्म दिया गया। उसकी एक करोड़ चालीस लाख आबादी थी। यहां की सूती मिलें आस पास के ५ करोड़ २० लाख आदमियों को कपड़े देने लगीं। बोहेमिया राज्य की मिलें युद्ध के पहिले घरेलू मांगों को पूरा करके बाहर भी सामान भेजने लगी थीं। इसलिये चेकोस्लोवेकिया को नये बाज़ारों की ज़रूरत पड़ी। ये नये बाज़ार उसको सक्सेशन-स्टेट्स (Succession-States) में मिले। परन्तु इन जगहों में देशी मिलें और फ़ैक्टरियां धीरे धीरे खुलने लगीं। साथ ही इन देशों ने बाहर से आने वाली चीज़ों पर भारी टैक्स लगा दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि चेक-धन्धों में ढिलाई आगई और धीरे धीरे उनकी अवनति होने लगी। संसार में इनका स्थान बहुत ऊंचा नहीं रह गया।

टिराल (आस्ट्रिया) में कताई के कारख़ाने बने, बोहेमिया, मोराविया और साइलीसिया में बुनाई होने लगी। चेकोस्लोवेकिया के व्यवसायियों के सामने भयंकर परिस्थिति आ गई। इन सबका नतीजा यह हुआ कि चेकोस्लोवेकिया का औद्योगीकरण रुक गया। वहां के धन्धे ख़त्म होने लगे। साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि आस्ट्रिया के धन्धे अबाध गति से उन्नति नहीं करते रहे। उसके सामने भी विषम परिस्थितियां आईं। उत्पादक केन्द्रों में संगठित उत्पादन न होने के कारण उनमें अस्तव्यस्तता आ गई। चुंगी और टैक्सों ने इन धन्धों को बढ़ने नहीं दिया। सन् २४ में आस्ट्रिया में १०,५१,००० कर्घे थे। ये घट कर सन् ३८ में ७,४२,००० ही रह गये थे।

ऐलसेस-लारेन

पिछले युद्ध में यह भूभाग फ़्रांस को मिला था। इसका अर्थ यह हुआ कि लगभग १८,९१,४५० कर्घे और ४०,२५८ बिजली द्वारा चलने वाली मशीनें जर्मनी से अलग हो गईं। ये फ़्रांस में मिल गईं। क़रीब ६०,००० टन थोक और खुदरा कपड़ों का उत्पादन फ़्रांस में बढ़ गया। फ़्रांस ने कोशिश की कि यह माल जर्मनी के बाज़ारों में बिके। इसमें सफलता भी मिली, परन्तु धीरे धीरे जर्मनी में भी धन्धे बढ़ने लगे। उधर मार्क फ़ेल हो गया। नतीजा यह हुआ कि यहां का धन्धा भी तरक़्क़ी न कर सका। ऐलसेस लारेन के निकल जाने से जर्मनी का ४६,००० कर्घों का नुक़सान हुआ। पोलैण्ड में भी बहुत नुक़सान हुआ। फिर भी वहां सन् २५ में २,४०,००० कर्घे काम करते थे। जब कि सन् १३ में कुल २,३०,००० ही कर्घे थे।

फ़्रांस

फ़्रांस को इस युद्ध के कारण बहुत नुक़सान उठाना पड़ा। उपनिवेशों से मांग कम हो गई। बहुत सी मिलें और फ़ैक्टरियां नष्ट हो गई थीं। यातायात में भी नई नई तरह की बाधायें पैदा हो गई थीं। प्रतियोगिता थी ही। नतीजा यह हुआ कि फ़्रांस में औद्योगिक उन्नति नहीं हुई। अपने युद्ध के पहले के उत्पादन का तीन चौथाई ही उत्पादन फ़्रांस इन दिनों कर सका। हां, ऊनी माल काफ़ी पैदा हुआ।

इनको बाज़ार मिला और इनकी खपत भी काफ़ी हुई। इस धन्धे में संगठित और सुव्यवस्थित रूप से उन्नति हुई। फ्रांस के औद्योगिक पुर्ननिर्माण का अधिक श्रेय इसी व्यवसाय को है। सन् १३ में फ्रांस में ९९,६७७ यार्न ऊनी कपड़ा तय्यार होता था। सन् २४ में बढ़कर यह १,६०, २४३ यार्न हो गया। परन्तु यह उन्नति भी अबाध नहीं रही। धीरे धीरे ऊन के कपड़े और ऊनी तागों की मांग घटने लगी। बाज़ारों में मांग न होने के कारण, इन धन्धों को भी गहरा धक्का लगा और धीरे धीरे उत्पादन में कमी आने लगी। इस युद्ध के पहले फ्रांस के ऊन के व्यवसाय में काफ़ी कमी आगई थी।

वर्तमान युद्ध और तन्तु उद्योग

इस लड़ाई की दो विशेषतायें हैं। लोगों ने निर्यात-व्यापार (Export-trade) के महत्व को समझ लिया है। साथ ही सब को यह अच्छी तरह पता है कि सारे यूरोप के उत्पादन केन्द्र जर्मनी के अधिकार में रहेंगे। इसलिये अब की बार यूरोप के अन्दर वे बातें (जहां तक व्यवसायों का सम्बन्ध है) नहीं होने वाली हैं, जो पिछली लड़ाई के बाद हुई थीं। यह युद्ध अत्यन्त विघातक है। इसके कारण इन धन्धों का सर्वनाश हो गया है। यूरोप का सारा व्यापार इसके कारण बन्द हो गया है। ब्रिटिश ब्लाकेड ने और भी इसको चौपट कर दिया है। हिटलर की नई व्यवस्था क्या है यह तो किसी को मालूम नहीं पर इतना तो सभी जानते हैं कि हारे हुये देशों के धन्धे या तो नष्ट कर दिये गये हैं, या वे जर्मनी के लिये और उसके कहे मुताबिक़ माल तय्यार कर रहे हैं। इन देशों के उद्योग धन्धे लुट गये हैं। नाज़ियों ने इनको केवल कच्चा माल देने लायक़ बना कर छोड़ दिया है। केवल वही धन्धे पनप सकते हैं, जिनसे जर्मनी को युद्ध चलाने में सहयोग मिल सके। दूसरे धन्धे पनपने नहीं दिये जा सकते।

आज उत्तरी फ्रांस और बेलजियम के धन्धे नष्ट हो चुके हैं। उनका कितना नुक़सान हुआ इसका कोई अन्दाज़ नहीं लगा सकता। वरवियस (बेलजियम) ऊनी माल पैदा करने का केन्द्र था। उसको ऊन मिलना बन्द हो गया। फलैन्डर्स सूती माल का उत्पादक केन्द्र था वह चौपट हो गया। ग्लेन्ट का सूती-उत्पादन मिट गया। फ्रांस के लिले, रुबाई रुबाई तारकूइंग, फ़ुर्मीज़, अबैवलीज़, कम्ब्राई आदि प्रसिद्ध उत्पादन केन्द्र आज ठप हैं। आज फ्रांस के महीन और ख़ूबसूरत कपड़े, जिनकी ख्याति संसार भर में थी, पैदा नहीं किये जा सकते। यह महीन कपड़ों का उत्पादन ही फ्रांस की औद्योगिक उन्नति की रीढ़ था। पिछले युद्ध के बाद फ्रांस ने एक हद तक तरक़्क़ी करली थी। परन्तु इस बार ऐसा होना सम्भव नहीं मालूम पड़ता। नये नये तरह के नक़ली माल शायद फ्रांस को बाज़ारों पर फिर अधिकार न करने दें।

जर्मनी

नेशनल-सोशलिस्ट ज़माने से ही जर्मनी युद्ध की तैय्यारी कर रहा था। उसे मालूम था कि लड़ाई के ज़माने में सूत और रेशम की कमी पड़ेगी। इस लिये उसने नक़ली सूत पहिले ही से तय्यार करना शुरू कर दिया था। उसने देशी सिल्युलोज़ भी पैदा करना शुरू कर दिया था। सूती कपड़ों के मामले में जर्मनी कमज़ोर पड़ता है। वहां कपास की कमी है। काफ़ी प्रयत्न करने पर भी जहाँ तक सूती कपड़ों का सम्बन्ध है, जर्मनी आत्मनिर्भर नहीं बन सका। सन् ३९ में सितम्बर और नवम्बर के बीच में उसने अमरीका से २९,१८,००० पौंड कपड़ा लिया था। पिछले साल (सन् ३८ में) इसी ज़माने में उसने ६,४२,०९,००० पौंड कपड़ा अमरीका से लिया था। यह कमी ब्लाकेड के कारण हुई। सचमुच जर्मनी में कपास की बहुत कमी है। यही हाल ऊन का भी है। सन् ३०-३१ में जर्मनी में ३ करोड़ ५० लाख भेड़ें थीं, सन् ३७-३८ में ये बढ़कर ४ करोड़ ७० लाख हो गईं। देशी ऊन पहले लगभग ३२,००,००,००० पौंड होता था। सन् ३७-३८ में वह बढ़कर ४३,००,००,००० पौंड हो गया। फिर भी जर्मनी

को २,२७,००,००,००० पौंड ऊन बाहर से मंगाना पड़ता था। जर्मनी ने ऊन और सूत की इस कमी को पूरा करने का भरसक प्रयत्न किया। वह काफ़ी सफल भी हुआ। परन्तु उसकी सारी आवश्यकतायें पूरी नहीं हो पाईं। जर्मनी ने नक़ली ऊन और नक़ली रेशम को धड़ल्ले से इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। इसका नतीजा यह होगा कि असली ऊन और असली सूत का महत्व घट जायेगा। लेकिन इससे क्या? जर्मनी का सारा काम तो आज चल ही रहा है।

ब्रिटिश साम्राज्य

यह तो सभी जानते हैं कि विलायत में ही सबसे अधिक सूत की मिलें हैं। पिछले युद्ध के ज़माने में निर्यात काफ़ी घट गया था। जिन बाज़ारों को उस समय विलायती मिलों ने खो दिया था, उन पर पूरा अधिकार इन उत्पादन केन्द्रों का फिर कभी नहीं हो सका। पिछड़े हुये देशों का औद्योगीकरण हो गया। वे देश काफ़ी हद तक आत्मनिर्भर और स्वयं पूरक हो गये। युद्ध की प्रगति के साथ साथ मज़दूरों की तादाद भी घटती जा रही है। सन् ४० के फ़रवरी माह में क़रीब २० फ़ीसदी कर्घे इसलिये नहीं चले कि उनको चलाने वाले मज़दूर ही नहीं मिले। आमदरफ़्त का ख़र्चा बढ़ गया है। मजदूरी भी साथ साथ बढ़ गई है। पिछले मई के महीने में जो मज़दूरी दी जाती थी, वह युद्ध के पहले की मज़दूरी से २२ फ़ीसदी ज़्यादा थी। इतना ही नहीं; यातायात की मुश्किलें, हवाई हमलों के कारण गड़बड़ी, अलार्म और काम का रुकना, इन सबके कारण काफ़ी धन और समय व्यर्थ में नष्ट होता है। उत्पादन में इससे हर्ज ही नहीं होता, बल्कि उसमें आवश्यकता से अधिक ख़र्च भी पड़ता है। पानी की लड़ाई के कारण आयात-निर्यात में बाधा पहुँचती है। कच्चे माल की आमद बन्द हो जाती है। बने हुये माल बाजारों तक नहीं पहुँच पाते।

ग्रेट ब्रिटेन ने न्यूज़ीलैंड, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ़्रीका से काफ़ी ऊन पहले ही ख़रीद लिया। इससे आज की महंगी के ज़माने में उसको नुक़सान नहीं हुआ। लेकिन आज भी यातायात का प्रश्न तो है ही! आज तो बने हुये मालों का निर्दिष्ट-स्थानों तक पहुँचना कठिन ही नहीं असम्भव होता जा रहा है। जहाज़ों की बर्बादी, रास्तों की अस्थिरता, निगहबानी की कठिनाइयां, लड़ाई के जहाज़ों के कारण देरी, इन सबके कारण व्यापार असम्भव होता जा रहा है। कुछ बन्दरगाह तो नष्ट हो गये हैं। भीतरी व्यापार भी ख़तरे से ख़ाली नहीं है। बाहर से रुई भी मंगाना पड़ता है। दूसरी तरफ़, यूरोप के सारे बाजार हाथ से निकल गये। बहुत सी मिलों को कपड़ा, फ़ौजी ड्रेस, कम्बल, सूत, रबर के टायर के कपड़े, तारों के ऊपर के कपड़े, जाली, रस्सियां, ख़ेमे, बोरे आदि का बनाना छोड़कर लड़ाई के सामान तय्यार करने को मजबूर किया गया। इन सबका यह असर हुआ कि ब्रिटिश सूती मिलें भी आज आशाप्रद कार्य नहीं कर रही हैं। जब तक पुनर्संगठन नहीं होता, तब तक इस धन्धे में किसी भी प्रकार की उन्नति की आशा करना व्यर्थ होगा।

ऊन का दाम भी चढ़ता जा रहा है। साथ ही यह भी जाहिर है कि अगर युद्ध चलता रहा, तो दाम लगातार बढ़ता ही जायगा। कनाडा आदि देशों ने यह वादा किया है कि वे ब्रिटिश माल अधिक से अधिक ख़रीदेंगे। लेकिन इससे ऊन के उत्पादन में कोई विशेष सुविधा नहीं हुई। निर्यात की रक्षा के लिये बहुत से रास्ते ढूंढ़े गये हैं। परन्तु इस धन्धे को ख़तरे से ख़ाली कहने के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

ग़ैर यूरोपीय देश

जैसा कि हम जानते हैं, निर्यात की मुश्किलों के कारण अंग्रेज़ी माल ग़ैर यूरोपीय देशों में नहीं पहुँच पाते। फलतः स्वदेशी उद्योग धन्धों में उन्नति होती है। किसी भी प्रकार हो संसार की उत्पादक शक्ति बढ़ती ही जाती है। युद्ध के समय माल बिकता भी जाता है। परन्तु युद्ध के कारण जब लोगों की क्रय-शक्ति क्षीण हो जाती है, तब भयानक स्थिति का सामना करना पड़ता है। युद्ध के बाद अगर इन

धन्धों को संरक्षण न मिले, तो इनमें से बहुतों का जीवित रहना असम्भव हो जाता है। हिन्दुस्तान में पिछले युद्ध के बाद यह सवाल आया था। आज भी यह सवाल उठ रहा है। सर रामस्वामी मुदालियर ने दिसम्बर सन् ३९ में आल इन्डिया इन्डस्ट्रीज़ कानफ्रेंस में बोलते हुये कहा था कि सरकार उन फैक्टरियों और मिलों की सहायता करेगी, जो सरकार के कहे मुताबिक़ चीज़ें पैदा करेंगी। उधर व्यवसायियों का यह कहना था कि सरकार बतावे कि वह किन किन धन्धों को युद्ध के ज़माने में ही नहीं, बल्कि उसके बाद भी किस प्रकार का प्रोटेक्शन देगी। यह स्थिति कभी भी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

सुदूर-पूर्व

चीन और जापान में आज लड़ाई हो रही है। चीन कुछ दिनों से उतना माल नहीं ख़रीद रहा था, जितना वह पहले ख़रीदा करता था। चीन पर इस युद्ध का कोई विशेष असर (जहाँ तक सूती मिलों का प्रश्न है) नहीं पड़ा। जापान ने भरसक यह कोशिश की कि वह सूत का उत्पादन करता जाय, और इसमें किसी प्रकार की बाधा न पड़े। वर्तमान यूरोपीय युद्ध से उसका ज़ाहिरा कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु स्कैन्डीनेवियन देशों से ऊन आना बन्द हो गया है। इससे जापान को काफ़ी मुश्किल पड़ी। सिल्युलोज़ के लिये उसको अमरीका का मुंह जोहना पड़ा। फिर भी वह काफ़ी पैदा कर लेता है। हिन्दुस्तान के बाज़ारों पर उसका अधिकार हो सकता है। अगर हिन्दुस्तान के लोग चाहें, तो वे भी अपने धन्धों को बढ़ा सकते हैं। आशा की जाती है कि अगर लड़ाई चलती रही, तो ये लोग काफ़ी तरक़्क़ी कर जायंगे।

अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड

ब्रिटिश माल को न ले सकने वाले देशों में ख़ाली हिन्दुस्तान ही नहीं है। दक्षिण अफ्रीका भी एक ऐसा देश है, जहाँ पर स्वदेशी कारोबार बढ़ता जा रहा है। युद्ध के पहले ब्रिटेन और फ्रांस सूती माल की ज़रूरत को पूरा किया करते थे। परन्तु अब वहाँ से सामान मिलना असम्भव हो गया है। इसलिये इटालियन, अमरीकन, और जापानी चीज़ों की मांग बढ़ रही है। स्वदेशी सूती मिलों से भी काफ़ी उत्पादन हो रहा है। परन्तु वे सब ज़रूरतें पूरी नहीं कर सकतीं।

मिश्र

मिश्र का सूती-उद्योग भी बढ़ा है। १ करोड़ बीस लाख किलोग्राम सूती कपड़े सन् ३४ में तय्यार हुये थे। वे बढ़कर सन् ३८ में २० करोड़ ७० लाख किलोग्राम हो गये। इसी ज़माने में सूती कपड़े भी ३७,५०,००,००० वर्ग मीटर से बढ़कर ६६,३०,००,००० वर्ग मीटर हो गये। इन आंकड़ों में गृह उद्योग धन्धे के उत्पादन शामिल नहीं हैं। यह ज़ाहिर है कि दिनों दिन मिश्र के सूती उद्योग में तरक़्क़ी होती जायेगी और आयात घटता ही जायेगा।

आस्ट्रेलिया

आस्ट्रेलिया का सूती धन्धा भी तेज़ी से बढ़ता जा रहा है। पिछले लड़ाई के ज़माने में उनको 'संरक्षण' मिला था। तब से आज तक उसकी उन्नति में बाधा नहीं आई। हां, वहां का बना माल महँगा अवश्य पड़ता है। इसका कारण यह है कि वहां कुशल मिस्त्री उपलब्ध नहीं हैं। रंगों के लिये बाहर वालों पर निर्भर होना पड़ता है। मशीनें भी बाहर से ही आती हैं। देश के भीतर ही व्यापार में काफ़ी ख़र्चा पड़ जाता है। युद्ध शुरू होने पर सरकार ने इस बात पर फ़ौरन ही ध्यान दिया कि देशी उद्योग धन्धों में तरक़्क़ी कैसे की जाय। तमाम तरह के फ़ौजी और दूसरे कपड़े बन रहे हैं। सरकार का भी सहयोग इन व्यवसायियों को प्राप्त होता जा रहा है। देखना है यहाँ के सूती व्यवसाय का भविष्य क्या होता है?

न्यूज़ीलैण्ड

इसी प्रकार न्यूज़ीलैण्ड में भी देशी कारोबार की बढ़ती हो रही है। उद्योग व्यवसाय-मन्त्री को

वहाँ की सरकार ने यह अधिकार दिया है कि लिनेन और फ़्लैक्स-धन्धे को अधिक से अधिक उन्नत करने का वह प्रयत्न करे।

कनाडा

कनाडा के उद्योग धन्धे बड़ी तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। पिछले युद्ध के बाद से आज तक कनाडा ने ७ करोड़ डालर की मशीनें ख़रीदी हैं। नई नई इमारतें बनीं, नई नई फैक्टरियां खुलीं और नये नये कारख़ाने बने। सन् १९३९ से ४० में सूत की गांठें ७९ फ़ीसदी ज़्यादा हुई थीं। हां, ऊन के धन्धे में उतनी उन्नति नहीं हुई; बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि अब उसमें घटती ही हो रही है। मशीनों के दाम चढ़ गये हैं, अमरीका जाने वाले मालों पर टैक्स बढ़ गया है। डालर का भाव भी बढ़ गया है। कुशल मज़दूरों की कमी है। कच्चे माल के दाम बहुत काफ़ी बढ़ गये हैं। इसीलिये इस धन्धे में काफ़ी तरक़्क़ी नहीं हो रही है। सन् १९३९ में कनाडा ने १,३०० टन फ़्लैक्स सूत बाहर भेजा। इस साल आशा की जाती है कि वह ४,५०० और ५,००० टन के बीच में बाहर भेजेगा। मज़दूरी गिरा होने के कारण इस धन्धे की उन्नति में भी बाधा पड़ी है। बेलजियम का प्रसिद्ध अन्वेषक मारिस सोनेनीज़ इस समय कनाडा में ही है। उसी की मशीनों के आधार पर कनाडा में भी मशीनें ढाली जा रही हैं। आर० जे० हचिन्सन फ़ाइबर विभाग का प्रधान यह आशा करता है कि जहाँ तक फ़्लैक्स-फ़ाइबर का सम्बन्ध है, यह धन्धा दिनों दिन बढ़ता ही जायेगा। आज अमरीका से जितना भी ऊन आता है, सब इन मिलों में खप जाता है। अमरीका से काफ़ी कपास भी आता है।

अमरीका

अमरीका को बाहरी सूती मालों की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती, हालांकि घरेलू माल से ही सारा काम नहीं चलता. फिर भी अगर बाहर से माल आना बिल्कुल बन्द हो जाय, तो अमरीका अपने यहां काफ़ी माल पैदा करके अपना काम चला लेगा। हां, यह ज़रूर है कि ऐसी हालत में चीज़ों का दाम काफ़ी चढ़ जायेगा। जूट के धन्धे में काफ़ी उन्नति हो रही है। इन दिनों कपास, ऊन, स्टेपलफ़ाइबर, रेशम, फ़्लैक्स हेम्प आदि का बनना ज़रा कम हो गया है। बाहर से आने वाले सूती कपड़ों में मुख्य माल जापान का है। अगर देशी धन्धे बढ़ जायं, तो आज यह रुक सकता है। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक बाहर से कपड़े मंगाने ही पड़ेंगे।

अमरीका के पास ख़र्चे और खपत के लिए जितना रेशम का पक्का सूत सन् ३९ में था, उसका आंकड़ा इस प्रकार है।

१० लाख पौंड

हर ३ महीना	उत्पादन	आयात	खपत के लिये	उत्पादन	आयात	खपत के लिये
१	२०.५	९.०	२९.५	१०.९	१०.१	२१.०
२	१९.१	३.२	२२.३	११.५	१०.९	२२.४
३	...	...	...	१४.०	१०.०	२४.०
४	...	...	...	१६.७	१६.४	३३.१
साल भर में				५३.१	४७.४	१००.५

इसी प्रकार स्टेपल फ़ाइबर, जो बाहर से आये, उनका आंकड़ा इस प्रकार है—
६ महीने में

कहां से आया	सन् ३९		सन् ४०	
	पौंड	फ़ी सदी	पौंड	फ़ी सदी
जापान	१७९	०·९	३,५०६	२९·०
इटली	१,७८२	८·५	३,३६५	२७·६
ब्रिटिश साम्राज्य	१४,१५१	६७·०	४,६८२	३८·६
फ़्रांस	३,१२९	१४·९	३५७	२·९
जर्मनी	१,३१७	६·३	१२०	१·०
बेलजियम	४११	१·९	९८	०·८
अन्यत्र से	३	...	६	०·१
कुल	२०,९७२	१००	१२,१३४	१००

इटली और जापान को जो आयात हुआ, उसमें ३९ फ़ीसदी वृद्धि हो गई, परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य से जो आयात हुआ उसमें कमी हो गई। यह कमी लगभग २८ फ़ी सदी थी। इटली से तो अब माल आता नहीं। फ़्रांस, जर्मनी, बेलजियम और जापान से माल आना असम्भव ही है।

ऊन भी अब तक ब्रिटिश साम्राज्य, फ़्रांस और थोड़ा थोड़ा जापान तथा इटली से आया करता था। अब फ़्रांस और इटली से तो ऊन का आना बिल्कुल ही बन्द हो गया है। और जगहों से जो सामान आता है, वह फ़्रांस की क्वालिटी को नहीं पहुँच सकता। लिनेन के तागे भी चेकोस्लोवेकिया और बेलजियम से आते थे। अब इनका आना भी बन्द हो गया। केवल ब्रिटिश साम्राज्य से ही काफ़ी मुश्किल के बाद थोड़ा बहुत सामान आ पाता है।

निर्यात की अवस्था भी पिछले युद्ध के बाद से बदल गई। सन् १४ के पहले अमरीका के निर्यात का दो तिहाई हिस्सा खुर्दा सामान, कपास, खाने का सामान आदि था। अब ज़माना बदल गया है। अब इन चीज़ों का निर्यात केवल २।५ रह गया है। चीज़ों का भाव भी काफ़ी बढ़ गया है। डच-हिन्द पहले अमरीका का सामान काफ़ी लिया करता था। अब वह इतना माल नहीं ख़रीद सकता। इसलिये दूसरे बाज़ारों की खोज करनी पड़ेगी। शायद दक्षिण अफ़्रीका के बाज़ारों में काफ़ी खपत हो सके।

दक्षिण अफ़्रीका का भी यही हाल है। अगर चीज़ों का भाव बढ़ गया, जैसी उम्मीद है, तो इस धन्धे में काफ़ी तरक़्क़ी हो जायेगी। युद्ध के कारण अच्छे से अच्छा कपड़ा तय्यार करने में भी आसानी होगी। अगर उत्पादन का संगठन हो पाया, तो कुछ मुश्किलें आसान हो जायेंगी। निर्यात भी बढ़ सकता है और धन्धों में तरक़्क़ी भी हो जायेगी।

अन्त में दो शब्द और कहना है। शान्ति के ज़माने में, जब उत्पादन के केन्द्र खुलते हैं, तो उनका

संगठन भी हो पाता है और सफलता पूर्वक उत्पादन और क्रय-विक्रय का इन्तज़ाम भी होता है। पर युद्ध के ज़माने में हालत बदल जाती है। चीज़ों के मूल्य में अस्तव्यस्तता और अस्थिरता रहती है। आयात-निर्यात के साधन मुश्किल हो जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सन्तुलन असम्भव हो जाता है। उत्पादन के केन्द्र नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। व्यापार और व्यवसाय में उन्नति असम्भव हो जाती है। साथ ही उन देशों में, जो बाहर से माल मंगाया करते थे, युद्ध के ज़माने से काफ़ी औद्योगिक उन्नति हो जाती है। नतीजा यह होता है उत्पादक देशों का निर्यात घट जाता है और एक भयानक स्थिति पैदा हो जाती है। इन बातों का ध्यान करके अगर हम वर्तमान युद्ध के बारे में सोचते हैं, तो हृदय दहल उठता है। विनाश, राष्ट्रीय चौहद्दियों में परिवर्तन तथा इसी प्रकार की अन्य समस्यायें सामने खड़ी हो जाती हैं। इस लेख में इन विषयों पर पूरा प्रकाश स्थानाभाव के कारण नहीं डाला जा सका। विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर यह साफ़ पता चल जायेगा कि जहां तक उद्योग-धन्धों का सम्बन्ध है, युद्ध का असर आर्थिक दृष्टि से कभी भी अच्छा नहीं हो सकता।

मुझसे मेरा नाम न पूछो !

श्री गोपीकृष्ण

तुमको अगणित चिन्तायें हैं,
तुम दुनिया के चिन्तक मानव,
सह न सकोगे दुर्बल, जर्जर,
मेरी अन्तर्ध्वनियों का रव,
अपना उजड़ रहा घर देखो,
मेरा उजड़ा ग्राम न पूछो !
मुझसे मेरा नाम न पूछो !!

तुमको अपनी सौ साधें हैं,
तुमको अपने सौ धन्धे हैं,
मेरी साधें शव हैं जिनको,
दूभर मिलने दो कंधे हैं,
मत पूछो, मैं क्यों आया हूँ,
काम बढ़ेगा, काम न पूछो !
मुझसे मेरा नाम न पूछो !!

मैं राही हूँ जिसने चलना—
शुरू किया है आंधी से लड़,
मैं राही हूँ जिसकी राहें—
गिरि-पगडण्डी, ऊबड़-खाबड़,
सुबह मौत के मुंह से निकला,
आने वाली शाम न पूछो !
मुझसे मेरा नाम न पूछो !!

बेर्गसों का दर्शन

डाक्टर नारायण विष्णु जोशी, एम० ए०, डी० लिट०

(३)

मॅक्केलर स्ट्यूअर्ट अपनी Critical Exposition of Bergson's Philosophy में बेर्गसों द्वारा प्रतिपादित जड़ता की कल्पना पर आलोचना करते हुए लिखता है—

"इस प्रारंभिक, शुद्ध, सृजनशील क्रिया में कभी बाधा उपस्थित होने का कोई कारण ही दिखलाई नहीं पड़ता; और यद्यपि उसमें से इतने फ़व्वारे उड़ते हैं, तो भी इस बात पर विश्वास करने के लिये क्या कारण है कि वे एकदम ही "गिरना" शुरू करें ? उनकी स्वतंत्र क्रिया के उसी प्रकार जारी रहने के लिये सभी कारण दिखलाई पड़ते हैं, क्योंकि उनका मुख्य स्वभाव, उनका समूचा स्वभाव ही वस्तुतः स्वतंत्रता है। हमारे जगत् में उपलब्ध सृजन की तुलना यहां किसी काम की नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार स्वयं बेर्गसों ने कहा है, जीवन धारा में जड़ता के विरोध के कारण ही विभाजन होते हैं और जड़ता के अस्तित्व को उसकी अपनी उत्पत्ति में अवयव नहीं माना जाना चाहिये। अपरंच, जब बेर्गसों यह कहता है कि जड़ता वह गति है, जिसकी दिशा जीवन की गति से विपरीत है, तब उसका क्या मतलब है ? क्या उसका यह मतलब है कि जीवन और जड़ता एक ही बिन्दु से विनिर्गत हैं और यह कि यदि जीवन उस बिन्दु से आरोहण करता है तो जड़ता वहां से अवरोहण करती है ? यदि ऐसा है, तो यह समझना मुश्किल है कि वे एक दूसरे के विरोध में क्यों उपस्थित होते हैं। क्या उसका यह मतलब है कि एक गति विकेंद्रीकरण की ओर बढ़ती है, तो दूसरी गति अधिक संपूर्ण व्यवस्था की ओर जाती है ? तब किन्हीं भी दो स्थितियों में केवल तारतम्य का अन्तर होगा और इस बात का निश्चित रूप से निषेध करना असंभव होगा कि यह गति केवल एक ही है, जो या तो एक सिरे की ओर अथवा दूसरे सिरे की ओर मुड़ी हुई है, किन्तु किस सिरे की ओर मुड़ी हुई है यह हम नहीं बतला सकते। सत्य तो यह है कि यह चिंतन मनोरंजक है, किन्तु हम अपने आपको ईश्वरीय मन में प्रवेश कराने के और ईश्वर के साथ जग की सृष्टि का अनुभव करने के बहुत पूर्व जिस गहराई पर पाते हैं, उसको नापने के लिये हमारी रस्सी छोटी पड़ जाती है।" (p. 181)

प्रो० मॅक्केलर स्ट्यूअर्ट की बेर्गसों द्वारा प्रतिपादित जड़ता की कल्पना की उपर्युक्त आलोचना अधिक अंशों में ठीक है। हमें बेर्गसों की कृतियों में अनेक ऐसे अंश मिलेंगे, जहां बेर्गसों जीवनोत्प्लव से जड़ता को एकदम अलग समझता है। बेर्गसों की जो प्रणालीकरण (Canalization) १ की कल्पना है वह तो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

---

(१) "The more the nervous system develops the more nervous and more precise become the movements among which it can choose; the clearer also is the consciousness that accompanies them. But neither this mobility nor this choice nor consequently this consciousness involves as a neccessary condition the presence of a nervous system. the latter has only canalized in definite directions, and brought up to a higher degree of intensity, a rudimentary and vague activity, diffused throughout the mass of the organised substance."

(Cr. Evo., pp. 115-116.)

बेर्गसों के अनुसार जीवन की सृजन शील उत्क्रांति की भिन्न भिन्न अठखेलियों (Sirmosities) १. का मूल कारण यह है कि जिवनोल्लव को दी हुई जड़ता की रुकावट का सामना करना पड़ता है। जीवनोल्लव को इस जड़ता के बीच से अपना मार्ग ढूंढ़ना पड़ता है। जीवनोल्लव का जड़ता में यही प्रणालीकरण उत्क्रांति की अठखेलियों का मूल कारण है। नीचे दिये हुये उद्धरणों से हम इस बात को समझ सकेंगे।

"अंत में चेतनता मुख्यतः स्वतंत्र है। वह स्वयं स्वतंत्रता है; किन्तु वह जड़ता में से, अपने आपको उस पर स्थिर किये बग़ैर उसका अनुवर्तन किये बग़ैर, नहीं गुज़र सकती। इसी अनुवर्तन (adaptation) को हम बौद्धिकता कहते हैं और बुद्धि अपने आप को गतिमान की ओर अर्थात् स्वतंत्र चेतना की ओर झुका कर, उसे स्वभावतः ऐसे काल्पनिक रूपों में प्रवेश कराती है, जिनमें वह जड़ता को जम जाते हुए देखने की आदी हो गई है।" (Cr. Evo. 285.,)

"जीवन का उत्प्लव जिसके बारे में हम बोल रहे हैं, सृजन की अंतः प्रेरणा है। वह आत्यंतिक रूप से कुछ भी सृजन नहीं कर सकता, क्योंकि उसको जड़ता का, अर्थात् उस गति का जो उसके विपरीत है, सामना करना पड़ता है।"(Cr. Evo. P. 265)

इस प्रकार के और भी कई उद्धरण हमें बेर्गसों की कृतियों में मिलते हैं, जिनमें बेर्गसों स्पष्ट रूप से मानता है कि जड़ता का अस्तित्व जीवन से पृथक् है। किन्तु, इतना होते हुये भी एक बात है। बेर्गसों ने जड़ता का जीवन से आत्यंतिक विरोध कभी नहीं बतलाया है। क्योंकि जैसा कि हम उपर बतला चुके हैं, बेर्गसों ने जड़ता का कारण जीवनोत्प्लव ही की शिथिलता, प्रत्यावर्तन, अवरोह, प्रतिगामिता• बतलाया है। अर्थात् मूलतः जड़ता और जीवन में आत्यंतिक विरोध नहीं। उसमें केवल रूप की भिन्नता है। एक ही सत्य शक्ति अपनी सृजन शीलता में जीवन है और अपनी निष्क्रियता में जड़ता बन जाती है। किन्तु तब भी प्रश्न तो यह शेष रही जाता है कि आख़िरकार उत्क्रम्यमाण शक्ति में शिथिलता आने का कारण क्या? एक ही गति जब आरोहणशील है, तो उसे अवरोह की ओर मुड़ने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? इन प्रश्नों के उत्तर बेर्गसों की कृतियों में पाने की हम व्यर्थ चेष्टा करते हैं।

× × ×

बेर्गसों के दर्शन के उपर्युक्त दोष का एक मुख्य कारण है। उसे यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि समकालीन दार्शनिक स्वातंत्र्यवाद की उत्पत्ति उस विचारधारा से होती है, जिसका प्रारम्भ लाशामे और द्यू बाईरेमां में पर्यवसित वैज्ञानिक बुद्धिवाद तथा हेगेल में पर्यवसित दार्शनिक बुद्धिवाद की प्रतिक्रिया से होता है। हमने यह भी बतला दिया है कि बुद्धिवाद के पुरस्कर्ता स्वयं ह्यम और तत्पश्चात् कांट ने बुद्धिवादी दर्शन के प्रति अपना अविश्वास व्यक्त किया था। बुद्धिवाद से छुटकारा पाने के लिये कांट ने आख़िरकार अपने Critique of Practical Reason और Critique of Judgment की सृष्टि की थी। यद्यपि, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, कांट स्वयं इन कर्मबुद्धि तथा भावना की मीमांसाओं से सन्तुष्ट नहीं था, क्योंकि इन दोनों मीमांसाओं में कांट ने सत्य को कर्मबुद्धि तथा भावना के क्षेत्र से परे माना है, तथापि जो दार्शनिक बुद्धिवाद की अचलता, कठोरता और स्थूलता से ऊब गये थे, उन्होंने, कांट के द्वारा दी गई ख़तरे की सूचना को न मानते हुए, कर्मबुद्धि और भावना को दर्शन का अधिष्ठान मान ही लिया। उदाहरणार्थ, शोपेनहार अंधेच्छा को, हार्टमान विचेतन को, आरफ्रे फुइये शक्ति-कल्पना (idee-force) को, मूल्य दर्शन के उन्नायक मानवता के चिरंतन मूल्यों के आविर्भावक हेतु स्वतः स्फूर्त आध्यात्मिक शक्ति को, रान्हेसों और सेक्रेतां सौंदर्योपासना में अभिव्यक्त भावना को सृष्टि का

(१) Creative Evolution का पृष्ठ १०७ देखिये

आधारभूत तत्त्व मानते हैं। उसी प्रकार, बेर्गसों का जीवनोल्लास भी एक बुद्धिविरोधी तत्त्व है, जो हमारी नैतिक चेष्टाओं का मूलस्रोत कर्मबुद्धि की कल्पना से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

अब प्रश्न है: क्या हमारा शुद्ध बुद्धि की अपेक्षा कर्मबुद्धि को सत्य के साक्षात्कार के विषय में अधिक महत्त्व देना उचित है?

समीक्षा के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि बुद्धि, कर्म और भावना इनमें रूप की भिन्नता होते हुए भी, इन तीनों का अभिव्यक्ति का प्रकार एक ही जैसा है। उत्कट बुद्धिवादी हेगेल के दर्शन का दोष बतलाते हुए हम यह कहते हैं कि उसने ज्ञाता और ज्ञेय का आत्यंतिक ऐक्य जो परमात्मा (Absolute) है, उसे अचल माना है। अर्थात्, हेगेल के अनुसार परमात्मा शुद्ध बुद्धि का वह चरम ध्येय है, जिसे ससीम आत्मा (finite self) अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा निरंतर प्राप्त करने की चेष्टा करता है। ज्ञान का यह आदर्श अचल होना ही चाहिये। क्योंकि वह भी यदि चल रहा, तो उसमें अपूर्णता आ जायगी और इसीलिये वह ज्ञान का चरम आधार नहीं बन सकता।

किन्तु यही बात हम कर्म और भावना के विषय में भी तो कह सकते हैं। वस्तुतः कर्म की आवश्यकता ही इसलिये होती है कि कर्ता बाह्य जगत् को अपने विरोध में उपस्थित पाता है। अर्थात्, वह यह अनुभव करता है कि किसी प्रकार उसमें और बाह्य जगत् में यही सामञ्जस्य का अभाव है। कर्ता और बाह्य जगत् का यही असामंजस्य कर्ता को बाह्यजगत् को अपनी इच्छानुसार ढालने की चेष्टा के लिये प्रेरित करता है। ज्यों ज्यों कर्ता अपने कर्म द्वारा बाह्य जगत् को स्वेच्छानुसार ढालता जाता है, त्यों त्यों उसके कार्य में नैतिक प्रगति का अंतर्भाव होने लगता है। इस नैतिक प्रगति का अंतिम ध्येय है कर्ता और बाह्यजगत् में पूर्ण सामंजस्य। यह ध्येय बुद्धि के ध्येय के समान ही अचल और पूर्ण है। जब तक कर्ता इस ध्येय को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक तो नैतिक प्रगति है। ध्येय प्राप्त हो चुकने पर नैतिक प्रगति की आवश्यकता ही शेष नहीं रह जाती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म बुद्धि के लिये संघर्ष की आवश्यकता होती है। किन्तु यह संघर्ष अंध नहीं है। वह नीति के एक अचल और पूर्ण ध्येय की अपेक्षा रखता है। कांट ने इसी बात को अपनी 'कर्म बुद्धि की मीमांसा' में यह कह कर व्यक्त किया है कि आत्म-स्वातन्त्र, अमरता तथा ईश्वर ये नैतिकता की तीन अनिवार्य मान्यताएं हैं। आत्म स्वातंत्र्य इसलिये कि जब तक आत्मा स्वनिश्चित ध्येय की ओर बढ़ने में स्वतंत्र न हो, तब तक उसके किसी कार्य को नैतिकता के गुण नहीं लगाये जा सकते। उसी प्रकार इस बात की भी आवश्यकता है कि आत्मा को बाह्य जगत् के संघर्ष के कारण यदि कुछ रुकावट हुई, तो आत्मा पुनः स्वचेष्टा से उस व्यवधान को दूर कर सकती है। इसी भावना से अमरता की मान्यता की उत्पत्ति होती है। अन्त में प्रत्येक कर्ता की यह विशिष्ट भावना होती है—और वस्तुतः इस भावना पर विश्वास ही नैतिक प्रगति का आदि से अन्त तक निर्वाह करता है—कि कभी न कभी कर्ता और बाह्य जगत् का विरोध नष्ट हो जायगा और ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी कि व्यक्ति को अपने सद्गुण के तारतम्य में कम या अधिक सुख की उपलब्धि होगी। नैतिक कर्ता के इसी विश्वास से ईश्वर की कल्पना की सृष्टि होती है। कर्ता यह मानता है कि ईश्वर में आत्मा और बाह्य जगत् के बीच स्थित संघर्ष का अन्त हो जायगा। वही उसको स्वर्ग, गोलोक अथवा बहिश्त में स्थान देगा, जहां उसको चिर सुख और एकान्त आनन्द की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार कांट ने आत्म-स्वातन्त्र्य, अमरता और ईश्वर को नैतिकता की तीन अनिवार्य मान्यताएं माना है। साथ में उसने यह भी कहा है कि ये मान्यताएं नैतिकता की नियामक शक्तियां हैं, किन्तु विधायक शक्तियां नहीं। अर्थात्, कांट के अनुसार नीति अपने मूल भूत इन तीन सत्यों का स्वयं

साक्षात्कार नहीं करा सकती। क्योंकि यदि नैतिकता द्वारा हम ईश्वर को प्राप्त कर सकें, तो संघर्ष की भावना नष्ट हो जायगी और फलतः नैतिकता की आवश्यकता भी शेष नहीं रहेगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि शुद्ध बुद्धि के समान ही कर्मबुद्धि में भी संघर्ष की भावना तथा अचल आदर्श की कल्पना का अंतर्भाव होता है। इस स्थापना के अनुसार यदि बुद्धितन्त्र दर्शन (epistemological metaphysics) का पर्यवसान अचलता में होता है, तो उसी प्रकार कर्मतन्त्र दर्शन (axiological metaphysics) का पर्यवसान भी अचल आदर्श की स्थापना में होना ही चाहिये। और वास्तव में यह बात है भी। यदि हम नव स्वातन्त्र्यवाद के दर्शनों का अध्ययन करेंगे, तो हमें उपर्युक्त स्थापना की प्रामाणिकता में विश्वास हो जायगा। (Philosophy of Values) में जो कि नव-स्वातन्त्र्यवाद की एक बड़ी गम्भीर धारा है— यह बात बड़ी स्पष्टता से दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, म्युन्स्टर्बेर्ग की Overpersonal self की कल्पना हमें चिरंतन मूल्यों के अचलायतन की याद दिलाती है।

ठीक इसी तरह बेर्गसों की तत्त्वचिंता में भी कर्मतन्त्र दर्शन की उपर्युक्त असंगति जड़ता की कल्पना में व्यक्त हुई है। चूंकि बेर्गसों का मूल तत्त्व जीवनोल्लव है, जो कि निरंतर सृजनशील विकस्वर एवं गतिमान है, इसलिये बेर्गसों किसी अचलायतन की कल्पना तो करने से रहा। बेर्गसों स्वयं ईश्वर को भी जीवनोल्लव के समान गतिमान, विकस्वर एवं सृजनशील मानता है।[१] ईश्वर की यह कल्पना कहां तक ठीक है, इसका विवेचन हम यहां नहीं करेंगे। किंतु एक बात अवश्य है। ईश्वर को जीवन के समान गतिमान मान लेने मात्र से बेर्गसों की कठिनाइयों का अन्त नहीं हुआ, प्रत्युत् उनकी तीव्रता और भी बढ़ गई है। दूसरे कर्मतन्त्र दर्शनों में अचल ईश्वर को मान लेने से यह तो समाधान मिल सकता था कि हमारी नैतिकता का अंगभूत कर्ता और बाह्य-जगत के संघर्ष का ईश्वर के साक्षात्कार द्वारा अंत हो सकता है। किंतु बेर्गसों में ईश्वरीय आदर्श के अभाव में संघर्ष की भावना के निरसन का कोई साधन नहीं मिलता। और, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, बेर्गसों के दर्शन में जड़ता और जीवन की द्वैत भावना अंत तक बनी रहती है।

हम अब समझ सकते हैं कि कर्मतन्त्र दर्शन बुद्धितन्त्र दर्शन के समान ही दोषयुक्त है। बेर्गसों के दर्शन की कर्मतन्त्रता ही उसके दोषों का मूल कारण है। अतः यदि हम दर्शन को दोषों से मुक्त करना चाहते हों, तो यह आवश्यक है कि उसे न तो बुद्धितन्त्र माना जाय और न कर्मतन्त्र। दर्शन आत्म-तन्त्र होना चाहिये। हमने अपनी डॉक्टरेट् की थीसिस "Metaphysics of Individuation" में दर्शन को आत्मतन्त्र बनाने के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएं दी हैं। सम्भव है कि हम उन्हें किसी समय उनकी समग्रता में अपने पाठकों के समक्ष उपस्थित कर सकेंगे।

---

(१) "Now if the same kind of action is going on everywhere, whether it is that which is unmaking itself or whether it is that which is striving to remake itself, I simply express this probable similitude when I speak of a centre from which worlds shoot out like rockets in a fire-works display provided, however, that I do not present this centre as a 'thing', but as a continuity of shooting out God, thus defined, has nothig of the already made. He is unceasing life, action, freedom." (Creative Evolution, p. 262.)

गोंड़ो का 'बड़ा भाई' एलविन

श्री कृष्णदत्त भट्ट, स० सम्पादक 'आज'

उन दिनों था जबलपुर में। एक दिन किसी बन्धु ने बताया कि आजकल 'धुंआधार' फिल्म की शूटिंग हो रही है मंडला ज़िले में। गोंड़ो का चित्र लिया जा रहा है! तुरन्त ही आंखों के सामने नाच गयीं दो तसवीरें—एक तो यह कि इस चित्र की बदौलत सभ्य संसार भी इन मूल निवासियों की ओर पल भर दृष्टि डाल कर अपने टिकट के पैसे सार्थक करेगा, जिनकी ओर कोई देखकर भी नहीं देखना चाहता। और दूसरी यह कि इन अशिक्षित मूर्ख, निर्धन और पीड़ित ३५ लाख भाइयों की सेवा में अपने को खो देने वाला भी एक भाई है, जिसे वे "बड़ा भाई" कह कर पुकारते हैं और वह है हमारा प्यारा—वैरियर एलविन!

ईसा का सच्चा भक्त

विश्वबन्धुत्व और प्रेम, सेवा और नम्रता, सत्य और बलिदान की महात्मा ईसा ने व्यावहारिक शिक्षा दी। आज उनके भक्तों में ऐसे व्यक्ति कितने हैं, जो अपने जीवनमें उसका आचरण करते हैं! दाल में नमक के बराबर भी तो नहीं। आज तो एलविन और एण्डूज़ सरीखे लोगों की अपवाद में गिनती की जा सकती है। यदि उनके सभी भक्त ऐसे ही हो जायं, तब तो कहनाही क्या? फिर तो न यह रक्तपात ही रहे और न संसार में अशान्ति का नाम। आज धर्म प्रचारक का लबादा पहनकर भी कितने ही पादरी और पुरोहित उन सिद्धान्तों की हत्या करते हैं, जिनके प्रचारक होने का वे दावा करते हैं। यही कारण था कि वैरियर एलविन को सन् १९३१ में क्राइस्ट सेवा संघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेना पड़ा।

भारत आगमन

अक्तूबर सन् २७ की बात है। शुद्ध धर्म प्रचार की भावना से प्रेरित होकर एलविन साहब एक टोली के साथ आक्सफोर्ड से भारत आये। ४ वर्ष तक आपने पूना के क्राइस्ट सेवा संघ में कार्य किया, परन्तु वह कार्य क्या था—रात दिन का आत्मिक संघर्ष था। उन्होंने देखा कि मैं ईसा के सच्चे आदेशों से दूर हटता जा रहा हूं। उनको विश्वबन्धुत्व और सेवा, त्याग और बलिदान की भावना को कार्य रूप में भली प्रकार परिणत करने में अपने को असमर्थ पा रहा हूं। तब मेरे इस कार्य का महत्व ही क्या? यह आत्मग्लानि क्रमशः असह्य हो उठी और एक दिन आपने उक्त संघ से अपने को अलग कर ही लिया।

नया सेवा-क्षेत्र

वहां से अलग होकर आप सोचने लगे कि अब मैं क्या करूं? आपका सेवा परायण हृदय महात्मा गांधी की ओर झुका। कुछ दिन आप एण्डूज के साथ भी रहे, परन्तु ऐसे भी कहीं प्यासे दिल की बेचैनी दूर होती है! आपको तो सेवा और ठोस सेवा के लिए कार्य-क्षेत्र चाहिये था। इसी बीच आपके जिगरी दोस्त श्यामराव हिवाग्ले इंग्लैण्ड से लौटे और बस आप दोनों एक सौ रुपया लेकर मंडला जिले में गोंड़ो की सेवा के लिए उनके बीच जा ही तो बैठे।

करंजिया में डेरा

करंजिया नामक छोटे से गांव में इन लोगों ने डेरा जमाया; उन उपेक्षित भाइयों की सेवा के लिए, जिनको सभ्य संसार कभी पूछता तक नहीं। यहीं पर

इस गोरे भाई ने अपने "भूमिजन सेवा मण्डल" की नींव डाली और उसे दृढ़ बनाने के लिए रात दिन एक कर दिया। भयावह दरिद्रता, अशिक्षा, बीमारी आदि अनेक बातों से संघर्ष करना था और उसने वही किया। पहले तो गोंड़ भाई उस पर विश्वास ही न कर सके! स्वाभाविक भी है ऐसा। कारण है, भीषण अत्याचार और उत्पीड़न की चक्की में पिसते पिसते श्वेतांगों से विश्वास उठ ही जा सकता है। परन्तु एलविन तो उस धातु का, है ही नहीं। आख़िर उसके प्रेम का, उसकी निःस्वार्थ सेवा का लोगों ने सिक्का माना।

मण्डल का कार्य

आज एलविन साहब के "भूमिजन सेवा मण्डल" की दस शाखाएं हैं। प्रधान केन्द्र है पाटन में। वहां पर एक पुस्तकालय, एक संग्रहालय, एक अस्पताल है। एक अतिथिशाला, एक दूकान, एक धर्मशाला और एक बच्चों के लिए छात्रावास है। इसके अलावा एक एक पाठशाला प्रत्येक शाखा में है। मण्डल की ओर से कोढ़ियों की चिकित्सा के लिए जो अस्पताल है, वह अनुपम ही कहा जा सकता है। वहां पर भेदभाव का नाम तक नहीं है। भेदभाव रखकर सेवा करना सम्भव भी तो नहीं है।

आज "बड़ा भाई" और "छोटा भाई" (श्री श्यामराव) गोंड़ों के सर्वस्व हैं। प्रत्येक गोंड़ के हृदय में उन्होंने अपनी अमूल्य सेवा से परम आदर का स्थान बना लिया है। कोई भी मुसीबत, कोई भी कष्ट उन पर आया नहीं कि वे दौड़े इनके समीप। क्योंकि वे जानते हैं और भली प्रकार जानते हैं कि ये हमारे सच्चे हमदर्द और सच्चे शुभचिन्तक हैं। तब वे इन्हें छोड़ कर और जांय कहां?

विवाह

अभी थोड़े ही दिन पहले की तो बात है। लोगों ने समाचार पत्रों में चकित होकर पढ़ा कि सेवा के इस अनुपम पुजारी ने, जो आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का "डबल फर्स्ट" है, चार्ल्स ओल्डहैम स्कालर, मैथ्यू आर्नेल्ड प्राइज़मैन तथा रायल एन्थ्रापोलाजिकल इन्स्टीटयूट का फैलो है, कोशीबाई नामक एक गोंड़ कन्या से विवाह कर लिया! जहां पर और जिन लोगों की सेवा में अपने को खपा देने का एलविन ने व्रत लिया है, उन्हीं के बीच से उसने अपनी जीवन संगिनी खोज ली!

ग़रीबों के दुःख में रोने वाले, उनके लिये सर्वस्व बलिदान कर देने वाले, ऐसे अनुपम सेवा-व्रती के चरणों में किसका हृदय श्रद्धा और आदर से न झुक जायगा। परमात्मा करे हमारा यह 'बड़ा भाई' अनन्त काल तक जीवित रहकर हमें निःस्वार्थ सेवा की शिक्षा देता रहे!
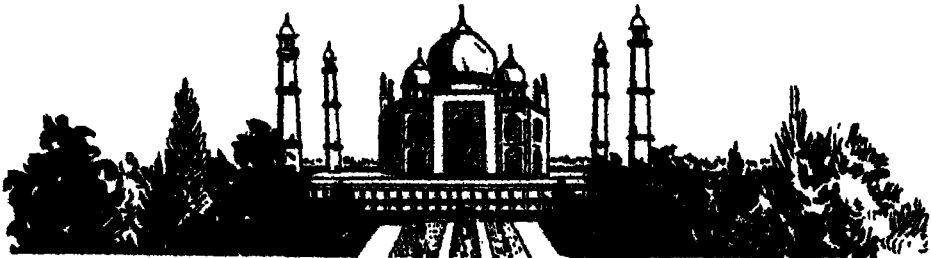
छुट्टी का समय

श्री 'मौलाना'

'विश्ववाणी' के परिचित हमारे एक आदरणीय बुजुर्ग ने घरों के नौकरों (Domestic Servants) की स्थिति पर इस लेख में रोशनी डाली है। डोमेस्टिक सरवेंटस् की समस्या भी एक तकलीफ़देह समस्या है। हमारे समाजवादी भाइयों को इस समस्या पर खास तौर से ग़ौर करना चाहिये। हमारे अनेक समाजवादी मित्र अपने निजी नौकरों के लिये ८ घण्टे का नियम नहीं मानते। हाला कि बाहर वे इसी के लिये हड़तालें कराते हैं।

जेठ का महीना था और दोपहर का समय। लू बड़े ज़ोर से सायं सायं चल रही थी। सभी नौकर नौकरानियां छुट्टी पाकर अपनी कोठरियों में आ चुके थे। कोई चने चबा रहा था, तो कोई रोटियां ठोंक रहा था। मैकू की कोटरी से उसके खुर्राटों का शब्द बाहर सुनाई दे रहा था। बराबर बरामदे में मैकू की दुलहिन रोटी पका रही थी और उसके बराबर की कोठरी के बरामदे में कुछ लोग गपशप लगा रहे थे।

चने चबाते चबाते भोला हंसा और बोला—"यह साला मैकुआ कुंभकरण की नाईं सो रहा है, मानों रात भर सोने को मिला ही न हो।" इस पर बुधई और वृद्ध रज़ा मियां भी हंस पड़े।

मैकू की दुलहिन ज़रा तुनक कर बोली—"ज़रा तोहका अस काम करे का परे, तो सब सिट्टी पिट्टी भूलाय जाय। पांच बजे सुबह से यह जून होइ जात है दम लेंय का फ़ुरसत नाहीं मिलत। थकाय न जाय तो का?

"तो का हम का काम ही नाहीं करें का परत? हम हूं तो धूप मां पौफटे से अब तक फड़वा चलावा। अरे थोड़ी बेरी तो साथिन में बैठ हंसे बोले का चाही" भोला ने कहा।

मैकू की दुलहिन ने जवाब दिया—"जब मनई थक जात है, तो हंसब बोलब नीक नाहीं लागत, अभी तो कुछ खाइन भी नाहीं।" फिर अपने पति से—"उठो हो कुछ खाय लो अब बहुत सोय चुके।"

मैकू आंख मलता कोठरी से निकल आया और बोला—"यह भोलवा ससुर कांय कांय करके सोयें भी नाहीं दिहिस।"

"तो का आज खाये बिना ही काम पर जाय का मन है।" बुधई बोल उठा—

"नाहीं आजु तो खांय का है मुदा खाये बिना भी तो कितनी ही जून काम करे का परा है।"

रज़ा मियां बोले—"अरे भइया ग़रीबन का पूंछे वाला के है। हमहू का तो दुइ दिन से भर पेट खांय का नाहीं मिला, बुढ़ाई दांव चना चाबें का परत है; एक रुपय्या पेसगी मांगा रहा, चिरौरी बिन्ती करा, पर मिला नहीं।"

मैकू ने रोटी का कौर मुंह में रखते रखते कहा—"मालिक कबहूं पेसगी नाहीं देत हैं। तोहसे का कही मियां!"

रज़ा बोला—"काहे का। वो ही जो सबसे कहत हैं कि तुम लोग फ़िज़ूल ख़रच देत हो। इस तरह ख़रचा करो कि महीना भर चले।"

मैकू की दुलहिन बोल उठी—"अरे मालिक सब एकै से होत हैं। हम हूं एक जगह नौकर रहे। कहें का तो रानी साहब रहीं मुदा हमार आठ रुपय्या अखरत रहा। कबहूं हम बिराम पड़ जाईं, तो तन्ख़ाह काट लेंय। कहें झूठ बोलति है। जैसे हम मनईये नाहीं अहैं।"

भोला ने हंसकर कहा—"नौकर की बात, भला मनई कैसे हुइ सकत है। जस गदहा तस नौकर।

कस हो फूलचंदवा की अम्मा सच है कि नाहीं ?"

"हमका तो जब मलकिन एक दिन गदही कहिन रहा तो हम तो तुरते काम छोड़ दिया।" फूलचंद की मां ने कहा—

रज़ा मियां बोले—"अरे गदहा कहैं चाहे घोड़ा, मुदा पेट भर खांय का तो देंय का चाही। जनावरन का भी तो पेट भर देत हैं। पूछो, भला हम पंचन का फ़ज़ूल ख़र्चा कर सकित है ? तीज त्योहार तक पर तो पुलाव खांय का नाहीं जुरत। अब देखो ना आज २८ तारीख़ होय गई और हमरे पास खांय का नाहीं रह गवा। ख़ुदा की क़सम चना चबावा नाहीं जात है, मुदा का करी ? कहो हम कब हूं पहले मांगा तक नाहीं। अकेल मनई दस रुपय्या बहुत हैं, मुदा फ़ुलचंदवा की माई का एक रुपय्या दिहा रहा, सो फाका करें का परत है।

फूलचंद की मां बोल उठी—"का करी मियां तोहार रुप्या नाहीं दिया। देखो न फुलचंदवा की तन्ख़ाह अबै तक नाहीं पावा। ओहके मालिक कहत हैं जलदी का है तू तो कमात है। पूछो हम छै रुप्या मां का ख़ुद खाई का ओहका खियाई। आज देखो अबै तक आवा भी नाही। खांय का परा है और अस घाम तेज़ है। का कहीं बाप रे बाप !

"लो साला आय गवा" भोला ने फूलचंद को देख कर कहा—"कहां रहा बे इतनी जून तलक गोली खेलत रहा का ?"

"नाहीं भोला काका, आज हमारे बाबू का जनम दिन रहा, सो न्योता दिहिन रहा। बहुत मनई जुटा रहेन। मेहररउन भी रहीं। खस की टट्टी लगी रहीं। बिजली के पंखा भर भर चलत रहे। हमका छुट्टी कस होत। अबै सब सोय गये, तो हम भाग आए। आज तो ख़ूब खीर खावा।

उसकी मां ने कहा—"आज तो खीर खाय का मिली। कल का खइहो बच्चू ? रोज़ तो खीर खाय का मिली नाहीं। न रज़ा मियां के पास पैसा है, जो उधार मिल जाई। तंख़ाह लाये का चाही तो मियां का भी अदा करी और खाय का लाई, वह बिचारौ चना चबात हैं हमरे कारन।"

"तो मांगित तो रोज़ है का करी। मांगे से बिगड़ जात हैं, कहत हैं साला बदतमीज़ है रोज़ तकादा करत है।" फूलचंद ने उत्तर दिया।

रज़ा ने सहानुभूति प्रकट करते हुये कहा—"हां भइया ग़रीब मनई का कर सकत है, कोऊ सुनवइया है नाहीं। हम जब नवाब साहब के हां रहे, तो महीना पर तन्ख़ाह पाना तो ईद का चांद देखबा रहे। नौकरन का दो दो तीन तीन महीना पर तंख़ाह मिलत रही सो भी का पूरी मिलत रही ? नाहीं थोड़ बहोत दै दिहिन बस कहिन रुपया अभी नाहीं है फेर मिली। जब हम भूखन मरन लागेन तो नौकरी छोड़ें का परा। कहे का हमका १५ मिलत रहा, मुदा दसो मिल गवा तो हम ग़नीमत समझित रहा। तो का हम ही एक नौकर थोर रहे। सब दिन का यहै हवाल रहा। कोई कोई तो नवाब के जेब से रुप्या निकाल लात रहे कोई आगा से उधार लेत रहे मुदा हम तो भइया हराम का एक्को पैसा लेय वाले न रहे, हमका तो दस दस पन्द्रह पन्द्रह दिन चना चबात बीत जात रहा।"

बुधई बीच में पूछ उठा—"तो रज़ा मियां तुम कबहूं आग़ा से उधार नाहीं लिहौ ?"

"नाहीं भइया, आगा से जो एक दफ़े लिहिस सो ससुर फंस गवा, कबहूं अदा नाहीं होत, सूद देत देत जनम बीत जात है।"

"कस हो मिया जी, नवाब कबहूं तन्ख़ा बेबाक नाहीं करत रहा ?" फिर बुधई ने पूछा—

"हां हां जब कबहूं नज़राने का रुप्या आवत रहा, तब देत रहैं। कहूं छै महीना साल भरे मां। मुदा तुम जानो बियाज मां आग़ा खाय जात रहे। ग़रीब मनई कहां इतना बियाज भर सकत है। नौकर भाग जात रहे। हमहूं का उनकी जमानत में आगन का बहुत कुछ दें का परत रहा।

भोला बोला—"अरे भइया ग़रीबन की सबै जगह मरन है। हम जब मजूरी करत रहे, तो चार

दिना मजूरी करी तो कम से कम दुइ दिना मजूरी का पैसा लेंय दौरें का परे।"

"हम ललवा की नौकरी भी एही बात पर छोड़ा। तनख़ाह दो दो तीन तीन महीना न देंय। कहें को बारह रुप्या रहा मुदा महाजन के बियाज में सब चला जात रहा, कहां इहां हमें तिसरी तारीख़ का मिल तो जात है। कम ही सही।"

मैकू बोल उठा—"सो तो ठीक है मुदा हिश्रों तो कबहूं पेसगी नाहीं मिलत। भूखन चाहे मर जाई बाबू का दिल नाहीं पसीजत। लो देखो रज़ा मियां का ही चना चबा के गुज़र करें का परत है।"

फ़ूलचन्द बोला—"फिर भी तो तुम मजे में हो, ज़रा हमारी मलकिन से पाला परत तो मज़ा मालूम होत। एक दम सांस लें का नाहीं मिलत। दोनों—मालिक और मलकिन—की ज़बान अस ख़राब है जस का कही। अच्छा हम जात हन नाहीं तो गदहा उल्लू सब ही तो बनें का परी।"

उसकी मां ने कितना ही कहा कि दो तो बज जाने दे, परन्तु वह न माना सिर में कपड़ा लपेट जाने ही लगा। इस पर वह बोली कि—"अच्छा तनख़ाह ज़रूर मांग लइयो।"

"अम्मा आज ही तो बाबू कहिन रहा कि खांय का तो दै दिहिन, तनवा बनवा की का जल्दी है। दिन भरे मां का दो दफ़े तकादा करें का होत है?" इतना कह फ़ूलचन्द भाग गया। इतने में समुआ और खुरचन रसोइया भी आ पहुंचे।

फ़ूलचन्द की मां ने कहा—"कैसी धूप में भागा जात है हमार तो करेजवा फटा जात है।"

खुरचन बोला—"तो नौकरी करे मां तो धूप पानी सबही सहें का परत है। कोई पैसा काहे का देय जो धूप पानी से ग़रीबन का बचावे।"

बुधई ने कहा—"धूप पानी भला कौन चीज़ है? मालिक खांय का दिहे जांये बस, हम तो बैल की तरह काम कर सकित हैं, मुदा जब खांय का चुक जात है तब तो भइया हमार जांगर नाहीं चलत।"

भोला ने चारपाई पर बैठते हुये कहा—"जैसे दूसरे किसी का बिना खाय जांगर चलत है? मुदा चलायं का तो परत हैये है। हमका देखो एक दफ़े दो दिना कुछौ खांय का नाहीं पावा रहा और लकरी चीरें का हुकुम भवा।"

रज़ा ने कहा—"मालिक से काहे नाहीं कहा?"

"हम कहा तो रहा मुदा वह सुनत हैं? हमसे तो कहिन थोर खावा कर काहे इतनी जलदी सब खा डाला? तुम्हीं बोलो आठ रुप्या तो पावा—का हम खाई का बचन का खिलाई; और कभी बिराम होय गये तो बाबू तनख़ाह काट लिहिन" भोला ने उत्तर दिया।

समुआ बिजली घर में कुली का काम करता था। साम्यवादियों के साथ जुलूसों में भाग ले चुका था। उसने उत्तेजित होकर कहा—"यह सब तुम लोगों का दोख है, जो चुप चाप सब ज़ुलुम सहे जात हो। काहे पेसगी कह के मांगत हो? काहे नाहीं कहत हो बाबू हम पचीस दिना काम किहा उसमें से दो दिना की मजूरी दे दो?"

सब एक दम बोल उठे—"तो का मालिक से लरी?"

"नाहीं भईया लरें का कौनो काम है? मालिक से कहे का चाहीं कि हम हूं तो मनई हैं। बिराम होत हैं। हमहूं का गरमी जाड़ा सतात है। हमहूं का घर गिरस्ती के वास्ते सौदा सुलुफ करे का परत है। हम ग़रीब अहेइं। हमरे तो नौकर चाकर नाहीं बैठे हैं, जो घर का काम करदें। हमहूं का कभी तो छुट्टी चाही। चिरौरी करो बिन्ती करो मालिक भी तो मनई होत हैं, कब तक नाहीं पसिजिहैं?" समुआ ने उत्तर दिया।

"ख़ूब कहेओ भइया। कहूं चिरौरी बिनती से कोऊ पसीजत है? हम जब सरदार के पास चपरासी रहे, तो हमार बिटवा गंवई में बिराम परा। हम पांच बरस नौकरी कर चुकिन रहा, मुदा दो महीना की छुट्टी न दिहिन। हम का जांय का तो रहा। बिटौना का तपेदिक होइ गवा रहा। नौकरी छोड़ें का परा। सरदार कहिन हम छुट्टी सुट्टी न देब। बिमार मनई

का अस्पताल भेजें चाही। हम ग़रीब मनई भला अस्पताल का ख़रचा कहां पाइत ?" रज़ा ख़ाँ ने समुआ की बात के उत्तर में कहा—

खुरचन 'पण्डित' के पास भी शिकायत मौजूद थी। वह बोले—"हम रहे नौकर टेनी के राजा के पास। खांय का बड़ा सौकीन रहा। हम तीन चार बरस से सेवा किहा। रजवा बड़ा खुस रहा। डिप्टी सिपटियन का भी खिलावत रहा। ख़ूब खरचत रहा। मुदा हम जब सौ रुप्या पेसगी बिटिया की सादी के बदे मांगा तो कहिस हम हरगिज़ ना देब। रानी बिचारी बहुत कहिन कि ब्राह्मन की कन्या है दे दो। मुदा कहिस, 'यह भाग गया तो हम किस्से लेंगे ? हमको पेसगी दिहे से सख़्त नफ़रत है।' हम चिरौरी किहा, बिन्ती किहा तब भी ना दिहिस। बोला, 'महाजन लगा लो।' कहो भइया हमका काहे महाजन देत ? हम अगवा के पास गये वह तुरन्ते दे दिहिस। मुदा हमका आज तक भरें का पर रहा है।"

समुआ ने कहा—"सो तो ठीक है। आगन से जहां उधार लिहा कि फंसे। मुदा ग़रीब करे का ? जिसकी ख़िदमत करे जब वो न दे तो लिहे का परत ज़रूर है।"

रज़ा बोला—"अरे भईया नौकर ससुर तो गदहन से भी गया बीता है। उसे पेसगी देना तो दूर उसे कबहूं छुट्टी तक तो नाहीं मिलत है। तुम पंचन मज़े मां इतवार को छुट्टी तो पाय जात हो। बिराम भये तन्ख़ा तो नाहीं कटत, फिर कभी तीज त्योहार भी मज़ा करे का मिलत है। हम पंचन का देखो, जनावरन की नाईं तीसों दिन औ चौबीसों घंटा नौकरी बजाये परत है। दुपहरिया हो या रात जब ही आवाज़ परे बस कमर कसी रखो।"

समुआ ने कहा—"तुम समझते हो हम पंचन बड़े मज़े मां हैं। हमहू का तो अपने मलिकन से रोज़ लरें का परत है, तब तो छुट्टी सुट्टी पाइत है। हम हूं चुप बैठ रही तो का मलिकन हमें दम ले दें ? कभी नाहीं। हम पंचन पहले चिरौरी करित है और फिर काम बन्द करित है। हड़ताल करित है तब जीत होति है।"

बुधई बोल उठा—"घर के नौकरन भला का हड़ताल कर सकत हैं ? एक काम छोड़े दस मौजूद होइ जात हैं। फिर भइया तोहका तो बाबू लोगन मदद देत हैं, हमें के पूछत है ?"

रज़ा बोला—"हम तो उनहीं बाबू लोगन की नौकरी करत हैं। हमें भला वो का मदद दे हैं। उनका बस चले तो वह हमें एक दम छुट्टी न दें।"

खुरचन ने कहा—"हमार मलकिन तो एक दम खुचुर पुचुर लगाये रहत हैं। देखो महराज ! लकरी फ़िज़ूल जलत है, अब तेज़ न जले पावे, अब नमक डालें का चाही। का कही हर दम चिचियात रहत हैं। रामौ ग़रीबन का साथ नाहीं देत हैं।"

बुधई बोला—"भइया हम तो कब के छोड़ चुके होइत, मुदा जीमींदार का पोत कहां से बेबाक होय। वह भी ससुर मार डंडन हमसे वसूल करत है। मलकिन चिचियात तो बहुत हैं कान फाटे जात हैं। मुदा तन्ख़ा ठीक समय पर देत हैं एहि से परा अहैं।"

समुआ ने कहा कि—"जब हम देहात से आये रहे तो हमहूं का एक बाबू के घर मां काम मिल गवा रहा। वोह बिचारे देवता रहिन। हमसे कहिन समुआ तुम्हें हमारे घरे मां तीसों दिन काम करे का परत है; तू हमारे कारख़ाने में मजूरी करे तो इतवार इतवार छुट्टी पा जाय। हम कहा अच्छा हज़ूर। सो हमें कारख़ाने में बदल दिहिन। परमेसुर उन्हें नीके रखे। वह बिचारे छुट्टी भी दे देत रहेन। मुदा अब तो हम छुट्टी लै सकित है। कारख़ानन में यही तो मज़ा है।"

रज़ा बोला—"हम सुना रहा कांग्रेस सरकार नौकरन की छुट्टी का क़ानून बनावत रहे, मुदा वह जेल चले गये। देखें नौकरन के कभी दिन फिरत हैं कि नाहीं ?"

इतने में मालिक की आवाज़ आई—"कोई है, शाम होने आई और सब कोठरी में बैठे हैं ?" और टन टन टन तीन का घण्टा बजा।

हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी

पण्डित सुन्दरलालजी

इस समय इस देश की सब से बड़ी समस्या साम्प्रदायिक समस्या है। महात्मा गांधी ने लिखा है —"There is no question more important or more pressing than this. In my opinion it blocks all progress"—'young India,

29-5-24'

अर्थात्—'इस सवाल से ज़्यादह महत्व का या ज़्यादह ज़रूरी कोई सवाल नहीं है। मेरी राय में हमारी सारी तरक़्क़ी के रास्ते में यही रुकावट है।'

इसमें भी किसी को सन्देह नहीं हो सकता कि हिन्दी उर्दू का झगड़ा हिन्दू मुसलिम समस्या का एक ख़ास पहलू है। यही जड़ है, या कोई और,—इस सवाल को केवल उभार दिया गया है, या इसमें कुछ असलीयत भी है, मुख्य समस्या का इसमें कितना और क्या सम्बन्ध है, ये सब सवाल अलग हैं और इनमें अलग अलग राय हो सकती है। लेकिन हिन्दू मुसलमानों के वैमनस्य का यह भी एक सबब है—इसमें कोई शक नहीं हो सकता। सन्निपात के रोग में जहां कई कई प्रकृतियां बिगड़ी हों; अगर बीमारी का कोई एक लक्षण भी दूर किया जा सके, तो उसकी पूरी कोशिश करना चाहिये।

दो दिन पहले तक मेरा कोई इरादा इस सवाल पर किसी समाचार पत्र में लेख लिखने का नहीं था। लेकिन अभी हाल में एक मित्र ने चार हिन्दी समाचार-पत्रों की कतरनें मुझे लाकर दीं, जिनसे मालूम होता है कि मेरे ११ अप्रैल के बम्बई के एक भाषण की कुछ रिपोर्ट मौलवी अब्दुल हक़ के उर्दू अख़बार "हमारी ज़बान" में निकली है, और हिन्दी समाचार पत्रों ने उस रिपोर्ट पर टीकाएं की हैं। "हमारी ज़बान" का वह अङ्क मैंने अभी तक नहीं देखा और न मुझे यह मालूम है कि इन चार पत्रों के अलावा और किसी पत्र ने मेरे उस भाषण पर टीका की है। इस तरह के सवालों पर मतभेद होना तो एक क़ुदरती चीज़ है। लेकिन इन कतरनों से यह भी मालूम होता है कि मेरे उस भाषण की रिपोर्ट से कुछ ग़लतफ़हमियां भी पैदा हो गई हैं। इसलिए मैंने यह ज़रूरी समझा कि एक बार इस सम्बन्ध में अपने साफ़ साफ़ विचार लिख दूं, ताकि भविष्य में इस तरह की ग़लतफ़हमी न हो।

इस सवाल के दो अलग अलग पहलू हैं—एक ऐतिहासिक पहलू, यानी यह कि हिन्दी उर्दू अलग अलग कब से पैदा हुई, कैसे पैदा हुईं, वग़ैरह, और दूसरा अमली पहलू, यानी यह कि इस मामले में हमें करना क्या चाहिए। इन दोनों पहलुओं का एक दूसरे से सम्बन्ध भी है। लेकिन इतना नहीं कि ऐतिहासिक दृष्टि के बदलने के साथ साथ अमली पहलू भी बदल ही जावे। मैं पहले ऐतिहासिक पहलू पर अपने विचार प्रकट करूंगा।

जहां तक हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू नामों का सम्बन्ध है, इस देश की उस ज़बान के लिए, जिसे बाद में खड़ी बोली भी कहा जाने लगा, हिन्दी नाम हिन्दुस्तानी नाम से तीन सौ बरस ज़्यादह पुराना और उर्दू नाम से कम से कम चार सौ बरस ज़्यादह पुराना है। नाम तीनों मुसलमानों के आने के बाद के और मुसलमानों के ही रखे हुए हैं। १३ वीं सदी के आख़िर में फ़ख़रुद्दीन मुबारक ग़ज़नवी ने एक "फ़ारसी-हिन्दी" डिक्शनरी तैयार की और १३ वीं के आख़िर और १४ वीं के शुरू में अमीर ख़ुसरो ने अपनी ज़बान को "हिन्दवी" और "हिन्दी" कहकर

पुकारा। कम से कम उस समय से इस नाम का आज तक बराबर उपयोग होता रहा है। १६ वीं सदी से इस ज़बान के लिये "हिन्दुस्तानी" नाम का उपयोग भी होना शुरू हुआ। और १६ वीं, १७ वीं, १९ वीं सदी की बहुत सी पुरानी किताबों में "हिन्दुस्तानी" नाम का बराबर इस्तेमाल होता रहा है। इसी ज़बान के लिये, जिसे पहले हिन्दुस्तानी कहा जाता था, १७ वीं सदी में पहले पहल "उर्दू" नाम इस्तेमाल होना शुरू हुआ। १८ वीं तक यह नाम ख़ासा फैल गया था। मीर ने १७५२ में अपनी ज़बान को "उर्दू-ए-मौअल्ला" लिखा है। १८ वीं और १९ वीं सदियों में "उर्दू" नाम ख़ूब इस्तेमाल होता रहा है।

आगे चल कर कुछ लेखकों ने राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी इत्यादि को भी हिन्दी में शामिल किया है। ज़ाहिर है कि जिस ज़बान को खड़ी बोली कहा जाता है, वह राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी जैसी ज़बानों से, जिन्हें व्याकरण, वाक्य-रचना, आदि के भेद की वजह से "पड़ी बोलियां" भी कहा गया है, एक अलग चीज़ है, और कम से कम हिन्दी उर्दू की बहस में उसे अलग करके देखा जा सकता है। मुझे मालूम होता है कि "हिन्दी" शब्द के इन दो माइनों में उपयोग होने की वजह से ही मेरे भाषण के सम्बन्ध में ग़लतफ़हमी हुई।

इन परिमित अर्थों में हिन्दी उस खड़ी बोली को कहा जाता है, जो मोटे तौर पर दिल्ली से लेकर उत्तर में अम्बाले तक, पूरब में मुरादाबाद तक बोली जाती है।

वास्तव में मालूम होता है कि ऋग्वेद के समय से लेकर आज तक ज़्यादहतर अम्बाले से दिल्ली तक का हिस्सा ही हिन्दुस्तान भर के लिए ज़बान का आदर्श क़ायम करता रहा है, और अधिकतर यही असली 'आर्यावर्त्त' या हिन्दुस्तान कहलाया है। इस खड़ी बोली—हिन्दी या हिन्दुस्तानी—का इतिहास विशेषज्ञों की राय में कुछ कुछ १० वीं सदी ईस्वी से मिलता है। १२ वीं सदी से इसे इस देश के मुसलमान शासकों ने अपनाया। स्वाभाविक था कि ज़बान में ख़ास कर शाही दरबार के आस पास रहने की वजह से उस समय बाहर से आई हुई भाषाओं—अरबी, फ़ारसी और तुरकी के बहुत से शब्द खपते चले जावें। लेकिन चौदहवीं सदी तक यह भाषा साहित्य की भाषा न थी। साहित्य की दृष्टि से उन दिनों उत्तर भारत में राजस्थानी को कहीं ज़्यादह ऊंचा पद प्राप्त था। १५ वीं सदी में और उसके बाद ब्रजभाषा और अवधी में साहित्य ने ख़ूब तरक़्क़ी की। इसमें हिन्दू और मुसलमानों का कहीं कोई फ़र्क़ न था। देश के जिस हिस्से में जो ज़बान हिन्दू बोलते थे, वही मुसलमान बोलते थे, और जिसमें हिन्दू लिखते थे, उसी में मुसलमान लिखते थे। ब्रजभाषा के इतिहास में रहीम, रसखान, रसलीन, जैसे मुसलमान कवियों के नाम वैसे ही आदर से लिए जाते हैं, जैसे, सूरदास और नन्ददास के। सब विद्वानों की राय है कि मलिक मुहम्मद जायसी की डाली हुई बुनियादों पर ही अवधी में गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस की शानदार इमारत खड़ी की जा सकी।

मुसलमानों के शासन काल में धीरे धीरे यही खड़ी बोली हिन्दी, जिसमें फ़ारसी, अरबी और तुरकी के बहुत से शब्द रल मिल गये थे, हिन्दुस्तान भर में ख़ूब फैली। १४ और १८ वीं सदी के बीच शुरू में दक्खिन में, और उसके बाद उत्तर भारत में इसमें उच्च कोटि का गद्य और पद्य साहित्य लिखा जाने लगा। १७ वीं सदी से पहले के सब हिन्दू मुसलमान लेखक, यहां तक कि दिल्ली के शायर भी उसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही कहते थे। १७ वीं सदी के बाद से उसे "उर्दू" भी कहा जाने लगा। चीज़ वही थी। ब्रजभाषा और अवधी केवल पद्य-साहित्य के लिये उपयोग होती रही, और यह खड़ी बोली, हिन्दी, उर्दू हिन्दुस्तानी गद्य और पद्य दोनों तरह के साहित्य में तरक़्क़ी करती गई। यह एक मिली जुली गङ्गा थी, *जिसमें हिन्दू और मुसलमान का कहीं कोई फ़र्क़ न था,* और जो दोनों के मेल और प्रेम से बनी थी। प्रांतों की भाषाएं उसी तरह अलग अलग थीं, जिस तरह

अब हैं, लेकिन प्रांतों-प्रांतों के बीच के सारे व्यवहार के लिये यही एक ज़बान या लिंगुआ फ्रैंका रही और यही अधिकतर भारतीय समाज की सभ्य बोलचाल की भाषा थी। १९ वीं सदी के शुरू तक यही हालत थी।

इसमें से बहुतों को यह विश्वास भी न होगा कि अङ्गरेज़ी हुकूमत के शुरू होने से पहले भी इस देश में किसी भाषा को यह पद हासिल था, और आज से दो सौ बरस पहले हमारी कोई अन्तर्प्रान्तीय भाषा या क़ौमी ज़बान थी, जो काफ़ी सभ्य, आमफ़हम, और सर्वप्रिय थी।

हमारे इतिहास के ज्ञान की तो यह हालत कर दी गई है कि हममें से कम को इस बात का पता होगा या शायद विश्वास भी होगा कि दो सौ साल से कम हुए जब हिन्दुस्तान के सब प्रांतों में एक एक गांव के अन्दर शिक्षा का इतना सुन्दर इन्तज़ाम था और एक एक स्कूल के साथ इस तरह वज़ीफ़े और जागीरें बंधी हुई थीं कि उस समय के अंग्रेज़ लेखकों के अनुसार ही सात बरस से नीचे के लड़के लड़कियों को छोड़ कर भारत के अधिकांश प्रांतों की सौ फ़ीसदी आबादी लिखना पढ़ना जानती थी। स्कूलों की वह प्रणाली किस तरह नष्ट-भ्रष्ट की गई, वह वज़ीफ़े और जागीरें कहां उड़ गईं, और किस तरह सौ फ़ीसदी से गिरा कर इस अभागे देश के शिक्षितों की संख्या पांच और सात फ़ीसदी तक पहुंचाई गई—इस सब की दर्दनाक कहानी जो पढ़ना चाहें, अब भी इतिहास के पन्नों में पूरी तरह और प्रामाणिक इतिहास के पन्नों में पढ़ सकते हैं।

किन्तु यह वह समय नहीं था जब कि हिन्दुओं को यह डर हो कि, यदि 'आवश्यकता' की जगह 'ज़रूरत' लिख दिया गया, तो हिन्दू संस्कृति मिट जायगी, और मुसलमानों को यह डर हो कि अगर 'ज़रूरत' की जगह 'आवश्यकता' आ गया तो इस्लाम ख़तरे में है; यह वह समय था जब कि सचमुच उदार हिन्दू मुसलमानों को राम और रहीम में फ़रक़ नज़र न आता था, जब कि रहीम ने अपना 'मदन-शतक' "श्री गणेशायनमः" से शुरू किया था, जब कि जहांगीर के ज़माने में अहमद ने सामुद्रिक पर अपनी किताब "श्री गणेशायनमः" से शुरू की थी, जब कि अहमदुल्लाह दक्खिनी ने नायिका-भेद पर अपनी पुस्तक के सब से ऊपर लिखा था—'श्री राम जी सहाय, अथ सरस्वती की स्तुति, अथ गणेश की स्तुति', जब कि याक़ूब ख़ाँ ने 'रस-भूषन' लिखने से पहले सब से ऊपर 'श्री गणेश जी, श्री सरस्वती जी, श्री राधाकृष्ण जी, श्री गौरीशङ्कर जी, को नमस्कार' किया था, जब कि ग़ुलाम नबी रसलीन ने अपनी दोनों पुस्तकों के शुरू में श्री गणेशायनमः' लिखा था। सम्राट मुहम्मद शाह के हुक्म से आज़म ख़ां ने 'सिङ्गार दर्शन' लिखा और उसे "श्रीमते रामानुजाय-नमः" से शुरू किया, लुक़मान ने वैद्यक पर एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा, जिसे "श्री गणेशायनमः, श्री गुरुवेनमः" से शुरू किया। सैयद पोहर ने वैद्यक ही पर एक और ग्रन्थ लिखा, जिसे "श्री गणेशायनमः" से शुरू किया; इसी तरह की अनेक सुन्दर मिसालें दी जा सकती हैं। इसी तरह सैकड़ों हिन्दू विद्वान अपनी रचनाओं को "बिस्मिल्ला-हिर्रहमानिर्रहीम" से शुरू करते थे—[साथ नाम उस अल्लाह के जो रहमान (दयालु) और रहीम (वात्सल्य प्रेम से भरा हुआ) है। 'रहम' माता के गर्भ को कहते हैं।]

मैं अपने मज़मून से कुछ दूर चला गया। यह बिलकुल सच्ची बात है कि उन्नीसवीं सदी के शुरू तक, जब कि ब्रजभाषा प्रेम और भक्ति की कविताओं से भरी थी और अवधी रामचरित मानस जैसे रत्न पैदा कर चुकी थी, गङ्गा-जमुना के दोआबे के लोगों की आम ज़बान, यानी गद्य की ज़बान, जो उस समय सारे हिन्दुस्तान की अन्तर्प्रान्तीय ज़बान भी थी, केवल वह खड़ी बोली थी, जिसे उस समय हिन्दी, हिन्दुस्तानी, और उर्दू तीनों नामों से पुकारा जाता था, और जिसमें फ़ारसी, अरबी, और तुरकी के सैकड़ों शब्द बिना तकल्लुफ़ बोले और लिखे जाते थे, और इस सब मामले में देश में कहीं पर भी हिन्दू मुसलमानों में किसी तरह का कोई फ़रक़ न था, कम से

कम जहां तक भाषा और साहित्य का सम्बन्ध है, देश का सारा जीवन एक प्रबल प्रेममय मिली जुली धारा में बह रहा था। हिन्दी और उर्दू उस समय कोई दो ज़बानें न थीं।

इसके बाद हिन्दी और उर्दू के दो धारों में फटने का समय आता है।

सन् १८७१ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उस समय की अगरवाल जाति का ज़िक्र करते हुए लिखा था—"इनकी बोली स्त्री और पुरुष सबकी खड़ी बोली, अर्थात् उर्दू है।" जो बात अगरवालों के बारे में सच थी, वही उत्तर भारत की दूसरी जातियों के बारे में सच थी।

जब मैं हिन्दी और उर्दू के दो धारों में फटने की बात कहता हूं, तो मैं हिन्दी शब्द का परिमित अर्थों में ही उपयोग करता हूं। 'हिन्दी' से यहां मेरा मतलब राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी वग़ैरह भाषाओं से अलग आजकल की वह खड़ी बोली हिन्दी है, जो इस समय हिन्दी पत्रों और पुस्तकों में लिखी जाती है, और जिसमें और उर्दू में मुख्य भेद यह है कि एक में फ़ारसी अरबी शब्द ज़्यादह लिखे जाते हैं और दूसरे में संस्कृत शब्द। केवल एक पीढ़ी पहले तक हिन्दी में कविता करने वाले अधिकतर ब्रजभाषा में ही कविता करते थे। खड़ी बोली—हिन्दी—में कविता मज़ाक की चीज़ समझी जाती थी। हम लोगों के देखते देखते यह हवा पलटी है कि अब प्रायः सारी हिन्दी कविता ब्रजभाषा को छोड़ कर खड़ी बोली में ही होती है।

यह आजकल की खड़ी बोली हिन्दी कब और कैसे पैदा हुई, इसके बारे में डाक्टर ताराचन्द ने 'The National Language For India' में लिखा है—"It was only at the beginning of the 19th century that modern Hindi (Sanskritized Hindustani) started its career. Munshi Sada Sukh Lal Niyaz, who on retirement from the service of the East India Company settled down in Allahabad, made a free translation of Shrimad Bhagavata and gave it the title of Sukh Sagar. About the same time Insha Allah Khan composed Rani Ketki Ki Kahani. Then Sadal Misra and Lallu Lal were directed by John Gilchrist and the English professors of the Fort William College to create a literary medium for the Hindus which would take the place of Hindi (persianized Hindustani).

अर्थात्—"केवल उन्नीसवीं सदी के शुरू में आकर आजकल की हिन्दी (संस्कृत शब्दों वाली हिन्दुस्तानी) का ज़माना शुरू हुआ। मुन्शी सदासुख लाल नियाज़ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक मुलाज़िम थे। नौकरी से पेन्शन लेकर वह इलाहाबाद में रहने लगे। यहां उन्होंने श्रीमद् भागवत का एक स्वतन्त्र अनुवाद किया, और उसका नाम 'सुख सागर' रखा। उसी समय के क़रीब इन्शा अल्लाह खां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इसके बाद जॉन गिलक्राइस्ट साहब ने और फ़ोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता, के अंग्रेज़ प्रोफ़ेसरों ने सदल मिश्र और लल्लू लाल को हिदायत दी कि हिन्दुओं के लिए एक ऐसा साहित्यिक माध्यम तय्यार करो जो हिन्दी (फ़ारसी शब्दों वाली हिन्दुस्तानी) की जगह ले ले।"

यह कार्य किस तरह सिद्ध किया गया, इसके बारे में A History of Hindi Literature के अंग्रेज़ लेखक मिस्टर एफ़० ई० की लिखते हैं—

"Urdu however, had a vocabulary borrowed largely from the Persian and Arabic languages, which were specially connected with Muhammadanism. A literary language for Hindi speaking people which could commend itself more to Hindus was very desirable and the result was obtained by taking Urdu

and expelling from it words of Persian or Arabic origin and substituting for them words of Sanskrit or Hindi origin ......The Hindi of Lallu Lal was really a new literary dialect."

अर्थात्—"किन्तु उर्दू के शब्द-भण्डार में बहुत सारे शब्द फ़ारसी और अरबी भाषाओं से लेकर शामिल कर लिए गए थे, और इन दोनों भाषाओं का इसलाम धर्म से ख़ास सम्बन्ध था। हिन्दी बोलने वालों के लिए एक ऐसी साहित्यिक भाषा की बहुत ज़रूरत थी जो हिन्दुओं को ज़्यादह पसन्द आवे। यह नतीजा इस तरह हासिल किया गया कि उर्दू को लेकर उसमें से फ़ारसी और अरबी व्युत्पत्ति के शब्दों को निकाल कर उनकी जगह संस्कृत या हिन्दी व्युत्पत्ति के शब्द रख दिये गये।......लल्लूलाल की हिन्दी वास्तव में एक नई साहित्यिक भाषा थी।"

मिस्टर की के शब्दों का ज़हर तेज़ मीठे में छिपा हुआ है, लेकिन बात साफ़ है और बात चल गई।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने सन् १९२१ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में अपने एक लेख में लिखा था—

"मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हिन्दुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा, या पूर्वी वैसवारी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही में मिलती है, अर्थात् "खड़ी बोली में पाई जाती है। खड़ी बोली, या पक्की बोली, या रेखता या वर्त्तमान हिन्दी के आरम्भ काल के गद्य और पद्य को देख कर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फ़ारसी-अरबी तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी तत्सम तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई है।"

फ़ान्सीसी विद्वान मोशिए जूले ब्लोक ने अपनी फ़ान्सीसी किताब 'La Formation de la' Langua Marathe' में लिखा है—

"डाक्टर गिलक्राइस्ट के सुझाने और प्रोत्साहन देने से लल्लूलाल ने अपनी मशहूर किताब 'प्रेम सागर' लिख कर यह सारी स्थिति बदल दी। इस किताब के गद्य के हिस्से असल में उर्दू ही हैं, जिनमें इधर से उधर तक फ़ारसी शब्दों को निकाल कर उनकी जगह इण्डो आर्यन शब्द रख दिये गये हैं...यह नई भाषा हिन्दुओं की एक अलग भाषा बन गई।"

इस बहस को मैं इससे ज़्यादह बढ़ाना नहीं चाहता। मैं जानता हूं कि इतिहास के मामले में भी अलग अलग राय हो सकती है। मेरा मतलब सिर्फ़ यह दिखाना था कि इस मामले में मेरी राय क्या है, और वह किस तरह की ऐतिहासिक शहादत पर निर्भर है।

सन् १८७० के बाद तक इस विषय पर काफ़ी बहसें हुईं। समाचार-पत्रों में काफ़ी लेख निकले। राजा शिवप्रसाद और उनके साथी इस राय के थे कि हिन्दू-मुसलमानों की एक ज़बान रहे और फ़ारसी अरबी शब्द अलग न किये जावें। राजा लछमणसिंह और उनके साथी दूसरी राय के थे, यह कि फ़ारसी-अरबी के शब्द हटाकर उनकी जगह संस्कृत शब्द रखे जावें। दूसरे पक्ष वालों को सबसे ज़्यादह मदद यूरोपियन ईसाई पादरियों से मिली। अन्त में जो कुछ हुआ, उसे सर जी० ए० ग्रिअरसन, जो भारतीय भाषा विज्ञान के सबमें बड़े पण्डित माने जाते हैं, अपनी Linguistic Survey of India Vol. IX. Part I में इन शब्दों में बयान करते हैं—

'Unfortunately, the most powerful English influence has during this period been on the side of the Sanskritists. This Sanskritized Hindi has been largely used by missionaries and translations of the Bible have been made into it. The few native writers who have stood up for the use of Hindi undefiled have had small success in the face of so potent an example of misguided effort."

अर्थात्—"बदक़िस्मती से अंग्रेज़ों का सबसे ज़्यादह ज़बर्दस्त असर इस तमाम समय में, ज़बान

को अधिक संस्कृतमय करने वालों की तरफ़ पड़ा। इस संस्कृतमय हिन्दी का ईसाई पादरियों ने सबसे ज़्यादह उपयोग किया, और इसी तरह की ज़बान में इञ्जील के तर्जुमे किए गए। थोड़े से हिन्दुस्तानी लेखकों ने खड़े होकर इस बात का पक्ष लिया कि पहले की साफ़ सरल "हिन्दी" ही काम में लायी जावे। लेकिन दूसरी तरफ़ इतनी गुमराह और इतनी ज़बर्दस्त कोशिश के मुक़ाबले में उन्हें सफलता न मिल सकी।"

बहुत दिनों तक इस नयी ज़बान के नाम तक के लिए एक राय क़ायम न हो पायी। बहुत से लोग इसे केवल "भाषा" कहना पसन्द करते थे। पञ्जाब में बहुत से लोग अभी तक इसे "शास्त्री" कहते हैं। आख़िरकार 'हिन्दी" नाम इसके लिये और "उर्दू" उसके लिये निश्चित हो गये। इसी से आगे चल कर अलग अलग 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' और 'अंजुमन-तरक्क़ी-ए-उर्दू' की बुनियादें पड़ीं।

मुझे इस अलहदगी में हिन्दुस्तान के टुकड़े होने की ख़तरनाक जड़ें दिखाई देती हैं। न ज़बान से बढ़ कर दुनिया में मिलाने वाली कोई चीज़ है और न ज़बान की अलहदगी से बढ़कर फूट डालने वाली। मैं चाहता हूं कि मेरा देश इस भयङ्कर आपत्ति से बचे। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि हम फिर से हिन्दी और उर्दू दोनों में एक ही मातृ-भाषा के दर्शन करने और दोनों को फिर से मिलाकर एक करने की कोशिश करें। हम एक थे। हमने बहुत दर्जे तक अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारी। हम दो हो गये। हमें फिर एक होना है। मेरी राय में इसी में हिन्दू-मुसलमान दोनों की और इस देश की असली भलाई है।

मैं न फ़ारसी अरबी भरी उर्दू को इस देश की क़ौमी ज़बान बनाना चाहता हूं, और न संस्कृत भरी हिन्दी को। मेरी राय साफ़ है। हमें सबसे पहले अपनी इस घातक संकीर्णता को दूर करना होगा कि किसी लेख में "दृष्टि" की जगह "नज़र" आयी और हमारी भौं चढ़ीं। इससे कोई लाभ नहीं हो सकता। इसमें बरबादी की सूरत है। असली हल यह है कि उर्दू वालों और हिन्दी वालों, दोनों को साथ बैठकर उस हिन्दुस्तानी ज़बान को तैयार करना है जो सचमुच सब भारतवासियों की क़ौमी ज़बान बन सके। राजेन्द्र बाबू और मौलवी अब्दुल हक़ के मिलकर बिहार में हिन्दी उर्दू की जङ्ग को ख़त्म कर देने की कोशिशों को नष्ट भ्रष्ट कर देने से कुछ हासिल नहीं हो सकता। ज़रूरत इस तरह की कोशिशों को कामयाब बनाने की है।

मुझे इस बात का भी पूरा विश्वास है कि जो ज़बान इस तरह मिलकर तैयार होगी वह अन्त में अलग अलग हिन्दी उर्दू की निसबत कहीं ज़्यादह प्यारी, कहीं ज़्यादह सरल, और आम फ़हम और शब्दों, मुहावरों और आगे की सम्भावनाओं की दृष्टि से कहीं ज़्यादह मालामाल होगी। बात केवल दिल की है। ज़रूरत इस बात की है कि हम एक दूसरे को प्रेम से समझने और एक दूसरे के पास आने की कोशिश करें। इस तरह की कोशिशें हमें अपने देश की जनता के भी नज़दीक ले आवेंगी। संस्कृत भरी हिन्दी या फ़ारसी, अरबी भरी उर्दू ने हमें जनता की ज़िन्दगी से कोसों दूर फेंक दिया। इसके अलावा मिली जुली सरल आमफ़हम हिन्दुस्तानी का रास्ता ही पश्चिमोत्तर सरहद से बङ्गाल तक और सिन्ध से मद्रास तक प्रान्तों प्रान्तों और सारे हिन्दुस्तान को एक करने का रास्ता है, दूसरा रास्ता फूट और टुकड़े टुकड़े हो जाने का है।

पिछले दिनों मुझे कई महीने वर्धा रहने का सौभाग्य मिला। इस सारे समय में अकसर महात्मा गांधी के साथ हिन्दू मुसलिम सवाल और हिन्दी-उर्दू सवाल पर भी बात चीत होती रही। मेरे वहां ठहरने की कुछ चर्चा उन कतरनों में भी की गयी है जिनका मैंने शुरू में ज़िक्र किया है, और यों भी तरह तरह की अफ़वाहें इसके मुताल्लिक़ मुझ पहुंची हैं। यह असम्भव है कि मैं वे सारी बातें दुहरा सकूं जो इन विषयों पर मुझसे और महात्मा जी से हुईं। मगर मेरे ख़्याल में इतना कहना काफ़ी है कि

जहां तक यह सवाल है कि हमें हिन्दी उर्दू के मामले में क्या करना चाहिये, वहां तक महात्मा गान्धी ने खुद मुझसे कहा था कि इस सम्बन्ध में मेरे और उनके विचारों में कोई फ़रक़ नहीं।

केवल एक बात और, जिन चार हिन्दी पत्रों की कतरनों का ज़िक्र किया है, उनमें से दो ने, इतने मतभेद या भ्रान्ति के होते हुये, जिस संयत भाषा का उपयोग किया है, उसकी मेरे दिल में क़द्र है और मैं उसका आभारी हूं। बाक़ी दो के भावों और भाषा में थोड़ा कड़ुवापन आ गया। उसे पढ़कर मेरे दिल को क्षणिक दुःख भी हुआ। लेकिन मैं इस बात को जानता हूं कि इस तरह के मामलों में इतना तीव्र मतभेद दिखाई देने पर मनुष्य को आवेश आ ही जाता है। मैं इन दोनों पत्रों के सम्पादकों को विश्वास दिलाना चाहता हूं कि मेरे दिल के किसी कोने में भी उनमें से किसी के प्रति क्रोध का लेश नहीं है। दिमाग़ धोखा खा सकता है। ग़लती भी हो सकती है। लेकिन दिल में सिवाय प्रेम के दूसरी चीज़ नहीं, और प्रेम ही का वह भिखारी है। नाम मैंने जानकर नहीं लिये।*

प्रीतम कोई ऐसा गीत सुना

श्री सिराजुद्दीन 'ज़फ़र'

प्रीतम कोई ऐसा गीत सुना, सावन की भरी बरसातों में,
आजाए नेह जवानी पर, वह रस हो प्रेम की बातों में,
दर्द उट्ठे मीठा-मीठा सा, दिल कसके काली रातों में,
प्रीतम कोई ऐसा गीत सुना!

जिस गीत की मीठी तानों से, इक प्रेम की गंगा फूट पड़े,
आँखों से लहू हो जाय रवां[1], अश्कों[2] का दरिया फूट पड़े,
उजड़ी हुई दिल की महफ़िल[3] में इक नूर की दुनिया फूट पड़े,
प्रीतम कोई ऐसा गीत सुना!

हो सोज़[4] वही और साज़[5] वही, वह प्रीत के दिन फिर आजाएं,
बरखा हो, प्यार की बातें हों, इस रीत के दिन फिर आजाएं,
फिर दुखियारों की हार न हो, औ जीत के दिन फिर आजाएं,
प्रीतम कोई ऐसा गीत सुना!

---

*१३ जुलाई सन् ४१ के साप्ताहिक "प्रताप" से उद्धृत

१ जारी। २ आंसुओं। ३ सभा। ४ दर्द भरी आवाज़। ५ बाजा।

पृथक निर्वाचन को तिलांजलि देना होगा

श्री एस० जी० कोकणे

"पार्लिमेण्ट भिन्न भिन्न विरोधी स्वार्थों के प्रतिनिधियों की जमात नहीं है, जहां उन भिन्न भिन्न स्वार्थों के एजेण्ट और प्रतिनिधि अपने स्वार्थ की रक्षा के लिये आपस में बहस मुबाहसा करें। बल्कि यह एक स्वार्थ और एक ही राष्ट्र की सुव्यवस्थित सभा है। यहां स्थानीय स्वार्थों और द्वेषपूर्ण तर्कों को प्रश्रय न देना चाहिये बल्कि आम जनता की भलाई ही की बात सोचनी चाहिये।"—एडमण्ड बर्क—

जब कि बड़े बड़े राष्ट्र पलक मारते नष्ट हो रहे हैं और ज़बर्दस्त राजनैतिक उलट फेर के बीच क्षण क्षण पर बदलती हुई राजनैतिक समस्याओं के साथ चलना असम्भव नहीं तो कठिन ज़रूर हो रहा है। इस क्रान्तिकारी ज़माने में हम अपनी राष्ट्रीय समस्याओं की अवहेलना नहीं कर सकते। आज हिन्दू-मुसलिम समस्या हमें बुरी तरह परेशान किये हुये है। पाकिस्तान की हवाई योजना और शिमला द्वारा परोक्ष रूप से इसको प्रोत्साहन मिलने के कारण यह समस्या और भी कठिन हो गई है। इस समय ऐसा लगता है कि हिन्दुस्तान राष्ट्रीय विनाश के द्वार पर खड़ा है। यह सोच कर दिल कांप उठता है कि कहीं निकट भविष्य में गृह युद्ध न छिड़ जाय, जिसे यदि न रोका गया तो नाशकर प्रवृत्तियां पैदा होंगी।

हमारे कानों में मौक़े बे मौके इस प्रकार झूठ सच बातें भरी गयीं हैं कि हम साम्प्रदायिक समस्या को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। सब से ज़्यादा ख़तरनाक और विनाशकारी सिद्धान्त, जो पूंजीवादी मुसलमानों के दिमाग़ में घर कर गया है और जिसका प्रचार मि० जिन्ना ने इस प्रकार घोषणा करते हुये किया है कि मुसलमानों की सभ्यता, संस्कृति हिन्दुओं से भिन्न है और वह एक अलग क़ौम हैं। मुसलमानों को भिन्न क़ौम का अल्प संख्यक बताना, इतिहास का मज़ाक़ उड़ाना है। आधुनिक हिन्दुस्तानी समाज भिन्न भिन्न जातियों के मिश्रण से बना है। हिन्दुस्तान के आदि वासी द्रविड़ हैं। बाद में आर्य आये और उनकी सभ्यता, संस्कृति को यहां वालों ने कुछ अपनी देन के साथ अपना लिया। हिन्दुस्तान में पवित्र आर्य-रक्त शायद ही देखने को मिलेगा। बाक़ी हिन्दुस्तान की सारी आबादी भिन्न भिन्न मिले जुले रक्त की है। यहां जितनी भी बाहरी आक्रमण कारी जातियां आयीं, सब यहीं घुल मिल गयीं और आज का हिन्दुस्तान भिन्न भिन्न जातियों और सभ्यताओं के संयोग का पुञ्ज है। हिन्दुस्तान के मुसलमान अपने को भिन्न जाति का कहने का दावा नहीं कर सकते। इसमें शक नहीं, थोड़े से शुद्ध पठान, मुग़ल या ईरानी परिवार हैं; लेकिन हिन्दुस्तान के अधिकांश मुसलमान हिन्दुओं में से बने हैं। अब मुसलिम लीग मुसलमानों को एक अलग क़ौम कहने लगी है। यदि धर्म ही क़ौम की कसौटी है, तो इस विचार को बदलना ही होगा। यदि इंगलिस्तान के कैथॉलिक और प्रोटेसटैण्ट एक क़ौम है (जस माने में हम समझते हैं) तो हिन्दुस्तान के हिन्दू मुसलिम भी एक अखण्ड राष्ट्र के सदस्य हैं।

पृथक निर्वाचन पद्धति के कारण हिन्दुस्तान की राजनीति में बड़ी गड़बड़ी पैदा हो गयी है। इसने हिन्दुस्तान के दो बड़े धार्मिक सम्प्रदायों को मिलाने के बदले इस देश को दो क़ौमों में खण्ड खण्ड कर दिया है। हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों को ख़ुश करने के लिये इस पृथक निर्वाचन पद्धति को विधान में स्थान दिया गया। भारत के उत्तरदायी राजनीतिज्ञ इससे सहमत न थे। तत्कालीन भारत मन्त्री लार्ड मोर्ले ने सम्मिलित चुनाओं की भारत सरकार

ने सिफ़ारिश की थी। और १९०८ में इंडियन काउन्सिल बिल के दूसरे वाचन के अवसर पर अपने भाषण में कहा था—"मेरी इस सिफ़ारिश का, जिसको बहुत कम तवज्जह मिली है, मतलब यह था कि इस प्रकार के सहयोग से दो बड़ी जातियां एक दूसरे के बहुत पास आजायंगी। उच्च और अनुभवी हिन्दुस्तानी अधिकारियों ने, जो इंडिया आफ़िस में हमारे सलाहकार रह चुके थे, इसकी ताईद की है। लेकिन मुसलमानों ने यह कह कर इसका विरोध किया है कि हिन्दू कट्टर हिन्दू को ही चुनेंगे।"

मुसलिम लीग की लंडन शाखा ने पृथक निर्वाचन के लिये इन शब्दों के साथ लार्ड मॉर्ले के पास एक प्रतिनिधि-मंडल भेजा था कि—

"औरों की तरह हिन्दुस्तान की भलाई को मद्दे-नज़र रखकर यह शाखा भी उस समय के इन्तज़ार में है, जब कि हिन्दुस्तान की भिन्न भिन्न जातियों में आपसी मेल की सच्ची लगन पैदा हो और श्रीमान् द्वारा बनाये हुये सिद्धान्तों को, बिना किसी क़ौम के स्वार्थ को धक्का पहुँचाये हुये या बिना एक क़ौम को दबाकर दूसरे को राजनैतिक महत्ता दिये हुये, वह व्यवहारिक बना सके। यह कमेटी चाहती है कि मुल्क वैधानिक सुधार के लिए चाहे कितना भी तैयार हो, हिन्दुस्तान की दो बड़ी जातियों के स्वार्थ पर अलग अलग ग़ौर किया जाय।"

शुरू में बहु संख्यक हिन्दुओं के भय ने ही मुसलिम प्रतिनिधि-मंडल को मुसलमानों के लिये अलग और ख़ास प्रतिनिधित्व करने का हक़ मांगने को प्रेरित किया। ताक़त पाने के लिये यह एक ख़ासी राजनैतिक चाल थी। मुसलमान नेता इस बात से डरते थे कि ज़िन्दगी की दौड़ में आगे बढ़े हुये हिन्दू हमारे ऊपर शासन करने लगेंगे। मुसलमानों पर कथित ज़ुल्म का साम्प्रदायिक समस्या, इसलाम और उसकी सभ्यता या संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं था। असल ग़रज़ यह थी कि अंग्रेज़ी सरकार हिन्दुस्तान में भी एक अल्सटर बनाना चाहती थी। सन् १९०६ में लार्ड मिएटो ने आग़ाख़ां-प्रतिनिधि मंडल से अलग निर्वाचन की प्रतिज्ञा करके इसकी भी नींव डाल दी।

मि० माण्टेगू और चेम्सफ़ोर्ड ने इस हानिकर योजना की बड़ी कड़ी आलोचना की थी। सन् १९१८ में हिन्दुस्तान के सुधार के लिए, अपने संयुक्त प्रस्ताव में उन्होंने कहा था :—

"हम किसी भी साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को स्व-शासन के सिद्धान्तों के विकास में महान बाधक समझते हैं। बहु संख्यक जाति के लाभ के लिये मद्रास में साम्प्रदायिक-प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव निश्चित रूप से रखा गया है।" लेकिन तत्कालीन वाइसराय और भारत मंत्री ने इस ग़लती को राजनैतिक कारणों से सुधारने का कष्ट नहीं किया। वह इसलिये कि मुसलमान इस योजना को तैशुदा समझते थे। इससे पीछे लौटने का मतलब होता मुसलमानों में विरोधी भावना को जगाना, और उस जाति का, जिसने कठिन समय में उनकी सच्चे दिल से सेवा की थी, राज-भक्ति की भावना को धक्का पहुँचाना।

बाद की हिन्दुस्तान की राजनीति को देखते हुये कहना पड़ता है कि मॉर्ले और मिएटो की शंका ठीक ही थी। उसी समय से हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई बढ़ती ही जा रही है। जब मुसलमानों के एक मात्र सच्चे संरक्षक, मुसलमानों के स्वार्थ को बचाने में एक बार असफल हो गये, तभी से लीगी मुसलमान हिन्दुस्तान को टुकड़ों में बांटने के लिए पाकिस्तान का नारा बुलन्द करने लगे।

अब ऐसा शक होता है कि इस संकट काल में अंग्रेज़ी सरकार इस जाति को, जिसने इस यूरोपीय युद्ध में दिलचस्पी दिखलाई है, नाराज़ करना नहीं चाहती। बल्कि वह लीगी मुसलमानों को उभाड़ कर गृह-कलह पैदा करना चाहती है।

साइमन कमीशन ने भी साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति की निन्दा करते हुये कहा था कि यह आपसी भाई चारे के विकास में बाधक है। इस कमीशन के विरोध करने पर भी अंग्रेज़ी सरकार ने इसको नहीं बदला और अब तो इस ग़लती को बदलने के बदले वह मुसलमानों के पाकिस्तान के स्वप्न को प्रोत्साहन

देकर हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की जड़ को काट रही है। पक्षपात की नीति अख़्तियार कर अंग्रेज़ी हुकूमत ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच खाई खोदने का अपराध किया है। मुसलमानों को अपनी तरफ़ मिलाने के लिये इस हुकूमत ने साम्प्रदायिक निर्वाचन के लिये जनसंख्यात्मक सिद्धान्तों को अनुपयुक्त बनाकर प्रत्यक्ष ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना की है।

यदि अंग्रेज़ी सरकार अल्प संख्यकों की संस्कृति के विकास के लिये प्रयत्नशील होती, तो वह बंगाल, पंजाब, सीमा-प्रांत और सिन्ध के अल्प संख्यक हिन्दुओं के लिये भी वही सुविधायें प्रदान करती, जो मुसलमानों को अन्य प्रांतों में प्रदान की गयी हैं।

चार सूबों में मुसलमानों का बहुमत है और बाक़ी सूबों में उनकी संख्या इस तरह नगण्य है कि 'लीग आफ़ नेशन' के सिद्धान्तों के अनुसार उनको कोई विशेष संरक्षण नहीं दिया जा सकता; जब कि मुसलिम बहुमत प्रांतों में हिन्दुओं की संख्या २० फ़ीसदी से भी ज़्यादा है, और वे अपने धर्म और भाषा की आवश्यक रक्षा के लिये दावा कर सकते हैं। लेकिन यहां नियम उलट जाता है और मुसलमानों को क़ानूनन व्यवस्थापिका सभाओं में बहुमत दिया गया है। ब्रिटिश कूट नीति हिन्दुओं को कुचलकर मुसलमानों को पालने का ढोंग करती है। जहां इसलाम कमज़ोर पड़ता है, वहां तो मुसलमानों की रक्षा की ही जाती है और जहां मज़बूत है, वहां भी इनको बहुमत का हक़ दिया जाता है। इस नीति से दोनों जातियों को एक दूसरे का दुश्मन बनाया जा रहा है। हिन्दुस्तान में, जो राजनैतिक घटनायें घटी हैं, उसकी बिना पर कहा जा सकता है कि इस नीति से पार्लिमेण्टरी नियमों की हत्या हो रही है।

जनता के लिये यह कठिन है कि वह साम्प्रदायिक मसले के राजनैतिक और आर्थिक पहलू को समझ सके। मुसलमान अंग्रेज़ी हुकूमत के सख़्त विरोधी थे। सन् ५७ के विप्लव के बाद, हिन्दुस्तान ने एक राष्ट्र का परिचय देकर इस धारण को झूठा प्रमाणित कर दिया कि अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र के रूप में संगठित किया। मुसलमान अंग्रेज़ों की नज़रों में बागी थे। "हमारे हिन्दुस्तानी मुसलमान" नामक पुस्तक में डा० हण्टर ने लिखा है—"हिन्दुस्तान के मुसलमान वर्षों तक अंग्रेज़ी सत्ता के लिये लगातार भय के कारण बने रहे।" और डा० हण्टर मुसलमानों की वफ़ादारी और दोस्ती की उम्मीद से निराश हो चुके थे।

मुसलमानों के अगुवा सर सैय्यद अहमदख़ां ने शासकों के दिमाग़ से इस ख़याल को दूर करने के लिये बहुत प्रयत्न किया। उन्होंने कांग्रेस-अन्दोलन पर आशंका प्रकट की। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि उनके जाति भाई शिक्षा में कितने पिछड़े हुये हैं। इसीलिये अपने सहधर्मियों को सम्बोधित करते हुये उन्होंने कहा—"अपने को उस काम के योग्य बनाओ, जो तुम्हारे सामने पड़ा है; राजनैतिक हलचल पर ध्यान मत दो।" इस नारे को बुलन्द करते हुये वह अपने कार्य-क्षेत्र में कूद पड़े। अलीगढ़ में मुसलिम एंग्लो-ओरीयंटल कॉलेज की स्थापना की गई। बाद में यही बढ़कर मुसलिम यूनिवर्सिटी हो गया। मुसलमानों ने अंग्रेज़ी शिक्षा से लाभ नहीं उठाया था। वह इसको घृणा की दृष्टि से देखते थे। लेकिन हिन्दुओं ने इसको आसानी से अपना लिया और राजनैतिक शक्ति पाने की होड़ में फ़ायदा उठाने लगे। पर सर सैय्यद की जी तोड़ मेहनत के बावजूद भी मुसलमान शिक्षा में अब भी पिछड़े हैं। उनके अन्दर ज़बरदस्त आत्मग्लानि है। आत्मग्लानि से पैदा हुई आशंकायें ही तमाम मुसलिम राजनैतिक आन्दोलनों के पीछे काम करती रही हैं। हिन्दुओं द्वारा शासित किये जाने के डर से मुसलान पहले ही कांग्रेस से अलग रहे हैं। हिन्दुस्तान की मुसलिम राजनीति मुट्ठी भर उच्च वर्ग के मुसलमानों का आन्दोलन है। अलहदगी की भावना एक छोटे किन्तु धनी वर्ग द्वारा पैदा की गई है, जो हर जगह नौकरी और अधिक प्रतिनिधित्व पाने की फ़िराक़ में रहता है।

अंग्रेज़ी हुकूमत भी हिन्दू और मुसलमानों के विरोध से लाभ उठाने में नहीं चूकती। लॉर्ड कर्ज़न

की सारी नीति और ख़ास कर बंग-भंग तो हिन्दू-मुसलमानों में विरोध पैदा करने की ज़ाहिरा कोशिश थी। इस नीति से जैसी उम्मीद थी वैसा ही हुआ भी। चारों तरफ़ अशान्ति और हिन्दू-मुसलिम दंगे होने लगे। इसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दुओं का मुसलमानों से मनमुटाव हो गया। 'फूट डालो और शासन करो' की नीति काम में लायी जाने लगी। और सन् १९०६ के मुसलिम प्रतिनिधि मण्डल को लार्ड मिण्टो की प्रतिज्ञा ने राजनैतिक विभाजन पर मुहर भी लगा दी।

हिन्दू-मुसलमानों का धार्मिक मतभेद कोई नया नहीं है। चूंकि साम्प्रदायिक प्रश्न में राजनैतिक महत्त्व है, इसलिये इस समस्या की कोई भी अवहेलना नहीं कर सकता।

अधिकतर हिन्दू मुसलिम दंगे गो वध और मसजिद के सामने बाजा बजाने के कारण ही होते रहे हैं। ये दोनों झगड़े के तात्कालिक कारण हैं। लेकिन इस कटुता की जड़ में आर्थिक स्थिति है।

भारत सरकार ने सन् १८९३ में भारत-मन्त्री को धार्मिक मतभेद के बहुत से कारण बताते हुये लिखा था :—"हिन्दू-मुसलमानों में कटुता का दूसरा कारण यह है कि हिन्दू ज़िन्दगी की दौड़ में मुसलमानों से कहीं आगे हैं और वे आधुनिक राजनैतिक संस्थाओं में सक्रिय भाग लेते हैं।" साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय नेताओं द्वारा हिन्दू-मुसलिम सवाल के इस पहलू की अवहेलना की गयी है। असल में मुसलमानों की दयनीय आर्थिक दशा ही साम्प्रदायिक झगड़ों की जड़ है।

आर्थिक तकाजा जनता को एक सतह पर ला सकता है और उन्हें एक शक्तिशाली सांचे में ढाल सकता है। इस समस्या को हल करने का केवल यही एक तरीक़ा है। साम्प्रदायिक समस्या का सामाजिक पहलू भी है। हिन्दू यदि बराबरी और भ्रातृभाव से रहना सीखलें और अपने दृष्टिकोण को उदार करलें, तो मुसलमानों की भी कटुता ख़तम हो जाय। जब ऐसा होगा, तभी दोनों में सहनशीलता और भाई चारे का सुन्दर वातावरण तैयार हो सकता है।

संक्षेप में मुसलिम-समस्या का कारण आर्थिक और राजनैतिक है। धार्मिक मतभेद जनता को पागल बना देता है और स्वार्थी दल इस पागलपन का बेजा फ़ायदा उठाते हैं। राजनैतिक क्षेत्र में धार्मिक मतभेद पैदा करके अंग्रेज़ी हुकूमत ने हिन्दुस्तान का बड़ा भारी अहित किया है। इस हुकूमत ने इन बड़ी जातियों को ज़ाहिरा स्थायी रूप से अलग करके उनकी संयुक्त नागरिकता के विकास को भी रोक दिया है।

यदि हिन्दुस्तान को एक हितवाला, एक अखंड राष्ट्र बने रहना है, तो पृथक निर्वाचन पद्धति को उसके तमाम लावलश्कर के साथ तिलांजलि देनी ही होगी। साथ ही साम्प्रदायिक दलों के स्थान पर ग़रीब और पद दलित जनता, जो बिना किसी भेदभाव के एक अखंड समूह है, की भलाई के लिये आर्थिक कार्य-क्रम के साथ उन्नत राजनैतिक दल क़ायम करने होंगे। और इस दल के क़ायम करने में जात पांत और धर्म मज़हबों के सारे भेद भाव मिटाने होंगे। केवल इसी में भारत का कल्याण है।
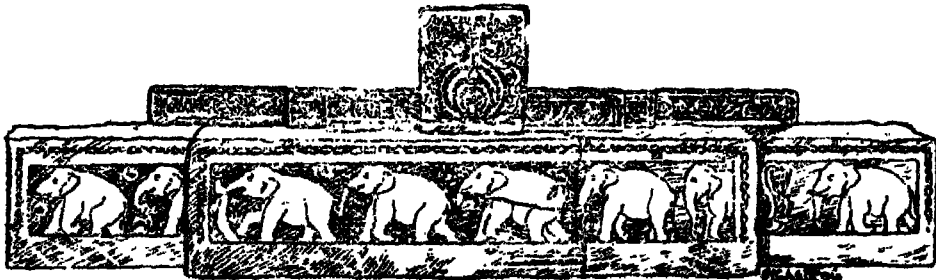
नीति की बात

श्री विष्णु

बारह मोहल्ला
हिसार
६, ७, ४१

प्रिय सम्पादक बन्धु

आपकी कृपा मुझ पर रही है, उसके लिये आभारी हूं। 'विश्ववाणी' को मैंने शुरू से पढ़ा है। उसकी उपयोगिता मुझ पर प्रगट है। उसके उद्देश्य और नीति की बात भी आपने मुझे सुझाई है। मैं उससे बहुत कुछ सहमत रहा हूं। बहुत कुछ का अर्थ है बिल्कुल नहीं। और बिल्कुल इसलिये नहीं है कि मेरा मन शंकाओं से भरा रहा है। आज का युग शंकाओं का युग है। महान सुकरात की तरह आज का मानव पगपग पर पूछता रहता है—'क्या तुम जो कह रहे हो वह बिल्कुल सच है ?'

देखा जाता है शंकाओं के युग में प्रेम और साहचर्य का अभाव होता है। शत्रुता, ईर्षा, छिछलापन और विद्रोह का प्राबल्य ही वहां नज़र आता है। सत्य, शिव और सुन्दर जो कुछ भी इस मानवी सृष्टि में है, उसी का विरोध मानव करता जान पड़ता है। इसके कारण हैं। कारण बिना कुछ नहीं होता। शंका तभी पैदा होती है, जब आशा पर ठेस लगती है। विश्वास और श्रद्धा के साथ जिस अवस्था की कामना की जाती है, वह प्राप्त नहीं होती। सुख और शान्ति के सारे प्रयत्न दुःख और अशान्ति लाने में ही समर्थ होते हैं। बहुत काल तक जब यही अवस्था चलती रहती है, तो प्रश्न का जन्म होता है। मानव के साथ भी यही कुछ होता रहा है; परन्तु उसके प्रश्नों को बार बार दबा दिया गया। समाज के जो स्वार्थी कर्णधार थे, उन्होंने इस अवस्था को भाग्य और परमात्मा के सिरथोपकर छुट्टी पाली। परन्तु जिस वस्तु को जितना दबाया जाता है वह उतनी ही उभरती है। ये प्रश्न जितने भी दबाये गये, उतने ही उभरते चले गये। उन्हें कभी भी ठीक दिशा नहीं मिली, परन्तु उन्हें तो दिशा की ज़रूरत थी। इसीलिये एक दिन विश्वास और श्रद्धा को परे हटा कर वे आगे बढ़ आये और उन्होंने ललकार कर पूछा—'यह क्यों और कैसे हुआ ?' 'यह तुम क्या कर रहे हो ?'

प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर आज भी नहीं मिला है। वातावरण के अणु परमाणु में क्यों और कैसे की पुकार है! जहां शंका है वहां श्रद्धा और विश्वास का अभाव होता है। वहां बुद्धि केवल तर्क करती है और केवल तर्क के बल पर अभीष्ट उद्देश्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। तर्क में बल होता है, वह मानव के स्व को (Assert) करने की शक्ति देता है, परन्तु तर्क में स्थिरता, शक्ति और जीवन नहीं है।

हम सदा कहते हैं अमुक कार्य सुन्दर है या असुन्दर है, परन्तु वास्तव में वे उसी तरह अच्छे बुरे नहीं हैं, जिस तरह हम सोचते हैं। क्योंकि अच्छा बुरा आदि शब्द तुलनात्मक (Comparative) हैं। वे वास्तविक स्थिति को प्रगट नहीं करते केवल प्रोपैगैण्डा का होना सूचित करते हैं। मेरे सामने एक मासिक पत्र है, उसमें एक पुस्तक का विज्ञापन है। लिखा है 'हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठतम पन्द्रह कहानियों का संकलन'। यानी इस पुस्तक के सम्पादक महोदय की दृष्टि में वे पन्द्रह कहानियां हिन्दी साहित्य की सबसे श्रेष्ठ कहानियां हैं। बाक़ी जो कुछ है, वह कुछ भी हो उन कहानियों से नीचे है, परन्तु यह बात उतनी ही ठीक नहीं है, जितनी कि कही गई है। इसलिये नहीं कि मैं कहता हूं, बल्कि इसलिये कि दूसरी पत्रिका

में एक और पुस्तक का विज्ञापन है। उसमें विश्वास के साथ दस महान कला-कृतियों का संग्रह किया गया है। वे भी श्रेष्ठतम हैं। तब क्या दोनों संग्रह श्रेष्ठतम हैं। अगर हैं तो हमारी भाषा अशुद्ध है, क्योंकि श्रेष्ठतम का अर्थ है सबसे अच्छा। सबसे अच्छा एक ही हो सकता है। सब नहीं हो सकते। अगर भाषा शुद्ध है (क्योंकि भाषा अशुद्ध नहीं होती अशुद्ध तो भाव होते हैं, भाषा भावों का आश्रय लेकर चलती है।) तो वे दोनों संग्रह श्रेष्ठतम नहीं हैं। इसी तरह और बहुत सी बातें हैं। Comparative Terms कभी भी निश्चित दिशा को सूचित नहीं करते। वहां विवाद होता है। ऐसी अवस्था में आपके लिये जो अमृत है, मेरे लिये वह विष हो सकता है।

तुलनात्मक शब्दों के साथ Interpretation (अर्थ लगाने) का भी बहुत बड़ा प्रश्न है। क्या सचमुच उन महान कलाकारों ने, जो हमसे पहिले हो चुके हैं, अमर ग्रन्थों की रचना करते समय, वे ही अर्थ सोचे होंगे, जो हम लगाते हैं? हम उन ग्रंथों के ऐसे विचित्र अर्थ लगाते आये हैं, जो लेखकों ने स्वप्न में भी नहीं सोचे होंगे। संसार परिवर्तनशील है। तब अर्थ भी क्यों न बदलते रहें? जो अर्थ आप विश्वास के साथ करते हैं, वे भले ही आपकी दृष्टि में ठीक हों, लेकिन ग्रंथकार ने उन अर्थों के लिये अपने ग्रंथ की रचना नहीं की थी। गीता हिन्दू धर्म की एक महान पुस्तक है। उस पर देश और विदेश के सर्व श्रेष्ठ कलाकारों ने टीकायें लिखी हैं, परन्तु उन सबमें भेद है; यह तो स्पष्ट है कि गीताकार का आशय केवल एक ही व्यक्ति ने समझा होगा, (सम्भवतः वह भी न समझा हो) परन्तु सब तो कदापि नहीं समझे हैं। एक सनातन धर्मी के लिये गीता में अवतार वाद स्पष्ट है। मूर्ति पूजा, श्राद्ध तर्पण, भूत प्रेत सब हैं; पर इन सब बातों के कट्टर शत्रु एक आर्य समाजी के लिये वहां इन सबका अभाव है। उसे तो गीता में एक निर्विकार निरंजन की उपासना का आदेश मिलता है। दोनों विद्वान हैं। दोनों के सामने संसार के कल्याण का प्रश्न है। दोनों के सामने अपने अपने अर्थों की उपयोगिता स्पष्ट है। Doctors differ and patient suffer! यह युक्ति इस अवस्था को बहुत ठीक चित्रित करती है। वेद, कुरान, बाइबिल आदि धर्म ग्रंथों में कितना भेद जान पड़ रहा है। वे ईश्वर के बनाये कहे जाते हैं और ईश्वर अगर है, तो वह एक ही है। एक ईश्वर ने अलग अलग आदेश क्यों दिये हैं, यह एक जटिल समस्या है। लेकिन कभी भी इस बुद्धिजीवि (?) प्राणी ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया। जब जिसके हाथ में शक्ति आई है, उसने उसका दुरुपयोग किया है। एक ईश्वर के, उसके आदेशों के, तथा मानव के कल्याण के नाम पर ईश्वर की श्रेष्ठतम कृति और अपने स्वरूप मानव को मानव ने अपने ही हाथों नष्ट कर डाला है। लेकिन क्या वास्तव में अपने भाइयों का खून बहाते समय मानव के सामने ईश्वर, धर्म और कल्याण की कोई भावना थी? मैं तो समझता हूँ नहीं थी। उनके सामने तो 'स्व' को Assert करने की भावना थी, जो अन्धी श्रद्धा और ग़लत तर्क के कारण पैदा हुई थी। तर्क अर्थ भेद के कारण हुआ था और अन्धी श्रद्धा विरासत के क़ानून के कारण।

विरासत का क़ानून अर्थ शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इसके अनुसार बाप के धन का बेटा अधिकारी होता है। इसी प्रकार धर्म और संस्कृति के बारे में भी यह क़ानून लागू होता आया है। मैं हिन्दू इसीलिये हूं कि मेरा बाप हिन्दू था या है। मैंने हिन्दू बनने के लिये या हिन्दू धर्म को समझने के लिये कोई भी कष्ट नहीं उठाया है। तब मैं कैसे कह सकता हूं कि मैं हिन्दू धर्म को जानता और पहिचानता हूं। जिस प्रकार विरासत में मिले धन का दुरुपयोग होता रहता है, उसी प्रकार विरासत में मिले धर्म और संस्कृति का उपयोग भी कभी ठीक ठीक नहीं हुआ है।

इसी के साथ इतिहास की चर्चा असंगत नहीं होगी Bacon ने अपने प्रसिद्ध लेख of Studies में लिखा है Histories make man wise. इतिहास मानव जाति को बुद्धिमान बनाता है। Bacon ने

ये शब्द लिखते समय इतिहास को एक शुद्ध विज्ञान के रूप में माना होगा और वास्तव में वह है भी। परन्तु मानव की उपरोक्त अपनी कमज़ोरियों के कारण, आज इतिहास केवल परम्परा से चली आई कुछ ग़ैर ज़रूरी या स्वार्थ के लिये तोड़ी मरोड़ी (Distorted) घटनाओं का संग्रह मात्र है। उन्हें पढ़कर मनुष्य और कुछ भी बन सकता है, परन्तु बुद्धिमान नहीं बन सकता।

और भी बहुत सी ज़रूरी बातें हैं; परन्तु नीति की बात समझने के लिये इतनी ही काफ़ी होगी। नीति रबर की तरह है, उसे अपने कार्य-साधन के लिये किसी भी ओर खींचा जा सकता है। हमारे जानते इस संसार में कोई भी मत अथवा सिद्धान्त स्थिर नहीं रहा है। किसी भी सिद्धान्त और नीति की स्थिरता और मान्यता की कसौटी सफलता रही है। सफलता, कार्य शक्ति, कारण और परिस्थिति की अपेक्षा करती है। हिंसा और अहिंसा दो अमर सिद्धान्त हैं। संसार में समय समय पर दोनों सिद्धान्तों को माना गया है। देवताओं के प्रिय अशोक के समय में अहिंसा मानव जीवन का सिद्धान्त था। परन्तु भारत के स्वर्ण कालीन सम्राट समुद्रगुप्त अहिंसा में विश्वास नहीं रखते थे। ज़ार के शासन काल में साम्यवाद एक घृणित सिद्धान्त था, परन्तु लेनिन के समय में उसी रूस में साम्यवाद राज धर्म के रूप प्रचलित हुआ। लेनिन की राज-क्रान्ति अगर असफल हो जाती, तो साम्यवाद के ये अमर प्रयोग संसार के सामने न आते। अपने ही देश में गान्धी जी की अहिंसा सफल नहीं हो रही है, इसीलिये तो उनका विरोध बढ़ रहा है। यदि वे अहिंसा के द्वारा भारत को स्वराज्य दिलाने में समर्थ हों, तो समूचा भारत अहिंसा के लिये प्राण देने को तैयार हो जावेगा।

सफलता की कसौटी पर ही महापुरुष बनते हैं। जो नेता अपने कार्य में असफल रह जाते हैं, वे विद्रोही कहलाते हैं; परन्तु सफल नेता सारी जातियों के आदर्श महापुरुष बनते हैं।

तब इस विडम्बना के बीच में किसी सिद्धान्त की बात करना कितना हास्यास्पद है। लेकिन सिद्धान्त-हीन जीवन भी क्या जीवन है। ये दोनों बातें कितनी स्पष्ट हैं! जितना भी इन पर आप ग़ौर करेंगे, उतना ही आप विडम्बना में फंसते चले जायेंगे। जितना भी आप ज्ञान प्राप्त करना चाहेंगे, उतना ही अज्ञान आप पर प्रगट होता चला जायेगा। तब क्या हम अपने को भाग्य के हाथों सौंप कर छुट्टी पा लें! भाग्य की थ्योरी ऐसी ही अवस्थाओं के कारण पैदा हुई है। लेकिन यह तो कायरता है। भाग्य में क्या लिखा है, इसकी चिन्ता मनुष्य को नहीं करनी है? मनुष्य तो भाग्य का निर्माता है, तब इस प्रश्न को कैसे सुलझाया जा सकता है? इसी पर विचार करना है।

हर एक वस्तु के दो पहलू होते हैं। दोनों एक दूसरे से बहुत दूर और एक दूसरे की सत्ता पर प्रहार करते जान पड़ते हैं। जीवन के दो पहलू हैं—जीवन और मरण। जन्म का अर्थ अस्तित्व में आना है और मृत्यु का अर्थ अस्तित्व का मिटना है। जन्म जब होता है, आनन्दोद्रेक की लहरें वातावरण में दौड़ जाती हैं। मृत्यु जब आती है, वातावरण में शोक और रुदन भर आता है। दोनों कभी साथ नहीं आते, परन्तु यह भी सत्य है कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है। जीवन होता है तभी मृत्यु आती है। जो जन्म नहीं लेता, उसे कभी किसी ने मरते नहीं देखा। ये दोनों एक ही अखण्ड सत्ता के अस्तित्व को सूचित करते हैं। वे उसी तरह अलग जान पड़ते हैं, जिस तरह जल की तरंगे और समय के विभाग हैं। जिस प्रकार जन्म के अस्तित्व के कारण मृत्यु का अस्तित्व है, उसी तरह सुख, स्वर्ग, प्रेम और पुण्य के कारण दुःख, नरक, घृणा और पाप का वजूद है। Milton के शब्दों में Good & evil in the fild of this world grow up together almost inseperably. ऐसा होना ज़रूरी है। दोनों पहलुओं के कारण ही सत्ता पूर्ण होती है The positive collects on this side and the

negative on the opposite side then the force becomes perfect (Swami Ram) इसलिये किसी बात की गहराई तक पहुंचने के लिये उस बात के दोनों परस्पर विरोधी पहलुओं (Contradictions) का समझना बहुत ज़रूरी है। यदि उदारता से विचार किया जायगा, तो वे दोनों परस्पर विरोधी पहलू एक दूसरे के विरोध के स्थान पर सहयोग करते जान पड़ेंगे।

लेकिन मैं तो विरोध और सहयोग के अलग अलग अस्तित्व को स्वीकार करने की बात कहने चला हूं। ऊपर की सारी बातें यही दिखलाने के लिये हैं कि हर बात के दो पहलू होते हैं; वे परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं, पर वास्तव में वे विरोधी हैं नहीं, उनके विरोध से हमें डरना नहीं चाहिये, उन्हें छिपाना भी नहीं चाहिये। वे जैसे हैं उन्हें उसी तरह समझना, परखना और देखना उचित है। किसी के पाप को पुण्य के रूप में प्रदर्शित करना पाप छिपाना नहीं है, बल्कि जो कुछ भी उसमें पुण्य है, उसे भी पाप बना देना है। उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया जा सकता है। मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब से मुसलमान प्रेम करते हैं और हिन्दू घृणा। उसने मन्दिर उजाड़ कर मसजिदें बनाई थीं, हिन्दुओं पर जज़िया लगाया था, इसीलिये हिन्दू यह कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि औरंगज़ेब ने कभी हिन्दुओं के लिये मन्दिर भी बनवाये थे, कि उसका जीवन कितना सादा और कितना ऊंचा था? इसका कारण यही कि है उन लोगों ने जिन्हें उस काल का इतिहास लिखने का अवसर मिला, उसके दोनों पहलुओं को चित्रित नहीं किया। उससे प्रेम करने वाले डर गये कि कहीं उसके दोष स्वीकार कर लेने पर उसे लोग अत्याचारी न कहने लगेंगे। लोगों ने उसे अत्याचारी कहा और इसलिये अधिक कहा कि उसके दोष छिपाये गये थे। स्वामी दयानन्द का युग अभी बीता है। उनके देश प्रेम, मानव प्रेम और अपने विरोधियों के प्रति आदर की भावना पर लोगों को शंका पैदा होती है। उसका कारण यही है कि उनके प्रेमियों ने उनके एक दुर्गुण को छिपाने के लिये अनेक झूठे तर्कों का सहारा लिया। वे स्वीकार न कर सके कि उन्नीसवीं सदी का महान सुधारक क्रोधी था और क्रोध में आकर उसने अपने विरोधियों के प्रति उस भाषा का प्रयोग किया, जो उस जैसे महान पुरुष को शोभा नहीं देती थी। केवल उस प्रयोग के कारण लोग उसकी महानता पर धूल नहीं फेंकते, बल्कि इसलिये फेंकते हैं कि उस प्रयोग को नाना तर्क वितर्कों से न्याययुक्त ठहराया जाता है। यह उन लोगों की झूठी भावना थी कि इस दुनिया में होने वाले औरंगज़ेब और दयानन्द दूध के धोये, प्रत्येक बुराई से अछूते और पूर्ण पुरुष थे। पूर्ण पुरुष तो वही है, जो मानव की कमज़ोरियों को लेकर महान हुआ है।

प्राचीन धर्म ग्रन्थों के अर्थ लगाने (interpretation) की समस्या भी ऐसी ही है। गीता में अगर मूर्ति पूजा नहीं है; वेदों में अगर इतिहास है; क़ुरान यदि कहीं बाइबिल का विरोध करती जान पड़ती है; पुराणों में यदि परस्पर विरोधी बातें हैं, तो विचारकों को डरने की क्या ज़रूरत है? क्या ज़रूरत है कि अर्थों में खींचातानी करके वे अपने अपने आशय की बातें पैदा करें? उन्हें तो उदारता के साथ सत्य बात स्वीकार कर लेनी चाहिये। मैं यह मानता हूं, बात सरल नहीं है; परन्तु फिर भी यह बात ध्यान रखने योग्य है कि एक मत कभी नहीं हुआ। विविधता जीवन है। विविधता को ज़बरदस्ती एकता में पलटना विषमता है।

प्रत्येक शरीरधारी महापुरुष हमारी तरह मानव हैं। उनकी महानता यही है कि वे मानव की कमज़ोरियों से होकर ऊपर उठे हैं। उनके हृदय में भी पाप पुण्य; प्रेम, घृणा और स्वर्ग नरक की कल्पनायें थीं। इनके प्रभाव से भी वे मुक्त नहीं थे। अन्तर केवल इतना था कि वे अपनी कमज़ोरियों से परिचित थे और इसीलिये मानव-कल्याण के लिये महान् कार्य कर सके। परस्पर विरोधी जान पड़ने वाले अनेक महापुरुषों के कार्य से ही मानव जाति का बार बार कल्याण हुआ है, यह क्या भूलने की बात है। वेद,

क़ुरान और बाइबिल की शिक्षाओं ने भिन्न भिन्न भूखण्डों में मानव जाति को ऊपर उठने की प्रेरणा दी है, इससे क्या कोई इन्कार कर सकता है ?

श्रद्धा और तर्क; जीवन और मृत्यु की तरह एक दूसरे पर आश्रित हैं। श्रद्धा बिना जीवन नहीं होता। वह जब अकर्मण्य हो जाती है, तो तर्क का जन्म होता है। वह श्रद्धा को नष्ट करने के लिये नहीं है, बल्कि उसे स्फूर्ति देता है। तर्क के बिना श्रद्धा का जन्म नहीं होता। इसी तरह आदर्श और यथार्थ, रूढ़ि और मौलिकता के बीच में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। किसी भी कार्य या वस्तु को समझने के लिये दोनों पहलुओं पर ग़ौर करना ज़रूरी है, क्योंकि दोनों पहलुओं के बिना कोई वस्तु पूर्ण नहीं है।

आप और आपके अनेक बन्धुओं पर निर्माण का बहुत बड़ा दायित्व है। उस भार को संभालते हुये आप लोग यदि इन बातों का ख़याल रखें, तो उलझनें बहुत कुछ सुलझ सकती हैं। देर लगेगी। साधना के बिना किसी कार्य का मूल्य नहीं होता। तपस्या ज़रूरी है। रुकावटें आयेंगी। आप जिनको प्रकाश देंगे, वे आपकी आंखें फोड़ना चाहेंगे। आप जिन्हें जीवन देना चाहेंगे, वे आपके प्राण लेने की चेष्टा करेंगे। हवा का विरोध करने वाला कष्ट पाता ही है। नष्ट भी हो जाता है, परन्तु यह बात भूलने वाली नहीं है कि प्रत्येक नष्ट होने वाला व्यक्ति, हवा की शक्ति कम कर जाता है। विजय का सेहरा जिसके सर बंधता है, श्रेय वास्तव में उसी का नहीं होता। उससे पहिले उसका मार्ग सरल करने वाले अनेक पुरुष होते हैं, दुनियां भले ही उनको भूली रहे, परन्तु इस भूलने से उनका मूल्य कम नहीं होता।

एक बात और है। दूसरों को जीवन देने से पहिले स्वयम् जीना सीखना ज़रूरी है। जो जीना नहीं जानते, वे 'जीने दो' के अर्थ कैसे समझ सकते हैं ! जो जीना जानता है, वही दूसरों के जीने की आवश्यकता स्वीकार कर सकता है। और फिर जब सब जीना सीख लेंगे तो 'जीने दो' का प्रश्न ही नहीं रहेगा। जीने के लिये मृत्यु से प्रेम करना होगा। मृत्यु से घृणा करके कोई एक क्षण भी न जी सकेगा। जीवन और मृत्यु में जो समन्वय है, वैसा ही सम्बन्ध प्रत्येक विचार और वस्तु में होना चाहिये। ग़लती करना पाप नहीं, पाप ग़लती को सही साबित करना है। ग़लती और पाप (Comparative Terms) तुलनात्मक शब्द हैं, उनसे डरना नहीं चाहिये।

इन सारी बातों को एक शब्द में प्रगट किया जा सकता है। वह शब्द है 'समन्वय'। सिद्धान्त के नाम पर मर मिटने वाले को यह शब्द बहुत बुरा लगता है। परन्तु समन्वय के अर्थ सिद्धान्त के नाम पर समझौता करना नहीं है। समन्वय (Accomodation) से तात्पर्य दो विचारों को इस प्रकार adjust करना है कि वे अपनापन न खो बैठें। अपनापन खो देना तो आत्महत्या है। आत्महत्या के बाद मुरदों में सम्बन्ध स्थापित करना एक वीभत्स प्रहसन है। समन्वय के आधार पर जो नीति निर्धारित की जा सकती है, वही स्थायी हो सकती है। उसकी पहिली और मुख्य शर्त है कि वह दोनों पहलुओं को represent करती हो।

और अन्त में फिर एक बार आपके प्रति कृतज्ञता प्रगट करता हूं कि आपने यह पत्र लिखने का अवसर दिया।

विनीत
विष्णु

समालोचना

राष्ट्रवादी दयानन्द—लेखक पण्डित सत्यदेव विद्यालङ्कार, सम्पादक 'हिन्दुस्तान', नई दिल्ली, प्रकाशक—"गीता-विज्ञान कार्यालय" ४० ए० हनुमान रोड, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या १३६, मूल्य अजिल्द ।।।) और सजिल्द एक रुपया।

मथुरा में मनाई गई जन्म शताब्दी के अवसर पर इस पुस्तक का पहला संस्करण 'दयानन्द दर्शन' नाम से प्रकाशित किया गया था, जो हाथों हाथ बिक गया था। तब से हज़ारों पाठक इसके दूसरे संस्करण की प्रतीक्षा में थे। पुस्तक के पहले संस्करण की अत्यन्त उपयोगी भूमिका स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी ने लिखी थी, जो इस दूसरे संस्करण में भी शामिल है। दूसरे संस्करण में लेखक ने अपने गम्भीर अनुशीलन के परिणाम स्वरूप ऋषि दयानन्द पर प्रकाश डालने वाली अन्य आवश्यक सामग्री भी जोड़ी है। भूमिका में स्वामी श्रद्धानन्द महाराज ने लिखा है—"ग्रन्थ में वैदिक राष्ट्रीय भावना को पुष्ट कर 'प्रजातन्त्र राज्य', 'स्वराज्य', 'साम्राज्य', 'चक्रवर्ती राज्य' और 'राष्ट्र संघ' की व्यवस्था पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। ऋषि दयानन्द के लेखों का यथा स्थान उद्धरण देकर सिद्ध कर दिया गया है कि राजनीतिक क्षेत्र में भी साधारण सांसारिक नेताओं की अपेक्षा तत्वदर्शी ऋषि अधिक विश्वसनीय अगुआ बन सकता है।" पुस्तक में ऋषि दयानन्द के वास्तविक स्वरूप को अकाट्य प्रमाणों द्वारा रक्खा गया है। पुस्तक समाप्त करने के बाद पाठक के हृदय में सबसे पहला प्रश्न यही उठता है—"आर्य समाज किधर!" इस पुस्तक का हर एक को और ख़ास कर हमारे आर्य समाजी भाइयों को गम्भीर अध्ययन करना चाहिये।

प्रजा मण्डल—लेखक ठाकुर श्रीनाथ सिंह, प्रकाशक 'दीदी' कार्यालय, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या २३८, मूल्य डेढ़ रुपया।

श्री कन्हय्यालाल मुन्शी के गुजराती उपन्यास के बाद रियासती समस्या को लेकर यह दूसरा उपन्यास हमारे पढ़ने में आया; और यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं कि कथानक के चुनाव, उद्देश्य की स्पष्टता, वस्तुस्थिति के चित्रण आदि सभी में ठाकुर साहब का यह उपन्यास मुन्शी के उपन्यास से कहीं अधिक ऊंचा स्थान रखता है। उपन्यास की भाषा मंजी हुई और आसान है। ठाकुर साहब ने रियासती जीवन का जो वीभत्स चित्र खींचा है, वह अक्षरशः सत्य है। इस बीसवीं सदी में हमारे देश में सचमुच ऐसे नारकीय कीड़े मौजूद हैं। उपन्यास में प्रजा मण्डल का आन्दोलन, हिंसा और अहिंसा का द्वन्द है, जिसमें ठाकुर साहब ने अहिंसा की महत्ता को साबित किया है। रियासतों का प्रश्न एक गम्भीर प्रश्न है। हम ठाकुर साहब की क़लम से इस प्रश्न पर दूसरी रचना की प्रतीक्षा में रहेंगे। पुस्तक रोचक इतनी है कि एक सांस में ही पढ़ जाने को जी करता है। पुस्तक के हम अधिक से अधिक प्रचार की चाहना करते हैं।

ब्रह्माण्ड और पृथ्वी—लेखक श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, सम्पादक श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या ९९, मूल्य सजिल्द पुस्तक का १), प्रकाशक अभिनव भारती ग्रन्थ माला, १७१ ए० हरीसन रोड, कलकत्ता।

'अभिनव भारती ग्रन्थ माला' की यह चौथी पुस्तक है। अभिनव भारती ग्रन्थ माला आचार्य द्विवेदी जी के संरक्षण में हिन्दी संसार की एक बहुत बड़ी कमी को पूरा कर रही है। अब तक इस माला में जितनी पुस्तकें निकली हैं, साहित्यिक कीच में सुरभित पद्मों की तरह अपना सौरभ फैला रही हैं। थोड़े से प्रकाशकों के ऐसे ही स्तुत्य प्रयत्नों को देखकर हमें हिन्दी का भविष्य उज्वल दिखाई देता है।

पुस्तक आठ अध्यायों में विभक्त है (१) ब्रह्माण्ड का विस्तार, (२) स्थान, काल और पदार्थ, (३) भू-रचना, (४) जीवन क्या है, (५) जीवन के लिये आवश्यक परिस्थितियां, (६) दिन-रात्रि का क्रमिक आवागमन, (७) सृष्टि के विकास का सिद्धान्त, (८) जीव रचना का प्रारम्भ। सम्पादक महोदय अपनी भूमिका में लिखते हैं—"न जाने किस अनादिकाल के एक अज्ञात मुहूर्त में सूर्य मण्डल से टूट कर यह पृथ्वी नामक ग्रह पिण्ड सूर्य के चारों ओर चक्कर मारने लगा था। उसमें नाना प्रकार के ज्वलन्त गैसों का आकर था। इन्हीं में से किसी एक या अनेक के भीतर जीव-तत्व का अंकुर वर्तमान था। पृथ्वी लाखों वर्ष तक ठण्डी होती रही।...जीव-तत्व निर्भय अग्रसर होता गया। वह एक शरीर से दूसरे में संतति के रूप में संक्रमित होता हुआ बढ़ता ही गया—अनवरुद्ध अश्रान्त। मनुष्य उसी की अन्तिम परिणति है—देश में सीमित, काल में असीम, शरीर से नाशवान, आत्मा से अविनश्वर। वही मनुष्य इस समस्त विश्व ब्रह्माण्ड की नाप जोख करने निकला है।"

श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने बड़ी मेहनत के साथ इसी ब्रह्माण्ड और पृथ्वी के बारे में आधुनिक अन्वेषणों के प्रकाश में अपने परिश्रम को पाठकों के सामने रखा है। सचित्र होने के कारण पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। प्रत्येक विद्यार्थी के हाथ में यह पुस्तक होनी चाहिये।

कथा कहानी और संस्मरण—लेखक—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय, प्रस्तावना लेखक—श्री जैनेन्द्रकुमार। प्रकाशक, जैन संगठन सभा, पहाड़ी धीरज, दिल्ली। पृष्ठ संख्या १२८, मूल्य १)—

प्रस्तुत पुस्तक में ४५ कथाएं और ६ कहानियाँ बेहद रोचक और शिक्षाप्रद हैं। भाषा भी बहुत सहल है। श्री जैनेन्द्र जी के अनुसार पुस्तक सार्वजनिक वक्ताओं के विशेष काम की हो सकती है। पुस्तक में प्रत्येक धर्म के महापुरुषों की कथायें दी गई हैं।

ऐसी उपयोगी पुस्तक का मूल्य हमें अधिक लगा। पुस्तक का मूल्य आठ आने से अधिक न होना चाहिये था।

देश-दर्शन—सचित्र मासिक, सम्पादक—पण्डित रामनारायण मिश्र, प्रकाशक भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद, मूल्य ४)। अप्रैल अङ्क—बलगेरिया, मई अङ्क—अलसेस लोरेन।

आदरणीय मिश्र जी और "भूगोल" शब्द पर्यायवाची हो गये हैं। भारतीय जीवन में भूगोल अध्ययन के महत्व का प्रचार करने में मिश्र जी का अग्रगण्य भाग रहा है। "भूगोल" कार्यालय उनकी वर्षों की अखण्ड और अविचलित तपस्या का फल है। "देश-दर्शन" "भूगोल" का ही छोटा भाई है। जब अग्रज को हिन्दी संसार ने इतनी प्रतिष्ठा दी है, तो अनुज उससे किसी तरह कम स्नेह का अधिकारी नहीं है। 'देश-दर्शन' बालकों का ही मासिक पत्र नहीं है, बल्कि हाथ में उठा लेने पर बूढ़े भी उसे पूरा किये बिना रखना नहीं चाहते। इस यूरोपीय युद्ध को पूरी तरह समझने के लिये 'देश-दर्शन' का ग्राहक होना अनिवार्य है। अनेक चित्रों और नक्शों से विभूषित इस मासिक पत्र के ४) रु० दाम कुछ अधिक नहीं हैं।

मुसलिम त्योहार—लेखक सय्यद क़ासिम अली, प्रकाशक रायसाहब रामदयाल अग्रवाल, इलाहाबाद। पृष्ठ संख्या ८०, मूल्य ।।)

पुस्तक के लेखक हिन्दी के माने-जाने विद्वान सय्यद क़ासिम अली साहित्यालङ्कार हैं। मुसलिम त्योहारों के सम्बन्ध में हिन्दी में रोचक पुस्तक की कमी बेहद खटकती थी। सय्यद साहब ने उस अभाव की पूर्ति की है। पुस्तक ९ पाठों में विभक्त है और सबों के पढ़ने योग्य।

रायसाहब को पुस्तक का मूल्य चार आने से अधिक न रखना था। ज़्यादा मूल्य रखने से पुस्तक का अधिक प्रचार नहीं हो सकता।

अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त—लेखक श्री भगवानदास अवस्थी, एम० ए०, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या ४३८, मूल्य डेढ़ रुपया।

वर्तमान युग अर्थशास्त्र का युग है। अर्थशास्त्र की धुरी पर आज दुनिया की सारी शासन प्रणालियाँ घूम रही हैं। युद्ध और अमन उसके इशारे पर चलते हैं। यूरोप के छोटे छोटे देश अर्थशास्त्र को वश में करके बड़े बड़े साम्राज्यों के मालिक बने और उसी के इशारे पर आज धूल-धूसरित हो रहे हैं। दुनिया के आर्थिक सन्तुलन में अपनी स्थिति ठीक ठीक समझने के लिये हमारे देश वासियों को बेहद ज़रूरत है। यह हम तभी समझ सकते हैं, जब हमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान हो। एक ज़रा सी विनिमय के दर की घटा बढ़ी हमारे ग़रीब देशवासियों के जेब से करोड़ों रुपया विदेशियों के ख़ज़ानों में डाल देता है।

हिन्दी में अर्थशास्त्र की पुस्तकों का बेहद अभाव था। प्रो० दयाशंकर दुबे और भगवानदास केला ने इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया है। प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में प्रो० दुबे लिखते हैं—"अर्थशास्त्र की उत्तम पुस्तकों का भाण्डार अङ्गरेज़ी में है··· हिन्दी में अर्थशास्त्र के उत्तम ग्रन्थों की बेहद कमी है। इसी कमी को कुछ अंशों में दूर करने के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है।"

अवस्थी जी ने अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन, मनन और चिन्तन करने के बाद यह ग्रन्थ लिखा है। पुस्तक में अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्तों की सुन्दर विवेचना की गई है। पुस्तक रोचक ढङ्ग से लिखी गई है और साधारण पढ़ा हुआ पाठक भी पुस्तक में वर्णित विषयों को समझ सकता है। ४३८ पृष्ट के इस उपयोगी ग्रन्थ का १॥) मूल्य कुछ भी नहीं है।

हिन्दी के कवि और काव्य (भाग ३)—संग्रहकर्त्ता श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी। प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या २९९, मूल्य सादी जिल्द तीन रुपया।

इसके पूर्व हिन्दी के कवि और काव्य के दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इस तीसरे भाग में जायसी, नूर मुहम्मद, उस्मान, निसार तथा आलम नामक मुसलमान हिन्दी कवियों की रचनाएं संग्रहीत हैं। इनमें निसार कृत 'यूसुफ़ जुलेखा' तथा आलम कृत 'माधवानल काम कन्दला' अप्रकाशित ग्रन्थ हैं। ग्रन्थ में कवियों की संक्षिप्त जीवनी भी है। इनमें "माधवानल काम कन्दला" को छोड़ कर शेष रचनाएं आंशिक हैं। सारी रचनाएं अवधी भाषा में चौपाइयों में की गई हैं। संग्रह कर्त्ता अपनी भूमिका में लिखते हैं—"जायसी से क़रीब सौ सवा सौ वर्ष पहले ही हिन्दू और मुसलमान जनता, साम्प्रदायिक विद्वेष को बहुत कुछ किनारे कर, एक दूसरे की संस्कृति उपासना और विचार आदि को सहानुभूति पूर्वक समझने और परस्पर इनके आदान प्रदान की ओर रुचि करने लगी थी। लोगों ने इस बात को ठीक ठीक समझ लिया था कि दोनों सम्प्रदायों के लोगों में एक दूसरे की संस्कृति और साहित्य के प्रचार और लोक प्रिय बनाने से बढ़कर आपस में घनिष्ठता और सौहार्द स्थापित करने का दूसरा उपाय नहीं हो सकता।...इन लोगों ने मुसलमान होकर हिन्दू घरानों में प्रचलित प्राचीन प्रेम कहानियों को उन्हीं की भाषा में कही, पर अपने ढङ्ग से। और इस प्रकार यह सिद्ध कर दिया कि जहां प्रेम है वहां जाति, सम्प्रदाय या मत मतान्तर का भेद कोई अर्थ नहीं रखता।" संग्रहकर्ता ने बड़े परिश्रम के साथ यह संग्रह किया है। आज कल के भाषा विद्वेष के युग में हमें संग्रहकर्ता का यह प्रयत्न अत्यन्त महत्व पूर्ण दिखाई दे रहा है। जायसी के सम्बन्ध में संग्रहकर्ता लिखते हैं—"जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। अवधी में इतनी बड़ी और व्यापक रचना सबसे पहले इन्हीं की मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस की रचना के समय इनकी 'पद्मावती' को बहुत सी बातों में आदर्श बनाया होगा। कम से कम मानस का बाह्य रूप और

विशेषतः उसकी भाषा तो 'पद्मावती' से बहुत कुछ मिलती जुलती है।" हिन्दी प्रेमियों को यह पुस्तक अवश्य देखनी चाहिये।

क्या और कैसे खायें—लेखक डाक्टर बालेश्वर प्रसाद सिंह, प्रकाशक 'जीवन सखा' कार्यालय, हिम्मत गंज, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या ४१, मूल्य।)

डाक्टर सिनहा अनुभवी और दक्ष प्राकृतिक चिकित्सक हैं। इस छोटी सी पुस्तिका में इन्होंने अपने महत्वपूर्ण अनुभव संचय किये हैं। पृष्ठ ७ में वह लिखते है— 'हमें स्वाद के लिये न खाना चाहिये। खाने का ध्येय पुष्ट निरोग सेल तय्यार करना ही होना चाहिये।" पुस्तिका नसीहतों से भरी है। एक स्थान पर लिखा है—! "दूध में नीबू, नारंगी या संतरे का रस मिलाने पर उसका हलका पन बढ़ जाता है और बहुत कमज़ोर मेदेवाले के लिये भी अच्छा खाद्य पदार्थ बन जाता है।" दूसरी जगह लिखा है—"नीबू का रस लेते समय यह ध्यान रहे कि नीबू का बीज पेट में न जाने पावे अन्यथा, अपेन्डे-साइटिस होने का डर रहता है"—

कबहुं बिजौरा निम्बू के एक बीज जो खैहैं,
बैदराज हंसि घर से चलिहैं मौत सर्ग ते धैहैं।

एक जगह लिखा है वर्षा में दूध और नीबू का रस मिलाकर पीना चाहिए। जीर्ण रोग में अन्न और कन्द की तरकारी बिलकुल छोड़ देना चाहिए। एक जगह लिखा है दो महीने तक बूट (चना) का कल्प करने के बाद एक कोढ़ के रोगी की कायापलट हो गई। नवीन रक्त का संचार हो गया, सूजन जड़ से जाती रही। नमक चीनी आदि की मनाही थी। पुस्तक में कई चार्ट आदि होने से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। धनी धोरी सज्जनों को चाहिये कि ऐसी पुस्तकें छपवाकर दो दो पैसे में बेचवावें।

ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह—सम्पादक श्री अगरचन्द्र नाहटा और श्री भंवरमल नाहटा, प्रकाशक शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५-६ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता, पृष्ठ संख्या ४९८, मूल्य ३।), भूमिका के पृष्ठ १०९।

प्रस्तुत ग्रन्थ में बारहवीं सदी से लेकर इस समय तक के जैन आचार्यों के और मुनियों के उपदेशों का संग्रह है। सम्पादकों को कितना परिश्रम और अनु-सन्धान करना पड़ा होगा, यह ग्रन्थ को देखकर ही पता चलता है। यह उनके ७ वर्षों के परिश्रम का फल है। पुस्तक के प्राक्कथन में अमरावती कालेज के प्रो० हीरालाल जैन लिखते हैं:—वर्तमान संग्रह जैन गीति-काव्य है। इसमें सैकड़ों गीत संग्रह हैं, जो किसी समय कहीं कहीं अवश्य लोकप्रिय रहे हैं··· इन गीतों का विषय शृङ्गार नहीं, भक्ति है। अनेक गीत मुसलमान बादशाहों और जैन मुनियों के प्रेम सम्बन्ध को प्रकट करते हैं। सम्राट अकबर तो मुनि श्री जिन चन्द्र सूरि का अनन्यभक्त था। कई गीतों में लोधी और तुग़लक बादशाहों की जैन मुनियों के प्रति श्रद्धा का वर्णन है। गीतों में महान जैन धर्म की छोटी मोटी झांकी मिलती हैं। प्राक्थन लेखक दर्द के साथ लिखते हैं—"किन्तु दुःख की बात है कि धार्मिक विचारों में उदारता और धर्म प्रचार में तत्परता के लिये जो जैन कभी इतने प्रसिद्ध थे, वे ही आज इन बातों में सबसे अधिक पिछड़े हुए हैं। विश्व भर में बन्धुत्व और प्रेम स्थापित करने का दावेदार जैनी आज अपने ही समाज के भीतर प्रेम और मेल नहीं रखता।"

हम सम्पादक द्वय को इस महान प्रयत्न के लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

सम्पादकीय-विचार

प्रातः स्मरणीया अहिल्या बाई

२१ अगस्त को महारानी अहिल्या बाई की पुण्य तिथि है। हमारे डूबते हुए सूर्य की वह एक प्रखर किरण थी। टारेंस अपनी पुस्तक "एम्पायर इन एशिया" में लिखता है—

"मालवा के समृद्ध और आबाद इलाक़े पर उसने सन् १७६५ से ३० वर्ष तक राज्य किया। आस पास के नरेश उसका आदर करते थे और प्रजा उसका गुण गान करती थी। जब से राज्य का गुरुतर कर्तव्य भार उसके कन्धों पर पड़ा उसने उसे पूरी दिलचस्पी से निभाया। वह उसके योग्य साबित हुई। उसकी वैदेशिक नीति उतनी ही सफल थी जितनी रूस की साम्राज्ञी कैथरीन की, किन्तु उसने कैथरीन की तरह अपना बिस्तर अपने पति के ख़ून से गीला न किया था। व्यक्तिगत साहस और दिलेरी में वह इङ्गलिस्तान की रानी एलिज़बेथ से किसी तरह कम न थी, किन्तु एलिज़बेथ की तरह उसने जेल में अपने प्रतिस्पर्धी की हत्या न करवाई थी। जिन परिस्थितियों में शासन सूत्र उसके हाथ में आया वे डेनमार्क की रानी मार्गरेट के सिंहासन पर बैठने से बहुत कुछ मिलती हैं, किन्तु मार्गरेट की तरह न तो उसने अमीरों को सताया, न ग़रीबों को कुचला और न मार्गरेट की तरह कोई उसके चरित्र पर छींटा फेंक सकता है। उसके शासन संचालन का मुख्य आधार न्याय, रहम, देश को उन्नत और प्रजा को सुखी करने की कोशिशें थीं। उसके पास एक छोटी सी पैदल फ़ौज थी। किन्तु वे थोड़े से सिपाही उसकी न्याय प्रियता और चरित्र बल को कवच बनाकर देश में सुशासन और शान्ति क़ायम रखने में सफल होते थे। ईसाई इतिहासकारों के अनुसार अहिल्या असभ्य (Pagan) जाति की थी, किन्तु वह अक्सर कहा करती थी कि अपने हर काम के लिये उसे ईश्वर के सामने जवाबदेही करनी होगी। हिन्दू धर्म असहिष्णुता को बुरा नहीं समझता किन्तु अहिल्या, जो अपने धर्म में इतना दृढ़ थी, अपनी परधर्मावलम्बी प्रजा के साथ दया और प्रेम का बर्ताव करती थी। अहल्या ईसाई न थी किन्तु उसमें प्रत्येक प्राणी के साथ हमदर्दी थी, त्याग की वृत्ति थी, अपने कर्तव्य का ज्ञान था, हर एक के साथ न्याय करती थी, और उसका इतना लम्बा शासन काल इतना बेदाग़ था कि उस पर कोई इलज़ाम नहीं लगाया जा सकता। अपने प्यारों और आत्मीयों की असामयिक मृत्यु ने उसके दिल को उदासी से भर दिया था। वह ऐश्वर्य के बीच में भी नम्र थी। सिंहासन पर बैठ कर भी उसके दिल में कोई व्यक्तिगत आकांक्षा न थी। उसके आत्म त्याग की भावना ज़िन्दगी भर प्रचण्ड रही और अन्त में निस्सन्तान और वैधव्य का लम्बा जीवन बिताकर उसने इस दुनिया से विदा ली। उसकी मृत्यु के बीस वर्ष बाद हमारी फ़ौजों ने उसके राज्य में घुसकर इंच इंच ज़मीन को ख़ून और बरबादी से रंग दिया। हमने ग़ुलामी से उसके ऐसे देश को जकड़ दिया जहाँ की प्रजा विजेता अङ्गरेज़ जनरल के शब्दों में 'बहुत बुरी तरह सताई जाती थी'। इस इलज़ाम का जवाब हम अङ्गरेज़ों को अपने दिल के भीतर देना पड़ेगा।"

उस समय के भारत और यूरोप की तुलना करते हुए टारेंस लिखता है—"सत्रहवीं सदी के मध्य तक, सब धर्मों के लोगों के साथ पूरी उदारता का व्यवहार किया जाता था। ठीक उसी समय यूरोप निवासी धर्म के नाम पर अत्याचारों द्वारा अपने महाद्वीप को एक विशाल श्मशान भूमि बनाने की ज़ोरदार कोशिशों में लगे हुए थे, अपने अपने धर्म की रक्षा के लिये लोग यूरोप के विविध देशों से भाग भाग कर अमरीका में जा जा कर बस रहे थे। क्या आज

उन्हीं लोगों के वंशज उनकी क़बरें बनाने वाले, भारत पर दोष लगाने का साहस कर सकते हैं ? क्या वे बेशर्मी के साथ इस बात का दम भर कर इतिहास को कलङ्कित कर सकते हैं कि उस समय उनकी सभ्यता भारत की सभ्यता से अधिक सच्ची थी ? यदि उन्हीं के लिखे इतिहास पर विश्वास करके उन्हीं की गवाही ली जाय और जो कट्टर ईसाई उस तमाम समय में धर्म के नाम पर फांसियां खड़ी कर रहे थे, बेड़ियां कस रहे थे और दूसरे सम्प्रदायों के ईसाइयों को दण्ड देने के लिये एक्ट्स आफ़ यूनिफ़ार्मिटी पास कर रहे थे, जिनकी उंगलियों से कवेनेण्टर सम्प्रदाय के लोगों का ख़ून, कैथलिक लोगों का ख़ून और प्यूरिटन लोगों का ख़ून लगातार टपक रहा था, यदि उन्हीं को बुलाकर उनकी गवाही ली जाय, तो वे क्या मुंह दिखला सकेंगे ?"

अहिल्याबाई की बुद्धिमत्ता, योग्यता, न्याय-शासन सच्चरित्रता और आदर्श राज-प्रबन्ध की प्रशंसा समस्त इतिहास लेखकों ने मुक्त कण्ठ से की है। उसकी गाढ़ धार्मिकता के कारण उत्तर से दक्खिन तक हिन्दू और मुसलमान समस्त भारतीय नरेश उसे अपनी श्रद्धा और आदर का पात्र स्वीकार करते थे। अहिल्याबाई विदेशियों के साथ मेल या उनके हस्तक्षेप को ज़रा भी पसन्द न करती थी। केवल उसकी मृत्यु के बाद ही वारन हेस्टिंग्स को मालवा के अन्दर कुचक्र रचने का अवसर मिल सका। यदि मराठा मण्डल अहिल्याबाई की नीतिज्ञता पर अमल कर सकता तो संसार के इतिहास में मराठों का प्रकरण कुछ और ही प्रकार से लिखा जाता।

सिन्धी शिक्षा - सचिव का सुकृत्य

सिन्ध सरकार के शिक्षा विभाग ने अपनी एक विशेष विज्ञप्ति में इस बात की घोषणा की है कि सिन्ध में पढ़ाई जाने वाली तमाम इतिहास की पाठ्य पुस्तकों से "कलकत्ते की काल कोठरी (ब्लैकहोल) का क़िस्सा, चूंकि झूठा साबित हो चुका है, इसलिये निकाल दिया जाय।"

इतिहास की खोज करने वालों पर अब यह बात अच्छी तरह प्रकट हो चुकी है कि ब्लैक होल का यह सारा क़िस्सा बिलकुल झूठा है और केवल सिराजुद्दौला के चरित्र को कलंकित करने और अङ्गरेज़ों के बाद के चरित्रों को जायज़ क़रार देने के लिये गढ़ा गया था। विद्वान इतिहास लेखक श्री अक्षयकुमार मैत्र ने अपने बंगला ग्रन्थ "सिराजुद्दौला" में इस क़िस्से के विरुद्ध अनेक अकाट्य युक्तियां संग्रह की हैं। अव्वल तो इतनी छोटी जगह (२६७ वर्ग फ़ुट) में १४६ मनुष्य चावलों के बोरों की तरह भी नहीं भरे जा सकते। इसके अतिरिक्त उस समय के किसी भी प्रामाणिक इतिहास में या कम्पनी के रोज़नामचों, कार्रवाइयों के रजिस्टरों या मद्रास कौन्सिल की बहसों में इस घटना का कहीं ज़िक्र नहीं आता। क्लाइव और वाटसन ने कुछ समय बाद नवाब की ज़्यादतियों और कम्पनी की हानियों को दर्शाते हुये नवाब के नाम जो पत्र लिखे उनमें इस घटना का कहीं ज़िक्र नहीं आता, न अलीनगर के सन्धिपत्र में ही इसका ज़िक्र है। बहुत समय बाद क्लाइव ने कम्पनी के डाइरेक्टरों के नाम एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें उसने सिराजुद्दौला के साथ कम्पनी के क्रूर व्यवहार के अनेक सबब गिनवाए हैं। उनमें इस घटना का कहीं इशारा भी नहीं मिलता। कम्पनी ने मीर जाफ़र के साथ जो सन्धि की, उसमें कम्पनी के हर तरह के हरजाने का हिसाब लगाया गया है, लेकिन इन १२३ मनुष्यों के कुटुम्बियों को मुआविज़ा दिलवाने का कहीं ज़िक्र नहीं। जो विदेशी लोग जहाज़ों में बैठ कर भाग निकले थे, उनके बाद १२३ अङ्गरेज़ क़िले के अन्दर बचे भी न थे। कुछ लोगों ने ऐसे यूरोपियनों की सूची तय्यार करनी चाही, जो उस समय कलकत्ते के क़िले के अन्दर मरे। लेकिन यह सूची ५६ से ऊपर न पहुंच सकी और ये ५६ भी लड़ाई के ज़ख़्मों और रोगों के शिकार हुए। फिर बाक़ी ६७ कौन थे ? इत्यादि।

वास्तव में इस झूठे क़िस्से को फ़रवरी सन् १६५६ में कलकत्ते के अङ्गरेज़ मुखिया हालवेल ने

विलायत जाते समय जहाज़ के ऊपर बैठकर गढ़ा था। अपने झूठों और जालसाज़ियों के लिये यह अङ्गरेज़ काफ़ी मशहूर था। सिराजुद्दौला के विरुद्ध मीर जाफ़र को गद्दी पर बैठाने के लिए उसने मीर जाफ़र से एक लाख रुपये रिशवत के ले लिये और मीर जाफ़र की ख़ूब तारीफ़ की। बाद में मीर क़ासिम को मसनद पर बैठाने की ज़रूरत हुई, तो उसने तीन लाख रुपये मीर क़ासिम से लेकर चट कर लिये। अब मीर जाफ़र को उसने घोर अन्यायी और हत्यारा बयान किया और ऐसे स्त्री पुरुषों की सूची पेश की, जिन्हें उसने लिखा कि मीर जाफ़र ने मरवा डाला। इसके कई साल बाद क्लाइव और उसके साथियों ने डाइरेक्टरों को लिखा कि हालवेल के इलज़ाम सरसे पांव तक झूठे हैं और जिन स्त्री पुरुषों की सूची हालवेल ने अपने पत्र में यह कह कर दी है कि उन्हें मीर जाफ़र ने मरवा डाला, उनमे से दो को छोड़कर बाक़ी सब अभी तक ज़िन्दा हैं।*

हमारे लाखों बच्चों को इतिहास की इसी तरह की झूठी घटनाएं पचासों बरस से याद कराई जा रही हैं, हमारे देशभक्त शासकों को कलुषित से कलुषित रङ्ग में रङ्ग कर पेश किया जाता है, हमारी आज़ादी को भयंकर आफ़त और ग़ुलामी को मोक्ष कहकर बयान किया जाता है। इसी का परिणाम है कि आज हम अपने दिमाग़ों को बदला हुआ पा रहे हैं। हमारे इतिहासकार विदेशी सत्ता के निर्लज्ज पृष्ठ पोषक बनने में अपना गौरव अनुभव करते हैं। वे अङ्गरेज़ों की प्रचलित की हुई झूठी बातों को लगातार दोहराते रहते हैं। पार्लिमेण्ट के काग़ज़ों को वे सत्य की लकीर समझते हैं। सर जान के अपनी "हिस्ट्री आफ़ दी अफ़ग़ान वार" में लिखता है—

"लोग समझते हैं कि पार्लिमेण्ट के काग़ज़ इतिहास के लिये सबसे अच्छी सामग्री हैं। किन्तु सच यह है कि आमतौर पर ये सरकारी काग़ज़ केवल कांट छांट की हुई दस्तावेज़ों और जाली काग़ज़ों का एक ऐसा यकतर्फ़ा संग्रह होते हैं, जिसे राज मंत्रियों की मोहर सच्चा कहकर चलता कर देती है, जिससे मौजूदा नसल के लोग धोखे में आ जाते हैं और आइन्दा नसलों को ख़तरनाक झूठों का एक सिलसिला वसीयत में मिलता है।" *

सिन्ध के शिक्षा विभाग ने देश के सामने एक मिसाल रखी है। हमें विश्वास है दूसरे प्रान्तों के शिक्षा विभाग भी इसका अनुकरण करेंगे और कोशिश करके इतिहास की पाठ्य पुस्तकों से वे सारे झूठ निकाल कर फेंक देंगे, जिनको पढ़ पढ़ कर हमारे कई महान नेता 'हिन्दू पद पादशाही' और 'पाकिस्तान' की नाशकारी सदाएं बुलन्द करने लगे हैं।

सरहदी गांधी के नेतृत्व में

वर्धा जाते हुए लाहौर में सरहदी गांधी ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ां ने एक पत्र-प्रतिनिधि से बात करते हुए कहा कि—"वे शीघ्र ही पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, सीमा प्रान्त और काशमीर में हिन्दू मुसलिम एकता के आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करेंगे। उनसे उक्त प्रान्तों के नेताओं ने उस भार को सम्हालने की प्रार्थना की है।"

पंजाब सरकार और सिन्ध की सरकार इस सम्बन्ध में विशेष प्रयत्नशील दिखाई देती है। दोनों ने एकता के प्रयत्न के लिये एक एक लाख रुपये की रक़म मंज़ूर की है। पंजाब प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सदर मियां इफ़्तख़ारुद्दीन हिन्दू मुसलिम एकता के प्रयत्न को सफल करने के लिये एक सर्वदल सम्मेलन का आयोजन कर रहे हैं। ख़ान बहादुर अल्लाबख़्श ने, जो पिछले दिनों लाहौर गये थे, वहां के नेताओं से मिलकर एक वक्तव्य दिया कि—"मैं पंजाब इसलिये आया हूं कि मियां इफ़्तख़ारुद्दीन और अन्य

* Letter to the Director, dated 11th. October, 1765, by Clive & others.

* History of the Afghan war, Vol. II., P. 13.

नेताओं के साम्प्रदायिक एकता के प्रशंसनीय प्रयत्नों को समझूं और पंजाब की इस एकता की पुस्तक से सबक़ सीखकर अपने प्रान्त में भी सभायें करके, एकता का साहित्य बांट करके, इत्तिहाद कमेटियां बना करके आपसी प्रेम सम्बन्ध को आगे बढ़ाऊं। एकता का आन्दोलन ही इस समय की सबसे बड़ी ज़रूरत है। सिन्ध की कांग्रेस ने इस आन्दोलन का नेतृत्व सम्हाल लिया है। सन् १९४० के नवम्बर में जब मौलाना आज़ाद सिन्ध गये थे, तो उन्हें हिन्दू मुसलिम इत्तिहाद के लिये दस हज़ार रुपये की थैली भेंट की गई थी। तब से वहां एकता के प्रयत्न शुरू हो गये हैं।"

यह एक बहुत बड़े सन्तोष की बात है कि इन समस्त प्रान्तों में, जहां भारी मुसलिम बहुमत है, मुसलमानों की ओर से ही एकता की ज़बरदस्त कोशिशें चल रही हैं। बिहार में भी पिछले दिनों श्रीमोहम्मद यूनुफ के प्रयत्नों से जगह जगह मेल मिलाप कमेटियां बनाई गई हैं। देश के राष्ट्रीय विचार के लोगों का कर्तव्य है कि वे इन कोशिशों में पूरी मदद दें। पाकिस्तान के उठते हुए बुलन्द नारों के सामने आज एकता की आवाज़ें भले ही धीमी मालूम हो रही हों, मगर इनसे इस बात का आभास मिलता है कि हवा किस रुख को बह रही है।

किन्तु हिन्दू मुसलिम समस्या ने जो विकराल रूप धारण कर लिया है और ढाका, बिहार शरीफ़ और अहमदाबाद में हमें जो दर्दनाक नज़ारे दिखाई दिये हैं, वे प्रत्येक देश प्रेमी के दिल को दहला देने वाले हैं। मर्ज़ इस गहराई तक जा चुका है कि उसका बुनियादी इलाज ज़रूरी है। यह कह देने से काम नहीं चलेगा कि इन कुकृत्यों के लिये केवल हिन्दू और मुसलमान गुण्डे ही ज़िम्मेवार हैं। क्या यह सत्य नहीं है कि सभ्य हिन्दू और मुसलमान नागरिक कवच बनकर इन गुण्डों की हिफ़ाज़त करते हैं। दिन दहाड़े सैकड़ों आंखों के सामने हत्यायें होती हैं और फिर भी मुजरिम पकड़े नहीं जाते। पूरी क़ौम की क़ौम अपने अपने सम्प्रदाय के इन गुण्डों की हिफ़ाज़त करती है। नृशंस हत्याएं, लूटमार, अपहरण बलात्कार साम्प्रदायिक नेताओं के संरक्षण में मोहर लगकर प्रचलित हो रहे हैं। वह कोई भोला होगा, जो इस बात पर विश्वास करे कि गुण्डे हिन्दू या मुसलमान हैं! कलकत्ते से लेकर पेशावर तक १२ सरदारों के मातहत लगभग १५ हज़ार गुण्डे शहर शहर में फैले हुये हैं, जिनका मुख्य पेशा औरतें और कोकीन बेचना है। एक एक दल में हज़ार से लेकर डेढ़ हज़ार तक गुण्डे हैं। ये गुण्डा-दल हिन्दू और मुसलमानों के सम्मिलित दल हैं। दोनों मिलकर हिन्दू और मुसलमानों को लूटते हैं। सन् १९३१ के कानपुर दंगे में इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण मिले थे। गुण्डा गुण्डा है, वह हिन्दू और मुसलमान कुछ भी नहीं। आज साम्प्रदायिक नेताओं के संरक्षण में वह खुलकर खेल रहा है। उसके घृणित कामों को हमारे साम्प्रदायिक वर्ग से चुपचुप दाद मिलती है। हमारे सम्पन्न नागरिक यदि ज़ाहिरा अपने कर्मों से नहीं, तो अपने विचारों में समाज को कलङ्कित करने वाले उसी गुण्डे की प्रतिमूर्ति हैं। चूंकि मन ही मन उन्हें उसके साथ हमदर्दी है।

मर्ज़ इतनी गहराई तक पहुंच चुका है कि एकता सम्मेलनों से काम चलता नहीं दीखता। इस समय ज़रूरत है गुरु नानक जैसी महान आत्मा की जो साफ़ साफ़ कह सके—

बन्दे इक ख़ुदायदे, हिन्दू मूसलमान,
दावा राम रसूलकर लड़दे बेईमान।

× × ×

ना हम हिन्दू ना मूसलमान,
दोनों बिच असे शैतान।
एकै, एकी, एक सुभान,
गुरुजी कहिया सुन अब्दुर्रहमान।
दावा भूलो तां इक पिछान।

× × ×

तग्ग न हिन्दू पाइया, तग्ग न मूसलमान।
दोए भूले राह ते, ग़ालिब भया शतान॥

अर्थात्—हिन्दू मुसलमान दोनों एक ख़ुदा के हैं, किन्तु दोनों बेईमान, एक राम का और दूसरा रसूल का, झूठा दावा करके लड़ते हैं।

हम न हिन्दू हैं और न मुसलमान. इन दोनों के दिलों में शैतान बसा है। गुरु नानक कहते हैं—ऐ अब्दुर रहमान! सुनो ईश्वर एक ही है, मत मतान्तरों की हट छोड़ दो, तब उस एक ईश्वर को पहचान सकोगे।

मार्ग न हिन्दू को मिला है न मुसलमान को, दोनों मार्ग से भटक गए, दोनों पर शैतान ग़ालिब हो गया।

भारत को आज गुरु नानक जैसे एक महान नेता की आवश्यकता है, जो मत मतान्तरों से हमें ऊपर उठाकर सच्चे मानव धर्म की राह बता सके। जो नानक की तरह मुसलमानों से भी कह सके—

मेहर मसीत सिदक़ मुसल्ला, हक़ हलाल क़ुरआन,
शर्म सुन्नत, शील रोज़ा, होय मुसलमान।
करनी काबा, सच्च पीर कलमा करम नेवाज़,
तसबीह् मानिश भावसी नानक रक्खे लाज।

अर्थात्—दया को अपनी मसजिद बना, सचाई का मुसल्ला बना, इन्साफ़ को अपनी क़ुरान बना। विनय को ख़तना समझ, सुजनता का रोज़ा रख, तब तू सच्चा मुसलमान होगा। नेक कामों को अपना काबा बना, सच्चाई को अपना पीर बना, परोपकार को कलमा समझ, ख़ुदा की मरज़ी को अपनी तसबीह, तब ऐ नानक! ख़ुदा तेरी लाज रखेगा।

हमें अपने राष्ट्रीय रोग की जड़ों की ओर दृष्टि डालनी होगी और साहस के साथ उन्हें अपने जीवन से उखाड़कर फेंकना होगा। असत्य को छोड़कर हमें फिर से अपने राष्ट्रीय जीवन को सत्य की नींव पर क़ायम करना होगा। हमारा पथ इस विषय में बिलकुल स्पष्ट है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि मानव समाज के टुकड़े करने वाली पृथक पृथक धर्मों और सम्प्रदायों की दीवारें कृत्रिम और हानिकर हैं। कबीर के शब्दों में हमें यह मानना पड़ेगा कि इस संसार में दो जगदीश नहीं हो सकते। हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि किसी देश, किसी काल, किसी जाति या किसी भाषा विशेष ने, चाहे वह कितनी भी प्राचीन क्यों न हो, ईश्वरीय ज्ञान का इज़ारा नहीं ले रखा। हमें सब धर्मों की मौलिक एकता का साक्षात करना होगा। उस मौलिक एकता की रोशनी ही में हमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, पारसी और ईसाई के भेदों की असत्यता और हानिकरता को भी अनुभव करना होगा और समस्त समाज को एक सच्चे सार्वभौम मानव धर्म की ओर लाने का सस्नेह और प्रशान्त प्रयत्न करना होगा। जात पांत और छुआछूत के भेदभावों को हमें अपने राष्ट्रीय जीवन से समूल उखाड़कर फेंक देना होगा। इस सबके स्थान पर हमें मानव समता, मानव प्रेम, पर-सेवा, स्वार्थ त्याग, न्याय, और सत्यता के उस सार्वभौम धर्म को अपना एक मात्र धर्म स्वीकार करना होगा, जिस तक मनसूर, कबीर, नानक, दादू जैसे अनेक सूफ़ियों और महात्माओं ने हमें लाने का प्रयत्न किया।

निस्सन्देह यदि दो सौ साल पहले ही हमने अपने जीवन को इन सच्ची नींवों पर क़ायम कर लिया होता, यदि औरङ्गज़ेब के समय से पृथक पृथक धर्मों के झूठे भेदों ने फिर से देशवासिओं के विचारों को पथ-भ्रष्ट न कर दिया होता, तो आज इस देश की यह दशा न होती। और किसी तरह का कोई सुधार चिरस्थायी नहीं हो सकता। वास्तव में यदि सत्य है, तो यही है और यदि भारत के या संसार के भावी कल्याण का कोई सच्चा मार्ग है तो यही है।

अहिंसा का प्रयोग

इधर पिछले दिनों गान्धी जी की अहिंसा को लेकर कई महत्वपूर्ण वक्तव्य निकले हैं। बम्बई कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के गृह मंत्री श्री कन्हय्यालाल मुन्शी ने अहिंसा के मतभेद पर कांग्रेस से स्तीफ़ा भी दे दिया। श्री मुन्शी ने अपने गृह मंत्रित्व के ज़माने में "मैं गान्धी का अनुशरण करता हूं" नामक पुस्तक

लिखी थी, जिसमें उन्होंने अपने को गान्धी जी के सिद्धान्तों का अनन्य उपासक बताया था। अब श्री मुन्शी अपने को गान्धी जी से कोसों दूर पाते हैं। श्री मुन्शी राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए अहिंसा में विश्वास रखते हैं। पुलिस की लाठी और गोलियां उन्हें हंसते हंसते स्वीकार हैं, किन्तु साम्प्रदायिक गुण्डों का जवाब वे लाठी और गोलियों से देना चाहते हैं।

गान्धी जी की अहिंसा जीवन का एक प्रयोग है। व्यक्तिगत जीवन में अहिंसात्मक आचरण करने के बाद ही सत्याग्रही इस महान प्रयोग के योग्य बनता है। श्री मुन्शी कैसे इस बात को भूल जाते हैं कि गान्धीजी के अहिंसात्मक प्रयोग में उस घटना का बेहद महत्व है, जब दक्षिण अफ़रीका में एक पठान आततायी ने उनके लगभग प्राण ही ले लिये थे।

अरसा हुआ जब क्वेटा में ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ां और श्री खुरें पर किसी गुमराह ने घातक हमला किया था, जिसके फलस्वरूप श्री खुरें बुरी तरह घायल हुये थे। बम्बई में ही सन् ३१ में कांग्रेस के एक जलसे में ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ां पर छुरे से हमला किया गया था, जिसमें दो ख़ुदाई ख़िदमदगारों की जानें गई थीं। यदि हम ग़ैर सरकारी गुण्डों के लिये हिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें, तो हम अपनी असली लड़ाई से हटकर अपने भाई के ही ख़ून की होली खेलने के भागी हो जायंगे। मिस्टर मुन्शी गुण्डों और आततायियों के छुरों पर न्याय और प्रतिष्ठा की मुहर लगाना चाहते हैं। यह एक खुला सत्य है कि लोगों की नज़रों में अपनी क़ौम के गुण्डे आत्मरक्षा के दावेदार और दूसरी क़ौम के गुण्डे शुद्ध गुण्डे दिखाई देते हैं। जब तक हम अपना यह दृष्टिकोण नहीं बदलते, तब तक हिंसा को प्रोत्साहन देने में ज़बरदस्त ख़तरा है।

साम्प्रदायिक उत्तेजना में हिंसा को रोकने का वही एक मात्र उपाय है, जिसकी मिसाल पिछली सदी में स्वर्गीय हकीम अजमल ख़ां साहब के दादा हकीम महमूद ने दिल्ली में रखी थी। दिल्ली के बढ़ते हुए राष्ट्रीय जीवन में एक दिन अचानक लोगों ने सुना कि जामा मसजिद के अन्दर किसी ने सूअर का कटा हुआ सर फेंक दिया है। बात की बात में यह ख़बर बिजली की तरह सारे शहर में फैल गई। हज़ारों मुसलमान अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर जामा मसजिद में इकट्ठा होने लगे। हर एक के दिमाग़ में यही भावना थी कि सिवाय हिन्दुओं के इतनी कुत्सित बात और कौन कर सकता है? हिन्दू भी दूसरी ओर आत्मरक्षा की तैयारी करने लगे। अधिकारी सुख की नींद सो रहे थे। हकीम महमूद ने जब यह सुना, वे नंगे सिर और नंगे पैर जामा मसजिद की ओर लपके। हाथ जोड़ कर उन्होंने विषधर से क्रुद्ध मुसलमानों से प्रार्थना की कि—"भाइयो, कल पागलपन में मुझ से यह भयंकर अपराध हो गया। मैंने ही सूअर का सिर जामा मसजिद के अन्दर फेंका। मैं गुनहगार हूं; मुझे जो चाहे सज़ा दीजिये। मेरे टुकड़े टुकड़े कर डालिये; मगर ख़ुदा के लिए क़ौम के टुकड़े टुकड़े न कीजिये।" मुसलमानों की वह क्रुद्ध भीड़ सन्न रह गई। दिल्ली के बच्चे बच्चे के दिल में हकीम महमूद के लिए आदर था। उन्हें इनसे ऐसी आशा न थी। बूढ़े हकीम मुसलमानों की नज़रों में गिर गए; मगर दिल्ली में दंगा न हो सका। यह तो घटना का एक पहलू था। हफ़्ते भर के बाद लोगों ने आश्चर्य से सुना कि चांदनी चौक के पास के एक मन्दिर में गाय का कटा हुआ सर पाया गया। हज़ारों हिन्दू ग़ुस्से में मन्दिर के निकट इकट्ठा हुए और आत्म-रक्षा के लिए मुसलमान भी। अब क़रीब था कि ख़ून ख़राबी शुरू हो जाती। हकीम महमूद को जैसे ही मालूम हुआ, वे अपने घर से मन्दिर की ओर दौड़े। मन्दिर के पास पहुँच कर अपनी टोपी उन्होंने हाथों में ली और उत्तेजित हिन्दू भीड़ के अगुवाओं के चरणों में उसे डालते हुए कहा—"पण्डित जी और लाला साहबान! यह जघन्य पाप मुझ से बन पड़ा है। मेरे टुकड़े टुकड़े कर डालिये, मगर परमात्मा के लिए क़ौम के टुकड़े टुकड़े न कीजिये।"

हकीम साहब को गालियें पड़ीं, मगर दंगा न हो सका। जब तक हकीम महमूद ज़िन्दा रहे, दिल्ली में हिन्दू-मुसलिम दंगा न हो सका।

हम बड़ी नम्रता से श्री कन्हैयालाल मुंशी से यह प्रार्थना करना चाहते हैं कि साम्प्रदायिक हिंसा को हिंसा से रोकने का प्रयत्न न आज तक कभी सफल हुआ है, न हो सकता है। क्षणिक सफलता उससे भले ही मिल जाए, मगर हमारी नफ़रत की ज्वालामुखी उससे बुझ नहीं सकती। साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने का मार्ग केवल हकीम महमूद का बताया हुआ मार्ग ही है।

श्री मुंशी भले ही यह कहें कि साम्प्रदायिक मामले के अतिरिक्त वे और क्षेत्रों में अहिंसा के क़ायल हैं; मगर कांग्रेस-मिनिस्ट्री के ज़माने की कतिपय घटनाएं उनके इस दावे का समर्थन नहीं करतीं। श्री मुंशी बम्बई सरकार के गृह मन्त्री थे। सन् १९३८ में उन्हीं के दस्तख़ती परवाने को पाकर निरीह मजदूरों पर गोलियां चलाई गई थीं। उन चौदह मज़दूरों के ख़ून की ज़िम्मेवारी केवल श्री मुंशी के कंधों पर थी। गांधी जी ने अपने बाद के वक्तव्यों में इस बात को साफ़ कर दिया था कि मज़दूरों के ऊपर गोली चलाने का उन्होंने घोर विरोध किया था।

अन्य अनेक सज्जनों ने भी अहिंसा को लेकर कांग्रेस से स्तीफ़ा दिया है। इनके जवाब में हम सीमा-प्रान्त के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री डा० ख़ान साहब का वक्तव्य पेश करना चाहते हैं—

"अहिंसा ही एक मात्र ऐसा सिद्धान्त है जिसके द्वारा मानव जीवन और जाति के सुख तथा शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। अक्सर कहा जाता है कि अहिंसात्मक सत्याग्रही एक ऐसा सैनिक है, जो आततायियों की भीड़ देख कर भाग खड़ा होगा। अहिंसा के सम्बन्ध में मेरा विचार और जहां तक मैं समझता हूं महात्मा जी का भी विचार यह है कि आक्रमणकारियों का सामना हमें वीरता के साथ करना चाहिये और जब तक अपने उद्देश्य की पूर्ति न हो जाय, हमें अपने स्थान से हटना नहीं चाहिये। भले ही इस प्रशंसनीय प्रयत्न में हमारे प्राण चले जायं, किन्तु हमें हंसते हंसते जीवन उत्सर्ग कर देना चाहिये। इस प्रकार की प्राणाहुति व्यर्थ न होगी, बल्कि इससे हमारे आन्दोलन को एक प्रकार का प्रोत्साहन और बल प्राप्त होगा। इस प्रकार के हज़ारों नहीं, लाखों प्राणियों के बलिदान से ही वास्तविक सुधार हो सकेगा। इस दिशा में हमने अभी किया ही क्या है? फिर भी हम कहने लगे हैं कि अहिंसा की नीति विफल हो गई। यूरोप जब शान्ति स्थापना की आशा से करोड़ों व्यक्तियों की हिंसात्मक युद्ध में आहुति दे रहा है, तो हमें अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिये कम से कम उसके शतांश व्यक्तियों के प्राण उत्सर्ग करने के लिये तो कटिबद्ध रहना चाहिये। तभी हम अहिंसा की सफलता या विफलता के सम्बन्ध में विचार प्रगट कर सकेंगे। किसी भी कायर आदमी को अहिंसा का सिद्धान्त पसन्द नहीं आ सकता और न वह उसकी महत्ता को ही अच्छी तरह समझ सकता है। मेरे इस कथन का उद्देश्य किसी का अपमान करना नहीं है। मैं तो सिर्फ़ अहिंसा के सम्बन्ध में अपने विचार ही जनता के सामने रख देना चाहता हूं और यह बता देना चाहता हूं कि सीमा प्रांत में किस तरह इसका प्रचार किया गया है।"

हम ख़ान साहब के वक्तव्य में और क्या जोड़ें? वे वीर और निर्भीक पठान क़ौम के नेता हैं। अहिंसा की रक्षा के लिए हमने हज़ारों पठानों को हंसते हंसते मरते हुए देखा है। कौन कह सकता है कि पठानों की अहिंसा कायरों की अहिंसा है? जिन्होंने ज़िन्दगी में कभी बन्दूक को हाथ भी नहीं लगाया, आज उनकी यह हिम्मत है कि वे सत्याग्रह पर मिटने वाले लाखों वीरों का मज़ाक़ उड़ाएं! मगर हमें ये चीज़ें भयभीत नहीं करतीं। कुत्ते भूंकते रहते हैं और कारवां आगे बढ़ते रहते हैं। हिंसा के ऊपर हमारी रही-सही आस्था भी इस यूरोपीय युद्ध को देखकर उठ गई। चालीस चालीस और साठ साठ लाख सुसज्जित फ़ौज वाले युद्ध-व्रती देशों को हमने सूखे पत्तों की तरह उड़ते हुए देखा है। उनके पतन की कहानी अब भी

बिलकुल ताज़ी है। उनके घाव अभी तक हरे हैं। सदियों के फ़ौजी अनुशासन के बाद अभी तक उनमें प्राणों का इतना मोह है कि वे विरोध तक नहीं कर सकते। हिंसा दुर्बल-हृदय और जीवन से मोह करने वाले क्लैव्यों का साधन है। सत्याग्रही जीना भले ही न जानता हो, मरने का वह यथेच्छ ज्ञान रखता है।

स्वर्गीय श्री चिन्तामणि

गत मास हमारे देश में जो शोकपूर्ण घटनाएं घटी हैं, उनमें एक श्री चिन्तामणि का निधन है। देश के हर दल, हर जाति और हर श्रेणी के हज़ारों व्यक्तियों ने इस सदमे पर अपनी समवेदना प्रकट की है। उनकी यह समवेदना केवल लौकिकता नहीं, किन्तु लोगों के दिल की वास्तविक पीड़ा है। उनकी श्रेष्ठता उनकी सच्चाई और सादगी पर निर्भर थी। लगभग ४० वर्ष के सार्वजनिक जीवन में उनके विरुद्ध एक भी बात ऐसी नहीं कही जा सकती, जिसमें उनकी नीयत पर सन्देह किया जा सके। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए उन्होंने अपने सिद्धान्तों के साथ कभी समझौता नहीं किया। वे मित्रों के प्रति विवेक-पूर्ण और विरोधियों के प्रति उदार थे। राजनैतिक क्षेत्र में वे हमारे विरोधी थे। किन्तु उनका विरोध सिद्धान्तों के कारण था। सरकार की भी वे लगातार कड़े से कड़े शब्दों में टीका करते रहे। लीडर की एक टिप्पणी के कारण वर्षों हाईकोर्ट का विज्ञापन लीडर में नहीं छपा, किन्तु वे स्वाभिमानी इतने थे कि चीफ़ जस्टिस के सामने सर नहीं झुकाया। सरकार के विरोध करने के उनके अलग अपने तरीक़े थे। चाहे लीडर के पृष्ठ हों, चाहे कौंसिल की बैठक हो, सरकारी अधिकारी चिन्तामणि के प्रखर कटाक्षों से कांपते रहते थे। वे ज़बर्दस्त वक्ता थे। याददाश्त उनकी ग़ज़ब की थी और वे पैदाइशी पत्रकार थे। आपसी व्यवहार में वे बेहद नम्र और मिलनसार थे। उनका व्यक्तित्व एक पूरी संस्था थी। युक्तप्रान्त को बनाने में चिन्तामणि जी का बहुत बड़ा हाथ है। वे उदार धार्मिक विचारों के समाज सुधारक थे। ज़माना बेशक उनसे थोड़ा आगे बढ़ गया था और काश वे देश की क्रान्तिकारी लड़ाई में होते, तो वे कांग्रेस के एक गौरवपूर्ण नेता होते।

हमें दुःख है कि कतिपय कांग्रेस वालों का बर्ताव श्री चिन्तामणि जी के साथ उदार न था! और कांग्रेस वाले जब तक अपने विरोधी का आदर करना न सीखेंगे, वे कठमुल्लापन के प्रतीक बने रहेंगे।

चिन्तामणि जी के निधन से देश को जो क्षति पहुँची है, वह आसानी से पूरी न होगी। हिन्दी संसार को उनकी सबसे बड़ी देन, उनके प्रतिभावान सुपुत्र श्री बालकृष्ण राव हैं; जिन्होंने हिन्दी कविता में लिरिक्स की एक नई ही प्रणाली शुरू की है।

स्वर्गीय श्री चिन्तामणि १९ वीं सदी की भारतीय राजनीति के जगमग प्रकाशपुञ्ज थे। राजनीति में उनकी जो जगह थी, उस खाई को भरने की अब हमें कोई सम्भावना नहीं दिखाई देती।

शिक्षा और आत्मनिर्भरता

गत २३ जुलाई को उन्नाव डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने युक्तप्रान्त के गवर्नर सर मारिस हैलट को मानपत्र देते हुए इस बात की शिकायत की, कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के पास शिक्षा के लिये समुचित धन नहीं है। सन् १९३६ में उन्नाव में ७०० लड़कियां पढ़ती थीं और सन् १९४१ में उनकी संख्या बढ़कर २००० हो गई। सर मारिस हैलट ने सरकार की आर्थिक दुरवस्था की चर्चा करते हुए लोगों को आत्मनिर्भर होने का उपदेश दिया।

हम सर मारिस हैलट से बड़े अदब के साथ यह कहना चाहते हैं कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पदार्पण से पहले भारत का एक एक गांव शिक्षा की दृष्टि से आत्मनिर्भर था। उन दिनों यहां जन सामान्य को शिक्षा देने के लिये मुख्य कर चार प्रकार की संस्थाएं थीं।

(१) असंख्य ब्राह्मण आचार्य और उपाध्याय अपने अपने घरों पर अपने शिष्यों को शिक्षा देते थे।

(२) अनेक मुख्य मुख्य नगरों में संस्कृत साहित्य की उच्च शिक्षा के लिए 'टोल' या विद्यापीठ क़ायम थे।

(३) उर्दू और फ़ारसी की शिक्षा के लिए जगह जगह मक़तब और मदरसे थे, जिनमें लाखों हिन्दू और मुसलमान बालक शिक्षा पाते थे।

(४) देश के प्रत्येक छोटे से छोटे ग्राम में, ग्राम के समस्त बालकों की शिक्षा के लिए कम से कम एक पाठशाला होती थी।

जिस समय तक कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आकर भारत की हज़ारों वर्षों की पुरानी ग्राम-पञ्चायतों को नष्ट नहीं कर डाला, उस समय तक ग्राम के समस्त बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करना प्रत्येक ग्राम-पञ्चायत अपना आवश्यक कर्तव्य समझती थी और सदैव उसका पालन करती थी।

इंगलिस्तान की पार्लिमेण्ट के प्रसिद्ध सदस्य केर हार्डी ने अपनी पुस्तक "इण्डिया" के पृष्ठ ५ पर लिखा है—

"मैक्समूलर ने सरकारी उल्लेखों के आधार पर और एक मिश्नरी रिपोर्ट के आधार पर, जो बंगाल पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा होने से पहले वहां की शिक्षा की अवस्था के सम्बन्ध में लिखी गई थी, लिखा है कि उस समय बंगाल में ८० हज़ार देशी पाठशालाएं थीं। अर्थात् सूबे की आबादी के हर चार सौ मनुष्यों पीछे एक पाठशाला मौजूद थी। इतिहास लेखक लडलो अपने "ब्रिटिश भारत के इतिहास" में लिखता है कि—"प्रत्येक ऐसे हिन्दू गांव में, जिसका कि पुराना संगठन अभी तक क़ायम है, मुझे विश्वास है कि आम तौर पर सब बच्चे लिखना पढ़ना और हिसाब करना जानते हैं; किन्तु जहां कहीं की ग्राम पञ्चायत का हमने नाश कर दिया है, जैसे बंगाल में, वहां ग्राम पञ्चायत के साथ साथ गांवों की पाठशाला भी लुप्त हो गई।"

प्राचीन भारत के ग्रामवासियों की शिक्षा के सम्बन्ध में सन् १८२३ की कम्पनी की एक सरकारी रिपोर्ट में लिखा है—

"शिक्षा की दृष्टि से संसार के किसी भी अन्य देश में किसानों की अवस्था इतनी ऊंची नहीं है, जितनी कि ब्रिटिश भारत के बहुत से प्रान्तों में।"

कम्पनी के शासन में भारतीय शिक्षा की अवनति और उसके कारणों को बयान करते हुए केम्पबेल लिखता है—

'इस समय असंख्य मनुष्य ऐसे हैं, जो अपने बच्चों को इस शिक्षा का लाभ नहीं पहुंचा सकते, × × × मुझे कहते हुए दुःख होता है कि इसका कारण यह है कि समस्त देश धीरे धीरे निर्धन होता जा रहा है। × × × मध्यम श्रेणी और निम्न श्रेणी के अधिकांश लोग अब इस योग्य नहीं रहे कि अपने बच्चों की शिक्षा का ख़र्च बर्दाश्त कर सकें, इसके विपरीत ज्योंही उनके बच्चों के कोमल अंग थोड़ी बहुत भी मेहनत कर सकने के योग्य होते हैं—माता पिता को अपनी ज़िन्दगी की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए उन बच्चों से अब मेहनत मज़दूरी करानी पड़ती है।"

और आगे चलकर अपने से पहले की हालत और अपने समय की शिक्षा की हालत की तुलना करते हुए केम्पबेल लिखता है—

"बहुत से ग्रामों में, जहां पहले पाठशालाएं थीं, वहां अब कोई पाठशाला नहीं है, और बहुत से अन्य ग्रामों में, जहां पहले बड़ी बड़ी पाठशालाएं थीं, वहां अब केवल अत्यन्त धनाढ्य लोगों के थोड़े से बालक शिक्षा पाते हैं, दूसरे लोगों के बालक निर्धनता के कारण पाठशाला नहीं जा सकते।

"पहले समय में राज्य की आमदनी का एक बहुत बड़ा हिस्सा विद्या-प्रचार को उत्तेजना और उन्नति देने में ख़र्च किया जाता था, जिससे राज्य का भी मान बढ़ता था, किन्तु हमारे शासन में यहां तक अवनति हुई है कि राज्य की इस आमदनी से अब उल्टा अज्ञान को उन्नति दी जाती है। भारत के इतिहास में विद्या के इस तरह के पतन का दूसरा काल दिखा सकना कठिन है।"

एक और अंग्रेज़ विद्वान वॉल्टर हैमिल्टन ने सन् १८२८ में सरकारी रिपोर्टों के आधार पर लिखा था—

'साहित्य की इस अवनति का मुख्य कारण यह मालूम होता है कि इससे पहले देशी राज्य में राजा लोग, सरदार लोग और धनवान लोग सब विद्या-प्रचार को सहायता और उत्तेजना दिया करते थे। वे देशी दरबार अब सदा के लिए मिट चुके और अब वह उत्तेजना और सहायता साहित्य को नहीं दी जाती।"

हम सर मारिस हैलेट के आभारी हैं कि उन्होंने हमें आत्म-निर्भरता का उपदेश दिया। वास्तव में हम अपनी खोई हुई शिक्षा तो तभी प्राप्त कर सकते हैं जब हम आत्म-निर्भर बनें, अर्थात् आज़ाद हों।

वाइसराय की नयी कार्यकारिणी कौंसिल

हफ़्तों की प्रसव-वेदना के बाद भारत सरकार ने जिस नई कार्यकारिणी को जन्म दिया, उस पर सिवाय सरकारी हलक़ों के कहीं भी बधाई के गीत नहीं गाये जा रहे हैं। पार्लिमेण्ट में स्वयं मि० अमेरी ने वक्तव्य दिया कि यह केवल युद्ध काल की एक व्यवस्था है। देश के हर श्रेणी और हर दल के राष्ट्रीय विचार के लोगों ने कम से कम केन्द्रीय शासन की ज़िम्मेवारी की मांग रक्खी थी। कांग्रेस के तरीक़ों से चाहे कोई सहमत हो या न हो, लिबरल से लिबरल राजनैतिक नेता ने सरकार के रवैये पर घोर असन्तोष प्रकट किया है। नई कार्य कारिणी के ऐलान से देश की वास्तविक राजनैतिक परिस्थिति पर कोई असर नहीं पड़ा। गांधी जी ने इस सम्बन्ध में अपना वक्तव्य देते हुए कहा है कि ऐलान का कांग्रेस के रवैये पर कोई असर नहीं पड़ा, न इस ऐलान से कांग्रेस की मांग ही पूरी हुई है। मि० जिन्ना ने भी ऐलान के प्रति रोष प्रकट किया है और मुस्लिम लीग के उन मेम्बरों पर अनुशासन की कारंवाई करने की धमकी दी है, जिन्होंने मुस्लिम लीग के साथ ग़द्दारी करके इस स्वांग में हिस्सा लिया है। माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने भी इन नियुक्तियों को थोथा और सारहीन बताया है।

देश के पचीस हज़ार से अधिक जन-सेवक आज सींखचों के अन्दर बन्द हैं। देश के सभी उन्नत विचारों के लोगों ने सरकारी नीति की निन्दा की है, फिर भी सरकार को श्री० अणे और श्री नलिनी-रञ्जन सरकार जैसे लोग काम करने के लिए मिल ही गए। हम सिवाय इसके क्या कहें कि अभी तक हमारी रगों में जयचन्द और मीरजाफ़र का लहू दौड़ रहा है।

रह रह कर हमारा ध्यान अपने पड़ोसी राष्ट्र चीन की तरफ़ जाता है। चीन के तीन चौथाई हिस्से पर जापान का क़ब्ज़ा है। मगर आज तक जापानी कोशिश करके भी ऐसे मुल्कफ़रोश चीनी नहीं ढूंढ़ सके जो अपनी मातृभूमि के इस बलात् अपहरण में नृशंस जापानियों का साथ देते।

यदि लोक नायक अणे और श्री नलिनीरंजन सरकार हठीली सरकार के इस प्रणय-दान को अस्वीकार कर देते, तो उससे उनका और उनके अभागे देश का गौरव ऊंचा ही होता। मगर यह कैसे सम्भव था; चूंकि मीरजाफ़र का ख़ून अब तक हमारी रगों में चक्कर काट रहा है।

रूस-जर्मन युद्ध की प्रगति

रूस और जर्मन युद्ध को शुरू हुए लगभग छै हफ़्ते हो गए। जर्मनी के दम्भपूर्ण सरकारी ऐलानों में यह बात निश्चित रूप से कही गई थी कि छै हफ़्ते के अन्दर महान रूस धराशायी दिखाई देगा। छै हफ़्ते हो चुके और ऐसा मालूम होता है, जर्मन शक्ति थक कर चूर हो चुकी है और वह अपने को ऐसे युद्ध में उलझा हुआ पा रही है, जो कई महीनों की ख़बर लेगा। युद्ध जिस भयंकर गति से चल रहा है, उसके सम्बन्ध में जर्मन रेडियो बार बार ऐलान कर चुका है कि दुनिया के इतिहास में इतनी बड़ी फ़ौजों ने इतना विकराल युद्ध आज तक नहीं लड़ा। डेढ़ हफ़्ते के अन्दर दोनों दलों के हताहतों की संख्या लगभग तीस

लाख तक पहुँच चुकी है। जर्मन यन्त्र-चालित सेना के महान सेनापति जनरल गुडेरियन रूसी फ़ौज के हाथों मारे गये हैं। जर्मन सेना को जो कुछ कामयाबी हासिल हुई है, उसकी क़ीमत उसे ज़बर्दस्त चुकानी पड़ रही है। आज सम्पूर्ण रूस अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर अपने देश की रक्षा की जीतोड़ कोशिश कर रहा है। रूसी सैनिकों के त्याग, उनकी बहादुरी, उनकी दिलेरी और हंसते हंसते मरने की उनकी भावना की दुश्मन भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं। रूसी सैनिक मरना अच्छी तरह जान गया, और जो दुनिया में मरना जानता है, वही ज़िन्दा रहेगा।

श्री चर्चिल ने बार बार इस बात का ऐलान किया है कि जर्मनी का शत्रु अंग्रेज़ों का मित्र है और जर्मनी का मित्र अंग्रेज़ों का शत्रु है। आज जर्मन सैनिक फ़िनलैण्ड के रास्ते बड़ी संख्या में रूस पर उत्तर से हमला करने की चेष्टा कर रहे हैं। फ़िनलैण्ड इस युद्ध में जर्मनी की मदद कर रहा है। हमें हैरत इस बात की है कि ब्रिटेन ने अब तक जर्मनी के इस नये मित्र के विरुद्ध लड़ाई का ऐलान नहीं किया। सिर्फ़ यही नहीं, बल्कि ब्रिटेन की सरकार ने इस बात का ऐलान किया है कि फ़िनलैण्ड के साथ ब्रिटेन की मित्रता बदस्तूर क़ायम रहेगी। ब्रिटेन की यह दुरङ्गी नीति हमारी समझ में नहीं आई। बहरहाल रूस को इन बातों की परवाह नहीं। वह अपने बल भर अपनी लड़ाई लड़ेगा। रूस को अपने पूर्वीय सरहद पर भी ख़तरे की आशंका है। जापानी ऊंट थाईं करवट भी बैठेगा, यह अभी तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, रूस एक साथ अपने इन दोनों महान शत्रुओं का मुक़ाबला करने की क्षमता रखता है। रूस की जीत पर ही आज दुनिया के पददलित राष्ट्रों का भविष्य निर्भर करता है।

मातृ-सेवासदन, कलकत्ता

हमारे पास कलकत्ते की इस उपयोगी संस्था की तृतीय वार्षिक कार्य-विवरण की रिपोर्ट आई है। संस्था का मुख्य ध्येय गर्भवती स्त्रियों के जापे का और बीमार स्त्रियों की समुचित चिकित्सा का प्रबन्ध करना है। बहनों के स्वास्थ्य की ओर भी यह संस्था विशेष ध्यान देती है। पहली जनवरी सन् १९०४ से ११ दिसम्बर सन् १९४० तक आउट-डोर विभाग में ४४,४९१ बहिनों व बच्चों की चिकित्सा की गई। इनमें ३,३६६ प्रसव सम्बन्धी केस थे। इन-डोर विभाग में १,२५१ बहिनें भरती हुईं। मातृ सेवासदन की ओर से घरों में भी प्रसव कराने की व्यवस्था की जाती है। इतने महत्वपूर्ण और समाज के लिए उपयोगी काम करने के लिए यह संस्था हमारी बधाई की पात्र है। संस्था के मन्त्री प्रसिद्ध देशभक्त श्री सीताराम जी सेकसरिया हैं। परमात्मा करे यह संस्था बहिनों की अधिक से अधिक सेवा कर सके।

तिलक जयन्ती

पहली अगस्त को स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की जयन्ती है। लोकमान्य के निधन को २२ वर्ष हो चुके। इस बीच देश ने कितने ही परिवर्तन देखे, आशाएं कीं और निराशाएं झेलीं, मगर वह अपने कर्तव्य-पथ पर निश्चित रूप से अग्रसर होता गया। लोकमान्य का बताया हुआ 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है'— हमारा प्रकाश-स्तम्भ है। लोकमान्य का आशीर्वाद और उनकी शुभ कामनाएं हमारे मार्ग-प्रदर्शन का काम कर रही हैं। अभी तक हम अपने उद्देश्य से कोसों दूर हैं, मगर हमारे हृदय में आशा और उत्साह है और निश्चित रूप से एक न एक दिन हम अपने ध्येय को प्राप्त करेंगे।

जब हम लोकमान्य तिलक के व्यक्तिगत जीवन को देखते हैं और उससे अपने आजकल के राष्ट्रीय जीवन की तुलना करते हैं तो हमारा दिल आत्म-ग्लानि से भर जाता है। आज हमारे राष्ट्रीय जीवन को व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, भयङ्कर द्वन्द, ईर्षा और कलह ने विषैला बना रखा है। लोकमान्य तिलक अपने युग के सबसे महान देश-भक्त थे; समूचा राष्ट्र उनके इशारे पर नाचता था; किन्तु फिर भी उस समय की राष्ट्रीय कांग्रेस उन्हें अपना राष्ट्रपति बनाकर अपने को गौरवान्वित न कर सकी; लोकमान्य जैसे महान देश-सेवी राष्ट्रपति न बन

सके ! हमारे कांग्रेस के जन-सेवक लोकमान्य की पुण्य जन्म-तिथि के अवसर पर उस त्याग-व्रती से यदि यही एक सबक़ सीख सकें कि पदों की लालसा देश भक्तों को शोभा नहीं देती, तो हम समझेंगे कि तिलक-जयन्ती का वास्तविक उद्देश्य पूरा हुआ।

'गणेश शङ्कर विद्यार्थी दल'

गत मार्च की 'विश्ववाणी' में अमर शहीद स्व० गणेश शङ्कर विद्यार्थी का चित्र छपा था। उसमें ग़लती से 'गणेश जी' की जगह 'गनेश जी' छप गया। किसी के नाम में सुधार करना मूर्खता है। जिस तरह लोग अपना नाम लिखते हैं उसी तरह दूसरों को भी लिखना चाहिये। यह ग़लती अनजान की थी और इसके लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं।

किन्तु हमारे आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा जब हमने सुना कि हमारे विरुद्ध इसे भयङ्कर अभियोग बनाकर कानाफूसी की जा रही है और भाई हरिशङ्कर विद्यार्थी का नाम लेकर ग़लत बयानियां की जा रही हैं। उस दिन हमारे कार्यालय में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, के एक कार्यकर्ता आये। उन्होंने कहा कि गान्धी जी के पास भी इस बात की शिकायत गई है कि 'आपने स्वर्गीय गणेश जी के नाम में जान बूझ कर 'ण' की जगह 'न' लगा दिया।' भाई हरिशङ्कर जी से बातें करके हमने इस बात के लिये उनसे क्षमा याचना कर ली। गणेश जी के लिये हमारे हृदय में जितना आदर है वह किसी से कम नहीं। 'विश्ववाणी' का सम्पादक उनके दिखाये हुये मार्ग पर चलकर अपने को धन्य समझेगा। कदाचित् कांग्रेस के दस फ़ी सदी कार्यकर्ता भी गणेश जी की तरह आत्म बलिदान की क्षमता रखते तो यह नाशकारी हिन्दू-मुसलिम समस्या अब तक कब की हल हो चुकी होती।

इस सिलसिले में हम गान्धीजी से एक नम्र प्रार्थना करना चाहते हैं। गान्धी जी जगह जगह हिन्दू-मुसलिम दङ्गों को हल करने के लिये शान्ति-दल स्थापित करवा रहे हैं। बिहार में प्रोफ़ेसर अब्दुल बारी जगह जगह दौरा करके शान्ति-दल की स्थापना में बेहद दिलचस्पी ले रहे हैं। क्या ही अच्छा हो कि इस 'शान्ति-दल' का नाम बदलकर 'गणेश शङ्कर विद्यार्थी दल' या ख़ाली 'गणेश दल' रखा जाय। इस तरह इस दल के स्वयं-सेवकों के सामने अमर शहीद गणेश जी का आदर्श सदा रहेगा और गणेश जी की स्मृति हम अधिक व्यापक रूप में सुरक्षित रख सकेंगे। क्या गान्धी जी हमारी इस नम्र प्रार्थना को स्वीकार करेंगे ?

अपने ग्राहकों और पाठकों से

'विश्ववाणी' की इधर यकायक अधिक मांग बढ़ जाने के कारण हमें अ स्त में एजेन्सियों में 'विश्व वाणी' की प्रतियां कम भेजने के लिये मजबूर होना पड़ा। जुलाई अङ्क की केवल १० प्रतियां हमारे कार्यालय में बच रही हैं। हमें दुःख है अगस्त अङ्क भी पाठकों के लिए कम पड़ जायगा। सितम्बर से ऐसा प्रबन्ध हो सकेगा जिसमें 'विश्व-वाणी' की बढ़ती हुई मांग को हम पूरा कर सकें।

हमें दुःख है कि लगातार शिकायत करने पर भी डाकख़ाने के भूत 'विश्ववाणी' पर दिन दहाड़े छापा मार लेते हैं। तीन बार चेक करके हर ग्राहक को 'विश्ववाणी' रवाना की जाती है। किसी ग्राहक को यदि महीने की सात तारीख़ तक 'विश्व-वाणी' का अङ्क न मिले, तो उसे अपने यहां के पोस्ट ऑफ़िस के पास शिकायत का पत्र लिखना चाहिये और उनके जवाब के साथ हमारे कार्यालय को पत्र लिखना चाहिये।

हमारे अनेक ग्राहक भाई बग़ैर अपना ग्राहक नम्बर लिखे हुए हमें पत्र लिखते हैं। हज़ारों नामों में एक नाम तलाश करना बड़ा कठिन काम रहता है। ग्राहकों से प्रार्थना है कि पत्र-व्यवहार करते समय वे अपना ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखा करें।

—कुमार मिश्र,
मैनेजर

"यदि हमने विश्ववाणी न बन्द की"

विश्वम्भरनाथ

'विश्ववाणी' का यह आठवां अङ्क पाठकों की सेवा में आ रहा है। जिस तरह देश के महान नेताओं, प्रसिद्ध विद्वानों और विचारकों ने हमारे इस तुच्छ प्रयत्न का स्वागत किया उससे हमारे निर्बल हृदय को असीम बल मिला। हम अपने इन उपकारकों और मार्ग प्रदर्शकों के कृतज्ञ और आभारी हैं। किन्तु इनसे भी अधिक कृतज्ञ और आभारी हम अपने उन आलोचकों, विरोधियों और निन्दकों के हैं जो समय समय पर हमारी त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते रहे हैं और हमें उन्नततर पथ की ओर चलने का निर्देश करते रहे हैं।

गत वर्ष जुलाई में, शान्तिनिकेतन में, हमें कुछ घण्टे पूज्यवर आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन के चरणों के निकट बैठने का सौभाग्य मिला। आदरणीय क्षिति बाबू ने 'विश्ववाणी' का प्रस्तावित उद्देश्य-पत्र पढ़कर और हमारी योजना को सुन कर अमित प्रोत्साहन देते स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के जीवन की एक छोटी सी घटना हमें सुनाई—

"उन दिनों बङ्गाल निलहे गोरों के अत्याचारों से आक्रान्त था। चारों तरफ़ उनके ज़ुल्मों का प्रतिवाद हो रहा था। इसी सिलसिले में कलकत्ते के कुछ बङ्गाली नवयुवकों ने निलहे गोरों के अत्याचारों के विरुद्ध एक नाटक खेलने का आयोजन किया। स्व० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को भी एक सम्माननीय दर्शक की हैसियत से उसमें निमन्त्रित किया गया। नाटक का एक पात्र निलहा गोरा बनकर जब किसानों पर अत्याचार कर रहा था, तो वह दृश्य सहृदय विद्यासागर जी से न देखा गया। वे आवेश में भर गये। वे यह भूल गये कि वे एक नाटक देख रहे थे। उन्होंने क्रोध में अपने पैर की चट्टी उतार कर नाटक के उस 'निलहे गोरे' पात्र पर फेंक कर मारी। नाटक समाप्त होने पर वह नवयुवक पात्र विद्यासागर जी के पास आया और उनसे कहा, "आपकी यह चट्टी मेरे लिये अनेकों स्वर्ण और हीरक पदकों से कहीं अधिक मूल्य रखती है। कुशल अभिनेता की हैसियत से मैं इससे बड़े पुरस्कार की आशा न रखता था।"

श्रद्धेय क्षिति बाबू ने हमें आशीर्वाद दिया और इस बात की कामना प्रकट की कि हमें सफलता तभी मिलेगी, जब हम अपने विरोधियों का बुरे से बुरा बर्ताव सहने के लिए तैयार रहें। और आज क्षिति बाबू का यह आशीर्वाद सत्य होता प्रतीत होता है।

पंजाब से निकलने वाले उर्दू साप्ताहिक 'असीर' ने मुसलमानों को चेतावनी दी है कि मुसलमानों को कांग्रेसी जाल में फंसाने के लिए 'विश्ववाणी' हिन्दुओं का एक भयङ्कर षड्यन्त्र है। मुसलमान हिन्दू सभाई पत्रों के ज़हर से बच सकता है किन्तु 'विश्ववाणी' के मीठे ज़हर के घातक परिणाम से बच सकना उसके लिए असम्भव है। सहयोगी ने मई में प्रकाशित बहिन सत्यवती मल्लिक के लेख को काश्मीरी राज्य द्वारा प्रोत्साहित मुसलमानों के विरुद्ध प्रोपेगेण्डा बताया है और हम पर इस बात का इलज़ाम लगाया है कि हमें काश्मीर दर्बार ने धन देकर ख़रीद लिया है। लाहौर से निकलने वाले प्रसिद्ध उर्दू मासिक 'हुमायूं' ने हमारी आलोचना करते हुए लिखा है कि हमारे अन्दर भी ९० प्रतिशत वही ज़हर है, जो दूसरे कांग्रेसी पत्रों में होता है। मुसलमानों को हमसे सचेत किया गया है। एक तीसरे उर्दू पत्र 'जिद्दत' ने तो सभ्यता की सारी सीमाएं तोड़कर हमें हर तरह से ज़लील और मुसलमानों का दुश्मन बताया है।

दूसरी ओर कलकत्ते से निकलने वाले हिन्दी साप्ताहिक 'विचार' के सम्पादक ने हमें हिन्दुओं का विरोधी और घातक विचारों का फैलाने वाला कहा है। पटना से निकलने वाले हिन्दी साप्ताहिक 'योगी' के स्नेही सम्पादक ने हमें 'नीच', 'कमीना', 'कोढ़ी' आदि तरह तरह के विशेषणों से सम्बोधित किया है और हम पर इस बात का इलज़ाम लगाया है कि हम निज़ाम हैदराबाद के धन से 'विश्ववाणी' चला रहे हैं।

इसके बाद हमारे कार्यालय में लगभग आधे दर्जन गुमनाम पत्र आये जिनमें हमारे लिये गन्दी से गन्दी गालियों का प्रयोग किया गया है। 'विश्व-वाणी' का सम्पादक इन्हें अपने कर्तव्य-मार्ग की अत्यन्त सुखद स्मृतियां समझता है।

इधर हाल में हमें हर्स्ट स्ट्रीट कलकत्ता, भागलपुर और पटना के पोस्ट ऑफ़िसों की मोहर लगकर एक से लिफ़ाफ़ों में और लगभग एक सी बिगाड़ी हुई लिखावट में तीन गुमनाम पत्र मिले हैं। एक पत्र में लिखा है—

"मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, डा० सैयद महमूद और दूसरे मुसलमानों के साथ मिलकर तुम यह 'विश्व-वाणी' द्वारा जो नारकीय षड्यन्त्र रच रहे हो, इसके लिये तुम हमारी घृणा के पात्र हो। कोई भी मुसलमान, चाहे वह कांग्रेस का राष्ट्रपति ही क्यों न हो, हिन्दुओं के लिए भयंकर विषैला सांप है। तुम्हें चेतावनी दी जाती है कि तुम अपनी पत्रिका में ऐसे लेख न छापो।"

फिर दूसरे पत्र में लिखा है—

"तुमको Warning दी जाती है कि यदि तुमने अपनी अपवित्र 'विश्व-वाणी' ३० सितम्बर तक बन्द न की तो तुम्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।"

पटने से हाल में प्राप्त तीसरा पत्र भी इसी प्रकार का है।

'योगी' के लेख पर टिप्पणी करते हुए सहयोगी 'अभ्युदय' में पं० पद्मकान्त मालवीय लिखते हैं—

"हमें सन्देह हो रहा है कि इन सब आरोपों के पीछे कोई कलकतिया षड्यन्त्र तो काम नहीं कर रहा है? कहीं सहयोगी 'योगी' किसी के हाथ का शिकार तो नहीं बन गया?" और सन्देह प्रकट किया है कि "कोई माशूक़ है इस पर्दये ज़िनगारी में।"

कौनसा "माशूक़" इस "पर्दये ज़िनगारी" में है और कौनसा "कलकतिया षड्यन्त्र" इस सबके पीछे काम कर रहा है, इसका पता श्री० मालवीय जी को अधिक होगा। हमें तो दादू का वह पद याद आता है—'दादू! निन्दक पीर हमारा।' 'ऐ दादू! निन्दा करने वाला हमारा गुरू है।' किसी भाई को यदि हमारे प्राण लेने में ही सन्तोष है तो हम उसका भी स्वागत करेंगे। पिछले बीस वर्ष के राजनैतिक जीवन में हमने अपनी चार हड्डियें पुलिस की लाठियों को अर्पण की हैं। अङ्गरेज़ सारजेण्टों की बन्दूक़ों को भी सामने देखा है और यदि वे हमें विचलित नहीं कर सकीं तो अपने ही भाइयों की प्रेमपूर्ण चेतावनी हमें कैसे विचलित कर सकती है? यदि ये भाई अपने नाम और पते की हमें इत्तिला देते तो हम उन्हें बड़ी नम्रता के साथ दावत देते कि वे आकर हमें अपने पिस्तौल या छुरे का निशाना बनाएं। हमें उनसे कोई द्वेष नहीं क्योंकि हम जानते हैं कि सदियों की झूठी शिक्षा ने उनके दिमाग़ को विषैला बना दिया है। जो हिन्दू राष्ट्रपति आज़ाद और डा० सैयद महमूद के लेख पढ़ना तक गवारा नहीं कर सकते, हमारी नम्र सम्मति में उनके लिये जगह शाही रास्ते नहीं हैं; उन्हें तो पागलखाने में यत्न पूर्वक रखकर किसी योग्य चिकित्सक द्वारा उनका इलाज करवाना चाहिये।

रहा काश्मीर दरबार या निज़ाम हैदराबाद से हमें रुपया मिलने की बात; तो यह इलज़ाम बिलकुल ग़लत और झूठ है। किसी भी रियासत या किसी भी व्यक्ति से, ग्राहकों का चन्दा छोड़कर, हमें आज तक एक पैसे की भी सहायता नहीं मिली। 'विश्व-वाणी' निकालकर जिस ज़बर्दस्त आर्थिक संकट का हमें सामना करना पड़ रहा है उससे हमारे मित्र पूरी तरह परिचित हैं। हमें किसी से दान लेने में कोई शर्म नहीं। "हम अहिंसा पर

विश्वास रखते हैं, हम आज़ादी की लड़ाई के क़ायल हैं, धार्मिक कर्म-काण्डों के विरोधी और सब धर्म-मज़हबों की एकता पर विश्वास रखते हैं"—यह जानकर यदि कोई 'विश्व-वाणी' के लिये हमें दान दे, तो हम उसे धन्यवादपूर्वक स्वीकार करेंगे। मगर किसी के दान के लिये सिद्धान्तों से समझौता कर लेने को हम जघन्य पाप समझते हैं। इस तरह का व्यक्ति पतित और समाज का कलंक है और सम्पादक के पद के लिये वह किसी तरह योग्य ही नहीं।

हम अपने देश की ग़ुलामी को अपनी सब में भयंकर मुसीबत समझते हैं। हमें रह रह कर बचपन में सुने हुए अपनी पितामही के वे संस्मरण याद आते हैं जिनके अनुसार सन् ५७ के विप्लव में कानपुर के ज़िले में जनरल नील की सेना ने हमारे परिवार के तेरह स्त्री-पुरुषों और बच्चों को ज़िन्दा जलाकर हमें दर दर भटकने को मजबूर किया। डेढ लाख विदेशियों द्वारा अपनी छाती के रौंदे जाने की कल्पना हमें ज़रा भी सुखकर नहीं लगती। हम हर क़ीमत पर अपनी इस ग़ुलामी से मुक्ति पाने के लिए उत्सुक हैं। हमारे कन्धों पर ग़ुलामी का बोझ लादने वाले हमारे सब में बड़े शत्रु हैं। हमारे और उनके बीच में जो व्यक्ति और जो भी आन्दोलन शिखण्डी बनकर खड़ा होगा, उसे चूर चूर करना हम अपना परम धर्म समझेंगे। देश में आपस में फूट फैलाने वाले क्विसलिंग और पांचवें कॉलम के लोग कहे जाते हैं। इङ्गलैण्ड और जर्मनी में ऐसे देश-द्रोहियों की सज़ा मौत है। हम ग़ुलाम हैं; मगर हमें उनका विरोध करने का तो अधिकार अवश्य है।

कई वर्ष हुए हमने इङ्गलिस्तान की पार्लि-मेण्ट के मेम्बर श्री० केर हार्डी की लिखी हुई जापान पर एक पुस्तक पढ़ी थी। श्री० केर हार्डी ने अपने जापान-प्रवास में छोटे बच्चों के एक स्कूल का निरीक्षण करते हुए शिक्षक से इस बात की इच्छा प्रकट की कि वे जापानी बच्चों से कुछ प्रश्न करना चाहते हैं। शिक्षक ने ख़ुशी से उन्हें इस बात की इजाज़त दी। श्री० केर हार्डी और एक आठ वर्ष के बालक में नीचे लिखी बातचीत हुई—

केर हार्डी—"बुद्ध को तुम क्या समझते हो?"

बालक—"बुद्ध को मैं भगवान समझता हूं।"

के०—"यदि बुद्ध को कोई दुर्वचन कहे, तब तुम क्या करोगे?"

बा०—"ऐसे नीच व्यक्ति की मैं तलवार से गर्दन काट लूंगा।"

के०—"अच्छा, कॉनफ़्यूशियस* को तुम क्या समझते हो?"

बा०—"कॉनफ़्यूशियस को मैं सन्त समझता हूं।"

के०—"यदि कॉनफ़्यूशियस को कोई गाली दे तो तुम क्या करोगे?"

बा०—"ऐसे व्यक्ति की छाती में मैं खञ्जर घुसेड़ दूंगा।"

के०—"अच्छा बच्चे, हिन्दुस्तान से एक बहुत बड़ी फ़ौज जापान पर हमला करने के लिये चली आ रही है। जब वह फ़ौज चीन की सरहद के पास पहुँची, चीन से भी एक बड़ी फ़ौज उसके साथ शामिल हो गई। जब यह संयुक्त सेना जापान के निकट पहुंची, लोगों ने देखा कि इस आक्रमक सेना के प्रधान सेनापति स्वयं भगवान बुद्ध हैं और उसके पार्श्व सेनापति सन्त कॉनफ़्यूशियस हैं। अब बताओ बच्चे, तुम क्या करोगे?"

बा० (तीन सेकण्ड कुछ सोचकर)—"जनाब, मैं तलवार से बुद्ध की गर्दन काट डालूंगा और कॉन-फ़्यूशियस की छाती में छुरा घुसेड़ दूँगा।"

हम उस दिन की सुखद कल्पना कर रहे हैं जब इस तरह के विचार हमारे प्रत्येक देश-वासी के हृदय में घर कर सकें। धर्म और संस्कृति आदर की वस्तु हैं; मगर देश इन सबसे अधिक आदर और श्रद्धा का अधिकारी है। हमने इसे नहीं समझा इसीलिये आज हमारे देश के कोटि कोटि नर-नारायण भूखे-प्यासे,

* कानफ़्यूशियस (कुङ्ग-फ़ूत-ज़े) प्रसिद्ध चीनी सन्त हुए हैं, जिन्हें जापान में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

दर दर की ठोकरें खाते अपना जीवन बिता रहे हैं। सन् १९०७ के रूस-जापान युद्ध में जापान ने भगवान बुद्ध की सैकड़ों बड़ी बड़ी पीतल की मूर्तियां गलाकर उनसे तोप के गोले बनवाये। जापानी राजनीतिज्ञों का कहना था—"यदि देश ज़िन्दा बचेगा तो इससे भी बड़ी मूर्तियां हम बाद में बना लेंगे।" पिछले चीन जापान युद्ध में करोड़ों चीनियों ने अपनी लम्बी लम्बी धार्मिक चोटियां इसलिये कटवा डालीं ताकि उनसे युद्ध के लिये रस्से बन सकें। आज इङ्गलैण्ड उसी रूस के साथ समझौता कर सकता है जिसको वह धर्म-द्रोही कह रहा था। आर्क बिशप ऑफ़ केण्टरबरी आज उसी रूस की विजय कामना कर रहे हैं जिसे कल तक वे ईश्वर-द्रोही कह रहे थे। कल तक जो जघन्य पापी था, आज वह उनका परम मित्र है। इसलिये कि आज वे एक से ख़तरे का सामना कर रहे हैं।

दूसरी ओर जब हम अपने देश के हिन्दू और मुसलमानों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें मर्मान्तक पीड़ा होती है। हम अभी तक हिन्दू संस्कृति और मुसलिम संस्कृति, हिन्दू हित और मुसलिम हित और हिन्दी और उर्दू के विषैले चक्र में फंसे हुए हैं। विदेशियों का जूता लगातार हम पर पड़ रहा है, मगर कुत्तों की तरह हमें आपस में ही भूंकने से फ़ुर्सत नहीं मिलती। हम मिट गये और बर्बाद हो चुके, फिर भी हमें ऐसा मालूम होता है कि शायद हमारी क़िस्मत में इससे भी कठिन प्रायश्चित से होकर गुज़रना लिखा है। आज हम हिन्दू-पद-पादशाही और पाकिस्तान के नारे बुलन्द कर रहे हैं। हमें हैरत है कि वीर सावरकर अपने ही लिखे हुए 'सन् सत्तावन के स्वाधीनता युद्ध' की सारी घटनाएं भूल गए! हमने उन्हीं के ग्रन्थ में पढ़ा है कि सन् ५७ में लाखों हिन्दुओं और मुसलमानों ने भारतीय स्वाधीनता के लिए मिलकर अपना रक्त बहाया था। क्या श्री जिन्ना इस बात को भूल गये कि दस लाख हिन्दू और मुसलमान सेनाओं ने मिलकर सदाशिवराव भाऊ के अधीन पानीपत के मैदान में विदेशी अहमदशाह अब्दाली का मुक़ाबिला किया था। सिराजुद्दौला, मीरक़ासिम, टीपू सुलतान, बहादुरशाह, हज़रत महल, मौलवी अहमदशाह, अज़ीमुल्ला और लाखों ज्ञात और अज्ञात भारत के मुसलमान देश भक्तों ने अपने देश के गौरव की रक्षा करने में अपने प्राणों की आहुति चढ़ाई है? क्या श्री जिन्ना सन् २१ की वह घटना भूल गये जब दिल्ली में जामा मसजिद के मिम्बर से स्व० स्वामी श्रद्धानन्द जी ने लाखों मुसलमान जनता को उपदेश दिया था। बाहर की दुनिया की तरफ़ यदि नज़र दौड़ाइये, तो दिखाई देगा कि तुर्की, ईरान और मिश्र में नाम मात्र को भी धार्मिक कट्टरता नहीं रही। हमें अपने देश के आठ करोड़ मुसलमान भाइयों पर विश्वास है और हम समझते हैं कि एक दिन ऐसा आएगा कि आज़ादी की लड़ाई में मुसलमान हिन्दुओं से आगे बढ़कर हिस्सा लेंगे। सन् १९३० में पेशावर के क़िस्सेख़ानी बाज़ार में ४५५ वीर पठानों का बलिदान आज़ादी के इतिहास का एक ज्वलन्त अध्याय है। आज हिन्दू-मुसलिम एकता को लोग एक असम्भव स्वप्न समझ बैठे हैं। किन्तु ज़माने का तक़ाज़ा है कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर रहें और दोनों मिलकर अपने इस प्यारे देश को महान और गौरवशाली बनाएं। यदि यह नहीं होता और हमारी आपसी कलह चलती रहती है, भाषा और संस्कृति की आपसी लड़ाई जारी रहती है, एक दूसरे के प्रति नफ़रत और शंका बनी रहती है, तो यह निश्चित है कि इतिहास के पर्दे से हिन्दू और मुसलमान दोनों के नाम मिट जाएंगे। हिन्दी-उर्दू, हिन्दू संस्कृति और मुसलिम संस्कृति—किसी का नामो-निशान तक बाक़ी नहीं बचेगा।

'विश्ववाणी' अपनी शक्ति भर देश को इस भयङ्कर नाश से बचाने के लिये अपने महान कर्तव्य को पूरा करने का प्रयत्न करेगी। रास्ते की विघ्न-बाधाओं का हमें कोई डर नहीं। क्योंकि हम जानते हैं कि सत्य हमारी ओर है और सत्य की सदा जय होती है।

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद।